गीताप्रेस, गोरखपुर

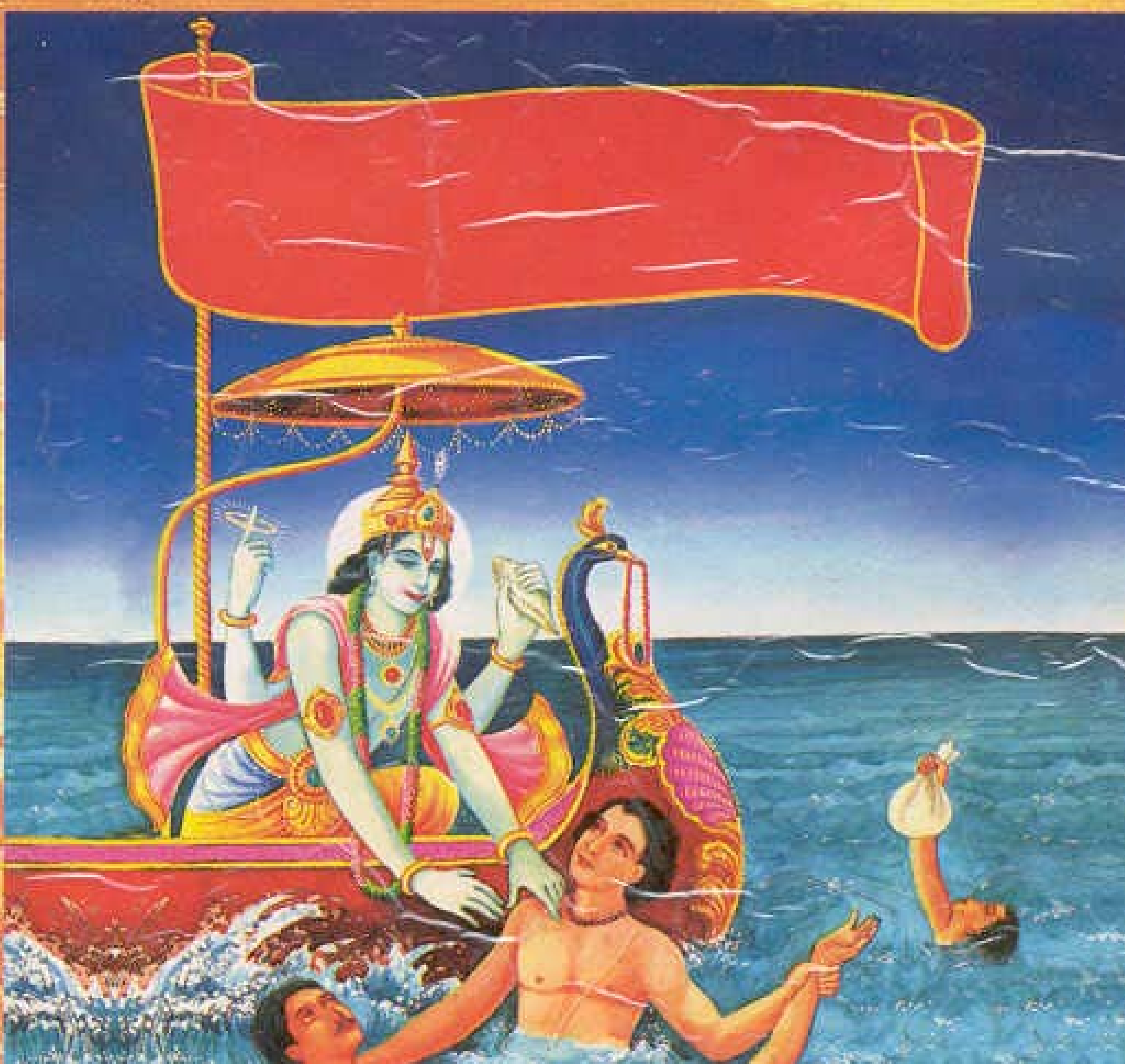
॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

6

श्रीमद्भगवद्गीता

साधक-संजीवनी (परिशिष्टसहित)

हिन्दी-टीका



स्वामी रामसुखदास

1014

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)

स्वामी रामसुखदास

प्रकाशक—**गोबिन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर**

मुद्रक—**गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५**
दूरभाष : (०५५१) ३३४७२१, फैक्स : ३३६९९७

e-mail : **gitapres@ndf.vsnl.net.in** | **Visit us at : www.gitapress.org**

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

श्रीमद्भगवद्गीताकी साधक-संजीवनी टीका लिखनेके बाद गीताके जो नये भाव उत्पन्न हुए, उन्हें परम श्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजने परिशिष्टके रूपमें लिख दिया। परिशिष्टमें गीताके अत्यन्त गुह्य एवं उत्तमोत्तम भावोंका प्राकट्य हुआ है। पहले यह परिशिष्ट अलग-अलग तीन भागोंमें प्रकाशित किया गया। अब आवश्यक संशोधनके साथ सम्पूर्ण परिशिष्टको एक जिल्दमें प्रकाशित किया जा रहा है। इसके सिवाय परिशिष्ट-सहित 'साधक-संजीवनी' को भी प्रकाशित किया जा रहा है। जिनके पास पूर्वप्रकाशित साधक-संजीवनी है और वे साधक-संजीवनीके नये (परिशिष्ट-सहित) संशोधित तथा संवर्धित संस्करणको खरीदनेमें असमर्थ हैं, वे इस परिशिष्टको खरीदकर अपनी जिज्ञासाकी पूर्ति कर सकते हैं।

इस परिशिष्टमें प्रायः वही भाव लेनेका दृष्टिकोण रहा है, जो 'साधक-संजीवनी' टीकामें सर्वथा अथवा उस रूपमें नहीं आये हैं। अतः पाठकोंसे विनम्र प्रार्थना है कि वे इसके साथ-साथ 'साधक-संजीवनी' टीकाको भी देखते हुए इसका अध्ययन-मनन करें।

—प्रकाशक

ॐ श्रीपरमात्मने नम:

साधक-संजीवनी परिशिष्टका

नम्र निवेदन

भगवान् अनन्त हैं, उनका सब कुछ अनन्त है, फिर उनके मुखारविन्दसे निकली हुई गीताके भावोंका अन्त आ ही कैसे सकता है? अलग-अलग आचार्योंने गीताकी अलग-अलग टीका लिखी है। उनकी टीकाके अनुसार चलनेसे मनुष्यका कल्याण तो हो सकता है, पर वह गीताके अर्थको पूरा नहीं जान सकता। आजतक गीताकी जितनी टीकाएँ लिखी गयी हैं, वे सब-की-सब इकट्ठी कर दें तो भी गीताका अर्थ पूरा नहीं होता! जैसे किसी कुएँसे सैकड़ों वर्षोंतक असंख्य आदमी जल पीते रहें तो भी उसका जल वैसा-का-वैसा ही रहता है, ऐसे ही असंख्य टीकाएँ लिखनेपर भी गीता वैसी-की-वैसी ही रहती है, उसके भावोंका अन्त नहीं आता। कुएँके जलकी तो सीमा है, पर गीताके भावोंकी सीमा नहीं है। अत: गीताके विषयमें कोई कुछ भी कहता है तो वह वास्तवमें अपनी बुद्धिका ही परिचय देता है—***'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहें बिनु रहा न कोई॥'*** (मानस, बाल० १३। १)।

भगवान्‌की वाणी बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंकी वाणीसे भी ठोस और श्रेष्ठ है; क्योंकि भगवान् ऋषि-मुनियोंके भी आदि हैं—**'अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः'** (गीता १०। २)। अत: कितने ही बड़े ऋषि-मुनि, सन्त-महात्मा क्यों न हों और उनकी वाणी कितनी ही श्रेष्ठ क्यों न हो, पर वह भगवान्‌की दिव्यातिदिव्य वाणी 'गीता' की बराबरी नहीं कर सकती।

पगडण्डीको 'पद्धति' कहते हैं और राजमार्ग, घण्टापथ अथवा चौड़ी सड़कको 'प्रस्थान' कहते हैं। गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र—ये तीन प्रस्थान हैं, शेष सब पद्धतियाँ हैं। प्रस्थानत्रयमें गीता बहुत विलक्षण है; क्योंकि इसमें उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र दोनोंका ही तात्पर्य आ जाता है।

गीता उपनिषदोंका सार है, पर वास्तवमें गीताकी बात उपनिषदोंसे भी विशेष है। कारणकी अपेक्षा कार्यमें विशेष गुण होता है; जैसे—आकाशमें केवल एक गुण 'शब्द' है, पर उसके कार्य वायुमें दो गुण 'शब्द और स्पर्श' हैं।

वेद भगवान्‌के नि:श्वास हैं और गीता भगवान्‌की वाणी है। नि:श्वास तो स्वाभाविक होते हैं, पर गीता भगवान्‌ने योगमें स्थित होकर कही है*। अत: वेदोंकी अपेक्षा भी गीता विशेष है।

सभी दर्शन गीताके अन्तर्गत हैं, पर गीता किसी दर्शनके अन्तर्गत नहीं है। दर्शनशास्त्रमें जगत् क्या है, जीव क्या है और ब्रह्म क्या है—यह पढ़ाई होती है। परन्तु गीता पढ़ाई नहीं कराती, प्रत्युत अनुभव कराती है।

गीतामें किसी मतका आग्रह नहीं है, प्रत्युत केवल जीवके कल्याणका ही आग्रह है। मतभेद गीतामें नहीं है, प्रत्युत टीकाकारोंमें है। गीताके अनुसार चलनेसे सगुण और निर्गुणके उपासकोंमें परस्पर खटपट नहीं हो सकती। गीतामें भगवान् साधकको समग्रकी तरफ ले जाते हैं। सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, द्विभुज, चतुर्भुज, सहस्रभुज आदि सब रूप समग्र परमात्माके ही अन्तर्गत हैं। समग्ररूपमें कोई भी रूप बाकी नहीं रहता। किसीकी भी उपासना करें, सम्पूर्ण उपासनाएँ समग्ररूपके अन्तर्गत आ जाती हैं। सम्पूर्ण दर्शन समग्ररूपके अन्तर्गत आ जाते हैं। अत: सब कुछ परमात्माके ही अन्तर्गत है, परमात्माके सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है—इसी भावमें सम्पूर्ण गीता है।

गीताका तात्पर्य **'वासुदेवः सर्वम्'** में है। एक परमात्मतत्त्वके सिवाय दूसरी सत्ताकी मान्यता रहनेसे प्रवृत्तिका

---

* **न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः॥**
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया। (महाभारत, आश्व० १६। १२-१३)

भगवान् बोले—'वह सब-का-सब उसी रूपमें फिर दुहरा देना अब मेरे वशकी बात नहीं है। उस समय मैंने योगयुक्त होकर परमात्मतत्त्वका वर्णन किया था।'

योगयुक्त अर्थात् योगमें स्थित होकर गीता कहनेका तात्पर्य है कि सुननेवालेका हित किसमें है? उसके हितके लिये क्या कहना चाहिये? भविष्यमें भी जो सुनेगा अथवा पढ़ेगा, उसका हित किसमें होगा?—इस प्रकार सभी साधकोंके हितमें स्थित होकर गीता कही है।

उदय होता है और दूसरी सत्ताकी मान्यता मिटनेसे निवृत्तिकी दृढ़ता होती है। प्रवृत्तिका उदय होना 'भोग' है और निवृत्तिकी दृढ़ता होना 'योग' है। गीता 'सब कुछ परमात्मा है'—ऐसा मानती है और इसीको महत्त्व देती है। संसारमें कार्यरूपसे, कारणरूपसे, प्रभावरूपसे, सब रूपोंसे मैं-ही-मैं हूँ—यह बतानेके लिये ही भगवान्‌ने गीतामें चार जगह (सातवें, नवें, दसवें और पन्द्रहवें अध्यायमें) अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है। ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), कृत्स्न अध्यात्म (अनन्त योनियोंके अनन्त जीव), अखिल कर्म (उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय आदिकी सम्पूर्ण क्रियाएँ), अधिभूत (अपने शरीरसहित सम्पूर्ण पाञ्च भौतिक जगत्), अधिदैव (मन-इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवतासहित ब्रह्माजी आदि सभी देवता) तथा अधियज्ञ (अन्तर्यामी विष्णु और उनके सभी रूप)—ये सब-के-सब '**वासुदेवः सर्वम्**' के अन्तर्गत आ जाते हैं (सातवें अध्यायका उन्तीसवाँ-तीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि सत्, असत् और उससे परे जो कुछ भी है, वह सब परमात्मा ही हैं—'**त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्**' (गीता ११। ३७)। संसार अपने रागके कारण ही दीखता है। रागके कारण ही दूसरी सत्ता दीखती है। राग न हो तो एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है। जैसे, भगवान्‌ने कहा है—'**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५। १५) 'मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित हूँ'। जिस हृदयमें भगवान् रहते हैं, उसी हृदयमें राग-द्वेष, हलचल, अशान्ति होते हैं। हृदयमें ही सुख होता है और हृदयमें ही दुःख आता है। समुद्र-मन्थनमें वहींसे विष निकला, वहींसे अमृत निकला। भगवान् शंकरने विष पी लिया तो अमृत निकल आया। इसी तरह राग-द्वेषको मिटा दें तो परमात्मा निकल आयेंगे। सन्त-महात्माओंके हृदयमें राग-द्वेष नहीं रहते; अतः वहाँ परमात्मा रहते हैं।

सब कुछ परमात्मा ही हैं—यह खुले नेत्रोंका ध्यान है। इसमें न आँख बन्द करने (ध्यान) की जरूरत है, न कान बन्द करने (नादानुसन्धान) की जरूरत है, न नाक बन्द करने (प्राणायाम) की जरूरत है! इसमें न संयोगका असर पड़ता है, न वियोगका; न किसीके आनेका असर पड़ता है, न किसीके जानेका। जब सब कुछ परमात्मा ही है तो फिर दूसरा कहाँसे आये? कैसे आये?

गीता समग्रको मानती है, इसीलिये गीताका आरम्भ और अन्त शरणागतिमें हुआ है। शरणागतिसे ही समग्रकी प्राप्ति होती है। परमात्माके समग्र-रूपमें सब रूप होते हुए भी सगुणकी मुख्यता है। कारण कि सगुणके अन्तर्गत तो निर्गुण भी आ जाता है, पर निर्गुणमें (गुणोंका निषेध होनेसे) सगुण नहीं आता। अतः सगुण ही समग्र हो सकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं—'**असंशयं समग्रं माम्**' (गीता ७। १)। गीता समग्रकी वाणी है, इसलिये गीतामें सब कुछ है। जो जिस दृष्टिसे गीताको देखता है, गीता उसको वैसी ही दीखने लगती है—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४। ११)।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये तीन ही योग हैं। शरीर (अपरा) को लेकर कर्मयोग है, शरीरी (परा) को लेकर ज्ञानयोग है और शरीर-शरीरी दोनोंके मालिक (भगवान्) को लेकर भक्तियोग है। भगवान्‌ने गीताके आरम्भमें पहले शरीरीको लेकर और फिर शरीरको लेकर क्रमशः ज्ञानयोग और कर्मयोगका वर्णन किया। फिर ध्यानयोगका वर्णन किया; क्योंकि वह भी कल्याण करनेका एक साधन है। फिर सातवें अध्यायसे भक्तिका विशेषतासे वर्णन किया, जो भगवान्‌का खास ध्येय है। मनुष्य कर्मयोगसे जगत्‌के लिये, ज्ञानयोगसे अपने लिये और भक्तियोगसे भगवान्‌के लिये उपयोगी हो जाता है।

गीतामें समताको 'योग' कहा गया है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८)। वास्तवमें 'योग' की आवश्यकता कर्ममें ही है, ज्ञानमें भी योगकी आवश्यकता नहीं है और भक्तिमें तो योगकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है। ज्ञान और भक्ति वास्तवमें 'योग' ही हैं। कर्म जड़ हैं, बाँधनेवाले हैं और विषय हैं, इसलिये उनमें योगकी आवश्यकता है—'**योगस्थः कुरु कर्माणि**' (गीता २। ४८)। कर्मोंमें योग ही मुख्य है—'**योगः कर्मसु कौशलम्**' (गीता २। ५०)। योगके सिवाय कर्म कुछ नहीं है—'**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय**' (गीता २। ४९)। कर्तृत्व भी कर्म करनेसे ही आता है। इसलिये गीतामें 'योग' शब्द विशेषकर 'कर्मयोग' का ही वाचक आता है। गीताकी पुष्पिकामें भी '**योगशास्त्रे**' पदका अर्थ कर्मयोगकी शिक्षा है।

कर्मयोगमें दो विभाग हैं—कर्मविभाग और योगविभाग। कर्मविभाग पूर्वार्ध है और योगविभाग उत्तरार्ध है। कर्म करणसापेक्ष है और योग करणनिरपेक्ष है। कर्मविभागमें कर्तव्यपरायणता है और योगविभागमें स्वाधीनता, निर्विकारता, असंगता, समता है। संसारमें हमारा जो कर्तव्य होता है, वह दूसरेका अधिकार होता है। इसलिये व्यक्तिका जो कर्तव्य है, वह परिवारका, समाजका और संसारका अधिकार है। जैसे, वक्ताका जो कर्तव्य है, वह श्रोताका अधिकार है और श्रोताका जो कर्तव्य है, वह वक्ताका अधिकार है। वक्ता बोलकर श्रोताके अधिकारकी रक्षा करता है और श्रोता सुनकर वक्ताके अधिकारकी रक्षा करता है। दूसरेके अधिकारकी रक्षा करनेसे मनुष्य ऋणमुक्त हो जाता है और उसको 'योग'

की प्राप्ति हो जाती है। दूसरेके अधिकारकी रक्षा करनेका तात्पर्य है—शरीर, वस्तु, योग्यता और सामर्थ्यको अपनी न समझकर, प्रत्युत दूसरोंकी ही समझकर दूसरोंकी सेवामें अर्पित कर देना।

संसारमें वस्तु और व्यक्तिके साथ हमारा संयोग होता है। जहाँ संयोग होता है, वहीं कर्तव्यका पालन करनेकी आवश्यकता होती है। वस्तुका संयोग होनेपर उस वस्तुमें ममता न करके उसका सदुपयोग करना, उसको दूसरोंकी सेवामें लगाना हमारा कर्तव्य है। व्यक्तिका संयोग होनेपर उस व्यक्तिमें ममता न करके उसकी सेवा करना, उसको सुख पहुँचाना हमारा कर्तव्य है। कामना और ममतासे रहित होकर कर्तव्यका पालन करनेसे शरीर-संसारके संयोगका वियोग हो जाता है और योगकी प्राप्ति हो जाती है—'**तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (गीता ६। २३)। संयोगका तो वियोग होता है, पर योगका कभी वियोग नहीं होता। योगकी प्राप्ति होनेपर मनुष्य राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि विकारोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है और उसको स्वाधीनता, निर्विकारता, असंगता, समताकी प्राप्ति हो जाती है।

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि मैं सदा जीता रहूँ, कभी मरूँ नहीं; मैं सब कुछ जान जाऊँ, कभी अज्ञानी न रहूँ; मैं सदा सुखी रहूँ, कभी दुःखी न रहूँ। परन्तु मनुष्यकी यह चाहना अपने बलसे अथवा संसारसे कभी पूरी नहीं हो सकती, क्योंकि मनुष्य जो चाहता है, वह संसारके पास है ही नहीं। वास्तवमें मनुष्यको जो चाहिये, वह उसको पहलेसे ही प्राप्त है। उससे गलती यह होती है कि वह उन वस्तुओंको चाहने लगता है, जिनका संयोग और वियोग होता है, जो मिलने और बिछुड़नेवाली हैं। यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु कभी भी हमारेसे अलग होती है, वह सदा ही हमारेसे अलग है और अभी (वर्तमानमें) भी हमारेसे अलग है। जैसे, शरीर कभी भी हमारेसे अलग होगा तो वह सदा ही हमारेसे अलग है और अभी भी हमारेसे अलग है। इसी तरह जो वस्तु (परमात्मा) कभी भी हमारेसे अलग नहीं होती, वह सदा ही मिली हुई है और अभी भी हमारेको मिली हुई है। तात्पर्य यह निकला कि वास्तवमें संसारका सदा ही वियोग है और परमात्माका सदा ही योग है।

कोई आचार्य पहले कर्मयोग, फिर ज्ञानयोग, फिर भक्तियोग—यह क्रम मानते हैं और कोई आचार्य पहले कर्मयोग, फिर भक्तियोग, फिर ज्ञानयोग—यह क्रम मानते हैं। परन्तु गीता पहले ज्ञानयोग, फिर कर्मयोग, फिर भक्तियोग—यह क्रम मानती है। गीता कर्मयोगको ज्ञानयोगकी अपेक्षा विशेष मानती है—'**तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते**' (५। २)। कारण कि ज्ञानयोगके बिना तो कर्मयोग हो सकता है—'**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः**' (३। २०), '**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते**' (४। २३), पर कर्मयोगके बिना ज्ञानयोग होना कठिन है—'**सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः**' (५। ६)। श्रीमद्भागवतमें भी पहले ज्ञानयोग, फिर कर्मयोग, फिर भक्तियोग—यह क्रम कहा गया है*। एक विलक्षण बात और है कि गीता कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंको समकक्ष और लौकिक बताती है—'**लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा०**' (३। ३)। क्षर (जगत्) और अक्षर (जीव)—दोनों लौकिक हैं—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (गीता १५। १६), पर भगवान् अलौकिक हैं—'**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः**' (१५। १७)। क्षरको लेकर कर्मयोग और अक्षरको लेकर ज्ञानयोग चलता है; अतः कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों लौकिक हैं। परन्तु भक्तियोग भगवान्‌को लेकर चलता है; अतः भक्तियोग अलौकिक है।

गीताने भक्तिको सर्वश्रेष्ठ बताया है (छठे अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक)। गीताकी भक्ति भेदवाली नहीं है, प्रत्युत अद्वैत भक्ति है। वास्तवमें देखा जाय तो ज्ञानमें द्वैत है और भक्तिमें अद्वैत है। कारण कि ज्ञानमें तो जड़-चेतन, जगत्-जीव, शरीर-शरीरी, असत्-सत्, प्रकृति-पुरुष आदि दो-दो हैं, पर भक्तिमें केवल भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९), '**सदसच्चाहम्**' (गीता ९। १९)। भगवान्‌ने ज्ञानके साधनोंमें भी भक्ति बतायी है—'**मयि चानन्ययोगेन०**' (१३। १०) और गुणातीत होनेका उपाय भी भक्ति बताया है—'**मां च योऽव्यभिचारेण०**' (१४। २६)। ज्ञानकी परानिष्ठासे भी पराभक्तिकी प्राप्ति होती है—'**मद्भक्तिं लभते पराम्**' (१८। ५५)। इस पराभक्तिसे जानना, देखना और प्रवेश करना—तीनोंकी प्राप्ति हो जाती है (ग्यारहवें अध्यायका चौवनवाँ श्लोक)। भगवान् अपने भक्तको कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंकी प्राप्ति करा देते हैं (दसवें अध्यायका दसवाँ-ग्यारहवाँ श्लोक)। भगवान्‌ने अपने भक्तको सबसे उत्तम योगी बताया है—'**स मे युक्ततमो मतः**' (६। ४७), '**ते मे युक्ततमा मताः**' (१२। २), '**स योगी परमो मतः**' (६। ३२)। ध्यानयोगमें भी भक्ति आयी है—'**युक्त आसीत मत्परः**' (६। १४)। कर्मयोगमें भी भगवान्‌ने भक्ति बतायी है—'**युक्त आसीत मत्परः**' (२। ६१)। भगवान्‌ने सभी योगोंमें अपनी भक्ति (परायणता) बतायी है, यह भक्तिकी विशेषता

* **योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।**
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ (श्रीमद्भा० ११। २०। ६)

है। अर्जुनका प्रश्न भक्तिविषयक नहीं था, फिर भी भगवान्‌ने अपनी तरफसे भक्तिका वर्णन किया (अठारहवें अध्यायके छप्पनवेंसे छाछठवें श्लोकतक)। भक्तिसे समग्र परमात्माकी प्राप्ति होती है (सातवें अध्यायका उन्तीसवाँ-तीसवाँ श्लोक)।

गीताका सातवाँ, नवाँ और पन्द्रहवाँ अध्याय, दसवें अध्यायका आरम्भ तथा अठारहवें अध्यायके छप्पनवेंसे छाछठवेंतकके श्लोक हमें बहुत विलक्षण दीखते हैं। इनमें '**अर्जुन उवाच**' नहीं है अर्थात् ये भगवान्‌ने अपनी तरफसे अत्यन्त कृपा करके कहे हैं।

गीतामें कर्मयोगके वर्णनमें ज्ञानयोग-भक्तियोगकी, ज्ञानयोगके वर्णनमें कर्मयोग-भक्तियोगकी और भक्तियोगके वर्णनमें कर्मयोग-ज्ञानयोगकी बात भी आ जाती है। इसका तात्पर्य है कि साधक कोई भी योग करे तो उसको तीनों योगोंकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् उसको मुक्ति और भक्ति—दोनों प्राप्त हो जाते हैं। कारण कि परा और अपरा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌की ही हैं। ज्ञानयोग पराको लेकर और कर्मयोग अपराको लेकर चलता है। इसलिये किसी एक योगकी पूर्णता होनेपर तीनों योगोंकी पूर्णता हो जाती है। परन्तु इसमें एक शर्त यह है कि साधक अपने मतका आग्रह न रखे और दूसरेके मतका खण्डन या निन्दा न करे, दूसरेके मतको छोटा न माने। अपने मतका आग्रह रहनेसे और दूसरेके मतको छोटा मानकर उसका खण्डन या निन्दा करनेसे साधकको मुक्ति (तत्त्वज्ञान) की प्राप्ति तो हो सकती है, पर भक्ति (परमप्रेम) की अर्थात् समग्रताकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

परिशिष्टके सम्बन्धमें

श्रीमद्भगवद्गीता एक ऐसा विलक्षण ग्रन्थ है, जिसका आजतक न तो कोई पार पा सका, न पार पाता है, न पार पा सकेगा और न पार पा ही सकता है। गहरे उतरकर इसका अध्ययन-मनन करनेपर नित्य नये-नये विलक्षण भाव प्रकट होते रहते हैं। गीतामें जितना भाव भरा है, उतना बुद्धिमें नहीं आता। जितना बुद्धिमें आता है, उतना मनमें नहीं आता। जितना मनमें आता है, उतना कहनेमें नहीं आता। जितना कहनेमें आता है, उतना लिखनेमें नहीं आता। गीता असीम है, पर उसकी टीका सीमित ही होती है। हमारे अन्त:करणमें गीताके जो भाव आये थे, वे पहले 'साधक-संजीवनी' टीकामें लिख दिये थे। परन्तु उसके बाद भी विचार करनेपर भगवत्कृपा तथा सन्तकृपासे गीताके नये-नये भाव प्रकट होते गये। उनको अब 'परिशिष्ट भाव' के रूपमें 'साधक-संजीवनी' टीकामें जोड़ा जा रहा है।

'साधक-संजीवनी' टीका लिखते समय हमारी समझमें निर्गुणकी मुख्यता रही; क्योंकि हमारी पढ़ाईमें निर्गुणकी मुख्यता रही और विचार भी उसीका किया। परन्तु निष्पक्ष होकर गहरा विचार करनेपर हमें भगवान्‌के सगुण (समग्र) स्वरूप तथा भक्तिकी मुख्यता दिखायी दी। केवल निर्गुणकी मुख्यता माननेसे सभी बातोंका ठीक समाधान नहीं होता। परन्तु केवल सगुणकी मुख्यता माननेसे कोई सन्देह बाकी नहीं रहता। समग्रता सगुणमें ही है, निर्गुणमें नहीं। भगवान्‌ने भी सगुणको ही समग्र कहा है—'**असंशयं समग्रं माम्**' (गीता ७। १)।

परिशिष्ट लिखनेपर भी अभी हमें पूरा सन्तोष नहीं है और हमने गीतापर विचार करना बन्द नहीं किया है। अत: आगे भगवत्कृपा तथा सन्तकृपासे क्या-क्या नये भाव प्रकट होंगे—इसका पता नहीं! परन्तु मानव-जीवनकी पूर्णता भक्ति (प्रेम) की प्राप्तिमें ही है—इसमें हमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है।

पहले 'साधक-संजीवनी' टीकामें श्लोकोंके अर्थ अन्वयपूर्वक न करनेसे उनमें कहीं-कहीं कमी रह गयी थी। अब श्लोकोंका अन्वयपूर्वक अर्थ देकर उस कमीकी पूर्ति कर दी गयी है। अन्वयार्थमें कहीं अर्थको लेकर और कहीं वाक्यकी सुन्दरताको लेकर विशेष विचारपूर्वक परिवर्तन किया गया है।

पाठकोंको पहलेकी और बादकी (परिशिष्ट) व्याख्यामें कोई अन्तर दीखे तो उनको बादकी व्याख्याका भाव ही ग्रहण करना चाहिये। यह सिद्धान्त है कि पहलेकी अपेक्षा बादमें लिखे हुए विषयका अधिक महत्त्व होता है। इसमें इस बातका विशेष ध्यान रखा गया है कि साधकोंका किसी प्रकारसे अहित न हो। कारण कि यह टीका मुख्यरूपसे साधकोंके हितकी दृष्टिसे लिखी गयी है, विद्वत्ताकी दृष्टिसे नहीं।

साधकोंको चाहिये कि वे अपना कोई आग्रह न रखकर इस टीकाको पढ़ें और इसपर गहरा विचार करें तो वास्तविक तत्त्व उनकी समझमें आ जायगा और जो बात टीकामें नहीं आयी है, वह भी समझमें आ जायगी!

विनीत—

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

साधक-संजीवनि सुखद, सज्जन जीवन प्रान।
गरल-जलधि कलिकाल महुँ, निकसै अमिय महान॥ १॥
अनुभवसिद्ध सरल अमल, समन सकल भवरोग।
बरनहिं साधन-मरमु सब, सहज सधत सब जोग॥ २॥
साधन-पथ बाधा समन, बढ़हिं बिबेक बिचार।
भव परिहरि हरि सुलभ करि, साधक रुचि अनुसार॥ ३॥
प्रगट भयहु जग जीव हित, मधुर सजीवनि मूर।
नासहिं अघ तम बिबिधि बिधि, सोभहिं जिमि नभ सूर॥ ४॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता
साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
अथ प्रथमोऽध्यायः
(पहला अध्याय)

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—

सञ्जय	= हे संजय!	**युयुत्सवः**	= युद्धकी इच्छावाले	**पाण्डवाः**	= पाण्डुके पुत्रोंने
धर्मक्षेत्रे	= धर्मभूमि			**एव**	= भी
कुरुक्षेत्रे	= कुरुक्षेत्रमें	**मामकाः**	= मेरे	**किम्**	= क्या
समवेताः	= इकट्ठे हुए	**च**	= और	**अकुर्वत**	= किया?

विशेष भाव—‘मेरे पुत्र’ (**मामकाः**) और ‘पाण्डुके पुत्र’ (**पाण्डवाः**)—इस मतभेदसे ही राग-द्वेष पैदा हुए, जिससे लड़ाई हुई, हलचल हुई। धृतराष्ट्रके भीतर पैदा हुए राग-द्वेषका फल यह हुआ कि सौ-के-सौ कौरव मारे गये, पर पाण्डव एक भी नहीं मारा गया!

जैसे दही बिलोते हैं तो उसमें हलचल पैदा होती है, जिससे मक्खन निकलता है, ऐसे ही ‘**मामकाः**’ और ‘**पाण्डवाः**’ के भेदसे पैदा हुई हलचलसे अर्जुनके मनमें कल्याणकी अभिलाषा जाग्रत् हुई, जिससे भगवद्गीतारूपी मक्खन निकला!

तात्पर्य यह हुआ कि धृतराष्ट्रके मनमें होनेवाली हलचलसे लड़ाई पैदा हुई और अर्जुनके मनमें होनेवाली हलचलसे गीता प्रकट हुई!

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्॥ २ ॥

संजय बोले—

तदा	= उस समय	**दृष्ट्वा**	= देखकर	**राजा**	= राजा
व्यूढम्	= वज्रव्यूहसे खड़ी हुई	**तु**	= और	**दुर्योधनः**	= दुर्योधन (यह)
		आचार्यम्	= द्रोणाचार्यके	**वचनम्**	= वचन
पाण्डवानीकम्	= पाण्डवसेनाको	**उपसङ्गम्य**	= पास जाकर	**अब्रवीत्**	= बोला।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ ३॥

आचार्य	= हे आचार्य!
तव	= आपके
धीमता	= बुद्धिमान्
शिष्येण	= शिष्य
द्रुपदपुत्रेण	= द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा
व्यूढाम्	= व्यूहरचनासे खड़ी की हुई
पाण्डुपुत्राणाम्	= पाण्डवोंकी
एताम्	= इस
महतीम्	= बड़ी भारी
चमूम्	= सेनाको
पश्य	= देखिये।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥ ५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥ ६॥

अत्र	= यहाँ (पाण्डवोंकी सेनामें)
शूराः	= बड़े-बड़े शूरवीर हैं,
महेष्वासाः	= (जिनके) बहुत बड़े-बड़े धनुष हैं
च	= तथा (जो)
युधि	= युद्धमें
भीमार्जुनसमाः	= भीम और अर्जुनके समान हैं। (उनमें)
युयुधानः	= युयुधान (सात्यकि),
विराटः	= राजा विराट
च	= और
महारथः	= महारथी
द्रुपदः	= द्रुपद (भी हैं।)
धृष्टकेतुः	= धृष्टकेतु
च	= और
चेकितानः	= चेकितान
च	= तथा
वीर्यवान्	= पराक्रमी
काशिराजः	= काशिराज (भी हैं)
पुरुजित्	= पुरुजित्
च	= और
कुन्तिभोजः	= कुन्तिभोज (—ये दोनों भाई)
च	= तथा
नरपुङ्गवः	= मनुष्योंमें श्रेष्ठ
शैब्यः	= शैब्य (भी हैं।)
विक्रान्तः	= पराक्रमी
युधामन्युः	= युधामन्यु
च	= और
वीर्यवान्	= पराक्रमी
उत्तमौजाः	= उत्तमौजा (भी हैं।)
सौभद्रः	= सुभद्रापुत्र अभिमन्यु
च	= और
द्रौपदेयाः	= द्रौपदीके पाँचों पुत्र (भी हैं।)
सर्वे, एव	= (ये) सब-के-सब
महारथाः	= महारथी हैं।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥ ७॥

द्विजोत्तम	= हे द्विजोत्तम!
अस्माकम्	= हमारे पक्षमें
तु	= भी
ये	= जो
विशिष्टाः	= मुख्य (हैं),
तान्	= उनपर (भी आप)
निबोध	= ध्यान दीजिये।
ते	= आपको
सञ्ज्ञार्थम्	= याद दिलानेके लिये
मम	= मेरी
सैन्यस्य	= सेनाके (जो)
नायकाः	= नायक हैं,
तान्	= उनको (मैं)
ब्रवीमि	= कहता हूँ।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥ ८॥

भवान्	= आप (द्रोणाचार्य)
च	= और
भीष्मः	= पितामह भीष्म
च	= तथा
कर्णः	= कर्ण
च	= और
समितिञ्जयः	= संग्रामविजयी
कृपः	= कृपाचार्य
च	= तथा
तथा	= वैसे
एव	= ही
अश्वत्थामा	= अश्वत्थामा,
विकर्णः	= विकर्ण
च	= और
सौमदत्तिः	= सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ ९॥

अन्ये	= इनके अतिरिक्त
बहवः	= बहुत-से
शूराः	= शूरवीर हैं, (जिन्होंने)
मदर्थे	= मेरे लिये
त्यक्तजीविताः	= अपने जीनेकी इच्छाका भी त्याग कर दिया है,
च	= और
नानाशस्त्रप्रहरणाः	= जो अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको चलाने-वाले हैं (तथा जो)
सर्वे	= सब-के-सब
युद्धविशारदाः	= युद्धकलामें अत्यन्त चतुर हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥ १०॥

द्रोणाचार्यको चुप देखकर दुर्योधनके मनमें विचार हुआ कि वास्तवमें—

अस्माकम्	= हमारी
तत्	= वह
बलम्	= सेना (पाण्डवोंपर विजय करनेमें)
अपर्याप्तम्	= अपर्याप्त है, असमर्थ है; (क्योंकि)
भीष्माभिरक्षितम्	= उसके संरक्षक (उभयपक्षपाती) भीष्म हैं।
तु	= परन्तु
एतेषाम्	= इन पाण्डवोंकी
इदम्	= यह
बलम्	= सेना (हमपर विजय करनेमें)
पर्याप्तम्	= पर्याप्त है, समर्थ है; (क्योंकि)
भीमाभिरक्षितम्	= इसके संरक्षक (निजसेनापक्षपाती) भीमसेन हैं।

विशेष भाव—अर्जुनने अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित नारायणी सेनाको छोड़कर निःशस्त्र भगवान् श्रीकृष्णको स्वीकार किया था* और दुर्योधनने भगवान्‌को छोड़कर उनकी नारायणी सेनाको स्वीकार किया था। तात्पर्य है

---

* **एवमुक्तस्तु कृष्णेन कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः। अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम्॥** (महा० उद्योग० ७। २१)

'श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार धनंजयने संग्रामभूमिमें (अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित एक अक्षौहिणी नारायणी सेनाको छोड़कर) युद्ध न करनेवाले निःशस्त्र उन भगवान् श्रीकृष्णको ही (अपना सहायक) चुना।'

कि अर्जुनकी दृष्टि भगवान्पर थी और दुर्योधनकी दृष्टि वैभवपर थी। जिसकी दृष्टि भगवान्पर होती है, उसका हृदय बलवान् होता है; क्योंकि भगवान्का बल सच्चा है। परन्तु जिसकी दृष्टि सांसारिक वैभवपर होती है, उसका हृदय कमजोर होता है; क्योंकि संसारका बल कच्चा है।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥ ११॥

च	=दुर्योधन बाह्यदृष्टिसे		लोग		रहते हुए
	अपनी सेनाके	**सर्वेषु**	=सभी	**हि**	=निश्चितरूपसे
	महारथियोंसे	**अयनेषु**	=मोर्चोंपर	**भीष्मम्**	=पितामह भीष्मकी
	बोला—	**यथाभागम्**	=अपनी-अपनी	**एव**	=ही
भवन्तः	=आप		जगह	**अभिरक्षन्तु**	=चारों ओरसे रक्षा
सर्वे, एव	=सब-के-सब	**अवस्थिताः**	=दृढ़तासे स्थित		करें।

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥ १२॥

तस्य	=उस (दुर्योधन) के	**कुरुवृद्धः**	=कौरवोंमें वृद्ध	**विनद्य**	=गरजकर
हर्षम्	=(हृदयमें) हर्ष	**प्रतापवान्**	=प्रभावशाली	**उच्चैः**	=जोरसे
सञ्जनयन्	=उत्पन्न करते	**पितामहः**	=पितामह भीष्मने	**शङ्खम्**	=शंख
	हुए	**सिंहनादम्**	=सिंहके समान	**दध्मौ**	=बजाया।

विशेष भाव—दुर्योधनके साथ द्रोणाचार्यका विद्याका सम्बन्ध था और भीष्मजीका जन्मका अर्थात् कौटुम्बिक सम्बन्ध था। जहाँ विद्याका सम्बन्ध होता है, वहाँ पक्षपात नहीं होता, पर जहाँ कौटुम्बिक सम्बन्ध होता है, वहाँ स्नेहवश पक्षपात हो जाता है। अतः दुर्योधनके द्वारा चालाकीसे कहे गये वचन सुनकर द्रोणाचार्य चुप रहे, जिससे दुर्योधनका मानसिक उत्साह भंग हो गया। परन्तु दुर्योधनको उदास देखकर कौटुम्बिक स्नेहके कारण भीष्मजी शंख बजाते हैं।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ १३॥

ततः	=उसके बाद	**पणवानकगोमुखाः**	=ढोल,	**अभ्यहन्यन्त**	=बज उठे। (उनका)
शङ्खाः	=शंख		मृदंग और	**सः**	=वह
च	=और		नरसिंघे बाजे	**शब्दः**	=शब्द
भेर्यः	=भेरी (नगाड़े)	**सहसा**	=एक साथ	**तुमुलः**	=बड़ा भयंकर
च	=तथा	**एव**	=ही	**अभवत्**	=हुआ।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥ १४॥

ततः =उसके बाद
श्वेतैः =सफेद
हयैः =घोड़ोंसे
युक्ते =युक्त
महति =महान्
स्यन्दने =रथपर
स्थितौ =बैठे हुए
माधवः =लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण
च =और
पाण्डवः =पाण्डुपुत्र अर्जुनने
एव =भी
दिव्यौ =दिव्य
शङ्खौ =शंखोंको
प्रदध्मतुः =बड़े जोरसे बजाया।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥ १५॥

हृषीकेशः =अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने
पाञ्चजन्यम् =पाञ्चजन्य नामक (तथा)
धनञ्जयः =धनंजय अर्जुनने
देवदत्तम् =देवदत्त नामक (शंख बजाया और)
भीमकर्मा =भयानक कर्म करनेवाले
वृकोदरः =वृकोदर भीमने
पौण्ड्रम् =पौण्ड्र नामक
महाशङ्खम् =महाशंख
दध्मौ =बजाया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥ १६॥

कुन्तीपुत्रः =कुन्तीपुत्र
राजा =राजा
युधिष्ठिरः =युधिष्ठिरने
अनन्तविजयम् =अनन्तविजय नामक (शंख बजाया तथा)
नकुलः =नकुल
च =और
सहदेवः =सहदेवने
सुघोषमणिपुष्पकौ =सुघोष और मणिपुष्पक नामक (शंख बजाये)।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥ १७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥ १८॥

पृथिवीपते =हे राजन्!
परमेष्वासः =श्रेष्ठ धनुषवाले
काश्यः =काशिराज
च =और
महारथः =महारथी
शिखण्डी =शिखण्डी
च =तथा
धृष्टद्युम्नः =धृष्टद्युम्न
च =एवं
विराटः =राजा विराट
च =और
अपराजितः =अजेय
सात्यकिः =सात्यकि,
द्रुपदः =राजा द्रुपद
च =और
द्रौपदेयाः =द्रौपदीके पाँचों पुत्र
च =तथा
महाबाहुः =लम्बी-लम्बी भुजाओंवाले
सौभद्रः =सुभद्रापुत्र अभिमन्यु (—इन सभीने)
सर्वशः =सब ओरसे
पृथक्, पृथक् =अलग-अलग (अपने-अपने)
शङ्खान् =शंख
दध्मुः =बजाये।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥ १९॥

च = और
सः = (पाण्डव-सेनाके शंखोंके) उस
तुमुलः = भयंकर
घोषः = शब्दने
नभः = आकाश
च = और
पृथिवीम् = पृथ्वीको
एव = भी
व्यनुनादयन् = गुँजाते हुए
धार्तराष्ट्राणाम् = अन्यायपूर्वक राज्य हड़पनेवाले दुर्योधन आदिके
हृदयानि = हृदय
व्यदारयत् = विदीर्ण कर दिये।

~~***~~

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥ २०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

महीपते = हे महीपते धृतराष्ट्र!
अथ = अब
शस्त्रसम्पाते = शस्त्र चलनेकी
प्रवृत्ते = तैयारी हो ही रही थी कि
तदा = उस समय
धार्तराष्ट्रान् = अन्यायपूर्वक राज्यको धारण करनेवाले राजाओं और उनके साथियोंको
व्यवस्थितान् = व्यवस्थितरूपसे सामने खड़े हुए
दृष्ट्वा = देखकर
कपिध्वजः = कपिध्वज
पाण्डवः = पाण्डुपुत्र अर्जुनने
धनुः = (अपना) गाण्डीव धनुष
उद्यम्य = उठा लिया (और)
हृषीकेशम् = अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे
इदम् = यह
वाक्यम् = वचन
आह = बोले।

~~***~~

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ २१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे॥ २२॥

अर्जुन बोले—

अच्युत = हे अच्युत!
उभयोः = दोनों
सेनयोः = सेनाओंके
मध्ये = मध्यमें
मे = मेरे
रथम् = रथको (आप तबतक)
स्थापय = खड़ा कीजिये,
यावत् = जबतक
अहम् = मैं (युद्धक्षेत्रमें)
अवस्थितान् = खड़े हुए
एतान् = इन
योद्धुकामान् = युद्धकी इच्छावालोंको
निरीक्षे = देख न लूँ कि
अस्मिन् = इस
रणसमुद्यमे = युद्धरूप उद्योगमें
मया = मुझे
कैः = किन-किनके
सह = साथ
योद्धव्यम् = युद्ध करना योग्य है।

~~***~~

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ २३॥

दुर्बुद्धेः = दुष्टबुद्धि
धार्तराष्ट्रस्य = दुर्योधनका
युद्धे = युद्धमें
प्रियचिकीर्षवः = प्रिय करनेकी इच्छावाले
ये = जो
एते = ये राजालोग
अत्र = इस सेनामें
समागताः = आये हुए हैं,
योत्स्यमानान् = युद्ध करनेको उतावले हुए (इन सबको)
अहम् = मैं
अवेक्षे = देख लूँ।

~~~

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥ २४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति॥ २५॥

संजय बोले—

भारत = हे भरतवंशी राजन्!
गुडाकेशेन = निद्राविजयी अर्जुनके द्वारा
एवम् = इस तरह
उक्तः = कहनेपर
हृषीकेशः = अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने
उभयोः = दोनों
सेनयोः = सेनाओंके
मध्ये = मध्यभागमें
भीष्मद्रोणप्रमुखतः = पितामह भीष्म और आचार्य द्रोणके सामने
च = तथा
सर्वेषाम् = सम्पूर्ण
महीक्षिताम् = राजाओंके सामने
रथोत्तमम् = श्रेष्ठ रथको
स्थापयित्वा = खड़ा करके
इति = इस प्रकार
उवाच = कहा कि
पार्थ = 'हे पार्थ!
एतान् = इन
समवेतान् = इकट्ठे हुए
कुरून् = कुरुवंशियोंको
पश्य = देख।'

~~~

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥ २६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

अथ = उसके बाद
पार्थः = पृथानन्दन अर्जुनने
तत्र = उन
उभयोः = दोनों
एव = ही
सेनयोः = सेनाओंमें
स्थितान् = स्थित
पितॄन् = पिताओंको,
पितामहान् = पितामहोंको,
आचार्यान् = आचार्योंको,
मातुलान् = मामाओंको,
भ्रातॄन् = भाइयोंको,
पुत्रान् = पुत्रोंको,
पौत्रान् = पौत्रोंको
तथा = तथा
सखीन् = मित्रोंको,
श्वशुरान् = ससुरोंको
च = और
सुहृदः = सुहृदोंको
अपि = भी
अपश्यत् = देखा।

~~~
~~~

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्॥ २७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अवस्थितान्	=अपनी-अपनी जगहपर स्थित	**समीक्ष्य**	=देखकर	**कृपया**	=कायरतासे
		सः	=वे	**आविष्टः**	=युक्त होकर
तान्	=उन	**कौन्तेयः**	=कुन्तीनन्दन अर्जुन	**विषीदन्**	=विषाद करते हुए
सर्वान्	=सम्पूर्ण			**इदम्**	=ऐसा
बन्धून्	=बान्धवोंको	**परया**	=अत्यन्त	**अब्रवीत्**	=बोले।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥ २८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥ २९॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥ ३०॥

अर्जुन बोले—

कृष्ण	=हे कृष्ण!	**परिशुष्यति**	=सूख रहा है	**च**	=और
युयुत्सुम्	=युद्धकी इच्छावाले	**च**	=तथा	**त्वक्**	=त्वचा
इमम्	=इस	**मे**	=मेरे	**एव**	=भी
स्वजनम्	=कुटुम्ब-समुदायको	**शरीरे**	=शरीरमें	**परिदह्यते**	=जल रही है।
समुपस्थितम्	=अपने सामने उपस्थित	**वेपथुः**	=कँपकँपी (आ रही है)	**मे**	=मेरा
				मनः	=मन
दृष्ट्वा	=देखकर	**च**	=एवं	**भ्रमति, इव**	=भ्रमित-सा हो रहा है
मम	=मेरे	**रोमहर्षः**	=रोंगटे खड़े		
गात्राणि	=अंग	**जायते**	=हो रहे हैं।	**च**	=और (मैं)
सीदन्ति	=शिथिल हो रहे हैं	**हस्तात्**	=हाथसे	**अवस्थातुम्**	=खड़े रहनेमें
च	=और	**गाण्डीवम्**	=गाण्डीव धनुष	**च**	=भी
मुखम्	=मुख	**स्रंसते**	=गिर रहा है	**न, शक्नोमि**	=असमर्थ हो रहा हूँ।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥ ३१॥

केशव	=हे केशव! (मैं)	**विपरीतानि**	=विपरीत	**हत्वा**	=मारकर
		पश्यामि	=देख रहा हूँ (और)	**श्रेयः**	=श्रेय (लाभ)
निमित्तानि	=लक्षणों (शकुनों) को			**च**	=भी
		आहवे	=युद्धमें	**न**	=नहीं
च	=भी	**स्वजनम्**	=स्वजनोंको	**अनुपश्यामि**	=देख रहा हूँ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥ ३२॥

कृष्ण	=हे कृष्ण! (मैं)	**च**	=और	**राज्येन**	=राज्यसे
न	=न (तो)	**न**	=न	**किम्**	=क्या लाभ?
विजयम्	=विजय	**सुखानि**	=सुखोंको (ही चाहता हूँ)।	**भोगैः**	=भोगोंसे (क्या लाभ?)
काङ्क्षे	=चाहता हूँ,				
न	=न			**वा**	=अथवा
राज्यम्	=राज्य (चाहता हूँ)	**गोविन्द**	=हे गोविन्द!	**जीवितेन**	=जीनेसे (भी)
		नः	=हमलोगोंको	**किम्**	=क्या लाभ?

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ ३३॥

येषाम्	=जिनके	**सुखानि**	=सुखकी	**च**	=और
अर्थे	=लिये	**काङ्क्षितम्**	=इच्छा है,	**धनानि**	=धनकी आशाका
नः	=हमारी	**ते**	=वे (ही)		
राज्यम्	=राज्य,	**इमे**	=ये सब (अपने)	**त्यक्त्वा**	=त्याग करके
भोगाः	=भोग			**युद्धे**	=युद्धमें
च	=और	**प्राणान्**	=प्राणोंकी	**अवस्थिताः**	=खड़े हैं।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥ ३४॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥ ३५॥

आचार्याः	=आचार्य,	**तथा**	=तथा (अन्य जितने भी)	**मधुसूदन**	=हे मधुसूदन!(मुझे)
पितरः	=पिता,			**त्रैलोक्य-**	
पुत्राः	=पुत्र	**सम्बन्धिनः**	=सम्बन्धी हैं, (मुझपर)	**राज्यस्य**	=त्रिलोकीका राज्य
च	=और			**हेतोः**	=मिलता हो
तथा, एव	=उसी प्रकार	**घ्नतः**	=प्रहार करनेपर	**अपि**	=तो भी (मैं इनको मारना नहीं चाहता),
पितामहाः	=पितामह,	**अपि**	=भी (मैं)		
मातुलाः	=मामा,	**एतान्**	=इनको	**नु**	=फिर
श्वशुराः	=ससुर,	**हन्तुम्**	=मारना	**महीकृते**	=पृथ्वीके लिये तो (मैं इनको मारूँ ही)
पौत्राः	=पौत्र,	**न**	=नहीं		
श्यालाः	=साले	**इच्छामि**	=चाहता, (और)	**किम्**	=क्या?

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः॥ ३६॥

जनार्दन	= हे जनार्दन! (इन)	**का**	= क्या	**हत्वा**	= मारनेसे तो
धार्तराष्ट्रान्	= धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको	**प्रीतिः**	= प्रसन्नता	**अस्मान्**	= हमें
		स्यात्	= होगी?	**पापम्**	= पाप
निहत्य	= मारकर	**एतान्**	= इन	**एव**	= ही
नः	= हमलोगोंको	**आततायिनः**	= आततायियोंको	**आश्रयेत्**	= लगेगा।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥ ३७॥

तस्मात्	= इसलिये	**वयम्**	= हम		कुटुम्बियोंको
स्वबान्धवान्	= अपने बान्धव (इन)	**न, अर्हाः**	= योग्य नहीं हैं;	**हत्वा**	= मारकर (हम)
धार्तराष्ट्रान्	= धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको	**हि**	= क्योंकि	**कथम्**	= कैसे
		माधव	= हे माधव!	**सुखिनः**	= सुखी
हन्तुम्	= मारनेके लिये	**स्वजनम्**	= अपने	**स्याम**	= होंगे?

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥ ३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥ ३९॥

यद्यपि	= यद्यपि	**च**	= और	**दोषम्**	= दोषको
लोभोपहतचेतसः	= लोभके कारण जिनका विवेक-विचार लुप्त हो गया है, ऐसे	**मित्रद्रोहे**	= मित्रोंके साथ द्वेष करनेसे होनेवाले	**प्रपश्यद्भिः**	= ठीक-ठीक जाननेवाले
				अस्माभिः	= हम लोग
		पातकम्	= पापको	**अस्मात्**	= इस
		न	= नहीं	**पापात्**	= पापसे
एते	= ये (दुर्योधन आदि)	**पश्यन्ति**	= देखते, (तो भी)	**निवर्तितुम्**	= निवृत्त होनेका
कुलक्षयकृतम्	= कुलका नाश करनेसे होनेवाले	**जनार्दन**	= हे जनार्दन!	**ज्ञेयम्**	= विचार
		कुलक्षयकृतम्	= कुलका नाश करनेसे होनेवाले	**कथम्**	= क्यों
दोषम्	= दोषको			**न**	= न करें?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥ ४०॥

कुलक्षये	= कुलका क्षय होनेपर	**उत**	= और	**कृत्स्नम्**	= सम्पूर्ण
सनातनाः	= सदासे चलते आये	**धर्मे**	= धर्मका	**कुलम्**	= कुलको
कुलधर्माः	= कुलधर्म	**नष्टे**	= नाश होनेपर (बचे हुए)	**अधर्मः**	= अधर्म
प्रणश्यन्ति	= नष्ट हो जाते हैं			**अभिभवति**	= दबा लेता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥ ४१॥

कृष्ण = हे कृष्ण!
अधर्माभिभवात् = अधर्मके अधिक बढ़ जानेसे
कुलस्त्रियः = कुलकी स्त्रियाँ
प्रदुष्यन्ति = दूषित हो जाती हैं (और)
वार्ष्णेय = हे वार्ष्णेय!
स्त्रीषु = स्त्रियोंके
दुष्टासु = दूषित होनेपर
वर्णसङ्करः = वर्णसंकर
जायते = पैदा हो जाते हैं।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥ ४२॥

सङ्करः = वर्णसंकर
कुलघ्नानाम् = कुलघातियोंको
च = और
कुलस्य = कुलको
नरकाय = नरकमें ले जानेवाला
एव = ही (होता है)।
लुप्तपिण्डोदकक्रियाः = श्राद्ध और तर्पण न मिलनेसे
एषाम् = इन (कुलघातियों) के
पितरः = पितर
हि = भी (अपने स्थानसे)
पतन्ति = गिर जाते हैं।

विशेष भाव—पितरोंमें एक 'आजान' पितर होते हैं और एक 'मर्त्य' पितर। पितरलोकमें रहनेवाले पितर 'आजान' हैं और मनुष्यलोकसे मरकर गये पितर 'मर्त्य' हैं। श्राद्ध और तर्पण न मिलनेसे मर्त्य पितरोंका पतन होता है। पतन उन्हीं मर्त्य पितरोंका होता है, जो कुटुम्बसे, सन्तानसे सम्बन्ध रखते हैं और उनसे श्राद्ध-तर्पणकी आशा रखते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ ४३॥

एतैः = इन
वर्णसङ्करकारकैः = वर्णसंकर पैदा करनेवाले
दोषैः = दोषोंसे
कुलघ्नानाम् = कुलघातियोंके
शाश्वताः = सदासे चलते आये
कुलधर्माः = कुलधर्म
च = और
जातिधर्माः = जातिधर्म
उत्साद्यन्ते = नष्ट हो जाते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥ ४४॥

जनार्दन = हे जनार्दन!
उत्सन्नकुलधर्माणाम् = जिनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं,
मनुष्याणाम् = (उन) मनुष्योंका
अनियतम् = बहुत कालतक
नरके = नरकोंमें
वासः = वास
भवति = होता है,
इति = ऐसा (हम)
अनुशुश्रुम = सुनते आये हैं।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ ४५॥

अहो	=यह बड़े आश्चर्य (और)	**महत्पापम्**	=बड़ा भारी पाप	**राज्यसुखलोभेन**	= राज्य और सुखके लोभसे
		कर्तुम्	=करनेका		
बत	=खेदकी बात है कि	**व्यवसिताः**	=निश्चय कर बैठे हैं,	**स्वजनम्**	=अपने स्वजनोंको
				हन्तुम्	=मारनेके लिये
वयम्	=हमलोग	**यत्**	=जो कि	**उद्यताः**	=तैयार हो गये हैं।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ ४६॥

यदि	=अगर (ये)	**रणे**	=युद्धभूमिमें	**हन्युः**	=मार भी दें (तो)
शस्त्रपाणयः	=हाथोंमें शस्त्र-अस्त्र लिये हुए	**अप्रतीकारम्**	=सामना न करनेवाले	**तत्**	=वह
				मे	=मेरे लिये
धार्तराष्ट्राः	=धृतराष्ट्रके पक्षपाती लोग	**अशस्त्रम्**	=(तथा) शस्त्ररहित	**क्षेमतरम्**	=बड़ा ही हितकारक
		माम्	=मुझे	**भवेत्**	=होगा।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४७॥

संजय बोले—

एवम्	=ऐसा	**अर्जुनः**	=अर्जुन	**सङ्ख्ये**	=युद्धभूमिमें
उक्त्वा	=कहकर	**सशरम्**	=बाणसहित	**रथोपस्थे**	=रथके मध्यभागमें
शोकसंविग्नमानसः	= शोकाकुल मनवाले	**चापम्**	=धनुषका		
		विसृज्य	=त्याग करके	**उपाविशत्**	=बैठ गये।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

विशेष भाव—गीताकी पुष्पिकामें '**ब्रह्मविद्यायाम्**', '**योगशास्त्रे**' और '**श्रीकृष्णार्जुनसंवादे**'—ये तीन पद तो एकवचनमें आये हैं, पर '**श्रीमद्भगवद्गीतासु**' और '**उपनिषत्सु**'— ये दो पद बहुवचनमें आये हैं। इसका तात्पर्य है कि भगवद्वाणी सम्पूर्ण उपनिषदोंमें श्रीमद्भगवद्गीता भी एक उपनिषद् है, जिसमें 'ब्रह्मविद्या' (ज्ञानयोग), 'योगशास्त्र' (कर्मयोग) और 'श्रीकृष्णार्जुनसंवाद' (भक्तियोग)—तीनों आये हैं।

गीतामें 'श्रीकृष्णार्जुनसंवाद' का आरम्भ और अन्त भक्तिमें ही हुआ है। आरम्भमें अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ़ होकर भगवान्‌के शरण होते हैं—'**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' (२। ७) और अन्तमें भगवान्‌के द्वारा '**मामेकं शरणं व्रज**' पदोंसे पूर्ण शरणागतिकी प्रेरणा करनेपर अर्जुन पूर्णतया शरणागत हो जाते हैं—'**करिष्ये वचनं तव**' (१८। ७३)। अर्जुनने अपने श्रेय (कल्याण) का उपाय पूछा था (२। ७, ३। २, ५। १), इसलिये भगवान्‌ने गीतामें 'ज्ञानयोग' और 'कर्मयोग' का भी वर्णन किया है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

(दूसरा अध्याय)

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ १ ॥

संजय बोले—

तथा = वैसी
कृपया = कायरतासे
आविष्टम् = व्याप्त हुए
तम् = उन अर्जुनके प्रति,
विषीदन्तम् = जो कि विषाद कर रहे हैं (और)
अश्रुपूर्णा-कुलेक्षणम् = आँसुओंके कारण जिनके नेत्रोंकी देखनेकी शक्ति अवरुद्ध हो रही है,
मधुसूदनः = भगवान् मधुसूदन
इदम् = यह (आगे कहे जानेवाले)
वाक्यम् = वचन
उवाच = बोले।

~~~~~

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—

अर्जुन = हे अर्जुन!
विषमे = इस विषम अवसरपर
त्वा = तुम्हें
इदम् = यह
कश्मलम् = कायरता
कुतः = कहाँसे
समुपस्थितम् = प्राप्त हुई, (जिसका कि)
अनार्यजुष्टम् = श्रेष्ठ पुरुष सेवन नहीं करते,
अस्वर्ग्यम् = (जो) स्वर्गको देनेवाली नहीं है (और)
अकीर्तिकरम् = कीर्ति करनेवाली भी नहीं है।

~~~~~

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ ३ ॥

पार्थ = हे पृथानन्दन अर्जुन!
क्लैब्यम् = इस नपुंसकताको
मा, स्म, गमः = मत प्राप्त हो; = (क्योंकि)
त्वयि = तुम्हारेमें
एतत् = यह
न, उपपद्यते = उचित नहीं है।
परन्तप = हे परन्तप!
क्षुद्रम्, हृदयदौर्बल्यम् = हृदयकी इस तुच्छ दुर्बलताका
त्यक्त्वा = त्याग करके (युद्धके लिये)
उत्तिष्ठ = खड़े हो जाओ।

विशेष भाव—इस बातका विस्तार भगवान्ने आगे इकतीसवेंसे अड़तीसवें श्लोकतक किया है।

~~~~~
~~~~~

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

अर्जुन बोले—

मधुसूदन	=हे मधुसूदन!	**द्रोणम्**	=द्रोणके		(क्योंकि)
अहम्	=मैं	**प्रति**	=साथ	**अरिसूदन**	=हे अरिसूदन!
सङ्ख्ये	=रणभूमिमें	**इषुभिः**	=बाणोंसे		(ये)
भीष्मम्	=भीष्म	**कथम्**	=कैसे	**पूजार्हौ**	=दोनों ही पूजाके योग्य हैं।
च	=और	**योत्स्यामि**	=युद्ध करूँ?		

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥

महानुभावान्	=महानुभाव	**अपि**	=भी		(तथा)
गुरून्	=गुरुजनोंको	**श्रेयः**	=श्रेष्ठ (समझता हूँ);	**अर्थकामान्**	=धनकी कामनाकी मुख्यतावाले
अहत्वा	=न मारकर	**हि**	=क्योंकि		
इह	=इस	**गुरून्**	=गुरुजनोंको	**भोगान्**	=भोगोंको
लोके	=लोकमें (मैं)	**हत्वा**	=मारकर	**एव**	=ही
भैक्ष्यम्	=भिक्षाका अन्न	**इह**	=यहाँ	**तु**	=तो
भोक्तुम्	=खाना	**रुधिरप्रदिग्धान्**	=रक्तसे सने हुए	**भुञ्जीय**	=भोगूँगा!

विशेष भाव—'महानुभावान्'—भीष्म, द्रोण आदि गुरुजनोंका अनुभाव, भीतरका भाव श्रेष्ठ है, शुद्ध है; क्योंकि युद्ध करते हुए भी उनमें पक्षपात नहीं है।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो-
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ ६॥

एतद्	=(हम) यह		न करना—इन)	**नः**	=हमें
च	=भी	**कतरत्**	=दोनोंमेंसे कौन-सा	**जयेयुः**	=जीतेंगे।
न	=नहीं	**गरीयः**	=अत्यन्त श्रेष्ठ है	**यान्**	=जिनको
विद्मः	=जानते (कि)	**यत्, वा**	=अथवा (हम उन्हें)	**हत्वा**	=मारकर (हम)
नः	=हमलोगोंके लिये (युद्ध करना और	**जयेम**	=जीतेंगे	**न, जिजीविषामः**	= जीना भी नहीं चाहते,
		यदि, वा	=या (वे)		

ते = वे
एव = ही
धार्तराष्ट्राः = धृतराष्ट्रके सम्बन्धी
प्रमुखे = (हमारे) सामने
अवस्थिताः = खड़े हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ ७॥

कार्पण्य-दोषोपहतस्वभाव: = कायरतारूप दोषसे तिरस्कृत स्वभाववाला (और)
धर्मसम्मूढचेताः = धर्मके विषयमें मोहित अन्तः-करणवाला (मैं)
त्वाम् = आपसे
पृच्छामि = पूछता हूँ (कि)
यत् = जो
निश्चितम् = निश्चित
श्रेयः = कल्याण करनेवाली
स्यात् = हो,
तत् = वह (बात)
मे = मेरे लिये
ब्रूहि = कहिये।
अहम् = मैं
ते = आपका
शिष्यः = शिष्य हूँ।
त्वाम् = आपके
प्रपन्नम् = शरण हुए
माम् = मुझे
शाधि = शिक्षा दीजिये।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं-
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ ८॥

हि = कारण कि
भूमौ = पृथ्वीपर
ऋद्धम् = धन-धान्य-समृद्ध (और)
असपत्नम् = शत्रुरहित
राज्यम् = राज्य
च = तथा
सुराणाम् = (स्वर्गमें) देवताओंका
आधिपत्यम् = आधिपत्य
अवाप्य = मिल जाय
अपि = तो भी
इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियोंको
उच्छोषणम् = सुखानेवाला
मम = मेरा
यत् = जो
शोकम् = शोक है, (वह)
अपनुद्यात् = दूर हो जाय (—ऐसा मैं)
न = नहीं
प्रपश्यामि = देखता हूँ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९॥

संजय बोले—

परन्तप = हे शत्रुतापन धृतराष्ट्र!
एवम् = ऐसा
उक्त्वा = कहकर
गुडाकेशः = निद्राको जीतनेवाले अर्जुन
हृषीकेशम् = अन्तर्यामी
गोविन्दम् = भगवान् गोविन्दसे
न, योत्स्ये = 'मैं युद्ध नहीं

	करूँगा'
इति	=ऐसा
ह	=साफ-साफ
उक्त्वा	=कहकर
तूष्णीम्	=चुप
बभूव	=हो गये।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १०॥

भारत	=हे भरतवंशोद्भव धृतराष्ट्र!
उभयोः	=दोनों
सेनयोः	=सेनाओंके
मध्ये	=मध्यभागमें
विषीदन्तम्	=विषाद करते हुए
	=उस (अर्जुनके प्रति)
प्रहसन्, इव	=हँसते हुए-से
हृषीकेशः	=भगवान् हृषीकेश
इदम्	=यह (आगे कहे जानेवाले)
वचः	=वचन
उवाच	=बोले।

विशेष भाव—धर्मभूमि कुरुक्षेत्रके एक भागमें कौरव-सेना खड़ी है और दूसरे भागमें पाण्डव-सेना। दोनों सेनाओंके मध्यभागमें श्वेत घोड़ोंसे युक्त एक महान् रथ खड़ा है। उस रथके एक भागमें भगवान् श्रीकृष्ण बैठे हैं और एक भागमें अर्जुन! अर्जुनके निमित्त मनुष्यमात्रका कल्याण करनेके लिये भगवान् अपना अलौकिक उपदेश आरम्भ करते हैं और सर्वप्रथम शरीर तथा शरीरीके विभागका वर्णन करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥

श्रीभगवान् बोले—

त्वम्	=तुमने
अशोच्यान्	=शोक न करनेयोग्यका
अन्वशोचः	=शोक किया है
च	=और
प्रज्ञावादान्	=विद्वत्ता (पण्डिताई) की बातें
भाषसे	=कह रहे हो; (परन्तु)
गतासून्	=जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये
च	=और
अगतासून्	=जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये
पण्डिताः	=पण्डितलोग
न, अनुशोचन्ति	= शोक नहीं करते।

विशेष भाव—एक विभाग शरीरका है और एक विभाग शरीरी (शरीरवाले) का है। दोनों एक-दूसरेसे सर्वथा सम्बन्ध-रहित हैं। दोनोंका स्वभाव ही अलग-अलग है। एक जड़ है, एक चेतन। एक नाशवान् है, एक अविनाशी। एक विकारी है, एक निर्विकार। एकमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता है और एक अनन्तकालतक ज्यों-का-त्यों ही रहता है—'**भूतग्रामः स एवायम्**' (गीता ८। १९), '**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च**' (गीता १४। २)।

शरीर और शरीरी—दोनों ही अशोच्य हैं। शरीरका निरन्तर विनाश होता है; अतः उसके लिये शोक करना नहीं बनता, और शरीरीका विनाश कभी होता ही नहीं; अतः उसके लिये भी शोक करना नहीं बनता। शोक केवल मूर्खतासे होता है। शरीरकी निरन्तर सहजनिवृत्ति है और शरीरी निरन्तर सबको प्राप्त है। शरीर और शरीरीके इस विभागको जाननेवाले विवेकी मनुष्य मृत अथवा जीवित, किसी भी प्राणीके लिये कभी शोक नहीं करते। उनकी दृष्टिमें बदलनेवाले शरीरका विभाग ही अलग है और न बदलनेवाले शरीरी अर्थात् स्वरूपकी सत्ताका विभाग ही अलग है।

गीताका उपदेश शरीर और शरीरीके भेदसे आरम्भ होता है। दूसरे दार्शनिक ग्रन्थ तो आत्मा और अनात्माका इदंतासे वर्णन करते हैं, पर गीता इदंतासे आत्मा-अनात्माका वर्णन न करके सबके अनुभवके अनुसार देह-देही, शरीर-शरीरीका वर्णन करती है। यह गीताकी विलक्षणता है! साधक अपना कल्याण चाहता है तो उसके लिये सबसे

पहले यह जानना आवश्यक है कि 'मैं कौन हूँ'। अर्जुनने भी अपने कल्याणका उपाय पूछा है—'**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे**' (२। ७)। देह और देहीका भेद स्वीकार करनेसे ही कल्याण हो सकता है। जबतक 'मैं देह हूँ'—यह भाव रहेगा, तबतक कितना ही उपदेश सुनते रहें, सुनाते रहें और साधन भी करते रहें, कल्याण नहीं होगा।

जो वस्तु अपनी न हो, उसको अपना मान लेना और जो वस्तु वास्तवमें अपनी हो, उसको अपना न मानना बहुत बड़ी भूल है। अपनी वस्तु वही हो सकती है, जो सदा हमारे साथ रहे और हम सदा उसके साथ रहें। शरीर एक क्षण भी हमारे साथ नहीं रहता और परमात्मा निरन्तर हमारे साथ रहते हैं। कारण कि शरीरकी सजातीयता संसारके साथ है और हमारी अर्थात् शरीरीकी सजातीयता परमात्माके साथ है। इसलिये शरीरको अपना मानना और परमात्माको अपना न मानना सबसे बड़ी भूल है। इस भूलको मिटानेके लिये भगवान् गीतामें सबसे पहले शरीर-शरीरीके भेदका वर्णन करते हैं और साधकको उद्‌बोधन करते हैं कि जिसकी मृत्यु होती है, वह तुम नहीं हो अर्थात् तुम शरीर नहीं हो। तुम ज्ञाता (जाननेवाले) हो, शरीर ज्ञेय (जाननेमें आनेवाला) है। (गीता १३। १) तुम सर्वदेशीय हो—'**नित्यः सर्वगतः**' (गीता २। २४), '**येन सर्वमिदं ततम्**' (गीता २। १७), शरीर एकदेशीय है। तुम चिन्मय लोकके निवासी हो, शरीर जड़ संसारका निवासी है। तुम मुझ परमात्माके अंश हो—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७), शरीर प्रकृतिका अंश है—'**मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि**' (गीता १५। ७)। तुम निरन्तर अमरतामें रहते हो, शरीर निरन्तर मृत्युमें रहता है। शरीरकी क्षतिसे तुम्हारी किंचिन्मात्र भी क्षति नहीं होती। अतः शरीरको लेकर तुम्हें शोक, चिन्ता, भय आदि नहीं होने चाहिये।

शरीरी किसी शरीरसे लिप्त नहीं है, इसलिये उसको सर्वव्यापी कहा गया है—'**सर्वगतः**' (गीता २। २४), '**येन सर्वमिदं ततम्**' (२। १७)। तात्पर्य हुआ कि साधकका स्वरूप सत्तामात्र है; अतः वास्तवमें वह शरीरी (शरीरवाला) नहीं है, प्रत्युत अशरीरी है। इसलिये भगवान्‌ने उसको अव्यक्त भी कहा है—'**अव्यक्तः**' (२। २५), '**अव्यक्तादीनि भूतानि**' (२। २८)। शरीर प्रतिक्षण नष्ट होनेवाला और असत् है। असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**' (२। १६)। जिसकी सत्ता विद्यमान नहीं है, ऐसे असत् शरीरको लेकर साधक शरीरी (शरीरवाला) कैसे हो सकता है? इसलिये साधक शरीर भी नहीं है और शरीरी भी नहीं है। परन्तु इस प्रकरणमें भगवान्‌ने साधकोंको समझानेकी दृष्टिसे उस सत्तामात्र स्वरूपको 'शरीरी' (देही) नामसे कहा है। 'शरीरी' कहनेका तात्पर्य यही बताना है कि तुम शरीर नहीं हो।

जिस समय हम शरीर और शरीरीका विचार करते हैं, उस समय भी शरीर और शरीरी वैसे ही हैं और जिस समय विचार नहीं करते, उस समय भी वे वैसे ही हैं। विचार करनेसे वस्तुस्थितिमें तो कोई फर्क नहीं पड़ता, पर साधकका मोह मिट जाता है, उसका मनुष्यजन्म सफल हो जाता है।

मनुष्यशरीर विवेकप्रधान है। अतः 'मैं शरीर नहीं हूँ'—यह विवेक मनुष्यशरीरमें ही हो सकता है। शरीरको मैं-मेरा मानना मनुष्यबुद्धि नहीं है, प्रत्युत पशुबुद्धि है। इसलिये श्रीशुकदेवजी महाराज राजा परीक्षित्‌से कहते हैं—

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि॥

(श्रीमद्भा० १२। ५। २)

'हे राजन्! अब तुम यह पशुबुद्धि छोड़ दो कि मैं मर जाऊँगा। जैसे शरीर पहले नहीं था, पीछे पैदा हुआ और फिर मर जायगा, ऐसे तुम पहले नहीं थे, पीछे पैदा हुए और फिर मर जाओगे—यह बात नहीं है।'

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥

जातु	= किसी कालमें	**जनाधिपाः**	= राजालोग	**वयम्**	= (मैं, तू और राजालोग—) हम
अहम्	= मैं	**न**	= नहीं (थे),		
न	= नहीं	**न, तु, एव**	= यह बात भी नहीं है;	**सर्वे**	= सभी
आसम्	= था (और)			**न**	= नहीं
त्वम्	= तू	**च**	= और	**भविष्यामः**	= रहेंगे,
न	= नहीं (था)	**अतः**	= इसके	**एव**	= (यह बात) भी
इमे	= (तथा) ये	**परम्**	= बाद (भविष्यमें)	**न**	= नहीं है।

विशेष भाव—इस श्लोकमें परमात्मा और जीवात्माके साधर्म्यका वर्णन है। भगवान् कहते हैं कि मैं कृष्णरूपसे, तू अर्जुनरूपसे तथा सब लोग राजारूपसे पहले भी नहीं थे और आगे भी नहीं रहेंगे, पर सत्तारूपसे हम सब पहले भी थे और आगे भी रहेंगे। तात्पर्य है कि मैं, तू तथा राजालोग—ये तीनों शरीरको लेकर तो अलग-अलग हैं, पर सत्ताको लेकर एक ही हैं। शरीर तो पहले भी नहीं थे और बादमें भी नहीं रहेंगे, पर स्वरूप (स्वयं) की सत्ता पहले भी थी, बादमें भी रहेगी और वर्तमानमें है ही। जब ये शरीर नहीं थे, तब भी सत्ता थी और जब ये शरीर नहीं रहेंगे, तब भी सत्ता रहेगी। एक सत्ताके सिवाय कुछ नहीं है।

मैं, तू तथा ये राजालोग—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि परमात्माकी सत्ता और जीवकी सत्ता एक ही है अर्थात् 'है' और 'हूँ'—दोनोंमें एक ही चिन्मय सत्ता है। 'मैं' (अहम्) के सम्बन्धसे ही 'हूँ' है। अगर 'मैं' (अहम्) का सम्बन्ध न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' ही रहेगा। वह 'है' अर्थात् चिन्मय सत्तामात्र ही हमारा स्वरूप है, शरीर हमारा स्वरूप नहीं है। इसलिये शरीरको लेकर शोक नहीं करना चाहिये।

भूतकाल और भविष्यकालकी घटना जितनी दूर दीखती है, उतनी ही दूर वर्तमान भी है। जैसे भूत और भविष्यसे हमारा सम्बन्ध नहीं है, ऐसे ही वर्तमानसे भी हमारा सम्बन्ध नहीं है। जब सम्बन्ध ही नहीं है, तो फिर भूत, भविष्य और वर्तमानमें क्या फर्क हुआ? ये तीनों कालके अन्तर्गत हैं, जबकि हमारा स्वरूप कालसे अतीत है। कालका तो खण्ड होता है, पर स्वरूप (सत्ता) अखण्ड है। शरीरको अपना स्वरूप माननेसे ही भूत, भविष्य और वर्तमानमें फर्क दीखता है। वास्तवमें भूत, भविष्य और वर्तमान विद्यमान है ही नहीं!

अनेक युग बदल जायँ तो भी शरीरी बदलता नहीं, वह-का-वह ही रहता है; क्योंकि वह परमात्माका अंश है। परन्तु शरीर बदलता ही रहता है, क्षणमात्र भी वह नहीं रहता।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥

देहिनः	= देहधारीके	**यौवनम्**	= जवानी (और)		प्राप्ति होती है।
अस्मिन्	= इस	**जरा**	= वृद्धावस्था	**तत्र**	= उस विषयमें
देहे	= मनुष्यशरीरमें		(होती है),	**धीरः**	= धीर मनुष्य
यथा	= जैसे	**तथा**	= ऐसे ही	**न, मुह्यति**	= मोहित नहीं
कौमारम्	= बालकपन,	**देहान्तरप्राप्तिः**	= दूसरे शरीरकी		होता।

विशेष भाव—शरीर कभी एकरूप रहता ही नहीं और सत्ता कभी अनेकरूप होती ही नहीं। शरीर जन्मसे पहले भी नहीं था, मरनेके बाद भी नहीं रहेगा तथा वर्तमानमें भी वह प्रतिक्षण मर रहा है। वास्तवमें गर्भमें आते ही शरीरके मरनेका क्रम (परिवर्तन) शुरू हो जाता है। बाल्यावस्था मर जाय तो युवावस्था आ जाती है, युवावस्था मर जाय तो वृद्धावस्था आ जाती है और वृद्धावस्था मर जाय तो देहान्तर-अवस्था अर्थात् दूसरे शरीरकी प्राप्ति हो जाती है। ये सब अवस्थाएँ शरीरकी हैं। बाल, युवा और वृद्ध—ये तीन अवस्थाएँ स्थूलशरीरकी हैं और देहान्तरकी प्राप्ति सूक्ष्मशरीर तथा कारणशरीरकी है। परन्तु स्वरूपकी चिन्मय सत्ता इन सभी अवस्थाओंसे अतीत है। अवस्थाएँ बदलती हैं, स्वरूप वही रहता है। इस प्रकार शरीर-विभाग और सत्ता-विभागको अलग-अलग जाननेवाला तत्त्वज्ञ पुरुष कभी किसी अवस्थामें भी मोहित नहीं होता।

जीव अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये अनेक योनियोंमें जाता है, नरक और स्वर्गमें जाता है—ऐसा कहनेमात्रसे सिद्ध होता है कि चौरासी लाख योनियाँ छूट जाती हैं, स्वर्ग और नरक छूट जाते हैं, पर स्वयं (शरीरी) वही रहता है। योनियाँ (शरीर) बदलती हैं, जीव (शरीरी) नहीं बदलता। जीव एक रहता है, तभी तो वह अनेक योनियोंमें, अनेक लोकोंमें जाता है। जो अनेक योनियोंमें जाता है, वह स्वयं किसीके साथ लिप्त नहीं होता, कहीं नहीं फँसता। अगर वह लिप्त हो जाय, फँस जाय तो फिर चौरासी लाख योनियोंको कौन भोगेगा? स्वर्ग और नरकमें

कौन जायगा? मुक्त कौन होगा?

जन्मना और मरना हमारा धर्म नहीं है, प्रत्युत शरीरका धर्म है। हमारी आयु अनादि और अनन्त है, जिसके अन्तर्गत अनेक शरीर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। जैसे हम अनेक वस्त्र बदलते रहते हैं, पर वस्त्र बदलनेपर हम नहीं बदलते, प्रत्युत वे-के-वे ही रहते हैं (गीता २। २२)। ऐसे ही अनेक योनियोंमें जानेपर भी हमारी सत्ता नित्य-निरन्तर ज्यों-की-त्यों रहती है। तात्पर्य है कि हमारी स्वतन्त्रता और असंगता स्वतःसिद्ध है। हमारा जीवन किसी एक शरीरके अधीन नहीं है। असंग होनेके कारण ही हम अनेक शरीरोंमें जानेपर भी वही रहते हैं, पर शरीरके साथ संग मान लेनेके कारण हम अनेक शरीरोंको धारण करते रहते हैं। माना हुआ संग तो टिकता नहीं, पर हम नया-नया संग पकड़ते रहते हैं। अगर नया संग न पकड़ें तो मुक्ति (असंगता), स्वाधीनता स्वतःसिद्ध है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ १४॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीनन्दन!		और उष्ण		(और)
मात्रास्पर्शाः	=इन्द्रियोंके विषय (जड़ पदार्थ)		(प्रतिकूलता) के द्वारा सुख और दुःख देनेवाले हैं (तथा)	**अनित्याः**	=अनित्य हैं।
तु	=तो			**भारत**	=हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!
शीतोष्ण-सुखदुःखदाः	=शीत (अनुकूलता)	**आगमापायिनः**	=आने-जानेवाले	**तान्**	=उनको (तुम)
				तितिक्षस्व	=सहन करो।

विशेष भाव—जैसे शरीर कभी एकरूप नहीं रहता, प्रतिक्षण बदलता रहता है, ऐसे ही इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जिनका ज्ञान होता है, वे सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थ (मात्र प्रकृति और प्रकृतिका कार्य) भी कभी एकरूप नहीं रहते, उनका संयोग और वियोग होता रहता है। जिन पदार्थोंको हम चाहते हैं, उनके संयोगसे सुख होता है और वियोगसे दुःख होता है। जिन पदार्थोंको हम नहीं चाहते, उनके वियोगसे सुख होता है और संयोगसे दुःख होता है। पदार्थ भी आने-जानेवाले तथा अनित्य हैं। ऐसे ही जिनसे पदार्थोंका ज्ञान होता है, वे इन्द्रियाँ और अन्तःकरण भी आने-जानेवाले तथा अनित्य हैं, और पदार्थोंसे होनेवाला सुख-दुःख भी आने-जानेवाला तथा अनित्य है। परन्तु स्वयं सदा ज्यों-का-त्यों रहनेवाला, निर्विकार तथा नित्य है। अतः उनको सह लेना चाहिये अर्थात् उनके संयोग-वियोगको लेकर सुखी-दुःखी नहीं होना चाहिये, प्रत्युत निर्विकार रहना चाहिये। सुख और दुःख दोनों अलग-अलग होते हैं, पर उनको देखनेवाला एक ही होता है और उन दोनोंसे अलग (निर्विकार) होता है। परिवर्तनशीलको देखनेसे स्वयं (स्वरूप) की अपरिवर्तनशीलता (निर्विकारता) का अनुभव स्वतः होता है।

यहाँ 'शीत' शब्द अनुकूलताका और 'उष्ण' शब्द प्रतिकूलताका वाचक है। तात्पर्य है कि ज्यादा सर्दी (ठण्ड) पड़नेसे भी वृक्ष सूख जाता है और ज्यादा गर्मी पड़नेसे भी वृक्ष सूख जाता है; अतः परिणाममें सर्दी और गर्मी—दोनों एक ही हैं। इसी तरह अनुकूलता और प्रतिकूलता भी एक ही हैं। इसलिये भगवान् इन दोनोंको ही सहनेकी अर्थात् इनसे ऊँचा उठनेकी आज्ञा देते हैं।

सुख-दुःख, हर्ष-शोक, राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि आने-जानेवाले, बदलनेवाले हैं, पर स्वयं (स्वरूप) ज्यों-का-त्यों रहनेवाला है। साधकसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वह बदलनेवाली दशाको देखता है, पर स्वयंको नहीं देखता। दशाको स्वीकार करता है, पर स्वयंको स्वीकार नहीं करता। दशा पहले भी नहीं थी और पीछे भी नहीं रहेगी; अतः बीचमें दीखनेपर भी वह है नहीं। परन्तु स्वयंमें आदि, अन्त और मध्य है ही नहीं। दशा कभी एकरूप रहती ही नहीं और स्वयं कभी अनेकरूप होता ही नहीं। जो दीखता है, वह भी दशा है और जो देखनेवाली (बुद्धि) है, वह भी दशा है। जाननेमें आनेवाली भी दशा है और जाननेवाली भी दशा है। स्वयंमें न दीखनेवाला है, न देखनेवाला है; न जाननेमें आनेवाला है, न जाननेवाला है। ये दीखनेवाला-देखनेवाला आदि सब दशाके

अन्तर्गत हैं। दीखनेवाला-देखनेवाला तो नहीं रहेंगे, पर स्वयं रहेगा; क्योंकि दशा तो मिट जायगी, पर स्वयं रह जायगा। तात्पर्य है कि 'दीखनेवाले' (दृश्य) के साथ सम्बन्ध होनेसे ही स्वयं 'देखनेवाला' (द्रष्टा) कहलाता है। अगर 'दीखनेवाले' के साथ सम्बन्ध न रहे तो स्वयं रहेगा, पर उसका नाम 'देखनेवाला' नहीं रहेगा। इसी तरह 'शरीर' के साथ सम्बन्ध होनेसे ही स्वयं (चिन्मय सत्ता) 'शरीरी' कहलाता है। अगर 'शरीर' के साथ सम्बन्ध न रहे तो स्वयं रहेगा, पर उसका नाम 'शरीरी' नहीं रहेगा (गीता १३। १)। अतः भगवान्‌ने केवल मनुष्योंको समझानेके लिये ही 'शरीरी' नाम कहा है।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १५॥

हि	= कारण कि	**धीरम्**	= बुद्धिमान्		नहीं करते,
पुरुषर्षभ	= हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**पुरुषम्**	= मनुष्यको	**सः**	= वह
समदुःखसुखम्	= सुख-दुःखमें सम रहनेवाले	**एते**	= ये मात्रास्पर्श (पदार्थ)	**अमृतत्वाय**	= अमर होनेमें
यम्	= जिस	**न, व्यथयन्ति**	= विचलित (सुखी-दुःखी)	**कल्पते**	= समर्थ हो जाता है अर्थात् वह अमर हो जाता है।

विशेष भाव—स्वरूप सत्तारूप है। सत्तामें कोई व्यथा नहीं है। शरीरमें अपनी स्थिति माननेसे ही व्यथा होती है। अतः शरीरमें अपनी स्थिति मानते हुए कोई भी मनुष्य व्यथारहित नहीं हो सकता। व्यथारहित होनेका तात्पर्य है—प्रियको प्राप्त होकर हर्षित न होना और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न होना (गीता ५। २०)। व्यथारहित होनेसे मनुष्यकी बुद्धि स्थिर हो जाती है—**'स्थिरबुद्धिरसम्मूढः'** (गीता ५। २०)।

सुखदायी-दुःखदायी परिस्थितिसे सुखी-दुःखी होना ही व्यथित होना है। सुखी-दुःखी होना सुख-दुःखका भोग है। भोगी व्यक्ति कभी सुखी नहीं रह सकता। साधकको सुख-दुःखका भोग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत सुख-दुःखका सदुपयोग करना चाहिये। सुखदायी-दुःखदायी परिस्थितिका प्राप्त होना प्रारब्ध है और उस परिस्थितिको साधन-सामग्री मानकर उसका सदुपयोग करना वास्तविक पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थसे अमरताकी प्राप्ति हो जाती है। सुखका सदुपयोग है—दूसरोंको सुख पहुँचाना, उनकी सेवा करना और दुःखका सदुपयोग है—सुखकी इच्छाका त्याग करना। दुःखका सदुपयोग करनेपर साधक दुःखके कारणकी खोज करता है। दुःखका कारण है—सुखकी इच्छा—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'** (गीता ५। २२)। जो सुख-दुःखका भोग करता है, उस भोगीका पतन हो जाता है और जो सुख-दुःखका सदुपयोग करता है, वह योगी सुख-दुःख दोनोंसे ऊँचे उठकर अमरताका अनुभव कर लेता है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ १६॥

असतः	= असत्‌का तो	**अभावः**	= अभाव	**उभयोः**	= दोनोंका
भावः	= भाव (सत्ता)	**न, विद्यते**	= विद्यमान नहीं है।	**अपि**	= ही
न, विद्यते	= विद्यमान नहीं है	**तत्त्वदर्शिभिः**	= तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने	**अन्तः**	= तत्त्व
तु	= और	**अनयोः**	= इन	**दृष्टः**	= देखा अर्थात् अनुभव किया है।
सतः	= सत्‌का				

विशेष भाव—सत्तामात्र 'सत्' है और सत्ताके सिवाय जो कुछ भी प्रकृति और प्रकृतिका कार्य (क्रिया और पदार्थ) है, वह 'असत्' अर्थात् परिवर्तनशील है। जिन महापुरुषोंने सत् और असत्—दोनोंका तत्त्व देखा है अर्थात् जिनको सत्तामात्रमें अपनी स्वत:सिद्ध स्थितिका अनुभव हो गया है, उनकी दृष्टि (अनुभव) में असत्‌की सत्ता विद्यमान है ही नहीं और सत्‌का अभाव विद्यमान है ही नहीं अर्थात् सत्तामात्र (सत्-तत्त्व) के सिवाय कुछ भी नहीं है।

भगवान्‌ने चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंमें शरीरकी अनित्यताका वर्णन किया था, उसको यहाँ '**नासतो विद्यते भाव:**' पदोंसे कहा है और बारहवें-तेरहवें श्लोकोंमें शरीरीकी नित्यताका वर्णन किया था, उसको यहाँ '**नाभावो विद्यते सत:**' पदोंसे कहा है।

'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:**'—इन सोलह अक्षरोंमें सम्पूर्ण वेदों, पुराणों, शास्त्रोंका तात्पर्य भरा हुआ है! असत् और सत्—इन दोनोंको ही प्रकृति और पुरुष, क्षर और अक्षर, शरीर और शरीरी, अनित्य और नित्य, नाशवान् और अविनाशी आदि अनेक नामोंसे कहा गया है। देखने, सुनने, समझने, चिन्तन करने, निश्चय करने आदिमें जो कुछ भी आता है, वह सब 'असत्' है। जिसके द्वारा देखते, सुनते, चिन्तन आदि करते हैं, वह भी 'असत्' है और दीखनेवाला भी 'असत्' है।

इस श्लोकार्ध (सोलह अक्षरों) में तीन धातुओंका प्रयोग हुआ है—

(१) '**भू सत्तायाम्**'—जैसे, '**अभाव:**' और '**भाव:**'।

(२) '**अस् भुवि**'—जैसे, '**असत:**' और '**सत:**'।

(३) '**विद् सत्तायाम्**'—जैसे, '**विद्यते**' और '**न विद्यते**'।

यद्यपि इन तीनों धातुओंका मूल अर्थ एक 'सत्ता' ही है, तथापि सूक्ष्मरूपसे ये तीनों अपना स्वतन्त्र अर्थ भी रखते हैं; जैसे—'**भू**' धातुका अर्थ 'उत्पत्ति' है, '**अस्**' धातुका अर्थ 'सत्ता' (होनापन) है और '**विद्**' धातुका अर्थ 'विद्यमानता' (वर्तमानकी सत्ता) है।

'**नासतो विद्यते भाव:**' पदोंका अर्थ है—'**असत: भाव: न विद्यते**' अर्थात् असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है, प्रत्युत असत्‌का अभाव ही विद्यमान है; क्योंकि इसका निरन्तर अभाव (परिवर्तन) होता ही रहता है। असत् वर्तमान नहीं है। असत् उपस्थित नहीं है। असत् प्राप्त नहीं है। असत् मिला हुआ नहीं है। असत् मौजूद नहीं है। असत् कायम नहीं है। जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका नाश अवश्य होता है—यह नियम है। उत्पन्न होते ही तत्काल उस वस्तुका नाश शुरू हो जाता है। उसका नाश इतनी तेजीसे होता है कि उसको दो बार कोई देख ही नहीं सकता अर्थात् उसको एक बार देखनेपर फिर दुबारा उसी स्थितिमें नहीं देखा जा सकता। यह सिद्धान्त है कि जिस वस्तुका किसी भी क्षण अभाव है, उसका सदा अभाव ही है। अत: संसारका सदा ही अभाव है। संसारको कितनी ही सत्ता दें, कितना ही महत्त्व दें, पर वास्तवमें वह विद्यमान है ही नहीं। असत् प्राप्त है ही नहीं, कभी प्राप्त हुआ ही नहीं, कभी प्राप्त होगा ही नहीं। असत्‌का प्राप्त होना सम्भव ही नहीं है।

'**नाभावो विद्यते सत:**' पदोंका अर्थ है—'**सत: अभाव: न विद्यते**' अर्थात् सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है, प्रत्युत सत्‌का भाव ही विद्यमान है; क्योंकि इसका कभी अभाव (परिवर्तन) होता ही नहीं। जिसका अभाव हो जाय, उसको सत् कहते ही नहीं। सत्‌की सत्ता निरन्तर विद्यमान है। सत् निरन्तर वर्तमान है। सत् निरन्तर उपस्थित है। सत् निरन्तर प्राप्त है। सत् निरन्तर मिला हुआ है। सत् निरन्तर मौजूद है। सत् निरन्तर कायम है। किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, घटना, परिस्थिति, अवस्था आदिमें सत्‌का अभाव नहीं होता। कारण कि देश, काल, वस्तु आदि तो असत् (अभावरूप अर्थात् निरन्तर परिवर्तनशील) है, पर सत् सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई परिवर्तन नहीं होता, कोई कमी नहीं आती। अत: सत्‌का सदा ही भाव है। परमात्मतत्त्वको कितना ही अस्वीकार करें, उसकी कितनी ही उपेक्षा करें, उससे कितना ही विमुख हो जायँ, उसका कितना ही तिरस्कार करें, उसका कितनी ही युक्तियोंसे खण्डन करें, पर वास्तवमें उसका अभाव विद्यमान है ही नहीं। सत्‌का अभाव होना सम्भव ही नहीं है। सत्‌का अभाव कभी कोई कर सकता ही नहीं (गीता २। १७)।

'**उभयोरपि दृष्ट:**'—तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने सत्-तत्त्वको उत्पन्न नहीं किया है, प्रत्युत देखा है अर्थात् अनुभव

किया है। तात्पर्य है कि असत्‌का अभाव और सत्‌का भाव—दोनोंके तत्त्व (निष्कर्ष) को जाननेवाले जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुष एक सत्-तत्त्वको ही देखते हैं अर्थात् स्वतः-स्वाभाविक एक 'है' का ही अनुभव करते हैं। असत्‌का तत्त्व भी सत् है और सत्‌का तत्त्व भी सत् है—ऐसा जान लेनेपर उन महापुरुषोंकी दृष्टिमें एक सत्-तत्त्व 'है' के सिवाय और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं।

असत्‌की सत्ता विद्यमान न रहनेसे उसका अभाव और सत्‌का अभाव विद्यमान न रहनेसे उसका भाव सिद्ध हुआ। निष्कर्ष यह निकला कि असत् है ही नहीं, प्रत्युत सत्-ही-सत् है। उस सत्-तत्त्वमें देह और देहीका विभाग नहीं है।

जबतक असत्‌की सत्ता है, तबतक विवेक है। असत्‌की सत्ता मिटनेपर विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है। '**उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः**' —इसमें '**उभयोरपि**' में विवेक है, '**अन्तः**' में तत्त्वज्ञान है और '**दृष्टः**' में अनुभव है अर्थात् विवेक तत्त्वज्ञानमें परिणत हो गया और सत्तामात्र ही शेष रह गयी। एक सत्ताके सिवाय कुछ नहीं है—यह ज्ञानमार्गकी सर्वोपरि बात है।

असत्‌की सत्ता नहीं है—यह भी सत्य है और सत्‌का अभाव नहीं है—यह भी सत्य है। सत्यको स्वीकार करना साधकका काम है। साधकको अनुभव हो अथवा न हो, उसको तो सत्यको स्वीकार करना है। 'है' को स्वीकार करना है और 'नहीं' को अस्वीकार करना है—यही वेदान्त है, वेदोंका खास निष्कर्ष है।

संसारमें भाव और अभाव—दोनों दीखते हुए भी 'अभाव' मुख्य रहता है। परमात्मामें भाव और अभाव—दोनों दीखते हुए भी 'भाव' मुख्य रहता है। संसारमें 'अभाव' के अन्तर्गत भाव-अभाव हैं और परमात्मामें 'भाव' के अन्तर्गत भाव-अभाव हैं। दूसरे शब्दोंमें, संसारमें 'नित्यवियोग' के अन्तर्गत संयोग-वियोग हैं और परमात्मामें 'नित्ययोग' के अन्तर्गत योग-वियोग (मिलन-विरह) हैं। अतः संसारमें अभाव ही रहा और परमात्मामें भाव ही रहा।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ १७॥

अविनाशि	= अविनाशी	**इदम्**	= यह	**विनाशम्**	= विनाश
तु	= तो	**सर्वम्**	= सम्पूर्ण (संसार)	**कश्चित्**	= कोई भी
तत्	= उसको	**ततम्**	= व्याप्त है।	**न**	= नहीं
विद्धि	= जान,	**अस्य**	= इस	**कर्तुम्**	= कर
येन	= जिससे	**अव्ययस्य**	= अविनाशीका	**अर्हति**	= सकता।

विशेष भाव—व्यवहारमें हम कहते हैं कि 'यह मनुष्य है, यह पशु है, यह वृक्ष है, यह मकान है' आदि, तो इसमें 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो पहले भी नहीं थे, पीछे भी नहीं रहेंगे तथा वर्तमानमें भी प्रतिक्षण अभावमें जा रहे हैं। परन्तु इनमें 'है' रूपसे जो सत्ता है, वह सदा ज्यों-की-त्यों है। तात्पर्य है कि 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो संसार (असत्) है और 'है' अविनाशी आत्मतत्त्व (सत्) है। इसलिये 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो अलग-अलग हुए, पर इन सबमें 'है' एक ही रहा। इसी तरह मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ, मैं देवता हूँ आदिमें शरीर तो अलग-अलग हुए, पर 'हूँ' अथवा 'है' एक ही रहा।

'**येन सर्वमिदं ततम्**'—ये पद यहाँ जीवात्माके लिये आये हैं और आठवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें तथा अठारहवें अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें यही पद परमात्माके लिये आये हैं। इसका तात्पर्य है कि जीवात्माका सर्वव्यापक परमात्माके साथ साधर्म्य है। अतः जैसे परमात्मा संसारसे असंग हैं, ऐसे ही जीवात्मा भी शरीर-संसारसे स्वतः-स्वाभाविक असंग है—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदा० ४। ३। १५), '**देहेऽस्मिन्पुरुषः परः**' (गीता १३। २२)। जीवात्माकी स्थिति किसी एक शरीरमें नहीं है। वह किसी शरीरसे चिपका हुआ नहीं है। परन्तु इस असंगताका अनुभव न होनेसे ही जन्म-मरण हो रहा है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ १८॥

अनाशिनः	= अविनाशी,	**शरीरिणः**	= इस शरीरीके	**उक्ताः**	= कहे गये हैं।
अप्रमेयस्य	= जाननेमें न आनेवाले (और)	**इमे**	= ये	**तस्मात्**	= इसलिये
		देहाः	= देह	**भारत**	= हे अर्जुन! (तुम)
नित्यस्य	= नित्य रहनेवाले	**अन्तवन्तः**	= अन्तवाले	**युध्यस्व**	= युद्ध करो।

विशेष भाव—भगवान्‌ने अपने उपदेशके आरम्भमें '**गतासून्**' (मृत) और '**अगतासून्**' (जीवित)—दोनों प्राणियोंको अशोच्य बताया। फिर बारहवें-तेरहवें श्लोकोंमें '**गतासून्**' को अशोच्य बतानेके लिये 'सत्' (नित्य) का वर्णन किया और चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंमें '**अगतासून्**' को अशोच्य बतानेके लिये 'असत्' (अनित्य) का वर्णन किया। फिर सत् और असत्—दोनोंका वर्णन सोलहवें श्लोकमें किया। इसके बाद सत्‌के भाव और असत्‌के अभावका विवेचन मुख्यरूपसे सत्रहवें-अठारहवें श्लोकोंमें करके एक प्रकरण पूरा करते हैं।

यद्यपि भाव (होनापन) आत्माका ही है, शरीरका नहीं, तथापि मनुष्यसे भूल यह होती है कि वह पहले शरीरको देखकर फिर उसमें आत्माको देखता है, पहले आकृतिको देखकर फिर भावको देखता है। ऊपर लगायी हुई पालिश कबतक टिकेगी? साधकको विचार करना चाहिये कि आत्मा पहले थी या शरीर पहले था? विचार करनेपर सिद्ध होता है कि आत्मा पहले है, शरीर पीछे है; भाव पहले है, आकृति पीछे है। इसलिये साधककी दृष्टि पहले भावरूप आत्माकी तरफ जानी चाहिये, शरीरकी तरफ नहीं।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

यः	= जो मनुष्य	**एनम्**	= इसको	**विजानीतः**	= जानते; (क्योंकि)
एनम्	= इस (अविनाशी शरीरी) को	**हतम्**	= मरा		
		मन्यते	= मानता है,	**अयम्**	= यह
हन्तारम्	= मारनेवाला	**तौ**	= वे	**न**	= न
वेत्ति	= मानता है	**उभौ**	= दोनों ही (इसको)	**हन्ति**	= मारता है (और)
च	= और			**न**	= न
यः	= जो मनुष्य	**न**	= नहीं	**हन्यते**	= मारा जाता है।

विशेष भाव—यह शरीरी न तो किसीको मारता है और न किसीसे मारा ही जाता है—इसका तात्पर्य है कि शरीरी किसी क्रियाका कर्ता भी नहीं है तथा कर्म भी नहीं है और इसमें कोई विकार भी नहीं आता। जो मनुष्य शरीरकी तरह शरीरीको भी मारनेवाला तथा मरनेवाला मानते हैं, वे वास्तवमें शरीर और शरीरीके विवेकको महत्त्व नहीं देते, इसमें स्थित नहीं होते, प्रत्युत अविवेकको महत्त्व देते हैं।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो-
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २०॥

अयम्	= यह शरीरी	**कदाचित्**	= कभी	**वा**	= और
न	= न	**जायते**	= जन्मता है	**न**	= न

म्रियते	= मरता है	**अयम्**	= यह	**पुराणः**	= अनादि है।
वा	= तथा (यह)	**अजः**	= जन्मरहित,	**शरीरे**	= शरीरके
भूत्वा	= उत्पन्न होकर	**नित्यः**	= नित्य-निरन्तर रहनेवाला,	**हन्यमाने**	= मारे जानेपर भी (यह)
भूयः	= फिर				
भविता	= होनेवाला	**शाश्वतः**	= शाश्वत (और)	**न**	= नहीं
न	= नहीं है।			**हन्यते**	= मारा जाता।

विशेष भाव—हमारा (स्वयंका) और शरीरका स्वभाव बिलकुल अलग-अलग है। हम शरीरके साथ चिपके हुए नहीं हैं, शरीरसे मिले हुए नहीं हैं। शरीर हमारे साथ चिपका हुआ नहीं है, हमारेसे मिला हुआ नहीं है। इसलिये शरीरके न रहनेपर हमारा कुछ भी बिगड़ता नहीं। अबतक हम असंख्य शरीर धारण करके छोड़ चुके हैं, पर उससे हमारी सत्तामें क्या फर्क पड़ा? हमारा क्या नुकसान हुआ? हम तो ज्यों-के-त्यों ही रहे—'**भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते**' (गीता ८। १९)। ऐसे ही यह शरीर छूटनेपर भी हम स्वयं ज्यों-के-त्यों ही रहेंगे।

जैसे हाथ, पैर, नासिका आदि शरीरके अंग हैं, ऐसे शरीर शरीरी (स्वयं) का अंग भी नहीं है। जो बहनेवाला और विकारी होता है, वह 'अंग' नहीं होता*; जैसे—कफ, मूत्र आदि बहनेवाले और फोड़ा आदि विकारी होनेसे शरीरके अंग नहीं हैं, ऐसे ही शरीर बहनेवाला (परिवर्तनशील) और विकारी होनेसे शरीरीका अंग नहीं है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**नित्यम्**	= नित्य,	**कथम्**	= कैसे
यः	= जो	**अजम्**	= जन्मरहित (और)	**कम्**	= किसको
पुरुषः	= मनुष्य	**अव्ययम्**	= अव्यय	**हन्ति**	= मारे (और)
एनम्	= इस शरीरीको	**वेद**	= जानता है,	**कम्**	= (कैसे) किसको
अविनाशिनम्	= अविनाशी,	**सः**	= वह	**घातयति**	= मरवाये?

विशेष भाव—उत्पन्न होनेवाली वस्तु तो स्वतः मिटती है, उसको मिटाना नहीं पड़ता। पर जो वस्तु उत्पन्न नहीं होती, वह कभी मिटती ही नहीं। हमने चौरासी लाख शरीर धारण किये, पर कोई भी शरीर हमारे साथ नहीं रहा और हम किसी भी शरीरके साथ नहीं रहे; किन्तु हम ज्यों-के-त्यों अलग रहे। यह जाननेकी विवेकशक्ति उन शरीरोंमें नहीं थी, प्रत्युत इस मनुष्य-शरीरमें ही है। अगर हम इसको नहीं जानते तो भगवान्‌के दिये विवेकका निरादर करते हैं।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥

नरः	= मनुष्य	**जीर्णानि**	= पुराने	**विहाय**	= छोड़कर
यथा	= जैसे	**वासांसि**	= कपड़ोंको	**अपराणि**	= दूसरे

* **अद्रवं मूर्त्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्। अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथायुतम्॥**

नवानि	=नये (कपड़े)	**देही**	=देही	**अन्यानि**	=दूसरे
गृह्णाति	=धारण कर लेता है,	**जीर्णानि**	=पुराने	**नवानि**	=नये (शरीरोंमें)
तथा	=ऐसे ही	**शरीराणि**	=शरीरोंको	**संयाति**	=चला जाता है।
		विहाय	=छोड़कर		

विशेष भाव—मनुष्य नयी-नयी वस्तु चाहता है तो भगवान् भी उसको नयी-नयी वस्तु (शरीरादि सामग्री) देते रहते हैं। शरीर बूढ़ा हो जाता है तो भगवान् उसको नया शरीर दे देते हैं। अतः नयी-नयी इच्छा करना ही जन्म-मरणका हेतु है। नयी-नयी इच्छा करनेवालेको अनन्तकालतक नयी-नयी वस्तु मिलती ही रहेगी। मनुष्यमें एक इच्छाशक्ति है, एक प्राणशक्ति है। इच्छाशक्तिके रहते हुए प्राणशक्ति नष्ट हो जाती है, तब नया जन्म होता है। अगर इच्छाशक्ति न रहे तो प्राणशक्ति नष्ट होनेपर भी पुनः जन्म नहीं होता।

कोई भी दृष्टान्त केवल एक अंशमें घटता है, सर्वथा नहीं घटता। यहाँ पुराने कपड़े छोड़कर नये कपड़े बदलनेका दृष्टान्त केवल इस अंशमें है कि जैसे आदमी अनेक कपड़े बदलनेपर भी एक ही रहता है, ऐसे ही स्वयं अनेक योनियोंमें अनेक शरीर धारण करनेपर भी एक (वही-का-वही) रहता है। जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़नेसे हम मर नहीं जाते और नये कपड़े धारण करनेसे हम पैदा नहीं हो जाते, ऐसे ही पुराने शरीरको छोड़नेसे हम मर नहीं जाते और नया शरीर धारण करनेसे हम पैदा नहीं हो जाते। तात्पर्य है कि शरीर मरता है, हम नहीं मरते। अगर हम मर जायँ तो फिर पुण्य-पापका फल कौन भोगेगा? अन्य योनियोंमें कौन जायगा? बन्धन किसका होगा? मुक्त कौन होगा?

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥

शस्त्राणि	=शस्त्र	**एनम्**	=इसको	**न, क्लेदयन्ति**	=गीला नहीं कर सकता
एनम्	=इस (शरीरी) को	**न, दहति**	=जला नहीं सकती,	**च**	=और
न, छिन्दन्ति	=काट नहीं सकते,	**आपः**	=जल	**मारुतः**	=वायु (इसको)
पावकः	=अग्नि	**एनम्**	=इसको	**न, शोषयति**	=सुखा नहीं सकती।

विशेष भाव—हम कहते हैं कि 'शरीर है' तो परिवर्तन शरीरमें होता है, 'है' (शरीरी) में नहीं होता। जैसे, 'काठ है' तो विकृति काठमें आती है, 'है' में नहीं आती। काठ कटता है, 'है' नहीं कटता। काठ जलता है, 'है' नहीं जलता। काठ गीला होता है, 'है' गीला नहीं होता। काठ सूखता है, 'है' नहीं सूखता। काठ कभी एकरूप रहता ही नहीं और 'है' कभी अनेकरूप होता ही नहीं।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥

अयम्	=यह शरीरी		नहीं किया जा सकता	**अयम्**	=यह
अच्छेद्यः	=काटा नहीं जा सकता,	**च**	=और	**नित्यः**	=नित्य रहनेवाला,
अयम्	=यह	**अशोष्यः, एव**	=(यह) सुखाया भी नहीं जा सकता।	**सर्वगतः**	=सबमें परिपूर्ण,
अदाह्यः	=जलाया नहीं जा सकता,		(कारण कि)	**अचलः**	=अचल,
अक्लेद्यः	=(यह) गीला			**स्थाणुः**	=स्थिर स्वभाववाला (और)
				सनातनः	=अनादि है।

विशेष भाव—'सर्वगतः'—स्वयं देहगत नहीं है, प्रत्युत सर्वगत है—ऐसा अनुभव होना ही जीवन्मुक्ति है। जैसे शरीर संसारमें बैठा हुआ है, ऐसे हम शरीरमें बैठे हुए नहीं हैं। शरीरके साथ हमारा मिलन कभी हुआ ही नहीं, है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। शरीर हमारेसे बहुत दूर है। परन्तु कामना-ममता-तादात्म्यके कारण हमें शरीरके साथ एकता प्रतीत होती है।

वास्तवमें शरीरीको शरीरकी जरूरत ही नहीं है। शरीरके बिना भी शरीरी मौजसे रहता है!

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥

अयम्	=यह देही	**अयम्**	=(और) यह	**एवम्**	=ऐसा
अव्यक्तः	=प्रत्यक्ष नहीं दीखता,	**अविकार्यः**	=निर्विकार	**विदित्वा**	=जानकर
अयम्	=यह	**उच्यते**	=कहा जाता है।	**अनुशोचितुम्**	=शोक
अचिन्त्यः	=चिन्तनका विषय	**तस्मात्**	=अतः	**न**	=नहीं
	नहीं है	**एनम्**	=इस देहीको	**अर्हसि**	=करना चाहिये।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥ २६॥

महाबाहो	=हे महाबाहो!	**नित्यम्**	=नित्य	**त्वम्**	=तुम्हें
अथ	=अगर (तुम)	**मृतम्**	=मरनेवाला	**एवम्**	=इस प्रकार
एनम्	=इस देहीको	**च**	=भी	**शोचितुम्**	=शोक
नित्यजातम्	=नित्य पैदा होनेवाला	**मन्यसे**	=मानो,	**न**	=नहीं
वा	=अथवा	**तथापि**	=तो भी	**अर्हसि**	=करना चाहिये।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २७॥

हि	=कारण कि	**ध्रुवम्**	=जरूर		नहीं हो सकता।
जातस्य	=पैदा हुएकी	**जन्म**	=जन्म होगा।	**अर्थे**	=(अतः) इस विषयमें
ध्रुवः	=जरूर	**तस्मात्**	=अतः	**त्वम्**	=तुम्हें
मृत्युः	=मृत्यु होगी	**अपरिहार्ये**	=(इस जन्म-मरण-	**शोचितुम्**	=शोक
च	=और		रूप परिवर्तनके	**न**	=नहीं
मृतस्य	=मरे हुएका		प्रवाहका) निवारण	**अर्हसि**	=करना चाहिये।

विशेष भाव—किसी प्रियजनकी मृत्यु हो जाय, धन नष्ट हो जाय तो मनुष्यको शोक होता है। ऐसे ही भविष्यको लेकर चिन्ता होती है कि अगर स्त्री मर गयी तो क्या होगा? पुत्र मर गया तो क्या होगा? आदि। ये शोक-चिन्ता अपने विवेकको महत्त्व न देनेके कारण ही होते हैं। संसारमें परिवर्तन होना, परिस्थिति बदलना आवश्यक है। अगर परिस्थिति नहीं बदलेगी तो संसार कैसे चलेगा? मनुष्य बालकसे जवान कैसे बनेगा? मूर्खसे विद्वान् कैसे बनेगा? रोगीसे नीरोग कैसे बनेगा? बीजका वृक्ष कैसे बनेगा? परिवर्तनके बिना संसार स्थिर चित्रकी तरह बन

जायगा! वास्तवमें मरनेवाला (परिवर्तनशील) ही मरता है, रहनेवाला कभी मरता ही नहीं। यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि मृत्यु होनेपर शरीर तो हमारे सामने पड़ा रहता है, पर शरीरका मालिक (जीवात्मा) निकल जाता है। अगर इस अनुभवको महत्त्व दें तो फिर चिन्ता-शोक हो ही नहीं सकते। बालिके मरनेपर भगवान् राम इसी अनुभवकी ओर ताराका लक्ष्य कराते हैं—

तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया॥
छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥
उपजा ग्यान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर माँगी॥

(मानस, किष्किन्धा० ११। २-३)

विचार करना चाहिये कि जब चौरासी लाख योनियोंमें कोई भी शरीर नहीं रहा, तो फिर यह शरीर कैसे रहेगा? जब चौरासी लाख शरीर मैं-मेरे नहीं रहे, तो फिर यह शरीर मैं-मेरा कैसे रहेगा? यह विवेक मनुष्य-शरीरमें हो सकता है, अन्य शरीरोंमें नहीं।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २८॥

भारत =हे भारत! **भूतानि** =सभी प्राणी **अव्यक्तादीनि** =जन्मसे पहले अप्रकट थे (और) **अव्यक्तनिधनानि** =मरनेके बाद अप्रकट हो जायँगे, **व्यक्तमध्यानि, एव**= केवल बीचमें ही प्रकट दीखते हैं। (अत:) **तत्र** =इसमें **परिदेवना** =शोक करनेकी **का** =बात ही क्या है?

विशेष भाव—जो आदि और अन्तमें नहीं है, उसका 'नहीं'-पना नित्य-निरन्तर है तथा जो आदि और अन्तमें है, उसका 'है'-पना नित्य-निरन्तर है*। जिसका 'नहीं'-पना नित्य-निरन्तर है, वह 'असत्' (शरीर) है और जिसका 'है'-पना नित्य-निरन्तर है, वह 'सत्' (शरीरी) है। असत्‌के साथ हमारा नित्यवियोग है और सत्‌के साथ हमारा नित्ययोग है।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥

* (१) **यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन्।** (श्रीमद्भा० ११। २४। १७)
'जिसके आदि और अन्तमें जो है, वही बीचमें भी है और वही सत्य है।'

(२) **आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये॥** (श्रीमद्भा० ११। २८। १८)
'इस संसारके आदिमें जो था तथा अन्तमें जो रहेगा, जो इसका मूल कारण और प्रकाशक है, वही परमात्मा बीचमें भी है।'

(३) **न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चान्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।** (श्रीमद्भा० ११। २८। २१)
'जो उत्पत्तिसे पहले नहीं था और प्रलयके बाद भी नहीं रहेगा, ऐसा समझना चाहिये कि बीचमें भी वह है नहीं, केवल कल्पनामात्र, नाममात्र ही है।'

कश्चित्	= कोई	**आश्चर्यवत्**	= (इसका) आश्चर्यकी तरह	**शृणोति**	= सुनता है
एनम्	= इस शरीरीको	**वदति**	= वर्णन करता है	**च**	= और
आश्चर्यवत्	= आश्चर्यकी तरह	**च**	= तथा	**एनम्**	= इसको
पश्यति	= देखता (अनुभव करता) है	**अन्यः**	= अन्य (कोई)	**श्रुत्वा**	= सुनकर
च	= और	**एनम्**	= इसको	**अपि**	= भी
तथा	= वैसे	**आश्चर्यवत्**	= आश्चर्यकी तरह	**कश्चित्, एव**	= कोई
एव	= ही			**न**	= नहीं
अन्यः	= दूसरा (कोई)			**वेद**	= जानता अर्थात् यह दुर्विज्ञेय है।

विशेष भाव—शरीरीको सुननेमात्रसे अर्थात् अभ्यासके द्वारा नहीं जान सकते, पर जिज्ञासापूर्वक तत्त्वज्ञ, अनुभवी महापुरुषोंसे सुनकर जान सकते हैं—**'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः'** (गीता ७। ३)। **'आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः'** कहनेका तात्पर्य है कि तत्त्वका अनुभव करनेवालोंमें भी वर्णन करनेवाला कोई एक ही होता है। सब-के-सब अनुभव करनेवाले उसका वर्णन नहीं कर सकते।

जैसे संसारमें सुननेमात्रसे विवाह नहीं होता, प्रत्युत स्त्री और पुरुष एक-दूसरेको पति-पत्नीरूपसे स्वीकार करते हैं, तब विवाह होता है, ऐसे ही सुननेमात्रसे परमात्मतत्त्वको कोई भी नहीं जान सकता, प्रत्युत सुननेके बाद जब स्वयं उसको स्वीकार करेगा अथवा उसमें स्थित होगा, तब स्वयंसे उसको जानेगा। अतः सुननेमात्रसे मनुष्य ज्ञानकी बातें सीख सकता है, दूसरोंको सुना सकता है, लिख सकता है, व्याख्यान दे सकता है, विवेचन कर सकता है, पर अनुभव नहीं कर सकता।

परमात्मतत्त्वको केवल सुननेमात्रसे नहीं जान सकते, प्रत्युत सुनकर उपासना करनेसे जान सकते हैं—**'श्रुत्वान्येभ्य उपासते**............**'** (गीता १३। २५)। अगर परमात्मतत्त्वका वर्णन करनेवाला अनुभवी हो और सुननेवाला श्रद्धालु तथा जिज्ञासु हो तो तत्काल भी ज्ञान हो सकता है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ ३०॥

भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!	**नित्यम्**	= नित्य ही		प्राणीके लिये
सर्वस्य	= सबके	**अवध्यः**	= अवध्य है।	**त्वम्**	= तुम्हें
देहे	= देहमें	**तस्मात्**	= इसलिये	**शोचितुम्**	= शोक
अयम्	= यह	**सर्वाणि**	= सम्पूर्ण	**न**	= नहीं
देही	= देही	**भूतानि**	= प्राणियोंके लिये अर्थात् किसी भी	**अर्हसि**	= करना चाहिये।

विशेष भाव—भगवान्‌ने ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक देह-देहीके विवेकका वर्णन किया है। इस प्रकरणमें भगवान्‌ने ब्रह्म-जीव, प्रकृति-पुरुष, जड़-चेतन, माया-अविद्या, आत्मा-अनात्मा आदि किसी दार्शनिक शब्दका प्रयोग नहीं किया है। इसका कारण यह है कि भगवान् इसको पढ़ाईका अर्थात् सीखनेका विषय न बनाकर अनुभवका विषय बनाना चाहते हैं और यह सिद्ध करना चाहते हैं कि देह-देहीके अलगावका अनुभव मनुष्यमात्र कर सकता है। इसमें कोई पढ़ाई करनेकी, अधिकारी बननेकी जरूरत नहीं है।

सत्-असत्‌का विवेक मनुष्य अगर अपने शरीरपर करता है तो वह साधक होता है और संसारपर करता है तो विद्वान् होता है। अपनेको अलग रखते हुए संसारमें सत्-असत्‌का विवेक करनेवाला मनुष्य वाचक (सीखा हुआ) ज्ञानी तो बन जाता है, पर उसको अनुभव नहीं हो सकता। परन्तु अपनी देहमें सत्-असत्‌का विवेक करनेसे

मनुष्य वास्तविक (अनुभवी) ज्ञानी हो सकता है। तात्पर्य है कि संसारमें सत्-असत्का विवेक केवल पण्डिताईके लिये है, जबकि गीता पण्डिताईके लिये नहीं है। इसलिये भगवान्ने दार्शनिक शब्दोंका प्रयोग न करके देह-देही, शरीर-शरीरी जैसे सामान्य शब्दोंका प्रयोग किया है। जो संसारमें सत्-असत्का विचार करते हैं, वे अपनेको अलग रखते हुए अपनेको ज्ञानका अधिकारी बनाते हैं। परन्तु अपनेमें देह-देहीका विचार करनेमें मनुष्यमात्र ज्ञानप्राप्तिका अधिकारी है। अनुभव करनेके लिये देह-देहीका विवेचन उपयोगी है और सीखनेके लिये तत्त्वका विवेचन उपयोगी है। इसलिये साधक अनुभव करना चाहता है तो सबसे पहले उसको शरीरसे अपने अलगावका अनुभव करना चाहिये कि शरीर शरीरीके सम्बन्धसे रहित है और शरीरी शरीरके सम्बन्धसे रहित है अर्थात् **'मैं शरीर नहीं हूँ'**। उसने जितनी सच्चाईसे, दृढ़तासे, विश्वाससे और नि:सन्देहतासे शरीरकी सत्ता-महत्ता मानी है, उतनी ही सच्चाईसे, दृढ़तासे, विश्वाससे और नि:सन्देहतासे स्वयं (स्वरूप) की सत्ता-महत्ता मान ले और अनुभव कर ले।

शरीर केवल कर्म करनेका साधन है और कर्म केवल संसारके लिये ही होता है। जैसे कोई लेखक जब लिखने बैठता है, तब वह लेखनीको ग्रहण करता है और जब लिखना बन्द करता है, तब लेखनीको यथास्थान रख देता है, ऐसे ही साधकको कर्म करते समय शरीरको स्वीकार करना चाहिये और कर्म समाप्त होते ही शरीरको ज्यों-का-त्यों रख देना चाहिये—उससे असंग हो जाना चाहिये। कारण कि अगर हम कुछ भी न करें तो शरीरकी क्या जरूरत है?

साधकके लिये खास बात है—जाने हुए असत्का त्याग। साधक जिसको असत् जानता है, उसका वह त्याग कर दे तो उसका साधन सहज, सुगम हो जायगा और जल्दी सिद्ध हो जायगा। साधककी अपने साध्यमें जो प्रियता है, वही साधन कहलाती है। वह प्रियता किसी वस्तु, व्यक्ति, योग्यता, सामर्थ्य आदिके द्वारा अथवा किसी अभ्यासके द्वारा प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत साध्यमें अपनापन होनेसे प्राप्त होती है। साधक जिसको अपना मान लेता है, उसमें उसकी प्रियता स्वत: हो जाती है। परन्तु वास्तविक अपनापन उस वस्तुसे होता है, जिसमें ये चार बातें हों—

(१) जिससे हमारी सधर्मता अर्थात् स्वरूपगत एकता हो।

(२) जिसके साथ हमारा सम्बन्ध नित्य रहनेवाला हो।

(३) जिससे हम कभी कुछ न चाहें।

(४) हमारे पास जो कुछ है, वह सब जिसको समर्पित कर दें।

ये चारों बातें भगवान्में ही लग सकती हैं। कारण कि शरीर और संसारसे हमारा सम्बन्ध नित्य रहनेवाला नहीं है और उनसे हमारी स्वरूपगत एकता भी नहीं है। प्रतिक्षण बदलनेवालेके साथ कभी न बदलनेवालेकी एकता कैसे हो सकती है? शरीरके साथ हमारी जो एकता दीखती है, वह वास्तविक नहीं है, प्रत्युत मानी हुई है। मानी हुई एकता कर्तव्यका पालन करनेके लिये है। तात्पर्य है कि जिसके साथ हमारी मानी हुई एकता है, उसकी सेवा तो हो सकती है, पर उसके साथ अपनापन नहीं हो सकता।

जाने हुए असत्का त्याग करनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग करे। जिसके साथ हमारा न तो नित्य सम्बन्ध है और न स्वरूपगत एकता ही है, उसको अपना और अपने लिये मानना विवेकविरोधी सम्बन्ध है। इस दृष्टिसे शरीरको अपना और अपने लिये मानना विवेकविरोधी है। विवेकविरोधी सम्बन्धके रहते हुए कोई भी साधन सिद्ध नहीं हो सकता। शरीरके साथ सम्बन्ध रखते हुए कोई कितना ही तप कर ले, समाधि लगा ले, लोक-लोकान्तरोंमें घूम आये, तो भी उसके मोहका नाश तथा सत्य तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग होते ही मोहका नाश हो जाता है तथा सत्य तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग किये बिना साधकको चैनसे नहीं बैठना चाहिये। अगर हम शरीरसे माने हुए विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग न करें तो भी शरीर हमारा त्याग कर ही देगा! जो हमारा त्याग अवश्य करेगा, उसका त्याग करनेमें क्या कठिनाई है? इसलिये किसी भी मार्गका कोई भी साधक क्यों न हो, उसे इस सत्यको स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है।

जबतक साधकका शरीरके साथ मैं-मेरेपनका सम्बन्ध रहता है, तबतक साधन करते हुए भी सिद्धि नहीं होती और वह शुभ कर्मोंसे, सार्थक चिन्तनसे और स्थितिकी आसक्तिसे बँधा रहता है। वह यज्ञ, तप, दान आदि बड़े-बड़े शुभ कर्म करे, आत्माका अथवा परमात्माका चिन्तन करे अथवा समाधिमें भी स्थित हो जाय तो भी उसका बन्धन सर्वथा मिटता नहीं। कारण कि शरीरके साथ सम्बन्ध मानना ही मूल बन्धन है, मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है। अगर साधकका शरीरसे माना हुआ सम्बन्ध सर्वथा मिट जाय तो उसके द्वारा अशुभ कर्म तो होंगे ही नहीं, शुभ कर्मोंमें भी आसक्ति नहीं रहेगी। उसके द्वारा निरर्थक चिन्तन तो होगा ही नहीं, सार्थक चिन्तनमें भी आसक्ति नहीं रहेगी। उसमें चंचलता तो रहेगी ही नहीं, समाधिमें, स्थिरतामें अथवा निर्विकल्प स्थितिमें भी आसक्ति नहीं रहेगी। इस प्रकार स्थूलशरीरसे होनेवाले कर्ममें, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाले चिन्तनमें और कारणशरीरसे होनेवाली स्थिरतामें आसक्तिका नाश हो जानेपर उसका साधन सिद्ध हो जायगा अर्थात् मोह नष्ट हो जायगा और सत्य तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी। इसलिये भगवान्‌ने अपने उपदेशके आरम्भमें शरीरका सम्बन्ध सर्वथा मिटानेके लिये शरीर-शरीरीके विवेकका वर्णन किया है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ ३१॥

च	= और		विचलित	**क्षत्रियस्य**	= क्षत्रियके लिये
स्वधर्मम्	= अपने क्षात्रधर्मको	**न**	= नहीं	**अन्यत्**	= दूसरा कोई
अवेक्ष्य	= देखकर	**अर्हसि**	= होना चाहिये;	**श्रेयः**	= कल्याणकारक कर्म
अपि	= भी (तुम्हें)	**हि**	= क्योंकि		
विकम्पितुम्	= विकम्पित अर्थात् कर्तव्य-कर्मसे	**धर्म्यात्**	= धर्ममय	**न**	= नहीं
		युद्धात्	= युद्धसे बढ़कर	**विद्यते**	= है।

विशेष भाव—देह-देहीके विवेकका वर्णन करनेके बाद अब भगवान् यहाँसे अड़तीसवें श्लोकतक देहीके स्वधर्मपालन (कर्तव्यपालन) का वर्णन करते हैं। कारण कि देह-देहीके विवेकसे जो तत्त्व मिलता है, वही तत्त्व देहके सदुपयोगसे, स्वधर्मके पालनसे भी मिल सकता है। विवेकमें 'जानना' मुख्य है और स्वधर्मपालनमें 'करना' मुख्य है। यद्यपि मनुष्यके लिये विवेक मुख्य है, जो व्यवहार और परमार्थमें, लोक और परलोकमें सब जगह काम आता है। परन्तु जो मनुष्य देह-देहीके विवेकको न समझ सके, उसके लिये भगवान् स्वधर्म-पालनकी बात कहते हैं, जिससे वह कोरा वाचक ज्ञानी न बनकर वास्तविक तत्त्वका अनुभव कर सके।

तात्पर्य है कि जो मनुष्य परमात्मतत्त्वको जानना चाहता है, पर तीक्ष्ण बुद्धि और तेजीका वैराग्य न होनेके कारण ज्ञानयोगसे नहीं जान सका तो वह कर्मयोगसे परमात्मतत्त्वको जान सकता है; क्योंकि ज्ञानयोगसे जो अनुभव होता है, वही कर्मयोगसे भी हो सकता है (गीता ५। ४-५)।

अर्जुन क्षत्रिय थे, इसलिये भगवान्‌ने इस प्रकरणमें क्षात्रधर्मकी बात कही है। वास्तवमें यहाँ क्षात्रधर्म चारों वर्णोंका उपलक्षण है। इसलिये ब्राह्मणादि अन्य वर्णोंको भी यहाँ अपना-अपना धर्म (कर्तव्य) समझ लेना चाहिये (गीता १८। ४२—४४)।

['स्वधर्म' को ही स्वभावज कर्म, सहज कर्म, स्वकर्म आदि नामोंसे कहा गया है (गीता १८। ४१—४८)। स्वार्थ, अभिमान और फलेच्छाका त्याग करके दूसरेके हितके लिये कर्म करना स्वधर्म है। स्वधर्मका पालन ही कर्मयोग है।]

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ ३२॥

यदृच्छया	= अपने-आप	**च**	= भी है।		(भाग्यशाली) हैं,
उपपन्नम्	= प्राप्त हुआ (युद्ध)	**पार्थ**	= हे पृथानन्दन!	**ईदृशम्**	= (जिनको) ऐसा
अपावृतम्	= खुला हुआ	**क्षत्रियाः**	= (वे) क्षत्रिय	**युद्धम्**	= युद्ध
स्वर्गद्वारम्	= स्वर्गका दरवाजा	**सुखिनः**	= बड़े सुखी	**लभन्ते**	= प्राप्त होता है।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ ३३॥

अथ	= अब	**सङ्ग्रामम्**	= युद्ध	**च**	= और
चेत्	= अगर	**न**	= नहीं	**कीर्तिम्**	= कीर्तिका
त्वम्	= तू	**करिष्यसि**	= करेगा	**हित्वा**	= त्याग करके
इमम्	= यह	**ततः**	= तो	**पापम्**	= पापको
धर्म्यम्	= धर्ममय	**स्वधर्मम्**	= अपने धर्म	**अवाप्स्यसि**	= प्राप्त होगा।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ ३४॥

च	= और	**अकीर्तिम्**	= अपकीर्तिका		मनुष्यके लिये
भूतानि	= सब प्राणी	**कथयिष्यन्ति**	= कथन अर्थात् निन्दा करेंगे।	**मरणात्**	= मृत्युसे
अपि	= भी			**च**	= भी
ते	= तेरी	**अकीर्तिः**	= (वह) अपकीर्ति	**अतिरिच्यते**	= बढ़कर दुःखदायी होती है।
अव्ययाम्	= सदा रहनेवाली	**सम्भावितस्य**	= सम्मानित		

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ ३५॥

च	= तथा	**उपरतम्**	= हटा हुआ	**बहुमतः**	= बहुमान्य
महारथाः	= महारथीलोग	**मंस्यन्ते**	= मानेंगे।	**भूत्वा**	= हो चुका है, (उनकी दृष्टिमें)
त्वाम्	= तुझे	**येषाम्**	= जिनकी (धारणामें)		
भयात्	= भयके कारण			**लाघवम्**	= (तू) लघुताको
रणात्	= युद्धसे	**त्वम्**	= तू	**यास्यसि**	= प्राप्त हो जायगा।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ ३६॥

तव	=तेरे		हुए	**वदिष्यन्ति**	=कहेंगे।
अहिताः	=शत्रुलोग	**बहून्**	=बहुत-से	**ततः**	=उससे
तव	=तेरी	**अवाच्यवादान्**	=न कहनेयोग्य	**दुःखतरम्**	=बढ़कर और
सामर्थ्यम्	=सामर्थ्यकी		वचन		दुःखकी बात
निन्दन्तः	=निन्दा करते	**च**	=भी	**नु, किम्**	=क्या होगी?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ ३७॥

वा	=अगर (युद्धमें तू)	**जित्वा**	=जीत जायगा	**कौन्तेय**	=हे कुन्तीनन्दन!
हतः	=मारा जायगा (तो)		(तो)		(तू)
स्वर्गम्	=(तुझे) स्वर्गकी	**महीम्**	=पृथ्वीका राज्य	**युद्धाय**	=युद्धके लिये
प्राप्स्यसि	=प्राप्ति होगी (और)	**भोक्ष्यसे**	=भोगेगा।	**कृतनिश्चयः**	=निश्चय करके
वा	=अगर (युद्धमें तू)	**तस्मात्**	=अतः	**उत्तिष्ठ**	=खड़ा हो जा।

विशेष भाव—धर्मका पालन करनेसे लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं। तात्पर्य है कि कर्तव्यका पालन और अकर्तव्यका त्याग करनेसे लोकको भी सिद्धि हो जाती है और परलोकको भी।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ ३८॥

जयाजयौ	=जय-पराजय,	**कृत्वा**	=करके	**एवम्**	=इस प्रकार
लाभालाभौ	=लाभ-हानि (और)	**ततः**	=फिर		(युद्ध करनेसे)
सुखदुःखे	=सुख-दुःखको	**युद्धाय**	=युद्धमें	**पापम्**	=(तू) पापको
समे	=समान	**युज्यस्व**	=लग जा।	**न, अवाप्स्यसि**	=प्राप्त नहीं होगा।

विशेष भाव—गीता व्यवहारमें परमार्थकी विलक्षण कला बताती है, जिससे मनुष्य प्रत्येक परिस्थितिमें रहते हुए तथा शास्त्रविहित सब तरहका व्यवहार करते हुए भी अपना कल्याण कर सके। अन्य ग्रन्थ तो प्रायः यह कहते हैं कि अगर अपना कल्याण चाहते हो तो सब कुछ त्यागकर साधु हो जाओ, एकान्तमें चले जाओ; क्योंकि व्यवहार और परमार्थ—दोनों एक साथ नहीं चल सकते। परन्तु गीता कहती है कि आप जहाँ हैं, जिस मतको मानते हैं, जिस सिद्धान्तको मानते हैं, जिस धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण, आश्रम आदिको मानते हैं, उसीको मानते हुए गीताके अनुसार चलो तो कल्याण हो जायगा। एकान्तमें रहकर वर्षोंतक साधना करनेपर ऋषि-मुनियोंको जिस तत्त्वकी प्राप्ति होती थी, उसी तत्त्वकी प्राप्ति गीताके अनुसार व्यवहार करते हुए हो जायगी। सिद्धि-असिद्धिमें सम रहकर निष्कामभावपूर्वक कर्तव्यकर्म करना ही गीताके अनुसार व्यवहार करना है।

युद्धसे बढ़कर घोर परिस्थिति तथा प्रवृत्ति और क्या होगी? जब युद्ध-जैसी घोर परिस्थिति और प्रवृत्तिमें भी मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है, तो फिर ऐसी कौन-सी परिस्थिति तथा प्रवृत्ति होगी, जिसमें रहते हुए मनुष्य अपना कल्याण न कर सके? गीताके अनुसार एकान्तमें आसन लगाकर ध्यान करनेसे भी कल्याण हो सकता है

(गीता ६। १०—१३) और युद्ध करनेसे भी कल्याण हो सकता है!

अर्जुन न तो स्वर्ग चाहते थे और न राज्य चाहते थे (गीता १। ३२, ३५; २। ८)। वे केवल युद्धसे होनेवाले पापसे बचना चाहते थे (गीता १। ३६, ३९, ४५)। इसलिये भगवान् मानो यह कहते हैं कि अगर तू स्वर्ग और राज्य नहीं चाहता, पर पापसे बचना चाहता है तो युद्धरूप कर्तव्यको समतापूर्वक कर, फिर तुझे पाप नहीं लगेगा—**'नैवं पापमवाप्स्यसि'।** कारण कि पाप लगनेमें हेतु युद्ध नहीं है, प्रत्युत विषमता (पक्षपात), कामना, स्वार्थ, अहंकार है। युद्ध तो तेरा कर्तव्य (धर्म) है। कर्तव्य न करनेसे और अकर्तव्य करनेसे ही पाप लगता है।

पूर्व श्लोकमें भगवान्ने अर्जुनसे मानो यह कहा कि अगर तू राज्य तथा स्वर्गकी प्राप्ति चाहे तो भी तेरे लिये कर्तव्यका पालन करना ही उचित है, और इस श्लोकमें मानो यह कहते हैं कि अगर तू राज्य तथा स्वर्गकी प्राप्ति न चाहे तो भी तेरे लिये समतापूर्वक कर्तव्यका पालन करना ही उचित है। तात्पर्य है कि अपने कर्तव्यका त्याग किसी भी स्थितिमें उचित नहीं है।

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ ३९॥

पार्थ	= हे पार्थ!	**अभिहिता**	= कही गयी	**यया**	= जिस
एषा	= यह	**तु**	= और (अब तू)	**बुद्ध्या**	= समबुद्धिसे
बुद्धिः	= समबुद्धि	**इमाम्**	= इसको	**युक्तः**	= युक्त हुआ (तू)
ते	= तेरे लिये (पहले)	**योगे**	= कर्मयोगके विषयमें	**कर्मबन्धम्**	= कर्म-बन्धनका
साङ्ख्ये	= सांख्ययोगमें	**शृणु**	= सुन;	**प्रहास्यसि**	= त्याग कर देगा।

विशेष भाव—कर्मयोगके दो विभाग हैं—कर्तव्यविज्ञान और योगविज्ञान। भगवान्ने इकतीसवेंसे सैंतीसवें श्लोकतक कर्तव्यविज्ञानकी बात कही है, जिसमें कर्तव्य-कर्म करनेसे लाभ और न करनेसे हानिका वर्णन किया। अब यहाँसे तिरपनवें श्लोकतक योग-विज्ञानकी बात कहते हैं।

पूर्व श्लोकमें भगवान्ने जिस समताकी बात कही है, वह सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनों साधनोंसे प्राप्त हो सकती है। शरीर और शरीरीके विभागको जानकर शरीर-विभागसे सम्बन्ध-विच्छेद करना 'सांख्ययोग' है तथा कर्तव्य और अकर्तव्यके विभागको जानकर अकर्तव्य-विभागका त्याग और कर्तव्यका पालन करना 'कर्मयोग' है। मनुष्यको दोनोंमेंसे किसी भी एक साधनका अनुष्ठान करके इस समताको प्राप्त कर लेना चाहिये। कारण कि समता आनेसे मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

एक धर्मशास्त्र (पूर्वमीमांसा) है और एक मोक्षशास्त्र (उत्तरमीमांसा) है। यहाँ इकतीसवेंसे सैंतीसवें श्लोकतक धर्मशास्त्रकी और उन्तालीसवेंसे तिरपनवें श्लोकतक मोक्षशास्त्रकी बात आयी है। धर्मसे लौकिक और पारमार्थिक—दोनों तरहकी उन्नति होती है*। धर्मशास्त्रमें कर्तव्य-पालन मुख्य है। धर्म कहो चाहे कर्तव्य कहो, एक ही बात है।

जो करना चाहिये, उसको न करना भी अकर्तव्य है और जो नहीं करना चाहिये, उसको करना भी अकर्तव्य है। जिसमें अपने सुखकी इच्छाका त्याग करके दूसरेको सुख पहुँचाया जाय और जिसमें अपना भी हित हो तथा दूसरेका भी हित हो, वह 'कर्तव्य' कहलाता है। कर्तव्यका पालन करनेसे 'योग' की प्राप्ति अपने-आप हो जाती है। कर्तव्यका पालन किये बिना मनुष्य योगारूढ़ नहीं हो सकता (गीता ६। ३)। योगकी प्राप्ति होनेपर तत्त्वज्ञान स्वतः हो जाता है, जो कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनोंका परिणाम है (गीता ५। ४-५)।

* **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'** (वैशेषिक० १। ३)

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ ४०॥

इह	= मनुष्यलोकमें		अनुष्ठानका)	**अपि**	= भी (अनुष्ठान)
अस्य	= इस समबुद्धिरूप	**प्रत्यवायः**	= उल्टा फल (भी)	**महतः**	= (जन्म-मरणरूप) महान्
धर्मस्य	= धर्मके	**न**	= नहीं		
अभिक्रमनाशः	= आरम्भका नाश	**विद्यते**	= होता (और इसका)	**भयात्**	= भयसे
न	= नहीं			**त्रायते**	= रक्षा कर लेता है।
अस्ति	= होता (तथा इसके	**स्वल्पम्**	= थोड़ा-सा		

विशेष भाव—समताकी महिमा भगवान्ने उन्तालीसवें-चालीसवें श्लोकोंमें चार प्रकारसे कही है—

(१) **'कर्मबन्धं प्रहास्यसि'**—समताके द्वारा मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

(२) **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'**—इसके आरम्भका भी नाश नहीं होता।

(३) **'प्रत्यवायो न विद्यते'**—इसके अनुष्ठानका उल्टा फल भी नहीं होता।

(४) **'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'**—इसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है।

यद्यपि पहली बातके अन्तर्गत ही शेष तीनों बातें आ जाती हैं, तथापि सबमें थोड़ा अन्तर है; जैसे—

(१) भगवान् पहले सामान्य रीतिसे कहते हैं कि समतासे युक्त मनुष्य कर्मबन्धनसे छूट जाता है। बन्धनका कारण गुणोंका संग अर्थात् प्रकृति और उसके कार्यसे माना हुआ सम्बन्ध है (गीता १३। २१)। समता आनेसे प्रकृति और उसके कार्यसे सम्बन्ध नहीं रहता; अतः मनुष्य कर्म-बन्धनसे छूट जाता है। जैसे संसारमें अनेक शुभाशुभ कर्म होते रहते हैं, पर वे कर्म हमें बाँधते नहीं; क्योंकि उन कर्मोंसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं होता, ऐसे ही समतायुक्त मनुष्यका इस शरीरसे होनेवाले कर्मोंसे भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

(२) समताका केवल आरम्भ हो जाय अर्थात् समताको प्राप्त करनेका उद्देश्य, जिज्ञासा हो जाय तो इस आरम्भका कभी नाश नहीं होता। कारण कि अविनाशीका उद्देश्य भी अविनाशी ही होता है, जबकि नाशवान्का उद्देश्य भी नाशवान् ही होता है। नाशवान्का उद्देश्य तो नाश (पतन) करता है, पर समताका उद्देश्य कल्याण ही करता है—**'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते'** (गीता ६। ४४)।

(३) समताके अनुष्ठानका उल्टा फल नहीं होता। सकामभावसे किये जानेवाले कर्ममें अगर मन्त्रोच्चारण, अनुष्ठान-विधि आदिकी कोई त्रुटि हो जाय तो उसका उल्टा फल हो जाता है*। परन्तु जितनी समता अनुष्ठानमें, जीवनमें आ गयी है, उसमें अगर व्यवहार आदिकी कोई भूल हो जाय, सावधानीमें कोई कमी रह जाय तो उसका

---

* ऐसी कथा आती है कि त्वष्टाने इन्द्रका वध करनेवाले पुत्रकी इच्छासे एक यज्ञ किया। उस यज्ञमें ऋषियोंने **'इन्द्रशत्रुं विवर्धस्व'** इस मन्त्रके साथ हवन किया। 'इन्द्रशत्रु' शब्दमें यदि षष्ठीतत्पुरुष समास हो तो इसका अर्थ होगा—**'इन्द्रस्य शत्रुः'** (इन्द्रका शत्रु) और यदि बहुव्रीहि समास हो तो इसका अर्थ होगा—**'इन्द्रः शत्रुर्यस्य'** (जिसका शत्रु इन्द्र है)। समासमें भेद होनेसे स्वरमें भी भेद हो जाता है। अतः षष्ठीतत्पुरुष समासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका उच्चारण अन्त्योदात्त होगा अर्थात् अन्तिम अक्षर **'त्रु'** का उच्चारण उदात्त स्वरसे होगा; और बहुव्रीहि समासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका उच्चारण आद्योदात्त होगा अर्थात् प्रथम अक्षर **'इ'** का उच्चारण उदात्त स्वरसे होगा। ऋषियोंका उद्देश्य तो षष्ठीतत्पुरुष समासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका अन्त्योदात्त उच्चारण करना था, पर उन्होंने उसका आद्योदात्त उच्चारण कर दिया। इस प्रकार स्वरभेद हो जानेसे मन्त्रोच्चारणका फल उल्टा हो गया, जिससे इन्द्र ही त्वष्टाके पुत्र (वृत्रासुर) का वध करनेवाला हो गया! इसलिये कहा गया है—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

(पाणिनीयशिक्षा)

उल्टा फल (बन्धन) नहीं होता। जैसे, कोई हमारे यहाँ नौकरी करता हो और अँधेरेमें लालटेन जलाते समय कभी उसके हाथसे लालटेन गिरकर टूट जाय तो हम उसपर नाराज होते हैं। परन्तु उस समय जो हमारा मित्र हो, जो हमारेसे कभी कुछ चाहता नहीं, उसके हाथसे लालटेन गिरकर टूट जाय तो हम उसपर नाराज नहीं होते, प्रत्युत कहते हैं कि हमारे हाथसे भी तो वस्तु टूट जाती है, तुम्हारे हाथसे टूट गयी तो क्या हुआ? कोई बात नहीं। अत: जो सकामभावसे कर्म करता है, उसके कर्मका तो उल्टा फल हो सकता है, पर जो किसी प्रकारका फल चाहता ही नहीं, उसके अनुष्ठानका उल्टा फल कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

(४) समताका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान हो जाय, थोड़ा-सा भी समताका भाव बन जाय तो वह जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है अर्थात् कल्याण कर देता है। जैसे सकाम कर्म फल देकर नष्ट हो जाता है, ऐसे यह थोड़ी-सी भी समता फल देकर नष्ट नहीं होती, प्रत्युत इसका उपयोग केवल कल्याणमें ही होता है। यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्म यदि सकामभावसे किये जायँ तो उनका नाशवान् फल (धन-सम्पत्ति एवं स्वर्गादिकी प्राप्ति) होता है और यदि निष्कामभावसे किये जायँ तो उनका अविनाशी फल (मोक्ष) होता है। इस प्रकार यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्मोंके तो दो-दो फल हो सकते हैं, पर समताका एक ही फल—कल्याण होता है। जैसे कोई मुसाफिर चलते-चलते रास्तेमें रुक जाय अथवा सो जाय तो वह जहाँसे चला था, वहाँ पुन: लौटकर नहीं चला जाता, प्रत्युत जहाँतक वह पहुँच गया, वहाँतकका रास्ता तो कट ही गया। ऐसे ही जितनी समता जीवनमें आ गयी, उसका नाश कभी नहीं होता।

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'—निष्कामभाव थोड़ा होते हुए भी सत्य है और भय महान् होते हुए भी असत्य है। जैसे मनभर रुई हो तो उसको जलानेके लिये मनभर अग्निकी जरूरत नहीं है। रुई एक मन हो या सौ मन, उसको जलानेके लिये एक दियासलाई पर्याप्त है। एक दियासलाई लगाते ही वह रुई खुद दियासलाई अर्थात् अग्नि बन जायगी। रुई खुद दियासलाईकी मदद करेगी। अग्नि रुईके साथ नहीं होगी, प्रत्युत रुई खुद ज्वलनशील होनेके कारण अग्निके साथ हो जायगी। इसी तरह असंगता आग है और संसार रुई है। संसारसे असंग होते ही संसार अपने-आप नष्ट हो जायगा; क्योंकि मूलमें संसारकी सत्ता न होनेसे उससे कभी संग हुआ ही नहीं।

थोड़े-से-थोड़ा त्याग भी सत् है और बड़ी-से-बड़ी क्रिया भी असत् है। क्रियाका तो अन्त होता है, पर त्याग अनन्त होता है। इसलिये यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाएँ तो फल देकर नष्ट हो जाती हैं (गीता ८। २८), पर त्याग कभी नष्ट नहीं होता—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२)। एक अहम्‌के त्यागसे अनन्त सृष्टिका त्याग हो जाता है; क्योंकि अहम्‌ने ही सम्पूर्ण जगत्‌को धारण कर रखा है (गीता ७। ५)।

जैसे, कितनी ही घास हो, क्या अग्निके सामने टिक सकती है? कितना ही अँधेरा हो, क्या प्रकाशके सामने टिक सकता है? अँधेरे और प्रकाशमें लड़ाई हो जाय तो क्या अँधेरा जीत जायगा? ऐसे ही अज्ञान और ज्ञानकी लड़ाई हो जाय तो क्या अज्ञान जीत जायगा? महान्-से-महान् भय क्या अभयके सामने टिक सकता है? समता थोड़ी हो तो भी पूरी है और भय महान् हो तो भी अधूरा है। स्वल्प समता भी महान् है; क्योंकि वह सच्ची है और महान् भय भी स्वल्प (सत्ताहीन) है; क्योंकि वह कच्चा है।

समताको, निष्कामभावको 'स्वल्प' कहनेका क्या तात्पर्य है? निष्कामभाव तो महान् है, पर हमारी समझमें, हमारे अनुभवमें थोड़ा आनेसे उसको स्वल्प कह दिया है। वास्तवमें समझ थोड़ी हुई, समता थोड़ी नहीं हुई। उधर हमारी दृष्टि कम गयी है तो हमारी दृष्टिमें कमी है, तत्त्वमें कमी नहीं है। इसी तरह हमने असत्‌को ज्यादा आदर दे दिया तो असत् महान् नहीं हुआ, प्रत्युत हमारा आदर महान् हुआ। इसलिये अगर हम सत्‌का अधिक आदर करें तो सत् महान् हो जायगा अर्थात् उसकी महत्ताका अनुभव हो जायगा, और असत्‌का आदर न करें तो असत् स्वल्प हो जायगा। वास्तवमें असत् महान् हो या स्वल्प, उसकी सत्ता ही नहीं है—**'नासतो विद्यते भाव:'** और सत् महान् हो या स्वल्प, उसकी सत्ता नित्य-निरन्तर विद्यमान है—**'नाभावो विद्यते सत:'**। इसलिये उपनिषदोंमें परमात्मतत्त्वको अणुसे भी अणु और महान्‌से भी महान् कहा गया है—**'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** (कठ० १। २। २०; श्वेताश्वतर० ३। २०)।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१ ॥

कुरुनन्दन	=हे कुरुनन्दन!	**एका**	=एक ही (होती है)।	**अनन्ताः**	=अनन्त
इह	=इस (समबुद्धिकी प्राप्ति) के विषयमें	**अव्यवसायिनाम्**	=जिनका एक निश्चय नहीं है, ऐसे मनुष्योंकी	**च**	=और
व्यवसायात्मिका	= निश्चयवाली	**बुद्धयः**	=बुद्धियाँ	**बहुशाखा**	=बहुत शाखाओंवाली
बुद्धिः	=बुद्धि			**हि**	=ही (होती हैं)।

विशेष भाव—वास्तविक उद्देश्य एक ही होता है। जबतक मनुष्यका एक उद्देश्य नहीं होता, तबतक उसके अनन्त उद्देश्य रहते हैं और एक-एक उद्देश्यकी अनेक शाखाएँ होती हैं। उसकी अनन्त कामनाएँ होती हैं और एक-एक कामनाकी पूर्तिके लिये उपाय भी अनेक होते हैं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३ ॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**न, अस्ति**	=है ही नहीं—	**जन्मकर्म-फलप्रदाम्**	=जन्मरूपी कर्म-फलको देनेवाली है (तथा)
कामात्मानः	=जो कामनाओंमें तन्मय हो रहे हैं,	**इति**	=ऐसा	**भोगैश्वर्यगतिम्, प्रति**	=भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये
स्वर्गपराः	=स्वर्गको ही श्रेष्ठ माननेवाले हैं,	**वादिनः**	=कहनेवाले हैं,	**क्रियाविशेष-बहुलाम्**	=बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली है।
वेदवादरताः	=वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंमें प्रीति रखनेवाले हैं,	**अविपश्चितः**	=(वे) अविवेकी मनुष्य		
अन्यत्	=(भोगोंके सिवाय) और कुछ	**इमाम्**	=इस प्रकारकी		
		याम्	=जिस		
		पुष्पिताम्	=पुष्पित (दिखाऊ शोभायुक्त)		
		वाचम्	=वाणीको		
		प्रवदन्ति	=कहा करते हैं, (जो कि)		

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४ ॥

तया	= उस पुष्पित वाणीसे		खिंच गया है (और जो)	**समाधौ**	= परमात्मामें
अपहृतचेतसाम्	= जिसका अन्तः-करण हर लिया गया है अर्थात् भोगोंकी तरफ	**भोगैश्वर्य-प्रसक्तानाम्**	=भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, (उन मनुष्योंकी)	**व्यवसायात्मिका**	= एक निश्चयवाली
				बुद्धिः	= बुद्धि
				न	= नहीं
				विधीयते	= होती।

विशेष भाव—अपने कल्याणमें अगर कोई बाधा है तो वह है—भोग और ऐश्वर्य (संग्रह) की इच्छा। जैसे जालमें फँसी हुई मछली आगे नहीं बढ़ सकती, ऐसे ही भोग और संग्रहमें फँसे हुए मनुष्यकी दृष्टि परमात्माकी तरफ बढ़ ही नहीं सकती। इतना ही नहीं, भोग और संग्रहमें आसक्त मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिका निश्चय भी नहीं कर सकता।

जो संसारको सच्चा मानता है, उसके लिये कर्मयोग शीघ्र सिद्धि देनेवाला है। कर्मयोगी अपने कर्तव्य कर्मोंके द्वारा संसारकी सेवा करता है अर्थात् प्रत्येक कर्म निष्कामभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये ही करता है। वह दूसरोंके सुखसे प्रसन्न (सुखी) और दूसरोंके दुःखसे करुणित (दुःखी) होता है। दूसरोंको सुखी देखकर प्रसन्न होनेसे उसमें 'भोग' की इच्छा नहीं रहती और दूसरोंको दुःखी देखकर करुणित होनेसे उसमें 'संग्रह' की इच्छा नहीं रहती*।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

वेदाः = वेद
त्रैगुण्यविषयाः = तीनों गुणोंके कार्यका ही वर्णन करनेवाले हैं;
अर्जुन = हे अर्जुन! (तू)
निस्त्रैगुण्यः = तीनों गुणोंसे रहित
भव = हो जा,
निर्द्वन्द्वः = राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित (हो जा),
नित्यसत्त्वस्थः = (निरन्तर) नित्य वस्तु परमात्मामें स्थित (हो जा),
निर्योगक्षेमः = योगक्षेमकी चाहना भी मत रख (और)
आत्मवान् = परमात्मपरायण (हो जा)।

विशेष भाव—'निर्द्वन्द्वः'—वास्तवमें जड़-चेतन, सत्-असत्, नित्य-अनित्य, नाशवान्-अविनाशी आदिका भेद भी द्वन्द्व है। योग और क्षेमकी चाहना भी द्वन्द्व है। द्वन्द्व होनेसे 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस वास्तविकताका अनुभव नहीं होता। कारण कि जब सब कुछ भगवान् ही हैं, तो फिर जड़-चेतन आदिका द्वन्द्व कैसे रह सकता है? इसलिये भगवान्ने अमृत और मृत्यु, सत् और असत् दोनोंको अपना स्वरूप बताया है—**'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥

सर्वतः = सब तरफसे
सम्प्लुतोदके = परिपूर्ण महान् जलाशयके (प्राप्त होनेपर)
उदपाने = छोटे गड्ढोंमें भरे जलमें (मनुष्यका)
यावान् = जितना
अर्थः = प्रयोजन (रहता है) अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता,
विजानतः = (वेदों और शास्त्रोंको) तत्त्वसे जाननेवाले
ब्राह्मणस्य = ब्रह्मज्ञानीका
सर्वेषु = सम्पूर्ण
वेदेषु = वेदोंमें
तावान् = उतना (ही प्रयोजन रहता है) अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता।

विशेष भाव—सांसारिक भोगोंका अन्त नहीं है। अनन्त ब्रह्माण्ड हैं और उनमें अनन्त तरहके भोग हैं। परन्तु उनका त्याग कर दें, उनसे असंग हो जायँ तो उनका अन्त आ जाता है। ऐसे ही कामनाएँ भी अनन्त होती हैं।

* वास्तवमें असली सेवा त्यागीके द्वारा ही होती है अर्थात् भोग और संग्रहकी इच्छा सर्वथा मिटनेसे ही असली सेवा होती है, अन्यथा नकली सेवा होती है। परन्तु उद्देश्य असली (सबके हितका) होनेसे नकली सेवा भी असलीमें बदल जाती है।

परन्तु उनका त्याग कर दें, निष्काम हो जायँ तो उनका अन्त आ जाता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥

कर्मणि	=कर्तव्य-कर्म करनेमें	**कदाचन**	=कभी	**ते**	=तेरी
एव	=ही	**मा**	=नहीं। (अतः तू)	**अकर्मणि**	=कर्म न करनेमें (भी)
ते	=तेरा	**कर्मफलहेतुः**	=कर्मफलका हेतु (भी)	**सङ्गः**	=आसक्ति
अधिकारः	=अधिकार है,	**मा**	=मत	**मा**	=न
फलेषु	=फलोंमें	**भूः**	=बन (और)	**अस्तु**	=हो।

विशेष भाव—एक कर्म-विभाग है और एक फल-विभाग है। मनुष्यका कर्म-विभागमें ही अधिकार है, फल-विभागमें नहीं। कारण कि नया पुरुषार्थ होनेसे कर्म-विभाग (करना) मनुष्यके अधीन है और पूर्वकृत कर्मोंका भोग होनेसे फल-विभाग (होना) प्रारब्धके अधीन है। कर्मयोगकी दृष्टिसे देखें तो मनुष्यको जो साधन-सामग्री (वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य) मिली है, वह 'प्रारब्ध' है और उसका सदुपयोग करना अर्थात् उसको अपना और अपने लिये न मानकर, प्रत्युत दूसरोंका और दूसरोंके लिये मानकर उनकी सेवामें लगाना 'पुरुषार्थ' है।

कर्मयोगमें मुख्य बात है—अपने कर्तव्यके द्वारा दूसरेके अधिकारकी रक्षा करना और कर्मफलका अर्थात् अपने अधिकारका त्याग करना। दूसरेके अधिकारकी रक्षा करनेसे पुराना राग मिट जाता है और अपने अधिकारका त्याग करनेसे नया राग पैदा नहीं होता। इस प्रकार पुराना राग मिटनेसे और नया राग पैदा न होनेसे कर्मयोगी वीतराग हो जाता है। वीतराग होनेपर उसको तत्त्वज्ञान हो जाता है। कारण कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें नाशवान्, असत् वस्तुओंका राग ही बाधक है—

रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु।
कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः॥

तात्पर्य है कि वस्तु, व्यक्ति और क्रियामें मनका जो राग, खिंचाव है, यह अज्ञानका खास चिह्न है। जैसे किसी वृक्षके कोटरमें आग लगी हो तो वह वृक्ष हरा-भरा नहीं रहता, सूख जाता है, ऐसे ही जिसके भीतर राग-रूपी आग लगी हो, उसको शान्ति नहीं मिल सकती।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥

धनञ्जय	=हे धनंजय! (तू)		असिद्धिमें	**कर्माणि**	=कर्मोंको
सङ्गम्	=आसक्तिका	**समः**	=सम	**कुरु**	=कर; (क्योंकि)
त्यक्त्वा	=त्याग करके	**भूत्वा**	=होकर	**समत्वम्**	=समत्व (ही)
सिद्ध्यसिद्ध्योः	=सिद्धि-	**योगस्थः**	=योगमें स्थित हुआ	**योगः**	=योग
				उच्यते	=कहा जाता है।

विशेष भाव—पातञ्जलयोगदर्शनमें चित्तवृत्तिनिरोध-रूप साधनको 'योग' कहा गया है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** (१। २)। इस योगके परिणामस्वरूप द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति हो जाती है—**'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** (१। ३)। इस प्रकार पातञ्जलयोगदर्शनमें योगका जो परिणाम बताया गया है, उसीको गीता 'योग' कहती है—**'समत्वं**

योग उच्यते', '**तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (६। २३)। तात्पर्य है कि गीता चित्तवृत्तियोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक स्वतःसिद्ध सम-स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिको 'योग' कहती है। इस योग अर्थात् समतामें स्थित होनेपर फिर कभी इससे वियोग अर्थात् व्युत्थान नहीं होता, इसलिये इसको 'नित्ययोग' भी कहते हैं। चित्तवृत्तियोंका निरोध होनेपर तो 'निर्विकल्प अवस्था' होती है, पर समतामें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव होनेपर 'निर्विकल्प बोध' (सहजावस्था) होता है। निर्विकल्प बोध अवस्था नहीं है, प्रत्युत सम्पूर्ण अवस्थाओंसे अतीत तथा उनका प्रकाशक एवं सम्पूर्ण योग-साधनोंका फल है। अवस्था तो निर्विकल्प और सविकल्प दोनों होती हैं, पर बोध निर्विकल्प ही होता है। इस प्रकार गीताका योग पातञ्जलयोगदर्शनके योगसे बहुत विलक्षण है।

पातञ्जलयोगदर्शनके योगका अधिकारी वह है, जो मूढ़ और क्षिप्त वृत्तिवाला नहीं है, प्रत्युत विक्षिप्त वृत्तिवाला है। परन्तु भगवान्‌की प्राप्ति चाहनेवाले सब-के-सब मनुष्य गीताके योगके अधिकारी हैं। इतना ही नहीं, जो मनुष्य भोग और संग्रहको महत्त्व न देकर इस योगको ही महत्त्व देता है और इसको प्राप्त करना चाहता है—ऐसा योगका जिज्ञासु भी वेदोंमें वर्णित सकाम कर्मोंका अतिक्रमण कर जाता है—'**जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते**' (गीता ६। ४४)।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥

बुद्धियोगात्	=बुद्धियोग (समता) की अपेक्षा	**धनञ्जय**	=हे धनंजय! (तू)	**हि**	=क्योंकि
कर्म	=सकामकर्म	**बुद्धौ**	=बुद्धि (समता) का	**फलहेतवः**	=फलके हेतु बननेवाले
दूरेण	=दूरसे (अत्यन्त) ही	**शरणम्**	=आश्रय	**कृपणाः**	=अत्यन्त दीन हैं।
अवरम्	=निकृष्ट हैं। (अतः)	**अन्विच्छ**	=ले;		

विशेष भाव—योगकी अपेक्षा कर्म दूरसे ही निकृष्ट हैं अर्थात् कल्याणकारक नहीं हैं। जैसे पर्वतसे अणु बहुत दूर है अर्थात् अणुको पर्वतके पास रखकर दोनोंकी तुलना नहीं की जा सकती, ऐसे ही योगसे कर्म बहुत दूर है अर्थात् योग और कर्मकी तुलना नहीं की जा सकती। कर्मोंमें योग ही कुशलता है—'**योगः कर्मसु कौशलम्**' (गीता २। ५०), इसलिये योगके बिना कर्म निकृष्ट हैं, निरर्थक हैं* और बाधक हैं—'**कर्मणा बध्यते जन्तुः**'।

कर्मयोगमें 'कर्म' करणसापेक्ष है, पर 'योग' करणनिरपेक्ष है। योगकी प्राप्ति कर्मसे नहीं होती, प्रत्युत सेवा, त्यागसे होती है। अतः कर्मयोग कर्म नहीं है। कर्मयोग करणनिरपेक्ष अर्थात् विवेकप्रधान साधन है। अगर सेवा, त्यागकी प्रधानता न हो तो कर्म होगा, कर्मयोग होगा ही नहीं।

समता तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करानेवाली है, पर सकामकर्म जन्म-मरण देनेवाला है। इसलिये साधकको समताका ही आश्रय लेना चाहिये, समतामें ही स्थित रहना चाहिये। समतामें स्थित होनेसे वह दीन नहीं रहेगा, प्रत्युत कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य हो जायगा। परन्तु जो सकामभावपूर्वक (अपने लिये) कर्म करता है, वह सदा दीन, बद्ध ही रहता है।

गीतामें कर्मयोगके लिये तीन शब्द आये हैं—बुद्धि, योग और बुद्धियोग। कर्मयोगमें 'कर्म' की प्रधानता नहीं है, प्रत्युत 'योग' की प्रधानता है। योग, बुद्धि और बुद्धियोग—तीनोंका एक ही अर्थ है। कर्मयोगमें व्यवसायात्मिका बुद्धिकी प्रधानता होनेसे इसको 'बुद्धि' कहा गया है और विवेकपूर्वक त्यागकी प्रधानता होनेसे इसको 'योग' या 'बुद्धियोग' कहा गया है।

* योगके बिना कर्म और ज्ञान—दोनों निरर्थक हैं, पर भक्ति निरर्थक नहीं है। कारण कि भक्तिमें भगवान्‌के साथ सम्बन्ध रहता है; अतः भगवान् स्वयं भक्तको योग प्रदान करते हैं—'**ददामि बुद्धियोगं तम्**' (गीता १०। १०)।

ध्यानयोगमें 'मन' की और कर्मयोगमें 'बुद्धि' की प्रधानता है। मनके निरोधमें स्थिरता और चञ्चलता दोनों बहुत दूरतक रहती है; क्योंकि इसमें साधक मनको संसारसे हटाना और परमात्मामें लगाना चाहता है। मनको संसारसे हटानेपर संसारकी सत्ता बनी रहती है—यह सिद्धान्त है कि जबतक दूसरी सत्ताकी मान्यता रहती है, तबतक मनका सर्वथा निरोध नहीं हो सकता। इसलिये समाधितक पहुँचनेपर भी समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ रहती हैं। परन्तु बुद्धिकी प्रधानता रहनेपर कर्मयोगमें विवेककी मुख्यता रहती है। विवेकमें सत् और असत्—दोनों रहते हैं। कर्मयोगी असत् वस्तुओंको सेवा-सामग्री मानकर उनको दूसरोंकी सेवामें लगा देता है, जिससे असत्का त्याग शीघ्र और सुगमतापूर्वक हो जाता है।

मनका निरोध करना निरन्तर नहीं होता, प्रत्युत समय-समयपर और एकान्तमें होता है। परन्तु व्यवसायात्मिका बुद्धि अर्थात् बुद्धिका एक निश्चय निरन्तर रहता है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥

बुद्धियुक्तः	=बुद्धि (समता) से युक्त (मनुष्य)	**उभे**	=दोनोंका	**युज्यस्व**	=लग जा; (क्योंकि)
इह	=यहाँ (जीवित-अवस्थामें ही)	**जहाति**	=त्याग कर देता है।	**कर्मसु**	=कर्मोंमें
		तस्मात्	=अतः (तू)	**योगः**	=योग (ही)
सुकृतदुष्कृते	=पुण्य और पाप	**योगाय**	=योग (समता) में	**कौशलम्**	=कुशलता है।

विशेष भाव—इस श्लोकमें आये '**योगः कर्मसु कौशलम्**' पदोंपर विचार करें तो इनके दो अर्थ लिये जा सकते हैं—

(१) '**कर्मसु कौशलं योगः**' अर्थात् कर्मोंमें कुशलता ही योग है।

(२) '**कर्मसु योगः कौशलम्**' अर्थात् कर्मोंमें योग ही कुशलता है।

अगर पहला अर्थ लिया जाय कि '*कर्मोंमें कुशलता ही योग है*' तो जो बड़ी कुशलतासे, सावधानीसे चोरी, ठगी आदि कर्म करता है, उसका कर्म 'योग' हो जायगा! परन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है और यहाँ निषिद्ध कर्मोंका प्रसंग भी नहीं है। अगर यहाँ शुभ कर्मोंको ही कुशलतापूर्वक करनेका नाम 'योग' मानें तो मनुष्य कुशलतापूर्वक सांगोपांग किये हुए शुभ कर्मोंके फलसे बँध जायगा—'**फले सक्तो निबध्यते**' (गीता ५। १२)। अतः उसकी स्थिति समतामें नहीं रहेगी और उसके दुःखोंका नाश नहीं होगा।

शास्त्रमें आया है—'**कर्मणा बध्यते जन्तुः**' अर्थात् कर्मोंसे मनुष्य बँध जाता है। अतः जो कर्म स्वभावसे ही मनुष्यको बाँधनेवाले हैं, वे ही मुक्ति देनेवाले हो जायँ—यही वास्तवमें कर्मोंमें कुशलता है। मुक्ति योग (समता) से होती है, कर्मोंमें कुशलतासे नहीं। योग (समता) का आदि और अन्त नहीं होता। परन्तु कर्म कितने ही बढ़िया हों, उनका आरम्भ तथा अन्त होता है और उनके फलका भी संयोग तथा वियोग होता है। जिसका आरम्भ और अन्त, संयोग तथा वियोग होता है, उसके द्वारा मुक्तिकी प्राप्ति कैसे होगी? नाशवान्के द्वारा अविनाशीकी प्राप्ति कैसे होगी? समता तो परमात्माका स्वरूप है—'**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**' (गीता ५। १९)। अतः महत्त्व योगका है, कर्मोंका नहीं।

अगर पहला अर्थ ही ठीक माना जाय तो भी 'कुशलता' के अन्तर्गत समता, निष्कामभावको ही लेना पड़ेगा। अगर कर्मोंमें कुशलता ही योग है तो कुशलता क्या है? इसके उत्तरमें यह कहना ही पड़ेगा कि योग (समता) ही कुशलता है। ऐसी स्थितिमें 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है' ऐसा सीधा अर्थ क्यों न ले लिया जाय? जब '**योगः कर्मसु कौशलम्**' पदोंमें 'योग' शब्द आया ही है, तो फिर 'कुशलता' का अर्थ योग लेनेकी जरूरत ही नहीं है!

अगर प्रकरणपर विचार करें तो योग (समता) का ही प्रकरण चल रहा है, कर्मोंकी कुशलताका नहीं। भगवान् '**समत्वं योग उच्यते**' कहकर योगकी परिभाषा भी बता चुके हैं। अतः इस प्रकरणमें योग ही विधेय है, कर्मोंमें

कुशलता विधेय नहीं है। योग ही कर्मोंमें कुशलता है अर्थात् कर्मोंको करते हुए हृदयमें समता रहे, राग-द्वेष न रहें—यही कर्मोंमें कुशलता है। इसलिये **'योगः कर्मसु कौशलम्'**—यह योगकी परिभाषा नहीं है, प्रत्युत योगकी महिमा है।

इसी (पचासवें) श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्‌ने कहा है कि समतासे युक्त मनुष्य पुण्य और पाप दोनोंसे रहित हो जाता है। अगर मनुष्य पुण्य और पाप दोनोंसे रहित हो जाय तो फिर कौन-सा कर्म कुशलतासे किया जायगा? अतः पुण्य और पापसे रहित होनेका यह अर्थ नहीं है कि वह कोई भी क्रिया नहीं करता; क्योंकि कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता (गीता ३। ५)। अतः यहाँ पुण्य और पाप दोनोंसे रहित होनेका अर्थ है—उनके फलसे रहित (मुक्त) होना। आगे इक्यावनवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने **'फलं त्यक्त्वा'** पदोंसे फलके त्यागकी बात कही है।

गीतामें 'कुशल' शब्दका प्रयोग अठारहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भी हुआ है। वहाँ 'अकुशल कर्म' के अन्तर्गत सकामभावसे किये जानेवाले और शास्त्रनिषिद्ध कर्म आये हैं तथा 'कुशल कर्म' के अन्तर्गत निष्कामभावसे किये जानेवाले शास्त्रविहित कर्म आये हैं। अकुशल और कुशल कर्मोंका तो आदि-अन्त होता है, पर योगका आदि-अन्त नहीं होता। बाँधनेवाले राग-द्वेष हैं, कुशल-अकुशल कर्म नहीं। अतः रागपूर्वक किये गये कर्म कितने ही श्रेष्ठ क्यों न हों, वे बाँधनेवाले हैं ही; क्योंकि उन कर्मोंसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति भी हो जाय तो भी वहाँसे लौटकर पीछे आना पड़ता है (गीता ८। १६)। इसलिये जो मनुष्य अकुशल कर्मका त्याग द्वेषपूर्वक नहीं करता और कुशल कर्मका आचरण रागपूर्वक नहीं करता, वही वास्तवमें त्यागी, बुद्धिमान्, सन्देहरहित और अपने स्वरूपमें स्थित है*।

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध हुआ कि **'योगः कर्मसु कौशलम्'** पदोंका अर्थ 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है'—ऐसा ही मानना चाहिये। भगवान् भी योगमें स्थित होकर कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं—**'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (२। ४८)। तात्पर्य है कि कर्मोंका महत्त्व नहीं है, प्रत्युत योग (समता) का ही महत्त्व है। अतः कर्मोंमें योग ही कुशलता है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ ५१॥

हि	= कारण कि	**फलम्**	= फलका अर्थात् संसारमात्रका		मुक्त होकर
बुद्धियुक्ताः	= समतायुक्त			**अनामयम्**	= निर्विकार
मनीषिणः	= बुद्धिमान् साधक	**त्यक्त्वा**	= त्याग करके	**पदम्**	= पदको
		जन्मबन्ध-		**गच्छन्ति**	= प्राप्त हो जाते हैं।
कर्मजम्	= कर्मजन्य	**विनिर्मुक्ताः**	= जन्मरूप बन्धनसे		

विशेष भाव—कर्मोंमें योग (समता) ही कुशलता क्यों है—इसका कारण **'हि'** पदसे इस श्लोकमें बताते हैं।

सात्त्विक कर्मका फल निर्मल है, राजस कर्मका फल दुःख है और तामस कर्मका फल मूढ़ता है (गीता १४। १६)—इन तीनों प्रकारके फलोंका समतायुक्त मनुष्य त्याग कर देता है। कर्मजन्य फलके त्यागके दो अर्थ हैं—फलकी इच्छाका त्याग करना और कर्मोंके फलस्वरूप अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर सुखी-दुःखी न होना।

वास्तवमें उत्पत्ति-विनाशशील सम्पूर्ण संसार कर्मफल है। नाशवान् वस्तुमात्र कर्मफल है। इसलिये संसारमें कर्मफलके सिवाय और कुछ है ही नहीं। कर्मफलका त्याग कर दें तो फिर कोई भी बन्धन बाकी नहीं रहता।

* **न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।**
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ (गीता १८। १०)

'मनीषी' शब्दका अर्थ है—बुद्धिमान्। पूर्व श्लोकके अनुसार समतापूर्वक कर्म करना ही बुद्धिमत्ता है—**'स बुद्धिमान्मनुष्येषु'** (गीता ४। १८)।

'पदं गच्छन्त्यनामयम्'—'गच्छन्ति' पदके तीन अर्थ होते हैं—१-ज्ञान होना, २-गमन करना और ३-प्राप्त होना। यहाँ निर्विकार पदकी प्राप्तिका अर्थ है—जन्म-मरणसे रहितपनेका और निर्विकार पदकी स्वतःसिद्ध प्राप्तिका ज्ञान हो जाना। कारण कि नित्य-निवृत्तकी ही निवृत्ति होती है और नित्यप्राप्तकी ही प्राप्ति होती है।

इस श्लोकसे यह सिद्ध होता है कि कर्मयोग मुक्तिका, कल्याणप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन है। कर्मयोगसे संसारकी निवृत्ति और परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति—दोनों हो जाते हैं।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ ५२॥

यदा	= जिस समय	**व्यतितरिष्यति**	= भलीभाँति तर जायगी,	**श्रोतव्यस्य**	= सुननेमें आनेवाले (भोगोंसे)
ते	= तेरी	**तदा**	= उसी समय (तू)	**निर्वेदम्**	= वैराग्यको
बुद्धिः	= बुद्धि	**श्रुतस्य**	= सुने हुए	**गन्तासि**	= प्राप्त हो जायगा।
मोहकलिलम्	= मोहरूपी दलदलको	**च**	= और		

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ ५३॥

यदा	= जिस कालमें	**बुद्धिः**	= बुद्धि	**अचला**	= अचल (हो जायगी),
श्रुतिविप्रतिपन्ना	= शास्त्रीय मतभेदोंसे विचलित हुई	**निश्चला**	= निश्चल	**तदा**	= उस कालमें (तू)
ते	= तेरी	**स्थास्यति**	= हो जायगी (और)	**योगम्**	= योगको
		समाधौ	= परमात्मामें	**अवाप्स्यसि**	= प्राप्त हो जायगा।

विशेष भाव—मोहके दो विभाग हैं—'मोहकलिल' अर्थात् सांसारिक मोह और 'श्रुतिविप्रतिपत्ति' अर्थात् शास्त्रीय (दार्शनिक) मोह। शरीर, स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति आदिमें राग होना 'सांसारिक मोह' है और द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि दार्शनिक मतभेदोंमें उलझ जाना 'शास्त्रीय मोह' है। इन दोनोंका त्याग करनेपर मनुष्यका भोगोंसे वैराग्य हो जाता है और उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। बुद्धि स्थिर होनेपर योगकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् परमात्मासे दूरी मिट जाती है और समीपता हो जाती है। कर्मयोगसे समीपता होती है, ज्ञानयोगसे अभेद होता है और भक्तियोगसे अभिन्नता होती है। कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंमेंसे एकको सिद्धि होनेपर साधक दोनोंके फलको प्राप्त कर लेता है (गीता ५। ४-५)।

मनुष्यका केवल अपने कल्याणका उद्देश्य हो और धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-परिवार आदिसे कोई स्वार्थका सम्बन्ध न हो तो वह सांसारिक मोहसे तर जाता है। पुस्तकोंकी पढ़ाई करनेका, शास्त्रोंकी बातें सीखनेका उद्देश्य न हो, प्रत्युत केवल तत्त्वका अनुभव करनेका उद्देश्य हो तो वह शास्त्रीय मोहसे तर जाता है। तात्पर्य है कि साधकको न तो सांसारिक मोहकी मुख्यता रखनी है और न शास्त्रीय (दार्शनिक) मतभेदकी मुख्यता रखनी है अर्थात् किसी मत, सम्प्रदायका कोई आग्रह नहीं रखना है। ऐसा होनेपर वह योगका, मुक्तिका अथवा भक्तिका अधिकारी हो जाता है। इससे अधिक किसी अधिकार-विशेषकी जरूरत नहीं है।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥ ५४॥

अर्जुन बोले—

केशव	=हे केशव!	**भाषा**	=लक्षण होते हैं?	**किम्**	=कैसे
समाधिस्थस्य	=परमात्मामें स्थित	**स्थितधीः**	=(वह) स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य	**आसीत**	=बैठता है (और)
स्थितप्रज्ञस्य	=स्थिर बुद्धिवाले मनुष्यके	**किम्**	=कैसे	**किम्**	=कैसे
का	=क्या	**प्रभाषेत**	=बोलता है,	**व्रजेत**	=चलता है अर्थात् व्यवहार करता है?

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ ५५॥

श्रीभगवान् बोले—

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**प्रजहाति**	=भलीभाँति त्याग कर देता है (और)	**तुष्टः**	=सन्तुष्ट रहता है,
यदा	=जिस कालमें (साधक)			**तदा**	=उस कालमें (वह)
मनोगतान्	=मनमें आयी	**आत्मना**	=अपने-आपसे	**स्थितप्रज्ञः**	=स्थिरबुद्धि
सर्वान्	=सम्पूर्ण	**आत्मनि**	=अपने-आपमें	**उच्यते**	=कहा जाता है।
कामान्	=कामनाओंका	**एव**	=ही		

विशेष भाव—एक विभाग अस्थिर बुद्धिवालोंका है और एक विभाग स्थिर बुद्धिवालोंका है। अस्थिर बुद्धिवालोंकी बात तो पहले इकतालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक कह दी, अब स्थिर बुद्धिवालोंकी बात पचपनवेंसे इकहत्तरवें श्लोकतक कहते हैं। जिस समय साधक सांसारिक रुचिका त्याग करके अपने स्वरूपमें स्थित रहता है, उस समय वह स्थिर बुद्धिवाला कहा जाता है।

जिसका परमात्माका उद्देश्य होता है, उसकी बुद्धि एक निश्चयवाली होती है; क्योंकि परमात्मा भी एक ही हैं। परन्तु जिसका संसारका उद्देश्य होता है, उसकी बुद्धि असंख्य कामनाओंवाली होती है; क्योंकि सांसारिक वस्तुएँ असंख्य हैं (गीता २। ४१)।

समताकी प्राप्तिके लिये बुद्धिकी स्थिरता बहुत आवश्यक है। पातंजलयोगदर्शनमें तो मनकी स्थिरता (वृत्तिनिरोध) को महत्त्व दिया गया है, पर गीता बुद्धिकी स्थिरता (उद्देश्यकी दृढ़ता) को ही महत्त्व देती है। कारण कि कल्याणप्राप्तिमें मनकी स्थिरताका उतना महत्त्व नहीं है, जितना बुद्धिकी स्थिरताका महत्त्व है। मनकी स्थिरतासे लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, पर बुद्धिकी स्थिरतासे पारमार्थिक सिद्धि (कल्याणप्राप्ति) होती है। कर्मयोगमें बुद्धिकी स्थिरता ही मुख्य है। अगर मनकी स्थिरता होगी तो कर्मयोगी कर्तव्य-कर्म कैसे करेगा? कारण कि मन स्थिर होनेपर बाहरी क्रियाएँ रुक जाती हैं। भगवान् भी योग (समता) में स्थित होकर कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं— **'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (२। ४८)।

'प्रजहाति' और **'कामान्सर्वान्'** पद देनेका तात्पर्य है कि किंचिन्मात्र भी कामना न रहे, पूरा-का-पूरा त्याग हो जाय। कारण कि यह कामना ही परमात्मप्राप्तिमें खास बाधक है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखेषु = दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर
अनुद्विग्नमनाः = जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता (और)
सुखेषु = सुखोंकी प्राप्ति होनेपर
विगतस्पृहः = जिसके मनमें स्पृहा नहीं होती (तथा)
वीतरागभयक्रोधः = जो राग, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित हो गया है, (वह)
मुनिः = मननशील मनुष्य
स्थितधीः = स्थिरबुद्धि
उच्यते = कहा जाता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

सर्वत्र = सब जगह
अनभिस्नेहः = आसक्ति-रहित हुआ
यः = जो मनुष्य
तत्, तत् = उस-उस
शुभाशुभम् = शुभ-अशुभको
प्राप्य = प्राप्त करके
न = न तो
अभिनन्दति = प्रसन्न होता है (और)
न = न
द्वेष्टि = द्वेष करता है,
तस्य = उसकी
प्रज्ञा = बुद्धि
प्रतिष्ठिता = स्थिर है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

इव, च = जिस तरह
कूर्मः = कछुआ
अङ्गानि = (अपने) अंगोंको
सर्वशः = सब ओरसे
संहरते = समेट लेता है, (ऐसे ही)
यदा = जिस कालमें
अयम् = यह (कर्मयोगी)
इन्द्रियार्थेभ्यः = इन्द्रियोंके विषयोंसे
इन्द्रियाणि = इन्द्रियोंको (सब प्रकारसे हटा लेता है, तब)
तस्य = उसकी
प्रज्ञा = बुद्धि
प्रतिष्ठिता = स्थिर हो जाती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

निराहारस्य = निराहारी (इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेवाले)
देहिनः = मनुष्यके (भी)
विषयाः = विषय तो
विनिवर्तन्ते = निवृत्त हो जाते हैं, (पर)
रसवर्जम् = रस निवृत्त नहीं होता। (परन्तु)
परम् = परमात्मतत्त्वका
दृष्ट्वा = अनुभव होनेसे
अस्य = इस स्थितप्रज्ञ मनुष्यका
रसः = रस
अपि = भी
निवर्तते = निवृत्त हो जाता है अर्थात् उसकी संसारमें रसबुद्धि नहीं रहती।

विशेष भाव—भोगोंकी सत्ता और महत्ता माननेसे अन्तःकरणमें भोगोंके प्रति एक सूक्ष्म खिंचाव, प्रियता,

मिठास पैदा होती है, उसका नाम 'रस' है। किसी लोभी व्यक्तिको रुपये मिल जायँ और कामी व्यक्तिको स्त्री मिल जाय तो भीतर-ही-भीतर एक खुशी आती है, यही 'रस' है। भोग भोगनेके बाद मनुष्य कहता है कि 'बड़ा मजा आया'—यह उस रसकी ही स्मृति है। यह रस अहम् (चिज्जड़ग्रन्थि) में रहता है। इसी रसका स्थूल रूप राग, सुखासक्ति है।

जबतक संयोगजन्य सुखमें रसबुद्धि रहती है, तबतक प्रकृति तथा उसके कार्य (क्रिया, पदार्थ और व्यक्ति) की पराधीनता रहती ही है। रसबुद्धि निवृत्त होनेपर पराधीनता सर्वथा मिट जाती है, भोगोंके सुखकी परवशता नहीं रहती, भीतरसे भोगोंकी गुलामी नहीं रहती।

जबतक अन्तःकरणमें किंचिन्मात्र भी भोगोंकी सत्ता और महत्ता रहती है, भोगोंमें रसबुद्धि रहती है, तबतक परमात्माका अलौकिक रस प्रकट नहीं होता । परमात्माके अलौकिक रसकी तो बात ही क्या, परमात्माकी प्राप्ति करनी है—यह निश्चय भी नहीं होता (गीता २। ४४)। बाहरसे इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर अर्थात् भोगोंका त्याग करनेपर भी भीतरमें रसबुद्धि बनी रहती है। तत्त्वबोध होनेपर यह रसबुद्धि सूख जाती है, निवृत्त हो जाती है—'**परं दृष्ट्वा निवर्तते**'। तात्पर्य है कि जब संसारसे अपनी भिन्नता तथा परमात्मासे अपनी अभिन्नताका अनुभव हो जाता है, तब नाशवान् (संयोगजन्य) रसकी निवृत्ति हो जाती है। नाशवान् रसकी निवृत्ति होनेपर अविनाशी (अखण्ड) रसकी जागृति हो जाती है।

तत्त्वबोध होनेपर तो रस सर्वथा निवृत्त हो ही जाता है, पर तत्त्वबोध होनेसे पहले भी उसकी उपेक्षासे, विचारसे, सत्संगसे, संतकृपासे रस निवृत्त हो सकता है। जिनकी रसबुद्धि निवृत्त हो चुकी है, ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुषके संगसे भी रस निवृत्त हो सकता है।

कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग—तीनों साधनोंसे नाशवान् रसकी निवृत्ति हो जाती है। ज्यों-ज्यों कर्मयोगमें सेवाका रस, ज्ञानयोगमें तत्त्वके अनुभवका रस और भक्तियोगमें प्रेमका रस मिलने लगता है, त्यों-त्यों नाशवान् रस स्वतः छूटता चला जाता है। जैसे बचपनमें खिलौनोंमें रस मिलता था, पर बड़े होनेपर जब रुपयोंमें रस मिलने लगता है, तब खिलौनोंका रस स्वतः छूट जाता है, ऐसे ही साधनका रस मिलनेपर भोगोंका रस स्वतः छूट जाता है।

रसबुद्धिके रहते हुए जब भोगोंकी प्राप्ति होती है, तब मनुष्यका चित्त पिघल जाता है तथा वह भोगोंके वशीभूत हो जाता है। परन्तु रसबुद्धि निवृत्त होनेके बाद जब भोगोंकी प्राप्ति होती है, तब तत्त्वज्ञ महापुरुषके चित्तमें किंचिन्मात्र भी कोई विकार पैदा नहीं होता (गीता २। ७०)। उसके भीतर ऐसी कोई वृत्ति पैदा नहीं होती, जिससे भोग उसको अपनी ओर खींच सकें। जैसे, पशुके आगे रुपयोंकी थैली रख दें तो उसमें लोभ-वृत्ति पैदा नहीं होती और सुन्दर स्त्रीको देखकर उसमें काम-वृत्ति पैदा नहीं होती। पशु तो रुपयोंको और स्त्रीको जानता नहीं, पर तत्त्वज्ञ महापुरुष रुपयोंको भी जानता है और स्त्रीको भी (गीता २। ६९), फिर भी उसमें लोभ-वृत्ति और काम-वृत्ति पैदा नहीं होती। जैसे हम अंगुलीसे शरीरके किसी अंगको खुजलाते हैं तो खुजली मिटनेपर अंगुलीमें कोई फर्क नहीं पड़ता, कोई विकृति नहीं आती, ऐसे ही इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन होनेपर भी तत्त्वज्ञके चित्तमें कोई विकार नहीं आता, वह ज्यों-का-त्यों निर्विकार रहता है। कारण कि रसबुद्धि निवृत्त हो जानेसे वह अपने सुखके लिये किसी विषयमें प्रवृत्त होता ही नहीं। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरोंके हित और सुखके लिये ही होती है। अपने सुखके लिये किया गया विषयोंका चिन्तन भी पतन करनेवाला हो जाता है (गीता २। ६२-६३) और अपने सुखके लिये न किया गया विषयोंका सेवन भी बन्धनकारक नहीं होता (गीता २। ६४-६५)।

नाशवान् रस तात्कालिक होता है, अधिक देर नहीं ठहरता। स्त्री, रुपये आदिकी प्राप्तिके समय जो रस आता है, वह बादमें नहीं रहता। भोजनके मिलनेपर जो रस आता है, वह प्रत्येक ग्रासमें कम होते-होते अन्तमें सर्वथा मिट जाता है और भोजनसे अरुचि पैदा हो जाती है! परन्तु अविनाशी रस कभी कम नहीं होता, प्रत्युत ज्यों-का-त्यों (अखण्ड) रहता है। नाशवान् रसका भोग करनेसे परिणाममें जड़ता, अभाव, शोक, रोग, भय, उद्वेग आदि अनेक विकार पैदा होते हैं। इन विकारोंसे भोगी मनुष्य बच नहीं सकता; क्योंकि यह भोगोंका अवश्यम्भावी परिणाम

है। इसलिये भगवान्‌ने दुःखोंका दर्शन करनेकी बात कही है—'**दुःखदोषानुदर्शनम्**' (गीता १३। ८)। कामादि दोषोंसे मुक्त होनेपर ही मनुष्य अपने कल्याणका आचरण करता है (गीता १६। २१-२२)।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥

हि	= कारण कि	**विपश्चितः**	= विद्वान्	**इन्द्रियाणि**	= इन्द्रियाँ
कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन! (रसबुद्धि रहनेसे)	**पुरुषस्य**	= मनुष्यकी	**मनः**	= (उसके) मनको
		अपि	= भी	**प्रसभम्**	= बलपूर्वक
यततः	= यत्न करते हुए	**प्रमाथीनि**	= प्रमथनशील	**हरन्ति**	= हर लेती हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१॥

युक्तः	= कर्मयोगी साधक	**मत्परः**	= मेरे परायण होकर	**इन्द्रियाणि**	= इन्द्रियाँ
तानि	= उन			**वशे**	= वशमें हैं,
सर्वाणि	= सम्पूर्ण इन्द्रियोंको	**आसीत**	= बैठे;	**तस्य**	= उसकी
		हि	= क्योंकि	**प्रज्ञा**	= बुद्धि
संयम्य	= वशमें करके	**यस्य**	= जिसकी	**प्रतिष्ठिता**	= स्थिर है।

विशेष भाव—कर्मयोगके साधकके लिये भी भगवान्‌ने '**मत्परः**' पदसे अपने परायण होनेकी बात कही है, यह भक्तिकी विशेषता है! कारण कि भगवान्‌के परायण हुए बिना इन्द्रियोंका सर्वथा वशमें होना कठिन है।

कर्मयोगमें त्याग है और त्यागसे शान्ति, सुख मिलता है। परन्तु यह प्राप्तिका सुख नहीं है, प्रत्युत दुःख (अशान्ति) मिटनेका सुख है, जबकि भक्तिमें प्राप्तिका सुख मिलता है। अतः भक्तिका (प्रेमका) सुख मिले बिना इन्द्रियाँ सर्वथा वशमें नहीं होतीं। दूसरी बात, कर्मयोगमें तो अत्यन्त वैराग्य होनेपर इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, पर भक्तिमें (भगवान्‌के परायण होनेसे) थोड़े वैराग्यसे भी इन्द्रियाँ सुगमतासे वशमें हो जाती हैं। इसलिये भगवान्‌ने '**मत्परः**' पद दिया है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ ६३॥

विषयान्	= विषयोंका	**कामः**	= कामना	**सम्मोहः**	= सम्मोह (मूढ़भाव)
ध्यायतः	= चिन्तन करनेवाले	**सञ्जायते**	= पैदा होती है।		
पुंसः	= मनुष्यकी	**कामात्**	= कामनासे (बाधा लगनेपर)	**भवति**	= हो जाता है।
तेषु	= उन विषयोंमें			**सम्मोहात्**	= सम्मोहसे
सङ्गः	= आसक्ति	**क्रोधः**	= क्रोध	**स्मृतिविभ्रमः**	= स्मृति भ्रष्ट हो जाती है।
उपजायते	= पैदा हो जाती है	**अभिजायते**	= पैदा होता है।		
सङ्गात्	= आसक्तिसे	**क्रोधात्**	= क्रोध होनेपर	**स्मृतिभ्रंशात्**	= स्मृति भ्रष्ट होनेपर

बुद्धिनाशः = बुद्धि (विवेक) का नाश हो जाता है। **बुद्धिनाशात्** = बुद्धिका नाश होनेपर (मनुष्यका) **प्रणश्यति** = पतन हो जाता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ ६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥

तु = परन्तु
विधेयात्मा = वशीभूत अन्तः-करणवाला (कर्मयोगी साधक)
रागद्वेषवियुक्तैः = राग-द्वेषसे रहित
आत्मवश्यैः = अपने वशमें की हुई
इन्द्रियैः = इन्द्रियोंके द्वारा
विषयान् = विषयोंका
चरन् = सेवन करता हुआ
प्रसादम् = (अन्तःकरणकी) निर्मलताको
अधिगच्छति = प्राप्त हो जाता है।
प्रसादे = (अन्तःकरणकी) निर्मलता प्राप्त होनेपर
अस्य = साधकके
सर्वदुःखानाम् = सम्पूर्ण दुःखोंका
हानिः = नाश
उपजायते = हो जाता है (और ऐसे)
प्रसन्नचेतसः = शुद्ध चित्तवाले साधककी
बुद्धिः = बुद्धि
हि = निःसन्देह
आशु = बहुत जल्दी
पर्यवतिष्ठते = (परमात्मामें) स्थिर हो जाती है।

विशेष भाव—एक विभाग भोगका है और एक विभाग योगका है। राग-द्वेषसे युक्त 'भोगी' मनुष्य अगर विषयोंका चिन्तन भी करे तो उसका पतन हो जाता है (गीता २। ६२-६३)। परन्तु राग-द्वेषसे रहित 'योगी' मनुष्य अगर विषयोंका सेवन भी करे तो उसका पतन नहीं होता, प्रत्युत वह परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है।

राग-द्वेषसे रहित मनुष्य भोगबुद्धिसे विषयोंका सेवन नहीं करता अर्थात् भोगजन्य सुख (रस) नहीं लेता; क्योंकि यह उसका ध्येय नहीं है। वह भोगोंको रागपूर्वक न भोगकर त्यागपूर्वक भोगता है (गीता ३। ३४)। इसलिये उसका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। त्यागपूर्वक भोग वास्तवमें भोग है ही नहीं। लोगोंकी दृष्टिमें उसके द्वारा भोगका आचरण दीखता है, इसीलिये यहाँ '**विषयान् चरन्**' पद आये हैं।

राग-द्वेषसे रहित होनेपर 'प्रसाद' की प्राप्ति होती है। हरदम प्रसन्नता रहे, कभी खिन्नता न आये, नीरसता न आये—यह 'प्रसाद' है। इस प्रसादकी प्राप्तिमें भी सन्तोष न करे, इसका उपभोग न करे तो बहुत जल्दी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ ६६॥

अयुक्तस्य = जिसके मन-इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं, ऐसे मनुष्यकी
बुद्धिः = (व्यवसायात्मिका) बुद्धि
न = नहीं
अस्ति = होती
च = और
अयुक्तस्य = (व्यवसायात्मिका बुद्धि न होनेसे) उस अयुक्त मनुष्यमें
भावना = निष्कामभाव अथवा कर्तव्य-परायणताका भाव
न = नहीं होता।
अभावयतः = निष्कामभाव न

	होनेसे (उसको)	**च**	=फिर	**सुखम्**	=सुख
शान्तिः	=शान्ति	**अशान्तस्य**	=शान्तिरहित मनुष्यको	**कुतः**	=कैसे (मिल सकता है)?
न	=नहीं मिलती।				

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ ६७॥

हि	=कारण कि	**यत्**	=जिस	**अम्भसि**	=जलमें
चरताम्	=(अपने-अपने विषयोंमें) विचरती हुई	**मनः**	=मनको	**नावम्**	=नौकाको
इन्द्रियाणाम्	=इन्द्रियोंमेंसे (एक ही इन्द्रिय)	**अनुविधीयते**	=अपना अनुगामी बना लेती है,	**वायुः**	=वायुकी
		तत्	=वह (अकेला मन)	**इव**	=तरह
				अस्य	=इसकी
				प्रज्ञाम्	=बुद्धिको
				हरति	=हर लेता है।

विशेष भाव—यहाँ शंका हो सकती है कि प्रस्तुत श्लोकमें आये **'यत्'** और **'तत्'** पदोंसे इन्द्रियोंको न लेकर मनको क्यों लिया गया है अर्थात् इन्द्रियको बुद्धिका हरण करनेवाली न बताकर मनको बुद्धिका हरण करनेवाला क्यों बताया गया है? इसका समाधान है कि इसी अध्यायके साठवें श्लोकमें इन्द्रियोंको मनका हरण करनेवाली बताया है और तीसरे अध्यायके बयालीसवें श्लोकमें इन्द्रियोंसे मनको और मनसे बुद्धिको पर (सूक्ष्म, श्रेष्ठ, बलवान्) बताया है। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ मनका हरण करती हैं और मन बुद्धिका हरण करता है। दूसरी बात, बुद्धिको हरनेके विषयमें मन ही मुख्य है, इन्द्रियाँ नहीं। कारण कि जबतक किसी इन्द्रियके साथ मन नहीं रहता, तबतक उस इन्द्रियको अपने विषयका भी ज्ञान नहीं होता—**'अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते'** (गीता १५। ९)। श्रीमद्भागवतमें दत्तात्रेयजी महाराज कहते हैं—

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो न वेद किञ्चिद् बहिरन्तरं वा।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्तमिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे॥

(श्रीमद्भा० ११। ९। १३)

'जिसका चित्त आत्मामें ही निरुद्ध हो जाता है, उसको बाहर-भीतर कहीं किसी पदार्थका भान नहीं होता। मैंने देखा था कि एक बाण बनानेवाला कारीगर बाण बनानेमें इतना तन्मय हो रहा था कि उसके पाससे ही दलबलके साथ राजाकी सवारी निकल गयी और उसको पतातक न चला।'

बाण बनानेवालेकी कर्णेन्द्रिय भी थी और उसका विषय शब्द भी था, पर मन उस तरफ न रहनेसे वह सुनायी नहीं दिया। तात्पर्य है कि मन साथ रहनेसे ही इन्द्रियको अपने विषयका ज्ञान होता है। जब मन साथ न रहनेसे इन्द्रियको अपने विषयका भी ज्ञान नहीं होता, फिर वह इन्द्रिय बुद्धिको कैसे हर सकती है? नहीं हर सकती।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६८॥

तस्मात्	=इसलिये	**इन्द्रियार्थेभ्यः**	=इन्द्रियोंके विषयोंसे		हुई हैं,
महाबाहो	=हे महाबाहो!	**सर्वशः**	=सर्वथा	**तस्य**	=उसकी
यस्य	=जिस मनुष्यकी	**निगृहीतानि**	=वशमें की	**प्रज्ञा**	=बुद्धि
इन्द्रियाणि	=इन्द्रियाँ			**प्रतिष्ठिता**	=स्थिर है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

सर्वभूतानाम्	=सम्पूर्ण प्राणियोंकी	**जागर्ति**	=जागता है (और)		रहते हैं),
या	=जो	**यस्याम्**	=जिसमें	**सा**	=वह
निशा	=रात (परमात्मासे विमुखता) है,	**भूतानि**	=सब प्राणी	**मुनेः**	=(तत्त्वको जाननेवाले) मुनिकी
तस्याम्	=उसमें	**जाग्रति**	=जागते हैं (भोग और संग्रहमें लगे	**पश्यतः**	=दृष्टिमें
संयमी	=संयमी मनुष्य			**निशा**	=रात है।

विशेष भाव—सांसारिक मनुष्य रात-दिन भोग और संग्रहमें ही लगे रहते हैं, उनको ही महत्ता देते हैं, सांसारिक कार्योंमें बड़े सावधान और निपुण होते हैं, तरह-तरहके कला-कौशल सीखते हैं, तरह-तरहके आविष्कार करते हैं, लौकिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें ही अपनी उन्नति मानते हैं, सांसारिक वस्तुओंकी बड़ी महिमा गाते हैं, सदा जीवित रहकर सुख भोगनेके लिये बड़ी-बड़ी तपस्या करते हैं, देवताओंकी उपासना करते हैं, मन्त्र-जप करते हैं आदि-आदि। परन्तु जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुष तथा सच्चे साधकोंकी दृष्टिमें वह बिलकुल रात है, अन्धकार है; उसका किंचिन्मात्र भी महत्त्व नहीं है। कारण कि उनकी दृष्टिमें ब्रह्मलोकतक सम्पूर्ण संसार विद्यमान है ही नहीं—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २। १६), **'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन'** (गीता ८। १६)।

सांसारिक लोग तो संसारमें ही रचे-पचे रहते हैं और ऐसा मानते हैं कि जो कुछ है, वह यही है—**'नान्यदस्तीति वादिनः'** (गीता २। ४२)। **'कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः'** (गीता १६। ११)। पारमार्थिक विषयमें उनकी बुद्धि जाती ही नहीं। परन्तु पारमार्थिक साधक पारमार्थिक विषयके साथ-साथ संसारको भी जानते हैं, इसलिये उनके लिये **'पश्यतः'** पद दिया है। संसारी लोग तो केवल रातको ही देखते हैं, दिनको देखते ही नहीं, पर योगी दिनको भी देखता है और रातको भी—यह दोनोंमें फर्क है। उदाहरणार्थ, बालकने केवल बालकपना ही देखा है, जवानी नहीं, पर वृद्ध पुरुषने वृद्धावस्थाके साथ-साथ बालकपना भी देखा है और जवानी भी! रुपये रखनेवाला व्यक्ति रुपयोंके त्यागको नहीं जानता, पर रुपयोंका त्याग करनेवाला रुपयोंके संग्रहको भी जानता है और त्यागको भी जानता है। यह सिद्धान्त है कि संसारमें लगा हुआ मनुष्य संसारको नहीं जान सकता। संसारसे अलग होकर ही वह संसारको जान सकता है; क्योंकि वास्तवमें वह संसारसे अलग है। इसी तरह परमात्माके साथ एक होकर ही मनुष्य परमात्माको जान सकता है; क्योंकि वास्तवमें वह परमात्माके साथ एक है।

जो 'है' में स्थित है, वह 'है' और 'नहीं'—दोनोंको जानता है, पर जो 'नहीं' में स्थित है, वह 'नहीं' को भी यथार्थरूपसे अर्थात् 'नहीं'-रूपसे नहीं जान सकता, फिर वह 'है' को कैसे जानेगा? नहीं जान सकता। उसमें जाननेकी सामर्थ्य ही नहीं है। 'है' को जाननेवालेका तो 'नहीं' को माननेवालेके साथ विरोध नहीं होता, पर 'नहीं' को माननेवालेका 'है' को जाननेवालेके साथ विरोध होता है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं-
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ ७०॥

यद्वत्	=जैसे	**आपूर्यमाणम्**	=चारों ओरसे जलद्वारा परिपूर्ण	**समुद्रम्**	=समुद्रमें
आपः	=(सम्पूर्ण नदियोंका) जल			**प्रविशन्ति**	=आकर मिलता है, (पर)

अचलप्रतिष्ठम्	=(समुद्र अपनी मर्यादामें) अचल स्थित रहता है,	**यम्**	=जिस संयमी मनुष्यको (विकार उत्पन्न किये बिना ही)	**सः**	=वही मनुष्य
तद्वत्	=ऐसे ही			**शान्तिम्**	=परमशान्तिको
सर्वे	=सम्पूर्ण	**प्रविशन्ति**	=प्राप्त होते हैं,	**आप्नोति**	=प्राप्त होता है,
कामाः	=भोग-पदार्थ			**कामकामी**	=भोगोंकी कामनावाला
				न	=नहीं।

विशेष भाव—अपनी कामनाके कारण ही यह संसार जड़ दीखता है। वास्तवमें तो यह चिन्मय परमात्मा ही है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९), '**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। अतः जब मनुष्य कामना-रहित हो जाता है, तब उससे सभी वस्तुएँ प्रसन्न हो जाती हैं। वस्तुओंके प्रसन्न होनेकी पहचान यह है कि उस निष्काम महापुरुषके पास आवश्यक वस्तुएँ अपने-आप आने लगती हैं। उसके पास आकर सफल होनेके लिये वस्तुएँ लालायित रहती हैं। परन्तु कामना न रहनेके कारण वस्तुओंके प्राप्त होनेपर अथवा न होनेपर भी उसके भीतर कोई विकार (हर्ष आदि) उत्पन्न नहीं होता। उसकी दृष्टिमें वस्तुओंका कोई मूल्य (महत्त्व) है ही नहीं। इसके विपरीत कामनावाले मनुष्यको वस्तुएँ प्राप्त हों अथवा न हों, उसके भीतर सदा अशान्ति बनी रहती है।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ ७१॥

यः	=जो	**विहाय**	=त्याग करके	**चरति**	=आचरण करता है,
पुमान्	=मनुष्य	**निःस्पृहः**	=स्पृहारहित,	**सः**	=वह
सर्वान्	=सम्पूर्ण	**निर्ममः**	=ममतारहित (और)	**शान्तिम्**	=शान्तिको
कामान्	=कामनाओंका	**निरहङ्कारः**	=अहंतारहित होकर	**अधिगच्छति**	=प्राप्त होता है।

विशेष भाव—पहले '**सोऽमृतत्वाय कल्पते**' (२। १५) कहकर ज्ञानयोगकी सिद्धि (पूर्णता) बतायी थी, अब '**स शान्तिमधिगच्छति**' कहकर कर्मयोगकी सिद्धि बताते हैं। तात्पर्य है कि चिन्मयता (स्वरूप) में स्थिति होनेसे अमृतकी प्राप्ति होती है और जड़ता (अहंता) के त्यागसे शान्तिकी प्राप्ति होती है।

अहंता अपने स्वरूपमें मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं। अगर यह वास्तवमें होती तो हम कभी निरहंकार नहीं हो सकते थे और भगवान् भी निरहंकार होनेकी बात नहीं कहते। परन्तु भगवान् '**निरहङ्कारः**' कहते हैं; अतः हम अहंकाररहित हो सकते हैं। हमारा अनुभव भी है कि वास्तवमें स्वरूप अहंकाररहित है। सुषुप्तिके समय अहम्‌के अभावका और स्वयं (अपनी सत्ता) के भावका अनुभव सबको होता है, जिसका स्पष्ट बोध जगनेपर होता है। सुषुप्तिमें अहम् अविद्यामें लीन हो जाता है, पर स्वयं रहता है। इसलिये सुषुप्तिसे जगनेपर (उसकी स्मृतिसे) हम कहते हैं कि 'मैं ऐसे सुखसे सोया कि मेरेको कुछ पता नहीं था'। इस स्मृतिसे सिद्ध होता है कि सुखका अनुभव करनेवाला और 'कुछ पता नहीं था' यह कहनेवाला तो था ही! नहीं तो सुखका अनुभव किसको हुआ और 'कुछ पता नहीं था'—यह बात किसने जानी? अतः 'कुछ पता नहीं था'—यह अहम्‌का अभाव है और इसका ज्ञान जिसको है, वह अहंरहित स्वरूप है।

एक स्त्रीकी नथ कुएँमें गिर गयी। उसको निकालनेके लिये एक आदमी कुएँमें उतरा और जलके भीतर जाकर उस नथको ढूँढ़ने लगा। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वह नथ उसके हाथ लग गयी तो उसको बड़ी प्रसन्नता हुई। परन्तु उस समय वह कुछ बोल नहीं सका; क्योंकि वाणी (अग्नि) और जलका आपसमें विरोध है। अतः जलसे बाहर आनेपर ही वह बोल सका कि 'नथ मिल गयी!' ऐसे ही सुषुप्तिमें अहम्‌के लीन होनेपर मनुष्य सुखका अनुभव तो करता है, पर उसको व्यक्त नहीं कर सकता; क्योंकि बोलनेका साधन नहीं रहा। सुषुप्तिसे जगनेपर ही उसको सुषुप्तिके सुखकी स्मृति होती है। स्मृति अनुभवजन्य होती है—'**अनुभवजन्यं ज्ञानं स्मृतिः**'।

इस प्रकार सुषुप्तिमें अहम्‌के अभावका अनुभव तो सबको होता है, पर अपने अभावका अनुभव किसीको कभी नहीं होता। अहंकार हमारे बिना नहीं रह सकता, पर हम (स्वयं) अहंकारके बिना रह सकते हैं और रहते ही हैं। हमारा स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है। इस नित्य सत्ताको किसीकी अपेक्षा नहीं है, पर सत्ताकी अपेक्षा सबको है। अगर हम अहम्‌से अलग न होते, अहंकाररूप ही होते तो सुषुप्तिमें अहंकारके लीन होनेपर हम भी नहीं रहते। अत: अहंकारके बिना भी हमारा होनापना सिद्ध होता है। जाग्रत् और स्वप्नमें अहम् प्रकट रहता है और सुषुप्तिमें अहम् लीन हो जाता है, पर हम स्वयं निरन्तर रहते हैं। जो प्रकट और लीन नहीं होता, वही हमारा स्वरूप है।

कामनाका त्याग होनेपर भी शरीरनिर्वाहमात्रके लिये कुछ-न-कुछ वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिकी आवश्यकता रह जाती है, जिसको '**स्पृहा**' कहते हैं। स्थितप्रज्ञ महापुरुषमें शरीरनिर्वाहमात्रकी आवश्यकताका तो कहना ही क्या, शरीरकी भी आवश्यकता नहीं रहती। कारण कि शरीरकी आवश्यकता ही मनुष्यको पराधीन बनाती है। आवश्यकता तभी पैदा होती है, जब मनुष्य उस वस्तुको स्वीकार कर लेता है, जो अपनी नहीं है। कर्मयोगी किसी भी वस्तुको अपनी और अपने लिये नहीं मानता, प्रत्युत संसारकी और संसारके लिये ही मानता है। इसलिये उसको किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं रहती।

'कामना' और 'स्पृहा'—दोनोंका त्याग करनेका तात्पर्य है कि वस्तुओंकी कामना भी न हो और निर्वाहमात्रकी कामना (शरीरकी आवश्यकता) भी न हो। कारण कि निर्वाहमात्रकी कामना भी सुखभोग ही है। इतना ही नहीं, शान्ति, मुक्ति, तत्त्वज्ञान आदिको प्राप्त करनेकी इच्छा भी कामना है! अत: निष्कामभावमें मुक्तितककी भी कामना नहीं होनी चाहिये।

शास्त्रीय दृष्टिसे पहले कामनाका त्याग, फिर स्पृहा, ममता और अहंकारका त्याग बताया जाता है। परन्तु साधककी दृष्टिसे पहले ममताका त्याग, फिर कामना, स्पृहा और अहंकारका त्याग करना ही ठीक है। सबसे पहले ममताका त्याग करना सुगम पड़ता है। मनुष्य पहले ममतासे अर्थात् प्राप्त वस्तुके सम्बन्धसे ही फँसता है। पहले ममताका त्याग करनेसे निष्काम होनेकी सामर्थ्य आ जाती है, कामनाका त्याग करनेसे नि:स्पृह होनेकी सामर्थ्य आ जाती है और स्पृहाका त्याग करनेसे निरहंकार होनेकी सामर्थ्य आ जाती है। शास्त्रीय दृष्टिके अनुसार चलनेसे मनुष्य पण्डित हो जाता है और साधककी दृष्टिके अनुसार चलनेसे मनुष्यको अनुभव हो जाता है।

इस श्लोकमें अपरा प्रकृतिका निषेध है। जीवने अहंकारके कारण अपरा प्रकृति (जगत्) को धारण किया है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। अत: निरहंकार होनेपर अपरा प्रकृतिका निषेध (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जाता है और जीव जन्म-मरणरूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है। सबका त्याग होनेपर भी अहंकार शेष रह जाता है, पर अहंकारका त्याग होनेपर सबका त्याग हो जाता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ ७२॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!		कोई)	**अपि**	=भी
एषा	=यह	**न, विमुह्यति**	=मोहित नहीं	**स्थित्वा**	=स्थित हो जाय
ब्राह्मी	=ब्राह्मी		होता।		(तो)
स्थितिः	=स्थिति है।	**अस्याम्**	=इस स्थितिमें	**ब्रह्मनिर्वाणम्**	=निर्वाण (शान्त)
एनाम्	=इसको		(यदि)		ब्रह्मकी
प्राप्य	=प्राप्त होकर (कभी	**अन्तकाले**	=अन्तकालमें	**ऋच्छति**	=प्राप्ति हो जाती है।

विशेष भाव—निर्मम और निरहंकार होनेसे साधकका असत्-विभागसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और सत्-विभागमें अर्थात् ब्रह्ममें अपनी स्वत: स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है, जिसको 'ब्राह्मी स्थिति' कहते

हैं। इस ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त होनेपर शरीरका कोई मालिक नहीं रहता अर्थात् शरीरको मैं-मेरा कहनेवाला कोई नहीं रहता, व्यक्तित्व मिट जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि हमारी स्थिति अहंकारके आश्रित नहीं है। अहंकारके मिटनेपर भी हमारी स्थिति रहती है, जो 'ब्राह्मी स्थिति' कहलाती है। एक बार इस ब्राह्मी स्थिति (नित्ययोग) का अनुभव होनेपर फिर कभी मोह नहीं होता (गीता ४। ३५)। अगर अन्तकालमें भी मनुष्य निर्मम-निरहंकार होकर ब्राह्मी स्थितिका अनुभव कर ले तो उसको तत्काल निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

निर्मम-निरहंकार होनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति, तत्त्वज्ञान हो जाता है। फिर मनुष्य ममतारहित, कामनारहित और कर्तृत्वरहित हो जाता है। कारण कि जीवने अहम्के कारण ही जगत्को धारण किया है—'**अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७), '**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। यदि वह अहम्का त्याग कर दे तो फिर जगत् नहीं रहेगा। ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर (अगर भक्तिके संस्कार हों तो) समग्र परमात्माकी प्राप्ति स्वत: हो जाती है; क्योंकि समग्र परमात्मा ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं।

मेरा कुछ नहीं है—इसको स्वीकार करनेसे मनुष्य 'निर्मम' हो जाता है, मेरेको कुछ नहीं चाहिये—इसको स्वीकार करनेसे मनुष्य 'निष्काम' हो जाता है। मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है—इसको स्वीकार करनेसे मनुष्य 'निरहंकार' हो जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः
(तीसरा अध्याय)

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ १ ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २ ॥

अर्जुन बोले—

जनार्दन	=हे जनार्दन!	**घोरे**	=घोर		रहे हैं। (अत:
चेत्	=अगर	**कर्मणि**	=कर्ममें		आप)
ते	=आप	**किम्**	=क्यों	**निश्चित्य**	=निश्चय करके
कर्मणः	=कर्मसे	**नियोजयसि**	=लगाते हैं?	**तत्**	=उस
बुद्धिः	=बुद्धि (ज्ञान) को	**व्यामिश्रेण,इव**	=(आप अपने)	**एकम्**	=एक बातको
ज्यायसी	=श्रेष्ठ		मिले हुए-से	**वद**	=कहिये,
मता	=मानते हैं,	**वाक्येन**	=वचनोंसे	**येन**	=जिससे
तत्	=तो फिर	**मे**	=मेरी	**अहम्**	=मैं
केशव	=हे केशव!	**बुद्धिम्**	=बुद्धिको	**श्रेयः**	=कल्याणको
माम्	=मुझे	**मोहयसि, इव**	=मोहित-सी कर	**आप्नुयाम्**	=प्राप्त हो जाऊँ।

विशेष भाव—जबतक संसारकी सत्ता मानते हैं, तभीतक कर्म घोर या सौम्य दीखता है। कारण कि संसारकी सत्ता माननेसे कर्मकी तरफ दृष्टि रहती है, अपने कर्तव्यकी तरफ नहीं। अपने कर्तव्यकी तरफ दृष्टि रहनेसे कर्म घोर या सौम्य नहीं दीखता।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—

अनघ	=हे निष्पाप अर्जुन!	**निष्ठा**	=निष्ठा	**साङ्ख्यानाम्**	=ज्ञानियोंकी (निष्ठा)
अस्मिन्	=इस	**मया**	=मेरे द्वारा	**ज्ञानयोगेन**	=ज्ञानयोगसे (और)
लोके	=मनुष्यलोकमें	**पुरा**	=पहले	**योगिनाम्**	=योगियोंकी (निष्ठा)
द्विविधा	=दो प्रकारसे होनेवाली	**प्रोक्ता**	=कही गयी है। (उनमें)	**कर्मयोगेन**	=कर्मयोगसे (होती है)।

विशेष भाव—कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों ही निष्ठाएँ लोकमें होनेके कारण 'लौकिक' हैं—**'लोकेऽस्मिन्द्विविधा**

निष्ठा।' कर्मयोगमें 'क्षर' (संसार) की प्रधानता है और ज्ञानयोगमें 'अक्षर' (जीवात्मा) की प्रधानता है। क्षर और अक्षर भी लोकमें ही हैं—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (गीता १५। १६)। अतः कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों ही लौकिक निष्ठाएँ हैं।

जीव और जगत्‌को मुख्यता देनेसे ही ये दो निष्ठाएँ हुई हैं। अगर जीव और जगत्‌को मुख्यता न देकर केवल परमात्माको ही मुख्यता दें तो दो निष्ठाएँ नहीं होंगी, प्रत्युत केवल अलौकिक भगवन्निष्ठा (भक्ति) होगी।

लौकिक निष्ठा (कर्मयोग-ज्ञानयोग) में साधकका अपना उद्योग मुख्य होता है। वह साधनमें अपना पुरुषार्थ मानता है। परन्तु जब साधक भगवान्‌का आश्रय रखकर साधन करता है, अपना उद्योग मुख्य नहीं मानता, तब उसकी निष्ठा अलौकिक होती है। कारण कि भगवान्‌का सम्बन्ध होनेसे सब अलौकिक हो जाता है। जबतक भगवान्‌का सम्बन्ध नहीं होता, तबतक सब लौकिक ही होता है।

किसीको बुरा न समझे, किसीका बुरा न चाहे और किसीका बुरा न करे तो 'कर्मयोग' आरम्भ हो जाता है। मेरा कुछ नहीं है, मेरेको कुछ नहीं चाहिये और मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है—इस सत्यको स्वीकार कर ले तो 'ज्ञानयोग' आरम्भ हो जाता है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥

पुरुषः	= मनुष्य	**नैष्कर्म्यम्**	= निष्कर्मताका	**सन्न्यसनात्**	= (कर्मोंके) त्यागमात्रसे
न	= न तो	**अश्नुते**	= अनुभव करता है	**सिद्धिम्**	= सिद्धिको
कर्मणाम्	= कर्मोंका	**च**	= और	**एव**	= ही
अनारम्भात्	= आरम्भ किये बिना	**न**	= न	**समधिगच्छति**	= प्राप्त होता है।

विशेष भाव—जो अपना है, अपनेमें है और अभी है, उस तत्त्वकी प्राप्ति कुछ करनेसे नहीं होती; क्योंकि उसकी अप्राप्ति कभी होती ही नहीं। हम कुछ करेंगे, तब प्राप्ति होगी—यह भाव देहाभिमानको पुष्ट करनेवाला है। प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है; अतः क्रिया करनेसे उसकी प्राप्ति होगी, जो विद्यमान नहीं है। परन्तु प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होनेके कारण प्रत्येक प्राणीमें क्रियाका वेग रहता है, जो उसको क्रियारहित नहीं होने देता। क्रियाका वेग शान्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि जो नहीं करना चाहिये, उसको न करें और जो करना चाहिये, उसको निर्मम तथा निष्काम होकर करें अर्थात् अपने लिये कुछ न करें, प्रत्युत केवल दूसरेके हितके लिये ही करें। अपने लिये करनेसे क्रियाका वेग कभी समाप्त नहीं होगा; क्योंकि अपना स्वरूप नित्य है और कर्म अनित्य हैं। अतः निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे क्रियाका वेग शान्त होकर प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और सब देश, काल आदिमें विद्यमान परमात्मतत्त्व प्रकट हो जायगा, उसका अनुभव हो जायगा।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥

कश्चित्	= कोई	**अकर्मकृत्**	= कर्म किये बिना	**सर्वः**	= सब प्राणियोंसे
हि	= भी (मनुष्य)	**न**	= नहीं	**प्रकृतिजैः**	= प्रकृतिजन्य
जातु	= किसी भी अवस्थामें	**तिष्ठति**	= रह सकता;	**गुणैः**	= गुण
		हि	= क्योंकि	**कर्म**	= कर्म
क्षणम्	= क्षणमात्र	**अवशः**	= (प्रकृतिके) परवश हुए	**कार्यते**	= करवा लेते हैं।
अपि	= भी				

विशेष भाव—क्रियामात्र केवल प्रकृतिमें ही होती है। परन्तु प्रकृतिके साथ अपना तादात्म्य स्वीकार करनेसे मनुष्य प्रकृतिजन्य गुणोंके अधीन हो जाता है—'**अवशः**' तथा उसका क्रियाके साथ सम्बन्ध हो जाता है। इसलिये प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध माननेवाला कोई भी मनुष्य जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, समाधि तथा सर्ग-महासर्ग, प्रलय-महाप्रलय आदि किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता।

सुषुप्ति, मूर्च्छा तथा समाधि-अवस्थामें क्रिया कैसे होती है? मनुष्य सोता हो और कोई उसको बीचमें ही जगा दे तो वह कहता है कि मेरेको कच्ची नींदमें जगा दिया! इससे सिद्ध होता है कि सुषुप्तिके समय भी नींदके पकनेकी क्रिया हो रही थी। ऐसे ही मूर्च्छा और समाधिके समय भी क्रिया होती है। पातञ्जलयोगदर्शनमें इस क्रियाको 'परिणाम' नामसे कहा है*। 'परिणाम' का अर्थ है—परिवर्तनकी धारा अर्थात् बदलनेका प्रवाह†। तात्पर्य है कि समाधिके आरम्भसे लेकर व्युत्थान होनेतक क्रिया होती रहती है। अगर क्रिया न हो तो व्युत्थान हो ही नहीं सकता। समाधिके समय परिणाम होता है और समाधिके अन्तमें व्युत्थान होता है।

प्रकृतिकी सम्पूर्ण अवस्थाओंसे अतीत है—सहजावस्था अथवा सहज समाधि। सहजावस्था स्वरूपकी होती है, जिसमें किंचिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं है, क्रिया होनी सम्भव ही नहीं है। अतः सहजावस्थामें परिणाम तथा व्युत्थान कभी होता ही नहीं। कारण कि क्रियाएँ प्रकृति-विभागमें ही हैं, स्वरूप-विभागमें नहीं।

'**कार्यते ह्यवशः कर्म**'—कर्म करनेमें तो हम परतन्त्र हैं, पर उनमें राग-द्वेष करनेमें अथवा न करनेमें हम स्वतन्त्र हैं।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६ ॥

यः	=जो	**मनसा**	=मनसे	**विमूढात्मा**	=मूढ़ बुद्धिवाला मनुष्य
कर्मेन्द्रियाणि	=कर्मेन्द्रियों (सम्पूर्ण इन्द्रियों) को	**इन्द्रियार्थान्**	=इन्द्रियोंके विषयोंका	**मिथ्याचारः**	=मिथ्याचारी (मिथ्या आचरण करनेवाला)
संयम्य	=(हठपूर्वक) रोककर	**स्मरन्**	=चिन्तन करते हुए		
		आस्ते	=बैठता है,		
		सः	=वह	**उच्यते**	=कहा जाता है।

विशेष भाव—सांसारिक भोगोंको बाहरसे भी भोगा जा सकता है और मनसे भी। बाहरसे भोग भोगना और मनसे उनके चिन्तनका रस (सुख) लेना—दोनोंमें कोई फर्क नहीं है। बाहरसे रागपूर्वक भोग भोगनेसे जैसा संस्कार पड़ता है, वैसा ही संस्कार मनसे भोग भोगनेसे अर्थात् मनसे भोगोंके चिन्तनमें रस लेनेसे पड़ता है। भोगकी याद आनेपर उसकी यादसे रस लेते हैं तो कई वर्ष बीतनेपर भी वह भोग ज्यों-का-त्यों (ताजा) बना रहता है। अतः भोगके चिन्तनसे भी एक नया भोग बनता है! इतना ही नहीं, मनसे भोगोंके चिन्तनका सुख लेनेसे विशेष हानि होती है। कारण कि लोक-लिहाजसे, व्यवहारमें गड़बड़ी आनेके भयसे मनुष्य बाहरसे तो भोगोंका त्याग कर सकता है, पर मनसे भोग भोगनेमें बाहरसे कोई बाधा नहीं आती। अतः मनसे भोग भोगनेका विशेष अवसर मिलता है। इसलिये मनसे भोग भोगना साधकके लिये बहुत नुकसान करनेवाली बात है। वास्तवमें मनसे भोगोंका त्याग ही वास्तविक त्याग है (गीता २। ६४)।

* **व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः॥ ९॥ सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः॥ ११॥ ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः॥ १२॥** (विभूतिपाद)

† '**अथ कोऽयं परिणामः? अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः**' (योगदर्शन, विभूति० १३ का व्यासभाष्य) 'यह परिणाम क्या है? अवस्थित द्रव्यके पूर्व धर्मकी निवृत्ति होकर अन्य धर्मकी उत्पत्ति (अवस्थान्तर) ही परिणाम है।'

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७॥

तु	=परन्तु	**नियम्य**	=नियन्त्रण करके		इन्द्रियों) के द्वारा
अर्जुन	=हे अर्जुन!	**असक्तः**	=आसक्तिरहित	**कर्मयोगम्**	=कर्मयोगका
यः	=जो (मनुष्य)		होकर	**आरभते**	=आचरण करता है,
मनसा	=मनसे		(निष्कामभावसे)	**सः**	=वही
इन्द्रियाणि	=इन्द्रियोंपर	**कर्मेन्द्रियैः**	=कर्मेन्द्रियों (समस्त	**विशिष्यते**	=श्रेष्ठ है।

विशेष भाव—अपनेमें कल्याणकी इच्छा हो, स्वभावमें उदारता हो और हृदयमें करुणा हो अर्थात् दूसरेके सुखसे सुखी (प्रसन्न) और दुःखसे दुःखी (करुणित) हो जाय—ये तीन बातें होनेपर मनुष्य कर्मयोगका अधिकारी हो जाता है। कर्मयोगका अधिकारी होनेपर कर्मयोग सुगमतासे होने लगता है।

कर्मयोगमें एक विभाग 'कर्म' (कर्तव्य) का है और एक विभाग 'योग' का है। प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य और योग्यताका सदुपयोग करना और व्यक्तियोंकी सेवा करना—यह कर्तव्य है। कर्तव्यका पालन करनेसे संसारसे माने हुए संयोगका वियोग हो जाता है—यह योग है। कर्तव्यका सम्बन्ध संसारके साथ है और योगका सम्बन्ध परमात्माके साथ है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

त्वम्	=तू	**हि**	=क्योंकि	**अकर्मणः**	=कर्म न करनेसे
नियतम्	=शास्त्रविधिसे	**अकर्मणः**	=कर्म न करनेकी	**ते**	=तेरा
	नियत किये		अपेक्षा	**शरीरयात्रा**	=शरीर-निर्वाह
	हुए	**कर्म**	=कर्म करना	**अपि**	=भी
कर्म	=कर्तव्यकर्म	**ज्यायः**	=श्रेष्ठ है	**न, प्रसिद्ध्येत्**	=सिद्ध नहीं
कुरु	=कर;	**च**	=तथा		होगा।

विशेष भाव—निष्कामभावसे कर्म करनेवाला कर्मयोगी केवल स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेवालोंसे अथवा सकामभावसे कर्म करनेवालोंसे ही श्रेष्ठ नहीं है, प्रत्युत ज्ञानयोगीसे भी श्रेष्ठ है—'**तयोस्तु कर्मसन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते**' (गीता ५। २)। इसलिये भगवान् प्रस्तुत प्रकरणमें निष्कामभावसे कर्म करनेपर विशेष जोर दे रहे हैं।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९॥

यज्ञार्थात्	=यज्ञ (कर्तव्य-		वाले) कर्मोंमें	**कौन्तेय**	=हे कुन्तीनन्दन! (तू)
	पालन) के		(लगा हुआ)	**मुक्तसङ्गः**	=आसक्तिरहित
	लिये किये	**अयम्**	=यह		होकर
	जानेवाले	**लोकः**	=मनुष्य-	**तदर्थम्**	=उस यज्ञके
कर्मणः	=कर्मोंसे		समुदाय		लिये (ही)
अन्यत्र	=अन्यत्र (अपने	**कर्मबन्धनः**	=कर्मोंसे बँधता है	**कर्म**	=कर्तव्यकर्म
	लिये किये जाने-		(इसलिये)	**समाचर**	=कर।

विशेष भाव—मनुष्य कर्म करनेसे नहीं बँधता, प्रत्युत '**अन्यत्र कर्म**' करनेसे अर्थात् अपने लिये कर्म करनेसे बँधता है (गीता ३। १३)। अतः '**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**' पदोंका तात्पर्य है—अपने लिये कुछ नहीं करना है।

मनुष्य कर्मबन्धनसे तभी मुक्त हो सकता है, जब वह संसारसे मिले हुए शरीर, वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य (बल) को संसारकी ही सेवामें लगा दे और बदलेमें कुछ न चाहे। कारण कि संसार हमें वह वस्तु नहीं दे सकता, जो हम वास्तवमें चाहते हैं। हम सुख चाहते हैं, अमरता चाहते हैं, निश्चिन्तता चाहते हैं, निर्भयता चाहते हैं, स्वाधीनता चाहते हैं। परन्तु यह सब हमें संसारसे नहीं मिलेगा, प्रत्युत संसारके सम्बन्ध-विच्छेदसे मिलेगा। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदके लिये यह आवश्यक है कि हमें संसारसे जो मिला है, उसको केवल संसारकी ही सेवामें समर्पित कर दें।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ १०॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ ११॥

प्रजापतिः = प्रजापति ब्रह्माजीने
पुरा = सृष्टिके आदिकालमें
सहयज्ञाः = कर्तव्यकर्मोंके विधानसहित
प्रजाः = प्रजा (मनुष्य आदि) की
सृष्ट्वा = रचना करके (उनसे प्रधानतया मनुष्योंसे)
उवाच = कहा कि (तुमलोग)
अनेन = इस कर्तव्यके द्वारा
प्रसविष्यध्वम् = सबकी वृद्धि करो (और)
एषः = यह (कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञ)
वः = तुमलोगोंको
इष्टकामधुक् = कर्तव्य-पालनकी आवश्यक सामग्री प्रदान करनेवाला
अस्तु = हो।
अनेन = इस (अपने कर्तव्यकर्म) के द्वारा (तुमलोग)
देवान् = देवताओंको
भावयत = उन्नत करो (और)
ते = वे
देवाः = देवतालोग (अपने कर्तव्यके द्वारा)
वः = तुमलोगोंको
भावयन्तु = उन्नत करें। (इस प्रकार)
परस्परम् = एक-दूसरेको
भावयन्तः = उन्नत करते हुए (तुमलोग)
परम् = परम
श्रेयः = कल्याणको
अवाप्स्यथ = प्राप्त हो जाओगे।

विशेष भाव—मनुष्य कर्मयोनि है और चौरासी लाख योनियाँ, देवता, नारकीय जीव आदि भोगयोनियाँ हैं। सकामभाववाले मनुष्य भोगोंको भोगनेके लिये ही स्वर्गमें जाते हैं। अतः देवतालोग निष्कामभाव न रखकर अपनी जिम्मेवारीका पालन करते हैं, ड्यूटी बजाते हैं। इसलिये यहाँ कल्याणकी बात मनुष्योंके लिये ही समझनी चाहिये।

मुक्ति स्वाभाविक है और बन्धन अस्वाभाविक है। मनुष्ययोनि अपना कल्याण करनेके लिये ही है। इसलिये जो मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन करता है, उसका कल्याण स्वाभाविक होता है—'**परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ**'। कल्याणके लिये नया काम करनेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत जो काम करते हैं, उसीको स्वार्थ, अभिमान और फलेच्छाका त्याग करके दूसरोंके हितके लिये करें तो कल्याण हो जायगा। निष्कामभावके बिना भी केवल अपने कर्तव्यका पालन करनेसे स्वर्गादि पुण्यलोकोंकी प्राप्ति हो जाती है। जिस स्वर्गकी प्राप्ति बड़े-बड़े यज्ञ करनेसे होती है, उसीकी प्राप्ति क्षत्रिय केवल अपना कर्तव्यकर्म—युद्ध करके प्राप्त कर सकता है।

जैसे ब्रह्माजीने देवताओं और मनुष्योंके लिये परस्पर एक-दूसरेका हित करनेकी बात कही है, ऐसे ही चारों वर्णोंके लिये भी परस्पर एक-दूसरेका हित करनेकी बात समझनी चाहिये। चारों वर्ण परस्पर एक-दूसरेके हितके

लिये अपना-अपना कर्तव्यकर्म करें तो वे परम कल्याणको प्राप्त हो जायँगे।

सम्पूर्ण सृष्टिकी रचना ही इस ढंगसे हुई है कि अपने लिये कुछ (वस्तु और क्रिया) नहीं है, दूसरेके लिये ही है—**'इदं ब्रह्मणे न मम'**। जैसे पतिव्रता स्त्री पतिके लिये ही होती है, अपने लिये नहीं। स्त्रीके अंग पुरुषको सुख देते हैं, पर स्त्रीको सुख नहीं देते। पुरुषके अंग स्त्रीको सुख देते हैं, पर पुरुषको सुख नहीं देते। माँका दूध बच्चेके लिये ही होता है, अपने लिये नहीं और बच्चेकी चेष्टाएँ माँको सुख देती हैं, बच्चेको नहीं। माता-पिता सन्तानके लिये होते हैं और सन्तान माता-पिताके लिये होती है। श्रोता वक्ताके लिये होता है और वक्ता श्रोताके लिये होता है। तात्पर्य है कि खुद सुख न ले, प्रत्युत दूसरेको सुख दे। सृष्टिकी रचना भोगके लिये नहीं है, प्रत्युत उद्धारके लिये है।

देवता भी स्वार्थका त्याग करके दूसरेका हित कर सकते हैं। इसलिये देवताओंमें भी नारद-जैसे ऋषि हुए हैं। यद्यपि भगवान्‌की ओरसे किसीको मना नहीं है, तथापि कल्याणका मुख्य एवं स्वतः अधिकारी मनुष्य ही है।

एक शंका हो सकती है कि हम तो दूसरेका भला करें, पर दूसरा हमारा भला न करके बुरा करे तो **'परस्परं भावयन्तः'** कैसे होगा? इसका समाधान है कि हम दूसरेका भला करेंगे तो दूसरा हमारा बुरा कर सकेगा ही नहीं! उसमें हमारा बुरा करनेकी सामर्थ्य ही नहीं रहेगी! अगर वह बुरा करेगा भी तो पीछे पछतायेगा, रोयेगा। अगर वह हमारा बुरा करेगा तो हमारा भला करनेवाले, हमारे साथ सहानुभूति रखनेवाले कई पैदा हो जायँगे। वास्तवमें किसीका बुरा करनेका विधान कहीं नहीं आता। मनुष्य ही द्वेषके कारण दूसरेका बुरा करता है। **'परस्परं भावयन्तः'**—यह मनुष्यताकी बात है। इसके न होनेसे ही मनुष्य दुःख पा रहे हैं।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ १२॥

यज्ञभाविताः	=यज्ञसे पुष्ट हुए		सामग्री		बिना
देवाः	=देवता	**दास्यन्ते**	=देते रहेंगे।	**यः**	=जो मनुष्य (स्वयं
हि	=भी		(इस प्रकार)		ही उसका)
वः	=तुमलोगोंको	**तैः**	=उन देवताओंकी	**भुङ्क्ते**	=उपभोग करता है,
	(बिना माँगे ही)	**दत्तान्**	=दी हुई सामग्रीको	**सः**	=वह
इष्टान्, भोगान्	= कर्तव्य-पालनकी	**एभ्यः**	=दूसरोंकी	**स्तेनः**	=चोर
	आवश्यक	**अप्रदाय**	=सेवामें लगाये	**एव**	=ही है।

विशेष भाव—'यज्ञभाविताः' पदका अर्थ है—यज्ञसे पुष्ट हुए, पूजित हुए, संवर्धित हुए। मध्यलोकमें होनेके कारण मनुष्य ऊपरके और नीचेके सभी लोकोंमें रहनेवाले प्राणियोंको पुष्ट कर सकता है। सबका हित करनेके लिये ही मनुष्यको मध्यलोकमें बसाया गया है। इसीलिये मनुष्य कल्याणका अधिकारी है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ १३॥

यज्ञशिष्टाशिनः	=यज्ञशेष (योग) का	**तु**	=परन्तु		कर्म करते हैं,
	अनुभव करनेवाले	**ये**	=जो	**ते**	=वे
सन्तः	=श्रेष्ठ मनुष्य	**आत्मकारणात्**	= केवल अपने	**पापाः**	=पापीलोग (तो)
सर्वकिल्बिषैः	=सम्पूर्ण पापोंसे		लिये ही	**अघम्**	=पापका (ही)
मुच्यन्ते	=मुक्त हो जाते हैं।	**पचन्ति**	=पकाते अर्थात् सब	**भुञ्जते**	=भक्षण करते हैं।

विशेष भाव—मनुष्यके पास शरीर, योग्यता, पद, अधिकार, विद्या, बल आदि जो कुछ है, वह सब मिला हुआ है और बिछुड़नेवाला है। इसलिये वह अपना और अपने लिये नहीं है, प्रत्युत दूसरोंकी सेवाके लिये है। इस बातमें हमारी भारतीय संस्कृतिका पूरा सिद्धान्त आ जाता है। जैसे हमारे शरीरके सब अवयव शरीरके हितके लिये हैं, ऐसे ही संसारके सभी मनुष्य संसारके हितके लिये हैं। कोई मनुष्य किसी भी देश, वेश, वर्ण, आश्रम आदिका क्यों न हो, अपने कर्मोंके द्वारा दूसरोंकी सेवा करके सुगमतापूर्वक अपना कल्याण कर सकता है।

हमारेमें जो कुछ भी विशेषता है, वह दूसरोंके लिये है, अपने लिये नहीं। अगर सभी मनुष्य ऐसा करने लगें तो कोई भी बद्ध नहीं रहेगा, सब जीवन्मुक्त हो जायँगे। मिली हुई वस्तुको दूसरोंकी सेवामें लगा दिया तो अपने घरका क्या खर्च हुआ? मुफ्तमें कल्याण होगा। इसके सिवाय मुक्तिके लिये और कुछ करनेकी जरूरत ही नहीं है। जितना हमारे पास है, उसीको सेवामें लगानेकी जिम्मेवारी है, उससे अधिककी जिम्मेवारी है ही नहीं। उससे अधिक मनुष्य कर सकता भी नहीं। अपने पास जितनी वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य है, उतनी पूरी सेवामें खर्च करेंगे तो कल्याण भी पूरा ही होगा।

वास्तवमें शरीरसे संसारका ही काम होता है, अपना काम होता ही नहीं, क्योंकि शरीर हमारे लिये है ही नहीं। कुछ-न-कुछ काम करनेके लिये ही शरीरकी जरूरत होती है। अगर कुछ भी न करें तो शरीरकी क्या जरूरत? इसलिये शरीरके द्वारा अपने लिये कुछ करना ही दोष है। मिली हुई वस्तुके द्वारा हम अपने लिये कुछ नहीं कर सकते, प्रत्युत उसके द्वारा संसारकी सेवा कर सकते हैं। शरीर संसारका अंश है; अतः इससे जो कुछ होगा, संसारके लिये ही होगा। संसारसे आगे शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि जा सकते ही नहीं, इनको संसारसे अलग कर सकते ही नहीं। इसलिये अपने सुखके लिये कर्म करना मनुष्यपना नहीं है, प्रत्युत राक्षसपना है, असुरपना है! वास्तवमें मनुष्य वही है, जो दूसरोंके हितके लिये कर्म करता है। अपने सुखके लिये कर्म करनेवाले पापका ही भक्षण करते हैं अर्थात् सदा दुःखी ही रहते हैं और दूसरेके हितके लिये कर्म करनेवाले सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं अर्थात् सदाके लिये सुखी हो जाते हैं—**'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्'** (गीता ४। ३१)।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

भूतानि = सम्पूर्ण प्राणी
अन्नात् = अन्नसे
भवन्ति = उत्पन्न होते हैं।
अन्नसम्भवः = अन्नकी उत्पत्ति
पर्जन्यात् = वर्षासे होती है।
पर्जन्यः = वर्षा
यज्ञात् = यज्ञसे
भवति = होती है।
यज्ञः = यज्ञ
कर्मसमुद्भवः = कर्मोंसे सम्पन्न होता है।
कर्म = कर्मोंको (तू)
ब्रह्मोद्भवम् = वेदसे उत्पन्न
विद्धि = जान (और)
ब्रह्म = वेदको
अक्षरसमुद्भवम् = अक्षर ब्रह्मसे प्रकट हुआ (जान)।
तस्मात् = इसलिये (वह)
सर्वगतम् = सर्वव्यापी
ब्रह्म = परमात्मा
यज्ञे = यज्ञ (कर्तव्य-कर्म)में
नित्यम् = नित्य
प्रतिष्ठितम् = स्थित है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ १६॥

पार्थ	=हे पार्थ!	**न, अनुवर्तयति**	= अनुसार नहीं चलता,	**अघायुः**	=अघायु (पापमय जीवन बितानेवाला) मनुष्य
यः	=जो मनुष्य	**सः**	=वह	**मोघम्**	=(संसारमें) व्यर्थ ही
इह	=इस लोकमें	**इन्द्रियारामः**	=इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला	**जीवति**	=जीता है।
एवम्	=इस प्रकार				
प्रवर्तितम्	=(परम्परासे) प्रचलित				
चक्रम्	=सृष्टि-चक्रके				

विशेष भाव—नवें श्लोकसे लेकर यहाँतक जो वर्णन आया है, उसका तात्पर्य निःस्वार्थभावसे दूसरोंकी सेवा करनेमें ही है।

~~~

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ १७॥

तु	=परन्तु	**च**	=और	**सन्तुष्टः**	=सन्तुष्ट
यः	=जो	**आत्मतृप्तः**	=अपने-आपमें ही तृप्त	**स्यात्**	=है,
मानवः	=मनुष्य	**च**	=तथा	**तस्य**	=उसके लिये
आत्मरतिः, एव	=अपने-आपमें ही रमण करनेवाला	**आत्मनि**	=अपने-आपमें	**कार्यम्**	=कोई कर्तव्य
		एव	=ही	**न**	=नहीं
				विद्यते	=है।

विशेष भाव—कर्मयोगी निःस्वार्थभावसे संसारकी सेवाके लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है। जैसे गङ्गाजलसे गङ्गाका ही पूजन किया जाय, ऐसे ही संसारसे मिले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम्‌को संसारकी ही सेवामें लगा देनेसे चिन्मय स्वरूप शेष रह जाता है। इसलिये उसकी प्रीति, तृप्ति और सन्तुष्टि स्वरूपमें ही होती है।

सांसारिक विधि और निषेध—दोनों वास्तवमें निषेध ही हैं; क्योंकि ये दोनों ही नहीं रहनेवाले हैं। इसलिये संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर कर्मयोगीके लिये कोई विधि-निषेध रहता ही नहीं—'**तस्य कार्यं न विद्यते**'।

~~~

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ १८॥

तस्य	=उस (कर्मयोगसे सिद्ध हुए महापुरुष)का	**अर्थः**	=प्रयोजन (रहता है और)	**सर्वभूतेषु**	=सम्पूर्ण प्राणियोंमें (किसी भी प्राणीके साथ)
इह	=इस संसारमें	**न**	=न	**अस्य**	=इसका
न	=न तो	**अकृतेन**	=कर्म न करनेसे	**कश्चित्**	=किंचिन्मात्र भी
कृतेन	=कर्म करनेसे	**एव**	=ही (कोई प्रयोजन रहता है)	**अर्थव्यपाश्रयः**	=स्वार्थका सम्बन्ध
कश्चन	=कोई	**च**	=तथा	**न**	=नहीं रहता।

~~~
~~~

विशेष भाव— संसारमें 'करना' और 'न करना'—दोनों सापेक्ष हैं। इसलिये 'मेरेको कुछ नहीं करना है'—यह भी 'करना' ही है। परन्तु परमात्मतत्त्वमें 'न करना' निरपेक्ष है, स्वाभाविक है। कारण कि चिन्मय सत्ताका न तो क्रिया करनेके साथ सम्बन्ध है और न क्रिया न करनेके साथ सम्बन्ध है। इसलिये परमात्मतत्त्वको प्राप्त हुए कर्मयोगी महापुरुषका न तो किसी वस्तुसे कोई सम्बन्ध रहता है, न व्यक्तिसे कोई सम्बन्ध रहता है और न क्रियासे ही कोई सम्बन्ध रहता है—**'योऽवतिष्ठति नेङ्गते'** (गीता १४। २३)। उसकी दृष्टिमें एक चिन्मय सत्ताके सिवाय कुछ नहीं रहता।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ १९॥

तस्मात्	= इसलिये (तू)	**समाचर**	= भलीभाँति आचरण कर;	**कर्म**	= कर्म
सततम्	= निरन्तर	**हि**	= क्योंकि	**आचरन्**	= करता हुआ
असक्तः	= आसक्तिरहित (होकर)	**असक्तः**	= आसक्तिरहित (होकर)	**पूरुषः**	= मनुष्य
कार्यम्	= कर्तव्य			**परम्**	= परमात्माको
कर्म	= कर्मका			**आप्नोति**	= प्राप्त हो जाता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥ २०॥

जनकादयः	= राजा जनक-जैसे अनेक महापुरुष	**संसिद्धिम्**	= परमसिद्धिको	**कर्तुम्**	= (निष्कामभावसे) कर्म करनेके
हि	= भी	**आस्थिताः**	= प्राप्त हुए थे। (इसलिये)	**एव**	= ही
कर्मणा	= कर्म (कर्मयोग)के द्वारा	**लोकसङ्ग्रहम्**	= लोकसंग्रहको	**अर्हसि**	= योग्य है अर्थात् अवश्य करना चाहिये।
एव	= ही	**सम्पश्यन्**	= देखते हुए		
		अपि	= भी (तू)		

विशेष भाव— यहाँ आये **'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः'** पदोंसे सिद्ध होता है कि कर्मयोग मुक्तिका स्वतन्त्र साधन है। जनकादि राजाओंने भी कर्मयोगके द्वारा ही परमसिद्धि प्राप्त की; क्योंकि उन्होंने केवल दूसरोंकी सेवाके लिये, उनको सुख पहुँचानेके लिये ही राज्य किया, अपने लिये राज्य नहीं किया।

'लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि' पदोंका तात्पर्य है कि तेरेको लोगोंमें कर्मयोगका यह आदर्श स्थापित करना चाहिये कि कर्मयोगका पालन करनेसे परमसिद्धिकी प्राप्ति हो जाती है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ २१॥

श्रेष्ठः	= श्रेष्ठ मनुष्य	**तत्, तत्**	= वैसा-वैसा	**कुरुते**	= कर देता है,
यत्, यत्	= जो-जो	**एव**	= ही (आचरण करते हैं)।	**लोकः**	= दूसरे मनुष्य
आचरति	= आचरण करता है,	**सः**	= वह	**तत्**	= उसीके
इतरः	= दूसरे	**यत्**	= जो कुछ	**अनुवर्तते**	= अनुसार आचरण करते हैं।
जनः	= मनुष्य	**प्रमाणम्**	= प्रमाण		

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ २२॥

पार्थ	=हे पार्थ!	**कर्तव्यम्**	=कर्तव्य	**अनवाप्तम्**	=अप्राप्त है,
मे	=मुझे	**अस्ति**	=है	**कर्मणि**	=(फिर भी मैं) कर्तव्यकर्ममें
त्रिषु	=तीनों	**च**	=और		
लोकेषु	=लोकोंमें	**न**	=न (कोई)	**एव**	=ही
न	=न तो	**अवाप्तव्यम्**	=प्राप्त करनेयोग्य (वस्तु)	**वर्ते**	=लगा रहता हूँ।
किञ्चन	=कुछ				

विशेष भाव—महाभारतमें भगवान्ने उत्तङ्क ऋषिको भी तीनों लोकोंमें अपना कर्तव्य बताया है—

धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च॥
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव।

(महा० आश्व० ५४। १३-१४)

'मैं धर्मकी रक्षा और स्थापनाके लिये तीनों लोकोंमें बहुत-सी योनियोंमें अवतार धारण करके उन-उन रूपों और वेषोंद्वारा तदनुरूप बर्ताव करता हूँ।'

~~~

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ २३॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ २४॥

हि	=क्योंकि	**मनुष्याः**	=मनुष्य	**इमे**	=ये
पार्थ	=हे पार्थ!	**सर्वशः**	=सब प्रकारसे	**लोकाः**	=सब मनुष्य
यदि	=अगर	**मम**	=मेरे (ही)	**उत्सीदेयुः**	=नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ
अहम्	=मैं	**वर्त्म**	=मार्गका	**च**	=और (मैं)
जातु	=किसी समय	**अनुवर्तन्ते**	=अनुसरण करते हैं।	**सङ्करस्य**	=वर्णसंकरताको
अतन्द्रितः	=सावधान होकर			**कर्ता**	=करनेवाला
कर्मणि	=कर्तव्यकर्म	**चेत्**	=यदि	**स्याम्**	=होऊँ (तथा)
न	=न	**अहम्**	=मैं	**इमाः**	=इस
वर्तेयम्	=करूँ (तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि)	**कर्म**	=कर्म	**प्रजाः**	=समस्त प्रजाको
		न	=न	**उपहन्याम्**	=नष्ट करनेवाला बनूँ।
		कुर्याम्	=करूँ (तो)		

~~~

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् ॥ २५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ २६॥

भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!	**लोकसङ्ग्रहम्**	= लोकसंग्रह	**बुद्धिभेदम्**	= बुद्धिमें भ्रम
कर्मणि	= कर्ममें	**चिकीर्षुः**	= करना चाहता हुआ	**न, जनयेत्**	= उत्पन्न न करे, (प्रत्युत स्वयं)
सक्ताः	= आसक्त हुए	**तथा**	= उसी प्रकार		
अविद्वांसः	= अज्ञानिजन	**कुर्यात्**	= (कर्म) करे।	**सर्वकर्माणि**	= समस्त कर्मोंको
यथा	= जिस प्रकार	**युक्तः**	= सावधान	**समाचरन्**	= अच्छी तरहसे करता हुआ
कुर्वन्ति	= (कर्म) करते हैं,	**विद्वान्**	= तत्त्वज्ञ महापुरुष		
असक्तः	= आसक्तिरहित	**कर्मसङ्गिनाम्**	= कर्मोंमें आसक्तिवाले		
विद्वान्	= तत्त्वज्ञ महापुरुष (भी)	**अज्ञानाम्**	= अज्ञानी मनुष्योंकी	**जोषयेत्**	= (उनसे भी वैसे ही) करवाये।

विशेष भाव—तत्त्वज्ञ महापुरुष और भगवान्—दोनोंमें ही कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। अतः वे केवल लोकसंग्रहके लिये ही कर्तव्य-कर्म किया करते हैं, अपने लिये नहीं। साधकको भी अपने लिये कुछ नहीं करना चाहिये; क्योंकि स्वरूपमें कर्तृत्व नहीं है। लोगोंको उन्मार्गसे हटाकर सन्मार्गमें लगाना लोकसंग्रह है। लोकसंग्रहका उपाय है—शास्त्रके अनुसार ठीक आचरण करना, पर भीतरमें साधक यह भाव रखे कि मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है। वह लोगोंमें यह न कहे कि मैं अपने लिये कुछ नहीं करता हूँ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ २७॥

कर्माणि	= सम्पूर्ण कर्म		(परन्तु)	**अहम्**	= 'मैं
सर्वशः	= सब प्रकारसे	**अहङ्कारविमूढात्मा**	= अहंकारसे मोहित अन्तः-करणवाला अज्ञानी मनुष्य	**कर्ता**	= कर्ता हूँ'—
प्रकृतेः	= प्रकृतिके			**इति**	= ऐसा
गुणैः	= गुणोंद्वारा			**मन्यते**	= मान लेता है।
क्रियमाणानि	= किये जाते हैं;				

विशेष भाव—सम्पूर्ण क्रियाएँ जड़-विभागमें ही होती हैं। चेतन-विभागमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं होती। अहंकारसे अन्तःकरण मोहित होनेके कारण अज्ञानी मनुष्य 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा मान लेता है। अहंकारसे अन्तःकरण मोहित होनेका तात्पर्य है—अपरा प्रकृतिके अंश अहम्‌के साथ अपना सम्बन्ध मान लेना अर्थात् अहम्‌को अपना स्वरूप मान लेना कि यही मैं हूँ। इसीको तादात्म्य कहते हैं।

अपनेको कर्ता माननेवाला तो चेतन है, पर वह जड़ अहम्‌को अपना स्वरूप मान लेता है। तात्पर्य है कि अहम्‌को अपना स्वरूप माननेवाला, अपनेको एकदेशीय माननेवाला स्वयं परमात्माका अंश है। उस स्वयंमें कर्तापन सम्भव ही नहीं है (गीता १३। २९)। वास्तवमें स्वयं शरीरसे मिल सकता ही नहीं—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१), पर मनुष्य मिला हुआ मान लेता है—'**कर्ताहमिति मन्यते**'। वास्तवमें तादात्म्य होता नहीं, प्रत्युत तादात्म्य माना जाता है। तात्पर्य है कि स्वयं कर्ता बनता नहीं, केवल अविवेकपूर्वक अपनेमें कर्तापनकी मान्यता कर लेता है—'**मन्यते**'। अपनेको कर्ता मानते ही उसपर शास्त्रीय विधि-निषेध लागू हो जाते हैं और उसको कर्मफलका भोक्ता बनना पड़ता है।

स्वरूप (स्वयं) में कोई क्रिया नहीं है। क्रिया वहीं होती है, जहाँ कुछ खाली जगह हो। सर्वथा ठोस स्वरूपमें क्रिया कैसे हो सकती है? परन्तु अपनेको कर्ता मान लेनेसे वह प्रकृतिकी जिस क्रियाके साथ सम्बन्ध जोड़ता

है, वह क्रिया उसके लिये फलजनक 'कर्म' बन जाती है, जिसका फल उसको भोगना ही पड़ता है। कारण कि जो कर्ता होता है, वही भोक्ता होता है।

स्वरूपका कारकमात्रसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद है। इसलिये स्वरूपमें लेशमात्र भी कर्तृत्व नहीं है। कर्तृत्वका विभाग ही अलग है। आजतक देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, यक्ष, राक्षस आदि अनेक शरीरों (योनियों) में जो भी कर्म किये गये हैं, उनमेंसे कोई भी कर्म स्वरूपतक नहीं पहुँचा तथा कोई भी शरीर स्वरूपतक नहीं पहुँचा; क्योंकि कर्म और पदार्थ (शरीर)का विभाग ही अलग है और स्वरूपका विभाग ही अलग है। परन्तु इस विवेकको महत्त्व न देनेके कारण मनुष्य कर्म और फलमें बँध जाता है।

जबतक 'करना' है, तबतक अहंकारके साथ सम्बन्ध है; क्योंकि अहंकार (कर्तापन) के बिना 'करना' सिद्ध नहीं होता। करनेका भाव होनेपर कर्तृत्वाभिमान हो ही जाता है। कर्तृत्वाभिमान होनेसे 'करना' होता है और करनेसे कर्तृत्वाभिमान पुष्ट होता है। इसलिये किये हुए साधनसे साधक कभी अहंकाररहित हो ही नहीं सकता। अहंकारपूर्वक किया गया कर्म कभी कल्याण नहीं कर सकता; क्योंकि सब अनर्थोंका, जन्म-मरणका मूल अहंकार ही है। अपने लिये कुछ न करनेसे अहंकारके साथ सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् प्रकृतिमात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह क्रियाको महत्त्व न देकर अपने विवेकको महत्त्व दे। विवेकको महत्त्व देनेसे विवेक स्वतः स्पष्ट होता रहता है और साधकका मार्गदर्शन करता रहता है। आगे चलकर यह विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ २८॥

तु	=परन्तु	**तत्त्ववित्**	=तत्त्वसे जाननेवाला महापुरुष	**वर्तन्ते**	=बरत रहे हैं'—
महाबाहो	=हे महाबाहो!	**गुणाः**	='सम्पूर्ण गुण (ही)	**इति**	=ऐसा
गुणकर्मविभागयोः	=गुण-विभाग और कर्म-विभागको	**गुणेषु**	=गुणोंमें	**मत्वा**	=मानकर (उनमें)
				न, सज्जते	=आसक्त नहीं होता।

विशेष भाव—जो अहंकारसे मोहित नहीं होता, वह 'तत्त्ववित्' होता है। इस तत्त्ववित्‌को ही दूसरे अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'तत्त्वदर्शी' कहा है। तत्त्ववित् गुण-विभाग और कर्म-विभागसे अर्थात् पदार्थ और क्रियासे सर्वथा अतीत हो जाता है।

जबतक साधकका संसारके साथ सम्बन्ध रहेगा, तबतक वह 'तत्त्ववित्' नहीं हो सकता। कारण कि संसारके साथ सम्बन्ध रखते हुए कोई संसारको जान ही नहीं सकता। संसारसे सर्वथा अलग होनेपर ही संसारको जान सकते हैं—यह नियम है। इसी तरह परमात्मासे अलग होकर कोई परमात्माको जान ही नहीं सकता। परमात्मासे एक होकर ही परमात्माको जान सकते हैं—यह नियम है। कारण यह है कि वास्तवमें हम संसारसे अलग हैं और परमात्मासे एक हैं। शरीरकी संसारके साथ एकता है, हमारी (स्वयंकी) परमात्माके साथ एकता है।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ २९॥

प्रकृतेः	=प्रकृतिजन्य	**सज्जन्ते**	=आसक्त रहते हैं।	**मन्दान्**	=मन्दबुद्धि अज्ञानियोंको
गुणसम्मूढाः	=गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए अज्ञानी मनुष्य	**तान्**	=उन	**कृत्स्नवित्**	=पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी मनुष्य
गुणकर्मसु	=गुणों और कर्मोंमें	**अकृत्स्नविदः**	=पूर्णतया न समझनेवाले	**न, विचालयेत्**	=विचलित न करे।

विशेष भाव—अर्जुनका प्रश्न था कि मेरेको घोर कर्ममें क्यों लगाते हो? उस प्रश्नका उत्तर भगवान् कई तरहसे देते हैं, जिसका तात्पर्य है कि मेरा उद्देश्य घोर कर्ममें लगाना नहीं है, प्रत्युत कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करना है। कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये ही कर्मयोग है।

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ ३०॥

अध्यात्मचेतसा	= (तू) विवेकवती बुद्धिके द्वारा	**मयि**	= मेरे	**विगतज्वरः**	= सन्तापरहित
सर्वाणि	= सम्पूर्ण	**सन्न्यस्य**	= अर्पण करके	**भूत्वा**	= होकर
कर्माणि	= कर्तव्य-कर्मोंको	**निराशीः**	= कामनारहित,	**युध्यस्व**	= युद्धरूप कर्तव्य-कर्मको कर।
		निर्ममः	= ममतारहित (और)		

विशेष भाव—अबतक तो भगवान्‌ने अर्जुनके प्रश्न (मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हो?) का ही कई तरहसे उत्तर दिया। अब इस श्लोकमें भगवन्निष्ठाके अनुसार कर्म करनेकी विधि बताते हैं।

सम्पूर्ण कर्मोंको मेरे अर्पण कर—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि क्रिया और पदार्थको अपने और अपने लिये न मानकर मेरे और मेरे लिये ही मान। कारण कि भगवान् समग्र हैं और सम्पूर्ण कर्म तथा पदार्थ (अधिभूत) समग्र भगवान्‌के ही अन्तर्गत हैं (गीता ७। २९-३०)। उस समग्र भगवान्‌के लिये ही यहाँ 'मयि' पद आया है।

इस श्लोकमें '**मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्य**' पदोंमें भक्तियोगकी, '**अध्यात्मचेतसा**' पदमें ज्ञानयोगकी और '**निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः**' पदोंमें कर्मयोगकी बात आयी है।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥

ये	= जो	**इदम्**	= इस (पूर्वश्लोकमें वर्णित)	**ते**	= वे
मानवाः	= मनुष्य			**अपि**	= भी
अनसूयन्तः	= दोष-दृष्टिसे रहित होकर	**मतम्**	= मतका	**कर्मभिः**	= कर्मोंके बन्धनसे
		नित्यम्	= सदा		
श्रद्धावन्तः	= श्रद्धापूर्वक	**अनुतिष्ठन्ति**	= अनुसरण करते हैं,	**मुच्यन्ते**	= मुक्त हो जाते हैं।
मे	= मेरे				

विशेष भाव—भगवान्‌का मत ही वास्तविक और सर्वोपरि 'सिद्धान्त' है, जिसके अन्तर्गत सभी मत-मतान्तर आ जाते हैं। परन्तु भगवान् अभिमान न करके बड़ी सरलतासे, नम्रतासे अपने सिद्धान्तको 'मत' नामसे कहते हैं। तात्पर्य है कि भगवान्‌ने अपने अथवा दूसरे किसीके भी मतका आग्रह नहीं रखा है, प्रत्युत निष्पक्ष होकर अपनी बात सामने रखी है।

मत सर्वोपरि नहीं होता, प्रत्युत व्यक्तिगत होता है। हरेक व्यक्ति अपना-अपना मत प्रकट कर सकता है; परन्तु सिद्धान्त सर्वोपरि होता है, जो सबको मानना पड़ता है। इसलिये गुरु-शिष्यमें भी मतभेद तो हो सकता है, पर सिद्धान्तभेद नहीं हो सकता। ऋषि-मुनि, दार्शनिक अपने-अपने मतको भी 'सिद्धान्त' नामसे कहते हैं; परन्तु गीतामें भगवान् अपने सिद्धान्तको भी 'मत' नामसे कहते हैं। ऋषि, मुनि, दार्शनिक, आचार्य आदिके मतोंमें तो भेद (मतभेद) रहता है, पर भगवान्‌के मत अर्थात् सिद्धान्तमें कोई मतभेद नहीं है।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥ ३२॥

तु = परन्तु
ये = जो मनुष्य
मे = मेरे
एतद् = इस
मतम् = मतमें
अभ्यसूयन्तः = दोष-दृष्टि करते हुए
न, अनुतिष्ठन्ति = (इसका) अनुष्ठान नहीं करते,
तान् = उन
सर्वज्ञानविमूढान् = सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित
अचेतसः = (और) अविवेकी मनुष्योंको
नष्टान् = नष्ट हुए (ही)
विद्धि = समझो अर्थात् उनका पतन ही होता है।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥

भूतानि = सम्पूर्ण प्राणी
प्रकृतिम् = प्रकृतिको
यान्ति = प्राप्त होते हैं।
ज्ञानवान् = ज्ञानी महापुरुष
अपि = भी
स्वस्याः = अपनी
प्रकृतेः = प्रकृतिके
सदृशम् = अनुसार
चेष्टते = चेष्टा करता है।
निग्रहः = (फिर इसमें किसीका) हठ
किम् = क्या
करिष्यति = करेगा?

विशेष भाव—ज्ञानी महापुरुष भी जब व्यवहार करता है तो स्वभावके अनुसार ही करता है। कारण कि कारणोंके बिना कोई व्यवहार नहीं कर सकता। जैसे आचार्य बालककी स्थितिमें आकर ही उसको वर्णमाला (क-ख-ग) सिखाता है, ऐसे ही ज्ञानी महापुरुष भी साधारण मनुष्यकी स्थितिमें आकर ही उसको समझाता है, व्यवहार करता है।

'चेष्टते' पदका तात्पर्य है कि वह कर्म करता नहीं, प्रत्युत उससे प्रकृतिके अनुसार स्वत: क्रिया होती है। जैसे वृक्षके पत्ते हिलते हैं तो उनसे कोई फलजनक कर्म (पाप या पुण्य) नहीं होता, ऐसे ही कर्तृत्वाभिमान न होनेके कारण उसके द्वारा कोई शुभ-अशुभ कर्म नहीं बनता।

'स्वस्याः' पदका तात्पर्य है कि वह प्रकृतिके परवश नहीं होता, प्रत्युत प्रकृति ही उसके परवश होती है।

ज्ञानी महापुरुष भी दूसरोंके हितमें लगे रहते हैं; क्योंकि साधनावस्थामें ही उनका स्वभाव प्राणिमात्रका हित करनेका रहा है—**'सर्वभूतहिते रताः'** (गीता ५। २५; १२। ४)। इसलिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष न रहनेपर भी उनमें सबका हित करनेका स्वभाव रहता है। तात्पर्य है कि दूसरोंका हित करते-करते जब उनका संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब उनको हित करना नहीं पड़ता, प्रत्युत पहलेके प्रवाहके कारण उनके द्वारा स्वत: दूसरोंका हित होता है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ ३४॥

इन्द्रियस्य,इन्द्रियस्य = इन्द्रिय-इन्द्रियके
अर्थे = अर्थमें (प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें)
रागद्वेषौ = (मनुष्यके) राग और द्वेष
व्यवस्थितौ = व्यवस्थासे (अनुकूलता और

	प्रतिकूलताको लेकर) स्थित हैं।	**न**	= नहीं	**अस्य**	= इसके (पारमार्थिक मार्गमें)
तयोः	= (मनुष्यको) उन दोनोंके	**आगच्छेत्**	= होना चाहिये;	**परिपन्थिनौ**	= विघ्न डालनेवाले शत्रु हैं।
वशम्	= वशमें	**हि**	= क्योंकि		
		तौ	= वे दोनों ही		

विशेष भाव—सुख-दुःखका कारण दूसरेको माननेसे ही राग-द्वेष होते हैं अर्थात् जिसको सुख देनेवाला मानते हैं, उसमें राग हो जाता है और जिसको दुःख देनेवाला मानते हैं, उसमें द्वेष हो जाता है। अतः राग-द्वेष अपनी भूलसे पैदा होते हैं, इसमें दूसरा कोई कारण नहीं है। राग-द्वेष होनेके कारण ही संसार भगवत्स्वरूप नहीं दीखता, प्रत्युत जड़ और नाशवान् दीखता है। अगर राग-द्वेष न हों तो जड़ता है ही नहीं, प्रत्युत सब कुछ चिन्मय परमात्मा ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)।

अगर मन-बुद्धिमें राग-द्वेषादि कोई दोष पैदा हो जाय तो उसके वशमें नहीं होना चाहिये अर्थात् उसके अनुसार कोई निषिद्ध क्रिया नहीं करनी चाहिये। उसके वशीभूत होकर क्रिया करनेसे वह दोष दृढ़ हो जायगा। परन्तु उसके वशीभूत होकर क्रिया न करनेसे एक उत्साह पैदा होगा। जैसे, किसीने हमारेसे कड़वी बात कह दी, पर हमें क्रोध नहीं आया तो हमारे भीतर एक उत्साह, प्रसन्नता होगी कि आज तो हम बच गये! परन्तु इसमें अपना बल न मानकर भगवान्‌की कृपा माननी चाहिये कि उनकी कृपासे ही हम बच गये, नहीं तो इसके वशीभूत हो जाते! इस तरह साधकको कभी भी कोई दोष दीखे तो वह उसके वशीभूत न हो और उसको अपनेमें भी न माने। अगर राग-द्वेष अपनेमें होते तो जबतक अपनी सत्ता रहती तबतक राग-द्वेष भी रहते। परन्तु यह सबका अनुभव है कि हम तो निरन्तर रहते हैं, पर राग-द्वेष निरन्तर नहीं रहते, प्रत्युत आते-जाते हैं। सत्तारूप स्वयंमें राग-द्वेष आ ही नहीं सकते। कारण कि हमारा (स्वयंका) विभाग अलग है और राग-द्वेषका विभाग अलग है। जिसको राग-द्वेषके आने-जानेका ज्ञान होता है, वह राग-द्वेषसे अलग होता है। अतः राग-द्वेष हमारेसे भी अलग हैं और जिनमें ये प्रतीत होते हैं, उन मन-बुद्धि आदिसे भी अलग हैं—'**मनोगतान्**' (गीता २। ५५)।

'**इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ**' पदोंका तात्पर्य है कि अनुकूलता-प्रतिकूलता दोनोंमें राग न करे, प्रत्युत उनका सदुपयोग करे अर्थात् अनुकूलतामें दूसरोंकी सेवा करे और प्रतिकूलतामें अनुकूलताकी इच्छाका त्याग करे। '**तयोर्न वशमागच्छेत्**' पदोंका तात्पर्य है कि अनुकूलता-प्रतिकूलतामें सुखी-दुःखी न हो। सुखी-दुःखी होना फलासक्त होना है और फलासक्त मनुष्य बँध जाता है—'**फले सक्तो निबध्यते**' (गीता ५। १२)।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३५॥

स्वनुष्ठितात्	= अच्छी तरह आचरणमें लाये हुए	**स्वधर्मः**	= अपना धर्म	**श्रेयः**	= कल्याणकारक है (और)
परधर्मात्	= दूसरेके धर्मसे	**श्रेयान्**	= श्रेष्ठ है।	**परधर्मः**	= दूसरेका धर्म
विगुणः	= गुणोंकी कमीवाला	**स्वधर्मे**	= अपने धर्ममें (तो)	**भयावहः**	= भयको देनेवाला है।
		निधनम्	= मरना (भी)		

विशेष भाव—साधक जन्म और कर्मके अनुसार 'स्व' को अर्थात् अपनेको जो मानता है, उसका धर्म (कर्तव्य) उसके लिये 'स्वधर्म' है और जो उसके लिये निषिद्ध है, वह 'परधर्म' है, जैसे, साधक अपनेको किसी वर्ण और आश्रमका मानता है तो उस वर्ण और आश्रमका धर्म उसके लिये स्वधर्म है। वह अपनेको विद्यार्थी या अध्यापक मानता है तो पढ़ना या पढ़ाना उसके लिये स्वधर्म है। वह अपनेको सेवक, जिज्ञासु या भक्त मानता है तो सेवा,

जिज्ञासा या भक्ति उसके लिये स्वधर्म है। जिसमें दूसरेके अहितका, अनिष्टका भाव होता है, वह चोरी, हिंसा आदि कर्म किसीके भी स्वधर्म नहीं हैं, प्रत्युत कुधर्म अथवा अधर्म हैं।*

निष्कामभावसे दूसरेके हितके लिये कर्म करना (कर्मयोग) स्वधर्म है। स्वधर्मको ही गीतामें सहज कर्म, स्वकर्म और स्वभावज कर्म नामसे कहा गया है।

कर्तव्यके विरुद्ध कर्म करना भी अकर्तव्य है और कर्तव्यका पालन न करना भी अकर्तव्य है (गीता २। ३३)।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

अर्जुन बोले—

वार्ष्णेय	=हे वार्ष्णेय!	**अपि**	=भी	**केन**	=किससे
अथ	=फिर	**बलात्**	=जबर्दस्ती	**प्रयुक्तः**	=प्रेरित होकर
अयम्	=यह	**नियोजितः**	=लगाये हुएकी	**पापम्**	=पापका
पूरुषः	=मनुष्य			**चरति**	=आचरण करता है?
अनिच्छन्	=न चाहता हुआ	**इव**	=तरह		

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ ३७॥

श्रीभगवान् बोले—

रजोगुणसमुद्भवः	=रजोगुणसे उत्पन्न	**एषः**	=यह (काम ही)	**महापाप्मा**	=महापापी है।
एषः	=यह	**क्रोधः**	=क्रोध (में परिणत होता) है।	**इह**	=इस विषयमें (तू)
कामः	=काम अर्थात् कामना (ही पापका कारण है)।	**महाशनः**	=(यह) बहुत खानेवाला (और)	**एनम्**	=इसको (ही)
				वैरिणम्	=वैरी
				विद्धि	=जान।

विशेष भाव—वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सुख चाहनेका नाम 'काम' है। इस काम-रूप एक दोषमें अनन्त दोष, अनन्त विकार, अनन्त पाप भरे हुए हैं। अतः जबतक मनुष्यके भीतर काम है, तबतक वह सर्वथा निर्दोष, निर्विकार, निष्पाप नहीं हो सकता। अपने सुखके लिये कुछ चाहनेसे ही बुराई होती है। जो किसीसे कुछ नहीं चाहता, वह बुराईरहित हो जाता है।

कर्मफल तीन प्रकारके होते हैं—इष्ट, अनिष्ट और मिश्र (गीता १८। १२)। तीनोंमें 'काम' का केवल 'अनिष्ट'

* प्रत्येक धर्ममें कुधर्म, अधर्म और परधर्म—ये तीनों होते हैं। दूसरेके अनिष्टका भाव, कूटनीति आदि 'धर्ममें कुधर्म' है। यज्ञमें पशुबलि देना आदि 'धर्ममें अधर्म' है। जो अपने लिये निषिद्ध है, ऐसा दूसरे वर्ण, आश्रम आदिका धर्म 'धर्ममें परधर्म' है। कुधर्म, अधर्म और परधर्म—इन तीनोंसे कल्याण नहीं होता। कल्याण उस धर्मसे होता है, जिसमें अपने स्वार्थ तथा अभिमानका त्याग एवं दूसरेका वर्तमानमें और भविष्यमें हित होता हो।

फल ही मिलता है।

शास्त्रनिषिद्ध कर्म प्रारब्धसे नहीं होता, प्रत्युत 'काम' से होता है। प्रारब्धसे (फलभोगके लिये) कर्म करनेकी वृत्ति तो हो जायगी, पर निषिद्ध कर्म नहीं होगा; क्योंकि प्रारब्धका फल भोगनेके लिये निषिद्ध आचरणकी जरूरत ही नहीं है।

'काम' रजोगुणसे पैदा होता है। अतः पापोंका कारण तो रजोगुण है और कार्य तमोगुण है। सभी पाप रजोगुणसे पैदा होते हैं।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ ३८॥

यथा	= जैसे	**आव्रियते**	= ढका जाता है (तथा)	**तथा**	= ऐसे ही
धूमेन	= धुएँसे	**यथा**	= जैसे	**तेन**	= उस कामनाके द्वारा
वह्निः	= अग्नि	**उल्बेन**	= जेरसे	**इदम्**	= यह (ज्ञान अर्थात् विवेक)
च	= और	**गर्भः**	= गर्भ	**आवृतम्**	= ढका हुआ है।
मलेन	= मैलसे	**आवृतः**	= ढका रहता है,		
आदर्शः	= दर्पण				

विशेष भाव—परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कामना ही खास बाधक है। जैसे, पानीसे भरा हुआ घड़ा है और उसमें हमें दो काम करने हैं—उसको खाली करना है और उसमें आकाश भरना है। परन्तु वास्तवमें हमें दो काम नहीं करने हैं, प्रत्युत एक ही काम करना है—घड़ेको खाली करना। घड़ेमेंसे पानी निकाल दें तो आकाश अपने-आप भर जायगा। ऐसे ही कामनाका त्याग करना और परमात्माको प्राप्त करना—ये दो काम नहीं हैं। कामनाका त्याग कर दें तो परमात्माकी प्राप्ति अपने-आप हो जायगी। केवल कामनाके कारण ही परमात्मा अप्राप्त दीख रहे हैं।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!	**च**	= और	**नित्यवैरिणा**	= नित्य वैरीके द्वारा
एतेन	= इस	**ज्ञानिनः**	= विवेकियोंके	**ज्ञानम्**	= (मनुष्यका) विवेक
अनलेन	= अग्निके (समान)	**कामरूपेण**	= कामना-रूप	**आवृतम्**	= ढका हुआ है।
दुष्पूरेण	= (कभी) तृप्त न होनेवाले				

विशेष भाव—साधनकी मुख्य बाधा है—संयोगजन्य सुखकी कामना। यह बाधा साधनमें बहुत दूरतक रहती है। साधक जहाँ सुख लेता है, वहीं अटक जाता है। यहाँतक कि वह समाधिका भी सुख लेता है तो वहाँ अटक जाता है*। सात्त्विक सुखकी कामना, आसक्ति भी बन्धनकारक हो जाती है—**'सुखसङ्गेन बध्नाति'** (गीता १४। ६)†। इसलिये यहाँ भगवान्ने संयोगजन्य सुखकी कामनाको विवेकी साधकोंका नित्य वैरी बताया है—**'न तेषु रमते बुधः'** (गीता ५। २२), **'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'** (योगदर्शन २। १५)।

---

* भोगोंका सुख संयोगजन्य और समाधिका सुख वियोगजन्य है। संयोगजन्य सुख लेनेसे पतन हो जाता है और वियोगजन्य सुख लेनेसे साधक अटक जाता है।

† परमात्मप्राप्तिके मार्गमें सात्त्विक सुखकी आसक्ति अटकाती है और राजस-तामस सुखकी आसक्ति पतन करती है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ४०॥

इन्द्रियाणि	=इन्द्रियाँ,	**उच्यते**	=कहे गये हैं।	**ज्ञानम्**	=ज्ञानको
मनः	=मन (और)	**एषः**	=यह कामना	**आवृत्य**	=ढककर
बुद्धिः	=बुद्धि	**एतैः**	=इन (इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि)के द्वारा	**देहिनम्**	=देहाभिमानी मनुष्यको
अस्य	=इस कामनाके			**विमोहयति**	=मोहित करती है।
अधिष्ठानम्	=वास-स्थान				

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ४१॥

तस्मात्	=इसलिये	**इन्द्रियाणि**	=इन्द्रियोंको		करनेवाले
भरतर्षभ	=हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**नियम्य**	=वशमें करके	**पाप्मानम्**	= महान् पापी कामको
		एनम्	=इस		
त्वम्	=तू	**ज्ञानविज्ञाननाशनम्**	=ज्ञान और विज्ञानका नाश	**हि**	=अवश्य ही
आदौ	=सबसे पहले			**प्रजहि**	=बलपूर्वक मार डाल।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ ४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ ४३॥

इन्द्रियाणि	=इन्द्रियोंको (स्थूलशरीरसे)	**तु**	=भी	**बुद्ध्वा**	=जानकर
		परा	=पर	**आत्मना**	=अपने द्वारा
पराणि	=पर (श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक, व्यापक तथा सूक्ष्म)	**बुद्धिः**	=बुद्धि है (और)	**आत्मानम्**	=अपने-आपको
		यः	=जो		
		बुद्धेः	=बुद्धिसे	**संस्तभ्य**	=वशमें करके
		तु	=भी	**महाबाहो**	=हे महाबाहो! (तू इस)
आहुः	=कहते हैं।	**परतः**	=पर है,		
इन्द्रियेभ्यः	=इन्द्रियोंसे	**सः**	=वह (काम) है।	**कामरूपम्**	=कामरूप
परम्	=पर	**एवम्**	=इस तरह	**दुरासदम्**	=दुर्जय
मनः	=मन है,	**बुद्धेः**	=बुद्धिसे	**शत्रुम्**	=शत्रुको
मनसः	=मनसे	**परम्**	=पर (काम)को	**जहि**	=मार डाल।

विशेष भाव— भगवान्‌ने इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिका नाम तो लिया है, पर 'अहम्' का नाम नहीं लिया। अहम् बुद्धिसे परे है। सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें भी भगवान्‌ने बुद्धिके बाद अहम्‌को लिया है—'**भूमिरापोऽनलो**

वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे…………'। अतः यहाँ भी '**सः**' पदसे अहम्‌में रहनेवाले 'काम' को लेना चाहिये।

जबतक स्वरूपका साक्षात्कार नहीं होता, तबतक अहम्‌में काम रहता है। स्वरूपका साक्षात्कार होनेपर अहम्‌में काम नहीं रहता—'**परं दृष्ट्वा निवर्तते**' (गीता २। ५९)। सुख तो है स्वरूपमें, पर कामके कारण मनुष्य जड़ताको सत्ता और महत्ता देकर उससे सुख चाहता है। जबतक जड़ताका सम्बन्ध है, तबतक 'काम' है, जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर 'प्रेम' होता है।

'काम' अपनेमें है—'**रसोऽप्यस्य**' (गीता २। ५९)। अपनेमें होनेसे ही काम हमारे लिये बाधक होता है। अगर यह अपनेमें न हो, दूसरे (इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि) में हो तो हमारेको क्या बाधा लगी? अपनेमें काम होनेसे ही स्वयं सुखी-दुःखी होता है, कर्ता-भोक्ता होता है। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो काम अपनेमें माना हुआ है, अपनेमें है नहीं, तभी यह मिटता है। अतः काम अपनेमें है, पर माना हुआ है।

अहम्‌में रहनेवाली चीजको मनुष्य अपनेमें मान लेता है। अपनेमें अहम् माना हुआ है और उस अहम्‌में काम रहता है। अतः जबतक अहम् है, तबतक अहम्‌की जातिका आकर्षण अर्थात् 'काम' होता है और जब अहम् नहीं रहता, तब स्वयंकी जातिका आकर्षण अर्थात् 'प्रेम' होता है। काममें संसारकी तरफ और प्रेममें परमात्माकी तरफ आकर्षण होता है।

सम्पूर्ण त्रिलोकी, अनन्त ब्रह्माण्ड 'विषय' है। विषय इन्द्रियोंके एक देशमें हैं, इन्द्रियाँ मनके एक देशमें हैं, मन बुद्धिके एक देशमें है, बुद्धि अहम्‌के एक देशमें है और अहम् चेतन (स्वरूप)के एक देशमें है। अतः चेतन अत्यन्त महान् है, जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण त्रिलोकी, अनन्त ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं। परन्तु अपरा प्रकृतिके एक अंश अहम्‌के साथ अपना सम्बन्ध जोड़नेके कारण मनुष्य अपनेको अत्यन्त छोटा (एकदेशीय) देखता है!

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

(चौथा अध्याय)

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—

अहम्	=मैंने	**विवस्वते**	=सूर्यसे	**प्राह**	=कहा (और)
इमम्	=इस	**प्रोक्तवान्**	=कहा था। (फिर)	**मनुः**	=मनुने (अपने पुत्र)
अव्ययम्	=अविनाशी	**विवस्वान्**	=सूर्यने (अपने पुत्र)	**इक्ष्वाकवे**	=राजा इक्ष्वाकुसे
योगम्	=योग (कर्मयोग) को	**मनवे**	=(वैवस्वत) मनुसे	**अब्रवीत्**	=कहा।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥ २ ॥

परन्तप	=हे परन्तप!	**राजर्षयः**	= राजर्षियोंने	**सः**	=वह
एवम्	=इस तरह	**विदुः**	= जाना। (परन्तु)	**योगः**	=योग
परम्पराप्राप्तम्	=परम्परासे प्राप्त	**महता**	= बहुत	**इह**	=इस मनुष्यलोकमें
इमम्	=इस कर्मयोगको	**कालेन**	= समय बीत जानेके कारण	**नष्टः**	=लुप्तप्राय हो गया।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३ ॥

मे	=(तू) मेरा	**सः, एव**	=वही	**ते**	=तुझसे
भक्तः	=भक्त	**अयम्**	=यह	**प्रोक्तः**	=कहा है;
च	=और	**पुरातनः**	=पुरातन	**हि**	=क्योंकि
सखा	=(प्रिय) सखा	**योगः**	=योग	**एतत्**	=यह
असि	=है,	**अद्य**	=आज	**उत्तमम्**	=बड़ा उत्तम
इति	=इसलिये	**मया**	=मैंने	**रहस्यम्**	=रहस्य है।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४॥

अर्जुन बोले—

भवतः	= आपका	**परम्**	= बहुत पुराना है; (अतः)	**एतत्**	= यह योग
जन्म	= जन्म (तो)			**प्रोक्तवान्**	= कहा था—
अपरम्	= अभीका है (और)	**त्वम्**	= आपने (ही)	**इति**	= यह बात (मैं)
विवस्वतः	= सूर्यका	**आदौ**	= सृष्टिके आरम्भमें (सूर्यसे)	**कथम्**	= कैसे
जन्म	= जन्म			**विजानीयाम्**	= समझूँ ?

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ ५॥

श्रीभगवान् बोले—

परन्तप	= हे परन्तप	**बहूनि**	= बहुत-से	**अहम्**	= मैं
अर्जुन	= अर्जुन !	**जन्मानि**	= जन्म	**वेद**	= जानता हूँ, (पर)
मे	= मेरे	**व्यतीतानि**	= हो चुके हैं।	**त्वम्**	= तू
च	= और	**तानि**	= उन	**न**	= नहीं
तव	= तेरे	**सर्वाणि**	= सबको	**वेत्थ**	= जानता।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ ६॥

अजः	= (मैं) अजन्मा (और)	**भूतानाम्**	= सम्पूर्ण प्राणियोंका	**प्रकृतिम्**	= प्रकृतिको
		ईश्वरः	= ईश्वर	**अधिष्ठाय**	= अधीन करके
अव्ययात्मा	= अविनाशी-स्वरूप	**सन्**	= होते हुए	**आत्ममायया**	= अपनी योगमायासे
सन्	= होते हुए	**अपि**	= भी		
अपि	= भी (तथा)	**स्वाम्**	= अपनी	**सम्भवामि**	= प्रकट होता हूँ।

विशेष भाव— भगवान् प्रकृतिकी सहायतासे ही क्रिया (लीला) करते हैं। इसीलिये सीताजी कहती हैं कि सब कार्य मैंने किये हैं, भगवान् रामने कुछ नहीं किया (अध्यात्मरामायण, बाल० १। ३२—४३)। परन्तु भगवान् मनुष्यकी तरह प्रकृतिके अधीन नहीं होते—'**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय**'। कारण कि भगवान्के लिये प्रकृति 'पर' नहीं है, प्रत्युत उनसे अभिन्न है (गीता ७। ४-५)। भगवान्को प्रकृतिमें स्थित मनुष्योंके सामने आना है, इसलिये वे प्रकृतिको स्वीकार करके प्रकट होते हैं। तभी मनुष्य उनको देख सकते हैं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ ७॥

भारत	=हे भरतवंशी अर्जुन!	**अधर्मस्य**	=अधर्मकी	**अहम्**	=मैं
यदा, यदा	=जब-जब	**अभ्युत्थानम्**	=वृद्धि	**आत्मानम्**	=अपने-आपको
धर्मस्य	=धर्मकी	**भवति**	=होती है,	**सृजामि**	=(साकाररूपसे) प्रकट करता हूँ।
ग्लानिः	=हानि (और)	**तदा**	=तब-तब		
		हि	=ही		

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ ८॥

साधूनाम्	=साधुओं (भक्तों) की	**विनाशाय**	= विनाश करनेके लिये		करनेके लिये (मैं)
परित्राणाय	=रक्षा करनेके लिये,	**च**	=और	**युगे, युगे**	=युग-युगमें
दुष्कृताम्	=पापकर्म करनेवालोंका	**धर्मसंस्थापनार्थाय**	=धर्मकी भलीभाँति स्थापना	**सम्भवामि**	=प्रकट हुआ करता हूँ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ ९॥

अर्जुन	=हे अर्जुन !		जन्म और कर्मको)	**देहम्**	=शरीरका
मे	=मेरे	**यः**	=जो मनुष्य	**त्यक्त्वा**	=त्याग करके
जन्म	=जन्म	**तत्त्वतः**	=तत्त्वसे	**पुनः, जन्म**	=पुनर्जन्मको
च	=और	**वेत्ति**	=जान लेता है अर्थात् दृढ़तापूर्वक मान लेता है,	**न, एति**	=प्राप्त नहीं होता, (प्रत्युत)
कर्म	=कर्म				
दिव्यम्	=दिव्य हैं।			**माम्**	=मुझे
एवम्	=इस प्रकार (मेरे	**सः**	=वह	**एति**	=प्राप्त होता है।

विशेष भाव—निष्कामभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म (सेवा) करनेपर अथवा भगवान्‌के लिये कर्म (पूजा) करनेपर वे कर्म दिव्य मुक्तिदायक हो जाते हैं। परन्तु कामनापूर्वक अपने लिये किये गये कर्म मलिन, बन्धनकारक हो जाते हैं।

कर्मोंमें कर्तृत्वका न होना ही दिव्यता है। अपने लिये कुछ न करनेसे कर्तृत्व नहीं रहता।

भगवान्‌की छोटी-से-छोटी तथा बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक क्रिया 'लीला' होती है। लीलामें भगवान् सामान्य मनुष्यों-जैसी क्रिया करते हुए भी निर्लिप्त रहते हैं (गीता ४। १३)। भगवान्‌की लीला दिव्य होती है। यह दिव्यता देवताओंकी दिव्यतासे भी विलक्षण होती है। देवताओंकी दिव्यता मनुष्योंकी अपेक्षासे होनेके कारण सापेक्ष और सीमित होती है, पर भगवान्‌की दिव्यता निरपेक्ष और असीम होती है। यद्यपि जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुषोंकी क्रियाएँ भी दिव्य होती हैं, तथापि वे भी भगवल्लीलाके समान नहीं होतीं। भगवान्‌की साधारण लीला भी अत्यन्त अलौकिक होती है। जैसे, भगवान्‌की रासलीला लौकिक दीखती है, पर उसको पढ़ने-सुननेसे साधकको

काम-वृत्तिका नाश हो जाता है (श्रीमद्भा० १०। ३३। ४०)।

यह जगत् भगवान्‌का आदि अवतार है—'**आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य**' (श्रीमद्भा० २। ६। ४१)। तात्पर्य है कि भगवान् ही जगत्-रूपसे प्रकट हुए हैं। परन्तु जीवने भोगासक्तिके कारण जगत्‌को भगवद्रूपसे स्वीकार न करके नाशवान् जगत्-रूपसे ही धारण कर रखा है—'**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। इस धारणाको मिटानेके लिये साधकको दृढ़तासे ऐसा मानना चाहिये कि जो दीख रहा है, वह भगवान्‌का स्वरूप है और जो हो रहा है, वह भगवान्‌की लीला है। ऐसा मानने (स्वीकार करने) पर जगत् जगत्-रूपसे नहीं रहेगा और 'भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है'—इसका अनुभव हो जायगा। दूसरे शब्दोंमें, संसार लुप्त हो जायगा और केवल भगवान् रह जायँगे। कारण कि प्रत्येक वस्तु तथा व्यक्तिको भगवान्‌का स्वरूप और प्रत्येक क्रियाको भगवल्लीला माननेसे भोगासक्ति, राग-द्वेष नहीं रहेंगे। भोगासक्तिका नाश होनेपर जो क्रियाएँ पहले लौकिक दीखती थीं, वही क्रियाएँ अलौकिक भगवल्लीला-रूपसे दीखने लगेंगी और जहाँ पहले भोगासक्ति थी, वहाँ भगवत्प्रेम हो जायगा।

भगवान् जैसा रूप धारण करते हैं, उसीके अनुरूप लीला करते हैं*। जब वे अर्चावतार अर्थात् मूर्तिका रूप धारण करते हैं, तब वे मूर्तिकी तरह ही अचल रहनेकी लीला करते हैं। अगर वे अचल नहीं रहेंगे तो वह अर्चावतार कैसे रहेगा? भगवान्‌ने राम, कृष्ण आदि रूप भी धारण किये और मत्स्य, कच्छप आदि रूप भी धारण किये। उन्होंने जैसा रूप धारण किया, वैसी ही लीला की। जैसे, वराहावतारमें भगवान्‌ने सूअर बनकर लीला की और वामनावतारमें ब्रह्मचारी ब्राह्मण बनकर लीला की। इससे साधकको यह समझना चाहिये कि अभी भी जो हो रहा है, वह सब भगवान्‌की लीला ही हो रही है!

---

* भगवान् श्रीकृष्ण उत्तङ्क ऋषिसे कहते हैं—

धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च॥
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव।

(महाभारत, आश्व० ५४। १३-१४)

'मैं धर्मकी रक्षा और स्थापनाके लिये तीनों लोकोंमें बहुत-सी योनियोंमें अवतार धारण करके उन-उन रूपों और वेषोंद्वारा तदनुरूप बर्ताव करता हूँ।'

यदा त्वहं देवयोनौ वर्तामि भृगुनन्दन।
तदाहं देववत् सर्वमाचरामि न संशयः॥
यदा गन्धर्वयोनौ वा वर्तामि भृगुनन्दन।
तदा गन्धर्ववत् सर्वमाचरामि न संशयः॥
नागयोनौ यदा चैव तदा वर्तामि नागवत्।
यक्षराक्षसयोन्योस्तु यथावद् विचराम्यहम्॥

(महाभारत, आश्व० ५४। १७—१९)

'भृगुनन्दन! जब मैं देवयोनिमें अवतार लेता हूँ, तब देवताओंकी ही भाँति सारे आचार-विचारका पालन करता हूँ, इसमें संशय नहीं है।'

'जब मैं गन्धर्वयोनिमें प्रकट होता हूँ, तब मेरे सारे आचार-विचार गन्धर्वोंके ही समान होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।'

'जब मैं नागयोनिमें जन्म ग्रहण करता हूँ, तब नागोंकी तरह बर्ताव करता हूँ। यक्षों और राक्षसोंकी योनियोंमें प्रकट होनेपर मैं उन्हींके आचार-विचारका यथावत्-रूपसे पालन करता हूँ।'

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ १०॥

वीतरागभयक्रोधाः	= राग, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित,	**माम्**	= मेरे (ही)	**बहवः**	= बहुत-से (भक्त)
मन्मयाः	= मुझमें तल्लीन,	**उपाश्रिताः**	= आश्रित (तथा)	**मद्भावम्**	= मेरे स्वरूपको
		ज्ञानतपसा	= ज्ञानरूप तपसे	**आगताः**	= प्राप्त हो चुके हैं।
		पूताः	= पवित्र हुए		

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ११॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**अहम्**	= मैं	**मनुष्याः**	= सभी मनुष्य
ये	= जो भक्त	**तान्**	= उन्हें	**सर्वशः**	= सब प्रकारसे
यथा	= जिस प्रकार	**तथा, एव**	= उसी प्रकार	**मम**	= मेरे
माम्	= मेरी	**भजामि**	= आश्रय देता हूँ; (क्योंकि)	**वर्त्म**	= मार्गका
प्रपद्यन्ते	= शरण लेते हैं,			**अनुवर्तन्ते**	= अनुसरण करते हैं।

विशेष भाव—यद्यपि यह संसार साक्षात् परमात्माका स्वरूप है, तथापि जो इसको जिस रूपसे देखता है, भगवान् भी उसके लिये उसी रूपसे प्रकट हो जाते हैं। हम अपनेको शरीर मानकर अपने लिये वस्तुओंकी आवश्यकता मानते हैं और उनकी इच्छा करते हैं तो भगवान् भी उन वस्तुओंके रूपमें हमारे सामने आते हैं। हम असत्में स्थित होकर देखते हैं तो भगवान् भी असत्-रूपसे ही दीखते हैं। जैसे बालक खिलौना चाहता है तो पिता रुपये खर्च करके भी उसको खिलौना लाकर देता है, ऐसा ही हम जो चाहते हैं, परम दयालु भगवान् (स्वयं सदा सत्स्वरूप रहते हुए भी) उसी रूपसे हमारे सामने आते हैं। अगर हम भोगोंको न चाहें तो भगवान्को भोगरूपसे क्यों आना पड़े? बनावटी रूप क्यों धारण करना पड़े?

भगवान्के स्वभावमें 'यथा-तथा' होते हुए भी जीवपर उनकी बड़ी भारी कृपा है; क्योंकि कहाँ जीव और कहाँ भगवान्! अभिमानके सिवाय जीवमें और क्या सामर्थ्य है? फिर भी जीवका भगवान्में आकर्षण होता है तो भगवान्का भी जीवमें आकर्षण होता है। जैसे, विदुरानीजी अपने-आपको भूल गयीं तो भगवान् भी अपने-आपको भूल गये और केलेके छिलके खाने लगे तथा उसीमें आनन्द लेने लगे!

भगवान्के स्वभावमें 'यथा-तथा' केवल क्रियामें है, भावमें नहीं। भगवान्का आस्तिक-से-आस्तिक व्यक्तिके प्रति जो स्नेह है, कृपा है, वैसा ही स्नेह, कृपा नास्तिक-से-नास्तिक व्यक्तिके प्रति भी है। इसलिये भगवान्के 'यथा-तथा' में स्वार्थभाव नहीं है, प्रत्युत यह तो भगवान्की महत्ता है कि कहाँ जीव और कहाँ भगवान्! फिर भी वे जीवको अपना मित्र बनाते हैं, उसको अपने समान दर्जा देते हैं! भगवान् अपनेमें बड़प्पनका भाव नहीं रखते—यह उनकी महत्ता है।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ १२॥

कर्मणाम्	= कर्मोंकी	**यजन्ते**	= उपासना किया करते हैं;	**कर्मजा**	= कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली
सिद्धिम्	= सिद्धि (फल)	**हि**	= क्योंकि	**सिद्धिः**	= सिद्धि
काङ्क्षन्तः	= चाहनेवाले (मनुष्य)	**इह**	= इस	**क्षिप्रम्**	= जल्दी
देवताः	= देवताओंकी	**मानुषे, लोके**	= मनुष्यलोकमें	**भवति**	= मिल जाती है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ १३॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ १४॥

मया	= मेरे द्वारा	**माम्**	= मुझ	**कर्माणि**	= कर्म
गुणकर्मविभागशः	= गुणों और कर्मोंके विभाग-पूर्वक	**अव्ययम्**	= अविनाशी परमेश्वरको (तू)	**न, लिम्पन्ति**	= लिप्त नहीं करते।
				इति	= इस प्रकार
		अकर्तारम्	= अकर्ता	**यः**	= जो
चातुर्वर्ण्यम्	= चारों वर्णोंकी	**विद्धि**	= जान! (कारण कि)	**माम्**	= मुझे
सृष्टम्	= रचना की गयी है।	**कर्मफले**	= कर्मोंके फलमें	**अभिजानाति**	= तत्त्वसे जान लेता है,
तस्य	= उस (सृष्टि-रचना आदि) का	**मे**	= मेरी	**सः**	= वह (भी)
		स्पृहा	= स्पृहा	**कर्मभिः**	= कर्मोंसे
कर्तारम्	= कर्ता होनेपर	**न**	= नहीं है, (इसलिये)	**न**	= नहीं
अपि	= भी	**माम्**	= मुझे	**बध्यते**	= बँधता।

विशेष भाव—जैसे सृष्टि-रचना आदि करनेपर भी भगवान्‌का अकर्तापन सुरक्षित (ज्यों-का-त्यों) रहता है, ऐसे ही जीवका भी स्वरूपसे अकर्तापन स्वतः सुरक्षित रहता है—‘**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**’ (गीता १३। ३१)। परन्तु वह मूढ़तापूर्वक अपनेमें कर्तापन स्वीकार कर लेता है—‘**अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**’ (गीता ३। २७)।

कर्म, क्रिया और लीला—तीनों एक दीखते हुए भी वास्तवमें सर्वथा भिन्न हैं। जो क्रिया कर्तृत्वाभिमानपूर्वक की जाय तथा अनुकूल-प्रतिकूल फल देनेवाली हो, वह क्रिया ‘कर्म’ कहलाती है। जो कर्तृत्वाभिमानपूर्वक न की जाय तथा जो फल देनेवाली भी न हो, वह ‘क्रिया’ होती है; जैसे—श्वासोंका आना-जाना, आँखका खुलना और बन्द होना, नाड़ियोंका चलना, हृदयका धड़कना आदि। जो क्रिया कर्तृत्वाभिमान तथा फलेच्छासे रहित तो होती ही है, साथ-साथ दिव्य तथा दुनियामात्रका हित करनेवाली भी होती है, वह ‘लीला’ होती है। सांसारिक लोगोंके द्वारा ‘कर्म’ होता है, मुक्त पुरुषोंके द्वारा ‘क्रिया’ होती है* और भगवान्‌के द्वारा ‘लीला’ होती है—‘**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्**’ (ब्रह्मसूत्र २। १। ३३) अर्थात् जैसे संसार न होते हुए भी दीखता है, ऐसे ही भगवान्‌का सृष्टि-रचना आदि कार्य केवल लीलामात्र है। तात्पर्य है कि भगवान् कर्ता न होते हुए भी लीलासे कर्ता दीखते हैं।

‘**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः**’ पदोंसे सिद्ध होता है कि गीता जन्म (उत्पत्ति) से ही जाति मानती है। जो मनुष्य जिस वर्णमें जिस जातिके माता-पितासे पैदा हुआ है, उसीसे उसकी जाति मानी जाती है। ‘जाति’ शब्द ही ‘**जनी प्रादुर्भावे**’ धातुसे बनता है, जो जन्मसे जातिको सिद्ध करता है। कर्मसे तो ‘कृति’ शब्द होता है, जो ‘**डुकृञ् करणे**’ धातुसे बनता है। हाँ, जातिकी पूर्ण रक्षा उसके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेसे ही होती है।

* इसको गीताने ‘चेष्टा’ भी कहा है—‘**सदृशं चेष्टते**’ (३।३३)।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ १५ ॥

पूर्वैः	= पूर्वकालके	**कर्म**	= कर्म	**पूर्वतरम्**	= सदासे
मुमुक्षुभिः	= मुमुक्षुओंने	**कृतम्**	= किये हैं,	**कृतम्**	= किये जानेवाले
अपि	= भी	**तस्मात्**	= इसलिये	**कर्म**	= कर्मोंको
एवम्	= इस प्रकार	**त्वम्**	= तू (भी)	**एव**	= ही (उन्हींकी तरह)
ज्ञात्वा	= जानकर	**पूर्वैः**	= पूर्वजोंके द्वारा	**कुरु**	= कर।

विशेष भाव—तेरहवें-चौदहवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने बताया कि कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छासे रहित होकर सृष्टि-रचना आदि कर्म करनेके कारण वे कर्म मुझे नहीं बाँधते। यहाँ भगवान् कहते हैं कि मुमुक्षुओंने भी इसी तरह कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छाका त्याग करके कर्म किये हैं। कारण कि कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छा होनेपर ही कर्म बन्धनकारक होते हैं। इसलिये तू भी उसी प्रकारसे कर्म कर।

ज्ञानयोगमें पहले कर्तृत्वाभिमानका त्याग किया जाता है, फिर फलेच्छाका त्याग स्वतः होता है। कर्मयोगमें पहले फलेच्छाका त्याग किया जाता है, फिर कर्तृत्वाभिमानका त्याग सुगमतासे हो जाता है।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १६ ॥

कर्म	= कर्म	**अपि**	= भी		कहूँगा,
किम्	= क्या है (और)	**मोहिताः**	= मोहित हो जाते हैं। (अतः)	**यत्**	= जिसको
अकर्म	= अकर्म			**ज्ञात्वा**	= जानकर (तू)
किम्	= क्या है—	**तत्**	= वह	**अशुभात्**	= अशुभ (संसार-बन्धन)से
इति	= इस प्रकार	**कर्म**	= कर्म-तत्त्व (मैं)		
अत्र	= इस विषयमें	**ते**	= तुझे	**मोक्ष्यसे**	= मुक्त हो जायगा।
कवयः	= विद्वान्	**प्रवक्ष्यामि**	= भलीभाँति		

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ १७ ॥

कर्मणः	= कर्मोंका (तत्त्व)	**बोद्धव्यम्**	= जानना चाहिये	**कर्मणः**	= कर्मोंकी
अपि	= भी	**च**	= तथा	**गतिः**	= गति
बोद्धव्यम्	= जानना चाहिये	**विकर्मणः**	= विकर्मका (तत्त्व भी)	**गहना**	= गहन है अर्थात् समझनेमें बड़ी कठिन है।
च	= और	**बोद्धव्यम्**	= जानना चाहिये;		
अकर्मणः	= अकर्मका (तत्त्व भी)	**हि**	= क्योंकि		

विशेष भाव—हमारे लिये और दूसरोंके लिये, अभी और परिणाममें किस कर्मका क्या फल होता है, यह समझना बड़ा कठिन है। किसी कर्मको करनेमें मनुष्य अपना हित समझता है, पर हो जाता है अहित! वह लाभके लिये करता है, पर हो जाता है नुकसान! वह सुखके लिये करता है, पर मिलता है दुःख! कारण कि कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छा (सुखासक्ति) रहनेके कारण मनुष्य कर्मोंकी गतिको नहीं समझ सकता।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ १८॥

यः	=जो मनुष्य	**अकर्मणि**	=अकर्ममें	**सः**	=वह
कर्मणि	=कर्ममें	**कर्म**	=कर्म (देखता	**युक्तः**	=योगी है
अकर्म	=अकर्म		है),		(और)
पश्येत्	=देखता है	**सः**	=वह	**कृत्स्नकर्मकृत्**	=सम्पूर्ण कर्मोंको
च	=और	**मनुष्येषु**	=मनुष्योंमें		करनेवाला
यः	=जो	**बुद्धिमान्**	=बुद्धिमान् है,		(कृतकृत्य) है।

विशेष भाव—एक विभाग कर्मका है और एक विभाग अकर्मका है। इन दोनोंमें अकर्म ही सार तत्त्व है। इसलिये जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है अर्थात् कर्म करते हुए निर्लिप्त रहता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है अर्थात् निर्लिप्त रहते हुए कर्म करता है, उसके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता। जैसे किसी कर्मके आरम्भमें तो गणेशजीका पूजन करते हैं, पर कर्म करते समय हरदम उनका पूजन नहीं करते, ऐसे ही कोई यह न समझ ले कि कर्मके आरम्भमें एक बार निर्लिप्त हो गये तो अब उस निर्लिप्तताको हरदम नहीं रखना है, इसलिये भगवान्ने यहाँ उपर्युक्त दो बातें कही हैं। तात्पर्य है कि अपनेमें कभी भी लिप्तता (फलेच्छा और कर्तृत्वाभिमान) नहीं आनी चाहिये अर्थात् हरदम निर्लिप्त रहना चाहिये।

तीसरे अध्यायके आठवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है—**'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः'** और यहाँ बताते हैं कि कर्म करनेकी अपेक्षा भी अकर्म (अकर्तृत्व) को देखना श्रेष्ठ है और ऐसा देखनेवाले मनुष्यके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्यमें फलेच्छा और कर्तृत्वाभिमान नहीं रहने चाहिये; क्योंकि इन दोनोंसे ही मनुष्य बँधता है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ १९॥

यस्य	=जिसके		हैं (तथा)		गये हैं,
सर्वे	=सम्पूर्ण	**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्**	=जिसके	**तम्**	=उसको
समारम्भाः	=कर्मोंके आरम्भ		सम्पूर्ण कर्म	**बुधाः**	=ज्ञानिजन (भी)
कामसङ्कल्पवर्जिताः	=संकल्प और		ज्ञानरूपी	**पण्डितम्**	=पण्डित (बुद्धिमान्)
	कामनासे रहित		अग्निसे जल	**आहुः**	=कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥ २०॥

कर्मफलासङ्गम्	=(जो) कर्म	**नित्यतृप्तः**	=सदा तृप्त है,	**अपि**	=भी (वास्तवमें)
	और फलकी	**सः**	=वह	**किञ्चित्**	=कुछ
	आसक्तिका	**कर्मणि**	=कर्मोंमें	**एव**	=भी
त्यक्त्वा	=त्याग करके	**अभिप्रवृत्तः**	=अच्छी तरह	**न**	=नहीं
निराश्रयः	=आश्रयसे रहित (और)		लगा हुआ	**करोति**	=करता।

विशेष भाव—जबतक मनुष्यमें कर्तृत्व है, तबतक वह करता है तो करता है, नहीं करता है तो करता है।

परन्तु कर्तृत्व मिटनेपर वह कभी कुछ नहीं करता।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ २१॥

यतचित्तात्मा	=जिसका शरीर और अन्तःकरण अच्छी तरहसे वशमें किया हुआ है,
त्यक्तसर्वपरिग्रहः	= जिसने सब प्रकारके संग्रहका परित्याग कर दिया है, (ऐसा)
निराशीः	=इच्छारहित (कर्मयोगी)
केवलम्	=केवल
शारीरम्	=शरीर-सम्बन्धी
कर्म	=कर्म
कुर्वन्	=करता हुआ (भी)
किल्बिषम्	=पापको
न, आप्नोति	=प्राप्त नहीं होता।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ २२॥

जो कर्मयोगी फलकी इच्छाके बिना—

यदृच्छालाभसन्तुष्टः	=अपने-आप जो कुछ मिल जाय, उसमें सन्तुष्ट रहता है (और)
विमत्सरः	=(जो) ईर्ष्यासे रहित,
द्वन्द्वातीतः	=द्वन्द्वोंसे रहित (तथा)
सिद्धौ	=सिद्धि
च	=और
असिद्धौ	=असिद्धिमें
समः	=सम है, (वह)
कृत्वा	=(कर्म) करते हुए
अपि	=भी (उससे)
न	=नहीं
निबध्यते	=बँधता।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ २३॥

गतसङ्गस्य	=जिसकी आसक्ति सर्वथा मिट गयी है,
मुक्तस्य	=जो मुक्त हो गया है,
ज्ञानावस्थितचेतसः	=जिसकी बुद्धि स्वरूपके ज्ञानमें स्थित है, (ऐसे केवल)
यज्ञाय	=यज्ञके लिये
आचरतः	=कर्म करनेवाले मनुष्यके
समग्रम्	=सम्पूर्ण
कर्म	=कर्म
प्रविलीयते	=नष्ट हो जाते हैं।

विशेष भाव—एक 'क्रिया' होती है, एक 'कर्म' होता है और एक 'कर्मयोग' होता है। शरीर बालकसे जवान तथा जवानसे बूढ़ा होता है—यह 'क्रिया' है। क्रियासे न पाप होता है, न पुण्य; न बन्धन होता है, न मुक्ति। जैसे, गङ्गाजीका बहना क्रिया है; अतः कोई डूबकर मर जाय अथवा खेती आदि कोई परोपकार हो जाय तो गङ्गाजीको पाप-पुण्य नहीं लगता। जब मनुष्य क्रियासे सम्बन्ध जोड़कर कर्ता बन जाता है अर्थात् अपने लिये क्रिया करता है, तब वह क्रिया फलजनक 'कर्म' बन जाती है। कर्मसे बन्धन होता है—'**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**' (गीता ३। ९)। कर्मबन्धनसे छूटनेके लिये जब मनुष्य अपने लिये कुछ नहीं करता, प्रत्युत निःस्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये ही कर्म करता है, तब वह 'कर्मयोग' हो जाता है। कर्मयोगसे बन्धन मिटता है—'**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते**'। बन्धन मिटनेसे योग हो जाता है अर्थात् परमात्माके साथ नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जाता है।

यह तेईसवाँ श्लोक कर्मयोगका मुख्य श्लोक है। जैसे भगवान्‌ने '**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते**' (४। ३७) पदोंसे ज्ञानाग्निके द्वारा ज्ञानयोगीके सम्पूर्ण पाप भस्म होनेकी बात कही है और '**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि**' (१८। ६६) पदोंसे भक्तके सम्पूर्ण पाप नष्ट होनेकी बात कही है, ऐसे ही इस श्लोकमें '**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते**' पदोंसे कर्मयोगीके समग्र कर्म (पाप) नष्ट होनेकी बात कही है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ २४॥

जिस यज्ञमें—

अर्पणम्	=अर्पण अर्थात्	**ब्रह्म**	=ब्रह्म है (और)		मनुष्यकी ब्रह्ममें ही
	जिससे अर्पण	**ब्रह्मणा**	=ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा		कर्म-समाधि हो
	किया जाय,	**ब्रह्माग्नौ**	=ब्रह्मरूप अग्निमें		गयी है,
	वे स्रुक्, स्रुवा	**हुतम्**	=आहुति देनारूप	**तेन**	=उसके द्वारा
	आदि पात्र (भी)		क्रिया (भी ब्रह्म	**गन्तव्यम्**	=प्राप्त करनेयोग्य
ब्रह्म	=ब्रह्म है,		है),		(फल भी)
हविः	=हव्य पदार्थ (तिल,	**ब्रह्मकर्मसमाधिना**	=(ऐसे यज्ञको	**ब्रह्म**	=ब्रह्म
	जौ, घी आदि) (भी)		करनेवाले) जिस	**एव**	=ही है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ २५॥

अपरे	=अन्य	**पर्युपासते**	=अनुष्ठान करते हैं		यज्ञके द्वारा
योगिनः	=योगीलोग		(और)	**एव**	=ही
दैवम्	=दैव	**अपरे**	=दूसरे (योगीलोग)	**यज्ञम्**	=(जीवात्मारूप)
	(भगवदर्पणरूप)	**ब्रह्माग्नौ**	=ब्रह्मरूप		यज्ञका
यज्ञम्	=यज्ञका		अग्निमें	**उपजुह्वति**	=हवन
एव	=ही	**यज्ञेन**	=(विचाररूप)		करते हैं।

विशेष भाव—'ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति' का यह अर्थ भी ले सकते हैं—दूसरे योगीलोग संसाररूप ब्रह्मकी सेवाके लिये केवल लोकसंग्रहरूप यज्ञके लिये कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञ करते हैं अर्थात् यज्ञार्थ कर्म करते हैं (गीता ३। ९, ४। २३)।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ २६॥

अन्ये	=अन्य (योगीलोग)	**जुह्वति**	=हवन किया करते	**विषयान्**	=विषयोंका
श्रोत्रादीनि	=श्रोत्रादि		हैं (और)	**इन्द्रियाग्निषु**	=इन्द्रियरूप अग्नियोंमें
इन्द्रियाणि	=समस्त इन्द्रियोंका	**अन्ये**	=दूसरे (योगीलोग)	**जुह्वति**	=हवन किया करते
संयमाग्निषु	=संयमरूप अग्नियोंमें	**शब्दादीन्**	=शब्दादि		हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ २७॥

अपरे = अन्य (योगीलोग)
सर्वाणि = सम्पूर्ण
इन्द्रियकर्माणि = इन्द्रियोंकी क्रियाओंको
च = और
प्राणकर्माणि = प्राणोंकी क्रियाओंको
ज्ञानदीपिते = ज्ञानसे प्रकाशित
आत्मसंयमयोगाग्नौ = आत्मसंयम-योग (समाधियोग)-रूप अग्निमें
जुह्वति = हवन किया करते हैं।

~~~

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ २८॥

अपरे = दूसरे (कितने ही)
संशितव्रताः = तीक्ष्ण व्रत करनेवाले
यतयः = प्रयत्नशील साधक
द्रव्ययज्ञाः = द्रव्यमय यज्ञ करनेवाले हैं
तपोयज्ञाः = (और कितने ही) तपोयज्ञ करनेवाले हैं
तथा = और (दूसरे कितने ही)
योगयज्ञाः = योगयज्ञ करनेवाले हैं
च = तथा (कितने ही)
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः = स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं।

~~~

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥ २९॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥ ३०॥

अपरे = दूसरे (कितने ही)
प्राणायामपरायणाः = प्राणायामके परायण हुए (योगीलोग)
अपाने = अपानमें
प्राणम् = प्राणका (पूरक करके)
प्राणापानगती = प्राण और अपानकी गति
रुद्ध्वा = रोककर (कुम्भक करके)
प्राणे = (फिर) प्राणमें
अपानम् = अपानका
जुह्वति = हवन (रेचक) करते हैं;
तथा = तथा
अपरे = अन्य (कितने ही)
नियताहाराः = नियमित आहार करनेवाले
प्राणान् = प्राणोंका
प्राणेषु = प्राणोंमें
जुह्वति = हवन किया करते हैं।
एते = ये
सर्वे, अपि = सभी (साधक)
यज्ञक्षपितकल्मषाः = यज्ञों द्वारा पापोंका नाश करनेवाले (और)
यज्ञविदः = यज्ञोंको जाननेवाले हैं।

विशेष भाव—निःस्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये कर्तव्यकर्म करनेका नाम 'यज्ञ' है। यज्ञसे सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् बाँधनेवाले नहीं होते। चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक कुल बारह प्रकारके यज्ञ बताये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) **ब्रह्मयज्ञ**—प्रत्येक कर्ममें कर्ता, करण, क्रिया, पदार्थ आदि सबको ब्रह्मरूपसे अनुभव करना।

(२) **भगवदर्पणरूप यज्ञ**—सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंको केवल भगवान्‌का और भगवान्‌के लिये ही मानना।

(३) **अभिन्नतारूप यज्ञ**—असत्‌से सर्वथा विमुख होकर परमात्मामें लीन हो जाना अर्थात् परमात्मासे भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता न रखना।

[**कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञ**—केवल दूसरोंके हितके लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्म करना।]

(४) **संयमरूप यज्ञ**—एकान्तकालमें अपनी इन्द्रियोंको विषयोंमें प्रवृत्त न होने देना।

(५) **विषय-हवनरूप यज्ञ**—व्यवहारकालमें इन्द्रियोंका विषयोंसे संयोग होनेपर भी उनमें राग-द्वेष पैदा न होने देना (गीता २। ६४-६५)।

(६) **समाधिरूप यज्ञ**—मन-बुद्धिसहित सम्पूर्ण इन्द्रियों और प्राणोंकी क्रियाओंको रोककर ज्ञानसे प्रकाशित समाधिमें स्थित हो जाना।

(७) **द्रव्ययज्ञ**—सम्पूर्ण पदार्थोंको निःस्वार्थभावसे दूसरोंकी सेवामें लगा देना।

(८) **तपोयज्ञ**—अपने कर्तव्यके पालनमें आनेवाली कठिनाइयोंको प्रसन्नतापूर्वक सह लेना।

(९) **योगयज्ञ**—कार्यकी सिद्धि-असिद्धिमें तथा फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें सम रहना।

(१०) **स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ**—दूसरोंके हितके लिये सत्-शास्त्रोंका पठन-पाठन, नाम-जप आदि करना।

(११) **प्राणायामरूप यज्ञ**—पूरक, कुम्भक और रेचकपूर्वक प्राणायाम करना।

(१२) **स्तम्भवृत्ति (चतुर्थ) प्राणायामरूप यज्ञ**—नियमित आहार करते हुए प्राण और अपानको अपने-अपने स्थानोंपर रोक देना।

—इन सबका तात्पर्य है कि हमारी मात्र क्रियाएँ यज्ञरूप ही होनी चाहिये, तभी जीवन सफल होगा। तात्पर्य है कि हमें अपने लिये कुछ नहीं करना है। क्रिया और पदार्थके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है, जो क्रिया और पदार्थसे रहित हैं।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ ३१॥

कुरुसत्तम	=हे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**ब्रह्म**	=परब्रह्म परमात्माको	**लोकः**	=मनुष्यलोक (भी)
यज्ञशिष्टामृतभुजः	=यज्ञसे बचे हुए अमृतका अनुभव करनेवाले	**यान्ति**	=प्राप्त होते हैं।	**न**	=(सुखदायक) नहीं
सनातनम्	=सनातन	**अयज्ञस्य**	=यज्ञ न करनेवाले मनुष्यके लिये	**अस्ति**	=है,
		अयम्	=यह	**अन्यः**	=(फिर) परलोक
				कुतः	=कैसे (सुखदायक होगा) ?

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ ३२॥

एवम्	=इस प्रकार (और भी)	**वितताः**	=विस्तारसे कहे गये हैं।	**एवम्**	=इस प्रकार
बहुविधाः	=बहुत तरहके	**तान्**	=उन	**ज्ञात्वा**	=जानकर (यज्ञ करनेसे)
यज्ञाः	=यज्ञ	**सर्वान्**	=सब यज्ञोंको (तू)	**विमोक्ष्यसे**	=(तू कर्मबन्धनसे) मुक्त हो जायगा।
ब्रह्मणः	=वेदकी	**कर्मजान्**	=कर्मजन्य		
मुखे	=वाणीमें	**विद्धि**	=जान।		

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ ३३॥

परन्तप, पार्थ	=हे परन्तप अर्जुन!	**ज्ञानयज्ञः**	=ज्ञानयज्ञ	**अखिलम्**	=पदार्थ
द्रव्यमयात्	=द्रव्यमय	**श्रेयान्**	=श्रेष्ठ है।	**ज्ञाने**	=ज्ञान (तत्त्वज्ञान) में
यज्ञात्	=यज्ञसे	**सर्वम्**	=सम्पूर्ण	**परिसमाप्यते**	=समाप्त (लीन) हो जाते हैं।
		कर्म	=कर्म (और)		

विशेष भाव—द्रव्यमय यज्ञमें क्रिया तथा पदार्थकी मुख्यता है; अतः वह करणसापेक्ष है। ज्ञानयज्ञमें विवेक-विचारकी मुख्यता है; अतः वह करणनिरपेक्ष है। इसलिये द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। ज्ञानयज्ञमें सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् तत्त्वज्ञान होनेपर कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता; क्योंकि एक परमात्मतत्त्वके सिवाय अन्य सत्ता ही नहीं रहती।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ३४॥

तत्	=उस (तत्त्वज्ञान) को		करनेसे,	**तत्त्वदर्शिनः**	=तत्त्वदर्शी (अनुभवी)
विद्धि	=(तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषोंके पास जाकर) समझ	**सेवया**	=(उनकी) सेवा करनेसे (और)	**ज्ञानिनः**	=ज्ञानी (शास्त्रज्ञ) महापुरुष
प्रणिपातेन	=(उनको) साष्टांग दण्डवत् प्रणाम	**परिप्रश्नेन**	=सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे	**ज्ञानम्**	=(तुझे उस) तत्त्वज्ञानका
		ते	=वे	**उपदेक्ष्यन्ति**	=उपदेश देंगे।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ ३५॥

यत्	=जिस (तत्त्वज्ञान) का	**न**	=नहीं	**अशेषेण**	=निःशेषभावसे (पहले)
ज्ञात्वा	=अनुभव करनेके बाद (तू)	**यास्यसि**	=प्राप्त होगा (और)	**आत्मनि**	=अपनेमें (और)
पुनः	=फिर	**पाण्डव**	=हे अर्जुन!	**अथो**	=उसके बाद
एवम्	=इस प्रकार	**येन**	=जिस (तत्त्व-ज्ञान) से	**मयि**	=मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें
मोहम्	=मोहको	**भूतानि**	=(तू) सम्पूर्ण प्राणियोंको	**द्रक्ष्यसि**	=देखेगा।

विशेष भाव—तत्त्वज्ञान अथवा अज्ञानका नाश एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है। तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञानकी आवृत्ति नहीं होती। वह एक बार अनुभवमें आ गया तो सदाके लिये आ ही गया! कारण कि जब अज्ञानकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है, तो फिर पुनः अज्ञान कैसे होगा? अतः नित्यनिवृत्त अज्ञानकी ही निवृत्ति होती है और नित्यप्राप्त तत्त्वकी ही प्राप्ति होती है।

स्वयं सत्तामात्र तथा बोधस्वरूप है। बोधका अनादर करनेसे हमने असत्‌को स्वीकार किया और असत्‌को स्वीकार करनेसे अविवेक हुआ। तात्पर्य है कि बोधसे विमुख होकर हमने असत्‌को सत्ता दी और असत्‌को सत्ता देनेसे विवेकका अनादर हुआ। वास्तवमें बोधका अनादर किया नहीं है, प्रत्युत अनादिकालसे अनादर है। अगर

ऐसा मानें कि हमने बोधका अनादर किया तो इससे सिद्ध होगा कि पहले बोधका आदर था। अतः अब आदर करेंगे तो पुनः अनादर हो जायगा! परन्तु बोध एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है।

तत्त्वज्ञान होनेपर फिर मोह नहीं होता; क्योंकि वास्तवमें मोह है ही नहीं। मिटता वही है, जो नहीं होता और मिलता वही है, जो होता है।

जगत् जीवके अन्तर्गत है और जीव परमात्माके अन्तर्गत है, इसलिये साधक पहले जगत्को अपनेमें देखता है—'**द्रक्ष्यस्यात्मनि**', फिर अपनेको परमात्मामें देखता है—'**अथो मयि**'। '**द्रक्ष्यस्यात्मनि**' में आत्मज्ञान (ज्ञान) है और '**अथो मयि**' में परमात्मज्ञान (विज्ञान) है। आत्मज्ञानमें निजानन्द है और परमात्मज्ञानमें परमानन्द है। लौकिक निष्ठा (कर्मयोग तथा ज्ञानयोग) से आत्मज्ञानका अनुभव होता है और अलौकिक निष्ठा (भक्तियोग) से परमात्मज्ञानका अनुभव होता है।

सब कुछ भगवान् ही हैं—इस प्रकार समग्रका ज्ञान 'परमात्मज्ञान' है। आत्मज्ञानसे मुक्ति तो हो जाती है, पर सूक्ष्म अहम्की गन्ध रह जाती है, जिससे दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें मतभेद रहता है। अगर सूक्ष्म अहम्की गन्ध न हो तो फिर मतभेद कहाँसे आया? परन्तु परमात्मज्ञानसे सूक्ष्म अहम्की गन्ध भी नहीं रहती और उससे पैदा होनेवाले सम्पूर्ण दार्शनिक मतभेद समाप्त हो जाते हैं। तात्पर्य हुआ कि जबतक '**आत्मनि**' है, तबतक दार्शनिक मतभेद हैं। जब '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव होनेपर सब मतभेद मिट जाते हैं, तब '**अथो मयि**' हो जाता है। '**अथो मयि**' में एक परमात्माके सिवाय दूसरी कोई सत्ता नहीं रहती।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ ३६ ॥

चेत्	=अगर (तू)	**पापकृत्तमः**	=अधिक पापी	**सर्वम्**	=सम्पूर्ण
सर्वेभ्यः	=सब	**असि**	=है, (तो भी तू)	**वृजिनम्**	=पाप-समुद्रसे
पापेभ्यः	=पापियोंसे	**ज्ञानप्लवेन**	=ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा	**सन्तरिष्यसि**	=अच्छी तरह तर जायगा।
अपि	=भी	**एव**	=निःसन्देह		

विशेष भाव—यहाँ भगवान्ने '**पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः**' पदोंसे पापीकी आखिरी हद बता दी है! यद्यपि '**पापेभ्यः**' पद बहुवचन होनेसे सम्पूर्ण पापियोंका वाचक है, फिर भी भगवान्ने इसके साथ '**सर्वेभ्यः**' पद दिया। '**सर्वेभ्यः**' पद भी सम्पूर्णका वाचक है। ये दो पद देनेके बाद भी भगवान्ने '**पापकृत्तमः**' पद और दिया है, जो अतिशयताका बोधक है। पहले 'पापकृत्' होता है, फिर 'पापकृत्तर' होता है और फिर 'पापकृत्तम' होता है। तात्पर्य निकला कि सम्पूर्ण संसारमें जितने भी पापी हो सकते हैं, उन सम्पूर्ण पापियोंसे भी जो अत्यधिक पापी है, उसको भी ज्ञान प्राप्त हो सकता है! कारण कि पाप कितने ही क्यों न हों, हैं वे असत् ही, जबकि ज्ञान सत् है। सत्के आगे असत् कैसे टिक सकता है! पाप अपवित्र है, जबकि ज्ञान परमपवित्र है (गीता ४। ३८)। अपवित्र वस्तु पवित्र वस्तुको कैसे अटका सकती है! अतः पापोंमें ज्ञानको अटकानेकी ताकत नहीं है। ज्ञानप्राप्तिमें खास बाधा है—नाशवान् सुखकी आसक्ति (गीता ३। ३७—४१)। भोगासक्तिके कारण ही मनुष्यकी पारमार्थिक विषयमें रुचि नहीं होती और रुचि न होनेसे ही ज्ञानकी प्राप्ति बड़ी कठिन प्रतीत होती है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ ३७॥

अर्जुन	=हे अर्जुन!	**एधांसि**	=ईंधनोंको	**ज्ञानाग्निः**	=ज्ञानरूपी अग्नि
यथा	=जैसे	**भस्मसात्**	=सर्वथा भस्म	**सर्वकर्माणि**	=सम्पूर्ण कर्मोंको
समिद्धः	=प्रज्वलित	**कुरुते**	=कर देती है,	**भस्मसात्**	=सर्वथा भस्म
अग्निः	=अग्नि	**तथा**	=ऐसे ही	**कुरुते**	=कर देती है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ ३८॥

इह	=इस मनुष्यलोकमें		साधन)		कर्मयोगी)
ज्ञानेन	=ज्ञानके	**न**	=नहीं	**तत्**	=उस तत्त्वज्ञानको
सदृशम्	=समान	**विद्यते**	=है।	**कालेन**	=अवश्य ही
पवित्रम्	=पवित्र करनेवाला	**योगसंसिद्धः**	=जिसका योग	**स्वयम्**	=स्वयं
हि	=निःसन्देह		भलीभाँति सिद्ध	**आत्मनि**	=अपने-आपमें
	(दूसरा कोई		हो गया है, (वह	**विन्दति**	=पा लेता है।

विशेष भाव—'पवित्रमिह'— अपवित्रता संसारके सम्बन्धसे आती है। तत्त्वज्ञान होनेपर जब संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है, तब अपवित्रता रहनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इसलिये ज्ञानमें किंचिन्मात्र भी अपवित्रता, जड़ता, विकार नहीं है।

'**इह**' पद 'लोक' का वाचक है। तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञान लौकिक है, जबकि परमात्मज्ञान अलौकिक है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ ३९॥

संयतेन्द्रियः	=(जो) जितेन्द्रिय	**ज्ञानम्**	=ज्ञानको	**अचिरेण**	=तत्काल
	(तथा)	**लभते**	=प्राप्त होता है	**पराम्**	=परम
तत्परः	=साधन-परायण है,		(और)	**शान्तिम्**	=शान्तिको
	(ऐसा)	**ज्ञानम्**	=ज्ञानको	**अधिगच्छति**	=प्राप्त हो
श्रद्धावान्	=श्रद्धावान् मनुष्य	**लब्ध्वा**	=प्राप्त होकर (वह)		जाता है।

विशेष भाव—'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'—श्रद्धा-विश्वास और विवेककी आवश्यकता सभी साधकोंके लिये हैं। हाँ, कर्मयोग तथा ज्ञानयोगमें विवेककी मुख्यता है और भक्तियोगमें श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता है। आरम्भमें 'तत्त्वज्ञान है'—ऐसी श्रद्धा होगी, तभी साधक उसकी प्राप्तिके लिये साधन करेगा।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४०॥

अज्ञः	=विवेकहीन	**संशयात्मनः**	=संशयात्मा	**न**	=न
च	=और		मनुष्यके लिये	**परः**	=परलोक
अश्रद्दधानः	=श्रद्धारहित	**न**	=न तो		(हितकारक) है
संशयात्मा	=संशयात्मा मनुष्यका	**अयम्**	=यह	**च**	=और
विनश्यति	=पतन हो जाता है।	**लोकः**	=लोक (हितकारक)	**न**	=न
	(ऐसे)	**अस्ति**	=है,	**सुखम्**	=सुख (ही) है।

विशेष भाव—ज्ञान हो तो संशय मिट जाता है—**'ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्'** (गीता ४। ४१) और श्रद्धा हो तो भी संशय मिट जाता है—**'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'** (गीता ४। ४०)। परन्तु ज्ञान और श्रद्धा—ये दोनों ही न हों तो संशय नहीं मिट सकता। इसलिये जिस संशयात्मा मनुष्यमें न तो ज्ञान (विवेक) है और न श्रद्धा ही है अर्थात् जो न तो खुद जानता है और न दूसरेकी बात मानता है, उसका पतन हो जाता है।

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥ ४१॥

धनञ्जय	=हे धनंजय!		हो गया है (और)	**आत्मवन्तम्**	=स्वरूप-परायण
योगसन्न्यस्तकर्माणम्	=योग (समता)	**ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्**	=विवेकज्ञानके		मनुष्यको
	के द्वारा जिसका		द्वारा जिसके सम्पूर्ण	**कर्माणि**	=कर्म
	सम्पूर्ण कर्मोंसे		संशयोंका नाश	**न**	=नहीं
	सम्बन्ध-विच्छेद		हो गया है, (ऐसे)	**निबध्नन्ति**	=बाँधते।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४२॥

तस्मात्	=इसलिये	**अज्ञानसम्भूतम्**	=अज्ञानसे उत्पन्न	**छित्त्वा**	=छेदन करके
भारत	=हे भरतवंशी	**आत्मनः**	=अपने	**योगम्**	=योग (समता) में
	अर्जुन!	**संशयम्**	=संशयका	**आतिष्ठ**	=स्थित हो जा (और)
हृत्स्थम्	=हृदयमें स्थित	**ज्ञानासिना**	=ज्ञानरूप	**उत्तिष्ठ**	=(युद्धके लिये)
एनम्	=इस		तलवारसे		खड़ा हो जा।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसन्न्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

(पाँचवाँ अध्याय)

अर्जुन उवाच

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ १ ॥

अर्जुन बोले—

कृष्ण	=हे कृष्ण! (आप)	**योगम्**	=कर्मयोगकी	**सुनिश्चितम्**	=निश्चित रूपसे
कर्मणाम्	=कर्मोंका	**शंससि**	=प्रशंसा करते हैं। (अतः)	**श्रेयः**	=कल्याणकारक हो,
सन्न्यासम्	=स्वरूपसे त्याग करनेकी	**एतयोः**	=इन दोनों साधनोंमें	**तत्**	=उसको
च	=और	**यत्**	=जो	**मे**	=मेरे लिये
पुनः	=फिर	**एकम्**	=एक	**ब्रूहि**	=कहिये।

~~~~

श्रीभगवानुवाच

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—

सन्न्यासः	=संन्यास (सांख्ययोग)	**निःश्रेयसकरौ**	=कल्याण करनेवाले हैं।	**कर्मसन्न्यासात्**	=कर्मसंन्यास (सांख्य-योग)से
च	=और	**तु**	=परन्तु		
कर्मयोगः	=कर्मयोग	**तयोः**	=उन दोनोंमें (भी)	**कर्मयोगः**	=कर्मयोग
उभौ	=दोनों ही			**विशिष्यते**	=श्रेष्ठ है।

विशेष भाव—यद्यपि 'योग' के बिना कर्म और ज्ञान—दोनों ही बन्धनकारक हैं, तथापि कर्म करनेसे उतना पतन नहीं होता, जितना पतन वाचिक (सीखे हुए) ज्ञानसे होता है। वाचिक ज्ञान नरकोंमें ले जा सकता है—

अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्।
महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः॥

(योगवासिष्ठ, स्थिति० ३९)

'जो बेसमझ मनुष्यको 'सब कुछ ब्रह्म है' ऐसा उपदेश देता है, वह उस मनुष्यको महान् नरकोंके जालमें डाल देता है।'

अतः वाचक ज्ञानीकी अपेक्षा कर्म करनेवाला श्रेष्ठ है। फिर जो कर्मयोगका आचरण करता है, उसकी
~~~~

श्रेष्ठताका तो कहना ही क्या! ज्ञानयोगी तो केवल अपने लिये उपयोगी होता है, पर कर्मयोगी संसारमात्रके लिये उपयोगी होता है। जो संसारके लिये उपयोगी होता है, वह अपने लिये भी उपयोगी हो जाता है—यह नियम है। इसलिये कर्मयोग विशेष है।

सांख्ययोगके बिना तो कर्मयोग हो सकता है, पर कर्मयोगके बिना सांख्ययोग होना कठिन है (गीता ५। ६)। इसलिये सांख्ययोगकी अपेक्षा कर्मयोग विशेष है। सांख्ययोगसे कर्मयोग श्रेष्ठ है और कर्मयोगसे भक्तियोग श्रेष्ठ है (गीता ६। ४७)। इसलिये गीतामें पहले सांख्ययोग, फिर कर्मयोग और फिर भक्तियोग—इस क्रमसे विवेचन किया गया है*।

फलमें कर्मयोग और ज्ञानयोग एक हैं (गीता ५। ४-५)। साधनमें कर्मयोग और भक्तियोग एक हैं—**'मैत्रः करुण एव च'** (गीता १२। १३); क्योंकि कर्मयोग और भक्तियोग—दोनोंमें ही दूसरेको सुख देनेका भाव रहता है। कर्म करनेमें कर्मी और कर्मयोगी एक हैं (गीता ३। २५) तथा तत्त्वज्ञ महापुरुष और भगवान् भी कर्म करनेमें साथ हैं (गीता ३। २२—२६)। इस प्रकार कर्मी, ज्ञानयोगी, भक्तियोगी और भगवान्—चारोंके साथ कर्मयोगी एक हो जाता है—यह कर्मयोगकी विशेषता है।

सांख्ययोगमें तो अहम्‌का सूक्ष्म संस्कार रह सकता है, पर कर्मयोगमें क्रिया और पदार्थसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे अहम्‌का सूक्ष्म संस्कार भी नहीं रहता। कर्मयोगमें अकर्म (अभाव) शेष रहता है (गीता ४। १८) और सांख्ययोगमें आत्मा शेष रहता है (गीता ६। २९)।

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ ३॥

महाबाहो	=हे महाबाहो!	**काङ्क्षति**	=आकांक्षा करता है;	**निर्द्वन्द्वः**	=द्वन्द्वोंसे रहित (मनुष्य)
यः	=जो मनुष्य	**सः**	=वह (कर्मयोगी)	**सुखम्**	=सुखपूर्वक
न	=न	**नित्यसन्न्यासी**	=सदा संन्यासी	**बन्धात्**	=संसार-बन्धनसे
द्वेष्टि	=(किसीसे) द्वेष करता है (और)	**ज्ञेयः**	=समझनेयोग्य है;	**प्रमुच्यते**	=मुक्त हो जाता है।
न	=न (किसीकी)	**हि**	=क्योंकि		

विशेष भाव— बाहरके सुख-दुःख (सुखदायी-दुःखदायी परिस्थिति)में सम और भीतरके सुख-दुःखसे रहित होना 'निर्द्वन्द्व' अर्थात् द्वन्द्वरहित होना है।

तादात्म्यमें चेतन-अंशकी मुख्यतासे 'जिज्ञासा' रहती है और जड़-अंशकी मुख्यतासे 'कामना' रहती है। मनुष्यमें भूख तो अविनाशी-तत्त्वकी रहती है, पर रुचि नाशवान्‌की रहती है; क्योंकि अविनाशीकी भूखको वह नाशवान्‌के द्वारा मिटाना चाहता है। भूख और रुचिका यह द्वन्द्व मनुष्यके संसार-बन्धनको दृढ़ करता है। जब मनुष्यका संसारमें राग-द्वेष नहीं रहता, तब उसकी जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है और कामना मिट जाती है अर्थात् वह निर्द्वन्द्व हो जाता है।

---

* भागवतमें भी यही क्रम है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ६)

'अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंके लिये मैंने तीन योग-मार्ग बताये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इन तीनोंके सिवाय दूसरा कोई कल्याणका मार्ग नहीं है।'

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

बालाः	= बेसमझ लोग	**न**	= न कि	**सम्यक्**	= अच्छी तरहसे
साङ्ख्ययोगौ	= सांख्ययोग और कर्मयोगको	**पण्डिताः**	= पण्डितजन; (क्योंकि)	**आस्थितः**	= स्थित (मनुष्य)
पृथक्	= अलग-अलग (फलवाले)	**एकम्**	= (इन दोनोंमेंसे) एक साधनमें	**उभयोः**	= दोनोंके
प्रवदन्ति	= कहते हैं,	**अपि**	= भी	**फलम्**	= फलरूप (परमात्माको)
				विन्दते	= प्राप्त कर लेता है।

विशेष भाव—जो अन्य शास्त्रीय बातोंको तो जानता है, पर सांख्ययोग और कर्मयोगके तत्त्वको गहराईसे नहीं जानता, वह वास्तवमें बालक अर्थात् बेसमझ है।

गीताभरमें अविनाशी तत्त्वके लिये 'फल' शब्द इसी श्लोकमें आया है। 'फल' शब्दका अर्थ है—परिणाम। कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों साधनोंसे प्राप्त होनेवाले तत्त्वको 'फल' कहनेका तात्पर्य है कि इन दोनों साधनोंमें मनुष्यका अपना उद्योग मुख्य है। ज्ञानयोगमें विवेकरूप उद्योग मुख्य है और कर्मयोगमें परहितकी क्रियारूप उद्योग मुख्य है। साधकका अपना उद्योग, परिश्रम सफल हो गया, इसलिये इसको 'फल' कहा गया है। यह फल नष्ट होनेवाला नहीं है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनोंका फल आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान है।

कर्तव्य-कर्म करना कर्मयोग है और कुछ न करना ज्ञानयोग है। कुछ न करनेसे जिस तत्त्वकी प्राप्ति होती है, उसी तत्त्वकी प्राप्ति कर्तव्य-कर्म करनेसे हो जाती है। 'करना' और 'न करना' तो साधन हैं और इनसे जिस तत्त्वकी प्राप्ति होती है, वह साध्य है।

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

साङ्ख्यैः	= सांख्ययोगियोंके द्वारा		द्वारा	**च**	= और
यत्	= जो	**अपि**	= भी	**योगम्**	= कर्मयोगको (फलरूपमें)
स्थानम्	= तत्त्व	**तत्**	= वही	**एकम्**	= एक
प्राप्यते	= प्राप्त किया जाता है,	**गम्यते**	= प्राप्त किया जाता है। (अतः)	**पश्यति**	= देखता है,
योगैः	= कर्मयोगियोंके	**यः**	= जो मनुष्य	**सः, च**	= वही (ठीक)
		साङ्ख्यम्	= सांख्ययोग	**पश्यति**	= देखता है।

विशेष बात—सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनों साधन लौकिक होनेसे एक ही हैं। सांख्ययोगमें साधक चिन्मयतामें स्थित होता है और चिन्मयतामें स्थिति होनेपर जड़ताका त्याग हो जाता है। कर्मयोगमें साधक जड़ताका त्याग करता है और जड़ताका त्याग होनेपर चिन्मयतामें स्थिति हो जाती है। इस प्रकार सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनों ही साधनोंके परिणाममें चिन्मयताकी प्राप्ति अर्थात् चिन्मय स्वरूपमें स्थितिका अनुभव हो जाता है।

शरीरको संसारकी सेवामें लगा देना कर्मयोग है और शरीरसे स्वयं अलग हो जाना ज्ञानयोग है। चाहे शरीरको संसारकी सेवामें लगा दें, चाहे शरीरसे स्वयं अलग हो जायँ—दोनोंका परिणाम एक ही होगा अर्थात् दोनों ही साधनोंसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर स्वरूपमें स्थिति हो जायगी।

यहाँ चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें चौथे श्लोकके पूर्वार्धका सम्बन्ध पाँचवें श्लोकके उत्तरार्धके साथ है और पाँचवें श्लोकके पूर्वार्धका सम्बन्ध चौथे श्लोकके उत्तरार्धके साथ है।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीन साधनोंमें ज्ञानयोग और भक्तियोगका प्रचार तो अधिक है, पर कर्मयोगका प्रचार बहुत कम है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है कि 'बहुत समय बीत जानेके कारण यह कर्मयोग इस मनुष्यलोकमें लुप्तप्राय हो गया है (४। २)। इसलिये कर्मयोगके सम्बन्धमें यह धारणा बनी हुई है कि यह परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन नहीं है। अतः कर्मयोगका साधक या तो ज्ञानयोगमें चला जाता है अथवा भक्तियोगमें चला जाता है; जैसे—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ९)

'तभीतक कर्म करना चाहिये, जबतक भोगोंसे वैराग्य न हो जाय (ज्ञानयोगका अधिकारी न बन जाय) अथवा मेरी लीला-कथाके श्रवणादिमें श्रद्धा न हो जाय (भक्तियोगका अधिकारी न बन जाय)।'

परन्तु यहाँ भगवान् ज्ञानयोगकी तरह कर्मयोगको भी परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बता रहे हैं। उपर्युक्त चौथे-पाँचवें श्लोकोंके सिवाय गीतामें अनेक जगह कर्मयोगके द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक तत्त्वज्ञान, परमशान्ति, मुक्ति अथवा परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेकी बात आयी है; जैसे—'**तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति**' (४। ३८), '**योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति**' (५। ६), '**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते**' (४। २३), '**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः**' (४। १९), '**युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्**' (५। १२)। श्रीमद्भागवतमें भी कर्मयोगको परमात्मप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बताया गया है—

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीः काम उद्धव।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत्॥

(११। २०। १०)

'जो स्वधर्ममें स्थित रहकर तथा भोगोंकी कामनाका त्याग करके अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन करता है तथा सकामभावपूर्वक कोई कर्म नहीं करता, उसको स्वर्ग या नरकमें नहीं जाना पड़ता अर्थात् वह कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥

(११। २०। ११)

'स्वधर्ममें स्थित वह कर्मयोगी इस लोकमें सब कर्तव्य-कर्मोंका आचरण करते हुए भी पाप-पुण्यसे मुक्त होकर बिना परिश्रमके तत्त्वज्ञानको अथवा परमप्रेम (पराभक्ति)को प्राप्त कर लेता है।'

तात्पर्य यह हुआ कि कर्मयोग साधकको ज्ञानयोग अथवा भक्तियोगका अधिकारी भी बना देता है और स्वतन्त्रतासे कल्याण भी कर देता है। दूसरे शब्दोंमें, कर्मयोगसे साधन-ज्ञान अथवा साधन-भक्तिकी प्राप्ति भी हो सकती है और साध्य-ज्ञान (तत्त्वज्ञान) अथवा साध्य-भक्ति (परमप्रेम या पराभक्ति)की प्राप्ति भी हो सकती है।

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ ६॥

तु	=परन्तु	**आप्तुम्**	=सिद्ध होना	**नचिरेण**	=शीघ्र ही
महाबाहो	=हे महाबाहो!	**दुःखम्**	=कठिन है।	**ब्रह्म**	=ब्रह्मको
अयोगतः	=कर्मयोगके बिना	**मुनिः**	=मननशील	**अधिगच्छति**	=प्राप्त हो जाता है।
सन्न्यासः	=सांख्ययोग	**योगयुक्तः**	=कर्मयोगी		

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥

जितेन्द्रियः = जिसकी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं,
विशुद्धात्मा = जिसका अन्तः-करण निर्मल है,
विजितात्मा = जिसका शरीर अपने वशमें है
(और)
सर्वभूतात्मभूतात्मा = सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्मा ही जिसकी आत्मा है, (ऐसा)
योगयुक्तः = कर्मयोगी
कुर्वन् = (कर्म) करते हुए
अपि = भी
न, लिप्यते = लिप्त नहीं होता।

विशेष भाव— शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेके कारण जब कर्मयोगीको सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ अपनी एकताका अनुभव हो जाता है, तब कर्म करते हुए भी उसमें कर्तापन नहीं रहता। कर्तापन न रहनेसे उसके द्वारा होनेवाले कर्म बन्धनकारक नहीं होते (गीता १८। १७)।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥ ८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९॥

तत्त्ववित् = तत्त्वको जाननेवाला
युक्तः = सांख्ययोगी
पश्यन् = देखता हुआ,
शृण्वन् = सुनता हुआ,
स्पृशन् = छूता हुआ,
जिघ्रन् = सूँघता हुआ,
अश्नन् = खाता हुआ,
गच्छन् = चलता हुआ
गृह्णन् = ग्रहण करता हुआ,
प्रलपन् = बोलता हुआ,
विसृजन् = (मल-मूत्रका) त्याग करता हुआ,
स्वपन् = सोता हुआ,
श्वसन् = श्वास लेता हुआ (तथा)
उन्मिषन् = आँख खोलता हुआ (और)
निमिषन् = मूँदता हुआ
अपि = भी
इन्द्रियाणि = 'सम्पूर्ण इन्द्रियाँ
इन्द्रियार्थेषु = इन्द्रियोंके विषयोंमें
वर्तन्ते = बरत रही हैं'—
इति = ऐसा
धारयन् = समझकर
किञ्चित् = '(मैं स्वयं)कुछ
एव = भी
न = नहीं
करोमि = करता हूँ'—
इति = ऐसा
मन्येत = माने।

विशेष भाव— विवेकशील ज्ञानयोगी पहले ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा प्राणोंसे होनेवाली क्रियाओंको करते हुए भी 'मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूँ'—ऐसा मानता है, फिर उसको ऐसा अनुभव हो जाता है। वास्तवमें चिन्मय सत्तामात्रमें न करना है, न होना है! स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरमें होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिमें ही होती हैं, स्वयंमें नहीं। अतः स्वयंका किसी भी क्रियासे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है।

अविवेकपूर्वक अहम्‌को अपना स्वरूप माननेसे जो '**अहङ्कारविमूढात्मा**' हो गया था (गीता ३। २७), वही विवेकपूर्वक अपनेको अहम्‌से अलग अनुभव करनेपर '**तत्त्ववित्**' हो जाता है अर्थात् उसमें कर्तृत्व नहीं रहता। वह निरन्तर चिन्मय तत्त्वमें ही स्थित रहता है।

अहंकारसे मोहित होकर स्वयंने भूलसे अपनेको कर्ता मान लिया तो वह कर्मोंसे तथा उनके फलोंसे बँध गया और चौरासी लाख योनियोंमें चला गया। अब अगर वह अपनेको अहम्‌से अलग माने और अपनेको कर्ता

न माने अर्थात् स्वयं वास्तवमें जैसा है, वैसा ही अनुभव कर ले तो उसके तत्त्ववित् (मुक्त) होनेमें आश्चर्य ही क्या है? तात्पर्य है कि जो असत्य है, वह भी जब सत्य मान लेनेसे सत्य दीखने लग गया, तो फिर जो वास्तवमें सत्य है, उसको मान लेनेपर वह वैसा ही दीखने लग जाय तो इसमें क्या आश्चर्य है?

वास्तवमें स्वयं जिस समय अपनेको कर्ता-भोक्ता मानता है, उस समय भी वह कर्ता-भोक्ता नहीं है—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** (गीता १३। ३१)। कारण कि अपना स्वरूप सत्तामात्र है। सत्तामें अहम् नहीं है और अहम्की सत्ता नहीं है। अत: 'मैं कर्ता हूँ'—यह मान्यता कितनी ही दृढ़ हो, है तो भूल ही! भूलको भूल मानते ही भूल मिट जाती है—यह नियम है। किसी गुफामें सैकड़ों वर्षोंसे अन्धकार हो तो प्रकाश करते ही वह तत्काल मिट जाता है, उसके मिटनेमें अनेक वर्ष-महीने नहीं लगते। इसलिये साधक दृढ़तासे यह मान ले कि 'मैं कर्ता नहीं हूँ।' फिर यह मान्यता मान्यतारूपसे नहीं रहेगी, प्रत्युत अनुभवमें परिणत हो जायगी।

जड़-चेतनका तादात्म्य होनेसे 'मैं' का प्रयोग जड़ (तादात्म्यरूप अहम्) के लिये भी होता है और चेतन (स्वरूप)के लिये भी होता है। जैसे, 'मैं कर्ता हूँ'—इसमें जड़की तरफ दृष्टि है और 'मैं कर्ता नहीं हूँ'—इसमें (जड़का निषेध होनेसे) चेतनकी तरफ दृष्टि है। जिसकी दृष्टि जड़की तरफ है अर्थात् जो अहम्को अपना स्वरूप मानता है, वह **'अहङ्कारविमूढात्मा'** है और जिसकी दृष्टि चेतन (अहंरहित स्वरूप)की तरफ है, वह **'तत्त्ववित्'** है।

जब साधक वर्तमानमें 'मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूँ'—इस प्रकार स्वयंको अकर्ता अनुभव करनेकी चेष्टा करता है, तब उसके सामने एक बड़ी समस्या आती है। जब उसको भूतकालमें किये हुए अच्छे कर्मोंकी याद आती है, तब वह प्रसन्न हो जाता है कि मैंने बहुत अच्छा काम किया, बहुत ठीक किया! और जब उसको निषिद्ध कर्मोंकी याद आती है, तब वह दु:खी हो जाता है कि मैंने बहुत बुरा काम किया, बहुत गलती की। इस प्रकार भूतकालमें किये गये कर्मोंके संस्कार उसको सुखी-दु:खी करते हैं। इस विषयमें एक मार्मिक बात है। स्वरूपमें कर्तापन न तो वर्तमानमें है, न भूतकालमें था और न भविष्यमें ही होगा। अत: साधकको यह देखना चाहिये कि जैसे वर्तमानमें स्वयं अकर्ता है, ऐसे ही भूतकालमें भी स्वयं अकर्ता ही था। कारण कि वर्तमान ही भूतकालमें गया है। स्वरूप सत्तामात्र है और सत्तामात्रमें कोई कर्म करना बनता ही नहीं। कर्म केवल अहंकारसे मोहित अन्त:करणवाले अज्ञानी मनुष्यके द्वारा ही होते हैं (गीता ३। २७)। साधकको भूतकालमें किये हुए कर्मोंकी याद आनेसे जो सुख-दु:ख होता है, चिन्ता होती है, यह भी वास्तवमें अहंकारके कारण ही है। वर्तमानमें अहंकारविमूढात्मा होकर अर्थात् अहंकारके साथ अपना सम्बन्ध मानकर ही साधक सुखी-दु:खी होता है। स्थूलदृष्टिसे देखें तो जैसे अभी भूतकालका अभाव है, ऐसे ही भूतकालमें किये गये कर्मोंका भी अभी प्रत्यक्ष अभाव है। सूक्ष्मदृष्टिसे देखें तो जैसे भूतकालमें वर्तमानका अभाव था, ऐसे ही भूतकालका भी अभाव था। इसी तरह वर्तमानमें जैसे भूतकालका अभाव है, ऐसे ही वर्तमानका भी अभाव है। परन्तु सत्ताका नित्य-निरन्तर भाव है। तात्पर्य है कि सत्तामात्रमें भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनोंका ही सर्वथा अभाव है। सत्ता कालसे अतीत है। अत: वह किसी भी कालमें कर्ता नहीं है। उस कालातीत और अवस्थातीत सत्तामें किसी कालविशेष और अवस्थाविशेषको लेकर कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वका आरोप करना अज्ञान है। अत: भूतकालमें किये गये कर्मोंकी स्मृति अहंकारविमूढात्माकी स्मृति है, तत्त्ववित्की नहीं।

'नैव किञ्चित्करोमि' का तात्पर्य है कि क्रिया नहीं है, पर सत्ता है। अत: साधककी दृष्टि सत्तामात्रकी तरफ रहनी चाहिये। वह सत्ता चिन्मय होनेसे ज्ञानस्वरूप है और निर्विकार होनेसे आनन्दस्वरूप है। यह आनन्द अखण्ड, शान्त, एकरस है।

शरीरसे तादात्म्य होनेके कारण प्रत्येक क्रियामें स्वयंकी मुख्यता रहती है कि मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ आदि। क्रिया तो होती है शरीरमें, पर मान लेते हैं अपनी। स्वयंमें कोई क्रिया नहीं है, वह करने और न करने—दोनोंसे रहित है (गीता ३। १८), इसलिये शरीरके द्वारा क्रिया होनेपर भी सत्तामात्र अपने स्वरूपपर दृष्टि रहनी चाहिये कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ १०॥

यः	= जो (भक्तियोगी)	**सङ्गम्**	= आसक्तिका	**पद्मपत्रम्**	= कमलके पत्तेकी
कर्माणि	= सम्पूर्ण कर्मोंको	**त्यक्त्वा**	= त्याग करके	**इव**	= तरह
ब्रह्मणि	= परमात्मामें	**करोति**	= (कर्म) करता है,	**पापेन**	= पापसे
आधाय	= अर्पण करके (और)	**सः**	= वह	**न, लिप्यते**	= लिप्त नहीं होता।
		अम्भसा	= जलसे		

विशेष भाव—यहाँ सगुण ईश्वरको '**ब्रह्म**' कहनेका तात्पर्य है कि ईश्वर सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार सब कुछ है; क्योंकि वह समग्र है। समग्रमें सब आ जाते हैं (गीता ७। २९-३०)। श्रीमद्भागवतमें भी ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), परमात्मा (सगुण-निराकार) और भगवान् (सगुण-साकार)—तीनोंको एक बताया है*। तात्पर्य यह हुआ कि 'सगुण' के अन्तर्गत ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये तीनों आ जाते हैं, पर 'निर्गुण' के अन्तर्गत केवल ब्रह्म ही आता है; क्योंकि निर्गुणमें गुणोंका निषेध है। अतः निर्गुण सीमित है और सगुण समग्र है।

वैष्णवलोग सगुण-साकार भगवान्‌के उत्सवको 'ब्रह्मोत्सव' नामसे कहते हैं। अर्जुनने भी भगवान् श्रीकृष्णको 'ब्रह्म' नामसे कहा है—'**परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्**' (गीता १०। १२)। गीतामें ब्रह्मके तीन नाम बताये हैं—'**ॐ**', '**तत्**' और '**सत्**' (१७। २३)। नाम-नामीका सम्बन्ध होनेसे यह भी सगुण ही हुआ।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ ११॥

योगिनः	= कर्मयोगी	**इन्द्रियैः**	= इन्द्रियाँ,	**आत्मशुद्धये**	= अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये
सङ्गम्	= आसक्तिका	**कायेन**	= शरीर,	**अपि**	= ही
त्यक्त्वा	= त्याग करके	**मनसा**	= मन (और)	**कर्म**	= कर्म
केवलैः	= केवल (ममतारहित)	**बुद्ध्या**	= बुद्धिके द्वारा	**कुर्वन्ति**	= करते हैं।

विशेष भाव—शुद्ध करनेसे अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता; क्योंकि शुद्ध करनेसे अन्तःकरणके साथ सम्बन्ध बना रहता है। जबतक 'मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो जाय'—यह भाव रहेगा, तबतक अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि ममता ही खास अशुद्धि है। इसीलिये रामायणमें आया है—***'ममता मल जरि जाइ'*** (मानस, उत्तर० ११७ क)। भगवान्‌ने भी यहाँ '**केवलैः**' पदसे अन्तःकरणके साथ ममता न रखनेकी बात कही है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिमें ममताका सर्वथा अभाव हो जाना ही अन्तःकरणकी शुद्धि है। अतः अन्तःकरणमें ममता (अपनापन) सर्वथा मिटानेके उद्देश्यसे कर्मयोगी अनासक्त भावसे कर्म करते हैं। वे अपने लिये कोई कर्म नहीं करते। कारण कि ममता रखनेसे कर्म होते हैं, कर्मयोग नहीं होता। अपने लिये कोई कर्म न करनेसे कर्मयोगीकी गति स्वरूपकी तरफ होती है।

कर्मयोगी पहले ममतारहित होनेका उद्देश्य बनाकर कर्म करता है, फिर उसके उद्देश्यकी सिद्धि हो जाती है।

---

* **वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥** (१। २। ११)

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ १२॥

युक्तः	= कर्मयोगी	**शान्तिम्**	= शान्तिको	**कामकारेण**	= कामनाके कारण
कर्मफलम्	= कर्मफलका	**आप्नोति**	= प्राप्त होता है।	**फले**	= फलमें
त्यक्त्वा	= त्याग करके		(परन्तु)	**सक्तः**	= आसक्त होकर
नैष्ठिकीम्	= नैष्ठिकी	**अयुक्तः**	= सकाम मनुष्य	**निबध्यते**	= बँध जाता है।

विशेष भाव—वास्तवमें मुक्तिके लिये अथवा परमात्मप्राप्तिके लिये साधन करना भी फलासक्ति है। मनुष्यकी आदत पड़ी हुई है कि वह प्रत्येक कार्य फलकी कामनासे करता है, इसीलिये कहा जाता है कि मुक्तिके लिये, परमात्मप्राप्तिके लिये साधन करे। वास्तवमें साधन केवल असाधनको मिटानेके लिये है। मुक्ति स्वतःसिद्ध है। परमात्मा नित्यप्राप्त हैं। परमात्मप्राप्ति किसी क्रियाका फल नहीं है। अतः कुछ करनेसे परमात्मप्राप्ति होगी—ऐसी इच्छा रखनी भी फलेच्छा है।

साधकको यह नहीं देखना चाहिये कि मैं यह साधन करूँगा तो इसका यह फल होगा। फलको देखना ही फलासक्ति है, जिससे वर्तमानमें साधन ठीक नहीं होता। अतः फलको न देखकर अपने साधनको देखना चाहिये, साधन तत्पर होकर करना चाहिये, फिर सिद्धि अपने-आप आयेगी। अगर साधक फलकी ओर देखता रहेगा तो सिद्धि नहीं होगी।

हम निर्विकल्प, निष्काम हो जायँगे तो बड़ा सुख मिलेगा—इस प्रकार मूलमें सुख लेनेकी जो इच्छा रहती है, यह भी फलेच्छा है, जो साधकको निर्विकल्प, निष्काम नहीं होने देती।

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ १३॥

वशी	= जिसकी इन्द्रियाँ और मन वशमें हैं, (ऐसा)	**सर्वकर्माणि**	= सम्पूर्ण कर्मोंका	**कुर्वन्**	= करता हुआ (और)
		मनसा	= (विवेकपूर्वक) मनसे	**न**	= न
				कारयन्	= करवाता हुआ
देही	= देहधारी पुरुष	**सन्न्यस्य**	= त्याग करके	**सुखम्**	= सुखपूर्वक (अपने स्वरूपमें)
नवद्वारे	= नौ द्वारोंवाले	**एव**	= निःसन्देह		
पुरे	= (शरीररूपी) पुरमें	**न**	= न	**आस्ते**	= स्थित रहता है।

विशेष भाव—'सुखं आस्ते' पदोंका तात्पर्य है कि शरीरसे जो सम्बन्ध माना था, उस सम्बन्धका विच्छेद हो जानेपर ज्ञानयोगीको स्वरूपमें स्थिति करनी नहीं पड़ती, प्रत्युत उसको स्वरूपमें स्वतः-स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है। इन पदोंसे सिद्ध होता है कि स्वरूपमें स्थितिका अनुभव करनेमें कोई परिश्रम, प्रयत्न, उद्योग नहीं है अर्थात् कुछ करना नहीं है।

'नैव कुर्वन्न कारयन्'—तत्त्वप्राप्तिमें करनेका भाव ही बाधक है। करनेके भावसे ही कर्तृत्व आता है और कर्तृत्वसे व्यक्तित्व आता है। क्रिया प्रकृतिमें है, स्वरूपमें स्वतः अक्रियता है। अतः करनेसे प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जुड़ता है और कुछ नहीं करनेसे स्वरूपमें स्वतः स्थिति होती है। मेरेको कुछ नहीं करना है—यह भाव भी 'करने'के ही अन्तर्गत है। अतः करनेसे भी मतलब नहीं होना चाहिये और न करनेसे भी मतलब नहीं होना चाहिये—**'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन'** (गीता ३। १८)। स्वरूप करने और न करने—दोनोंसे रहित अर्थात् निरपेक्ष तत्त्व है।

'वशी'—गुणोंके संगसे ही जीव **'अवश'** अर्थात् पराधीन होता है (गीता ३। ५)। ज्ञानयोगसे अवशता मिट जाती है और जीव **'वशी'** अर्थात् स्वाधीन, निरपेक्ष जीवन हो जाता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ १४॥

प्रभुः	= परमेश्वर	**कर्माणि**	= कर्मोंकी (और)	**सृजति**	= रचना करते हैं;
लोकस्य	= मनुष्योंके	**न**	= न		
न	= न	**कर्मफल-**		**तु**	= किन्तु
कर्तृत्वम्	= कर्तापनकी,	**संयोगम्**	= कर्मफलके साथ संयोगकी	**स्वभावः**	= स्वभाव (ही)
न	= न			**प्रवर्तते**	= बरत रहा है।

विशेष भाव—कर्तापन, कर्म और कर्मफलका संयोग परमात्माकी सृष्टि नहीं है, प्रत्युत जीवकी सृष्टि है। इसलिये जीवपर ही इनके त्यागकी जिम्मेवारी है।

'**स्वभावस्तु प्रवर्तते**'—वास्तवमें संसारके साथ सम्बन्ध-विच्छेद स्वाभाविक है; परन्तु अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकता देखनेके कारण संसारका सम्बन्ध स्वाभाविक दीखने लग गया। यह स्वभाव स्वतः नहीं है, प्रत्युत बनाया हुआ (कृत्रिम) है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ १५॥

विभुः	= सर्वव्यापी परमात्मा	**न**	= न	**ज्ञानम्**	= ज्ञान
		सुकृतम्	= शुभ-कर्मको	**आवृतम्**	= ढका हुआ है,
न	= न	**एव**	= ही	**तेन**	= उसीसे
कस्यचित्	= किसीके	**आदत्ते**	= ग्रहण करता है; (किन्तु)	**जन्तवः**	= सब जीव
पापम्	= पापकर्मको			**मुह्यन्ति**	= मोहित हो रहे हैं।
च	= और	**अज्ञानेन**	= अज्ञानसे		

विशेष भाव—जैसे अन्धकारमें सूर्यको ढकनेकी सामर्थ्य नहीं है, ऐसे ही अज्ञानमें ज्ञानको ढकनेकी सामर्थ्य नहीं है। अस्वाभाविकको स्वाभाविक मान लिया—यही अज्ञान है, जिससे मनुष्य मोहित हो जाता है। अतः अज्ञानके द्वारा ज्ञानको ढकनेकी बात केवल मूढ़तावश की गयी मान्यता है, वास्तविकता नहीं है। मनुष्य चाहे तो अपने विवेकको महत्त्व देकर इस मूढ़ताको मिटा सकता है (गीता ५। १६)।

वास्तवमें ज्ञान नहीं ढकता, प्रत्युत बुद्धि ही ढकती है। परन्तु मनुष्यको ज्ञान ढका हुआ दीखता है, इसलिये यहाँ '**आवृत**' शब्द दिया है। यही बात तीसरे अध्यायके उन्तालीसवें श्लोकमें भी '**आवृतं ज्ञानमेतेन**' पदोंसे कही गयी है। अज्ञान अभावरूप है, उसकी सत्ता नहीं है। जिसका अभाव है, उससे आवरण नहीं हो सकता। अतः उलटा ज्ञान अर्थात् अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकताका आरोप ही अज्ञान है*। अगर अस्वाभाविकता मिटकर स्वाभाविकता हो जाय तो सर्वव्यापी परमात्माके साथ एकताका अनुभव हो जायगा। व्यक्तित्व ही पाप-पुण्यको, सुकृत-दुष्कृतको ग्रहण करता है; अतः सर्वव्यापी परमात्माके साथ एकताका अनुभव होनेपर अर्थात् व्यक्तित्व मिटनेपर फिर पाप-पुण्यका ग्रहण नहीं होता।

अज्ञान अर्थात् उलटे ज्ञान (अस्वाभाविकमें स्वाभाविक बुद्धि)के कारण मनुष्य 'जन्तु' हो जाता है—'**तेन मुह्यन्ति जन्तवः**'। इसी तरह जड़से सम्बन्ध माननेके कारण जीव 'जगत्' (जड़) हो जाता है (गीता ७। १३)।

* **अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।** (योगदर्शन २। ५)
'अनित्यमें नित्य, अपवित्रमें पवित्र, दुःखमें सुख और अनात्मामें आत्मभावकी अनुभूति अविद्या है।'

जो हमसे घुला-मिला हुआ है, उस परमात्माको तो अपनेसे अलग मान लिया और जो हमसे अलग है, उस शरीरको अपनेसे घुला-मिला मान लिया—यह अज्ञान है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ १६॥

तु	=परन्तु	**अज्ञानम्**	=अज्ञानका	**आदित्यवत्**	=सूर्यकी तरह
येषाम्	=जिन्होंने	**नाशितम्**	=नाश कर दिया है,	**परम्**	=परमतत्त्व परमात्माको
आत्मनः	=अपने जिस	**तेषाम्**	=उनका	**प्रकाशयति**	=प्रकाशित कर देता है।
ज्ञानेन	=ज्ञानके द्वारा	**तत्**	=वह		
तत्	=उस	**ज्ञानम्**	=ज्ञान		

विशेष भाव—अज्ञानका नाश विवेकसे ही होता है, उद्योगसे नहीं—**'यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः'** (गीता १५। ११)। कारण कि अज्ञानका नाश क्रियासाध्य, परिश्रमसाध्य नहीं है। परिश्रम करनेसे शरीरके साथ सम्बन्ध बना रहता है; क्योंकि शरीरसे सम्बन्ध जोड़े बिना परिश्रम नहीं होता। दूसरी बात, अज्ञानको हटानेका उद्योग करनेसे अज्ञान दृढ़ होता है; क्योंकि उसकी सत्ता मानकर ही उसको हटानेका उद्योग करते हैं।

अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकताकी विपरीत भावना (अज्ञान) अपनेमें ही है। अतः विवेकका आदर करनेसे उसका निराकरण हो जाता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ १७॥

तदात्मानः	=जिनका मन तदाकार हो रहा है,		परमात्मतत्त्वमें है, (ऐसे)		पापरहित होकर
तद्बुद्धयः	=जिनकी बुद्धि तदाकार हो रही है,	**तत्परायणाः**	=परमात्मपरायण साधक	**अपुनरावृत्तिम्**	=अपुनरावृत्ति (परमगति)को
तन्निष्ठाः	=जिनकी स्थिति	**ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः**	=ज्ञानके द्वारा	**गच्छन्ति**	=प्राप्त होते हैं।

विशेष भाव—अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकताकी भावना मिटनेपर एक परमात्माके सिवाय अन्य किसीकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती और साधक परमात्मस्वरूप ही हो जाता है, जो कि वास्तवमें स्वतःसिद्ध है। अतः उसके पुनः संसार-बन्धनमें आनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता—**'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'** (गीता १४। २)।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ १८॥

पण्डिताः	=ज्ञानी महापुरुष	**च**	=और	**शुनि**	=कुत्तेमें
विद्याविनयसम्पन्ने	=विद्या-विनययुक्त	**श्वपाके**	=चाण्डालमें	**एव**	=भी
ब्राह्मणे	=ब्राह्मणमें	**च**	=तथा	**समदर्शिनः**	=समरूप परमात्माको देखनेवाले होते हैं।
		गवि	=गाय,		
		हस्तिनि	=हाथी (एवं)		

विशेष भाव—ब्राह्मण, चाण्डाल, गाय, हाथी और कुत्ता—ये सभी तो हरदम बदल रहे हैं और अभावमें जा रहे हैं, पर उनमें रहनेवाला जो भावरूप सत्-तत्त्व है, वह कभी बदलता नहीं, प्रत्युत नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है। ज्ञानीलोग उस सत्-तत्त्वको ही देखते हैं। जैसे चींटी रेतमें मिली हुई चीनीके दानेको पकड़कर निकाल लेती है, ऐसे ही ज्ञानियोंकी विवेकवती सूक्ष्म दृष्टि असत् संसारमें व्याप्त सत्-तत्त्वको पकड़ लेती है। तात्पर्य है कि ब्राह्मण हो या चाण्डाल, गाय हो या कुत्ता, हाथी हो या चींटी, विषम-से-विषम प्राणियोंमें भी उनकी दृष्टि सदा सम ही रहती है। व्यवहार विषम (यथायोग्य) होते हुए भी उनकी दृष्टि कभी विषम नहीं होती।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ १९॥

येषाम्	=जिनका	**एव**	=ही	**ब्रह्म**	=ब्रह्म
मनः	=अन्तःकरण	**सर्गः**	=सम्पूर्ण संसारको	**निर्दोषम्**	=निर्दोष (और)
साम्ये	=समतामें	**जितः**	=जीत लिया है अर्थात् वे जीवन्मुक्त हो गये हैं;	**समम्**	=सम है,
स्थितम्	=स्थित है,			**तस्मात्**	=इसलिये
तैः	=उन्होंने			**ते**	=वे
इह	=इस जीवित-अवस्थामें	**हि**	=क्योंकि	**ब्रह्मणि**	=ब्रह्ममें (ही)
				स्थिताः	=स्थित हैं।

विशेष भाव—यहाँ आये **'मन'** शब्दको बुद्धिका वाचक समझना चाहिये; क्योंकि समतामें मन स्थित नहीं होता, प्रत्युत बुद्धि ही स्थित होती है। मन ध्यानमें स्थित होता है। यह प्रकरण भी स्थिरबुद्धिका है। मनकी स्थिरता केवल ध्यानावस्थामें रहती है, व्यवहारमें नहीं; परन्तु बुद्धिकी स्थिरता निरन्तर रहती है। कल्याण मनकी स्थिरतासे नहीं होता, प्रत्युत बुद्धिकी स्थिरतासे होता है। मनकी स्थिरतासे सिद्धियाँ पैदा होती हैं। अतः मनकी स्थिरता इतनी ऊँची नहीं है, जितनी बुद्धिकी स्थिरता। भगवान्‌ने भी दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञ (स्थिरबुद्धि) होनेकी महिमा कही है। अगले श्लोकमें भी भगवान्‌ने कहा है—**'स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः'।**

साधक भूलसे अपनेको तत्त्वज्ञ न मान ले, इसलिये यह पहचान बतायी है कि अगर बुद्धिमें समता नहीं आयी है तो समझ लेना चाहिये कि अभी तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, केवल वहम हुआ है! बुद्धिकी समताका स्वरूप है—राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि न होना। तत्त्वप्राप्ति होनेपर बुद्धिमें निरन्तर समता रहती है। इस समतासे बुद्धिका कभी व्युत्थान अथवा वियोग नहीं होता।

जिनकी बुद्धि समतामें स्थित है, उनमें राग-द्वेष नहीं रहते। उनकी यह समबुद्धि स्वतः अटल बनी रहती है कि सब कुछ एक परमात्मा ही हैं। जब एक परमात्मतत्त्वके सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं, तो फिर कौन द्वेष करे और किससे करे? जब एक ही सत्ता अटल अनुभवमें आ जाती है, तब कोई कामना नहीं रहती और अशान्ति भी नहीं रहती।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ २०॥

प्रियम्	=(जो) प्रियको	**प्राप्य**	=प्राप्त होकर	**असम्मूढः**	=मूढ़तारहित (ज्ञानी)
प्राप्य	=प्राप्त होकर	**न,उद्विजेत्**	=उद्विग्न न हो,	**ब्रह्मवित्**	=(तथा) ब्रह्मको जाननेवाला मनुष्य
न, प्रहृष्येत्	=हर्षित न हो				
च	=और	**स्थिरबुद्धिः**	=(वह) स्थिरबुद्धिवाला,	**ब्रह्मणि**	=ब्रह्ममें
अप्रियम्	=अप्रियको			**स्थितः**	=स्थित है।

विशेष भाव—सुषुप्ति और मूर्च्छामें मनुष्यका शरीरसे अज्ञानपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद होता है अर्थात् मन अविद्यामें लीन होता है; अतः इन अवस्थाओंमें मनुष्यको प्रिय और अप्रियका, शारीरिक पीड़ा आदिका ज्ञान ही नहीं होता। परन्तु जीवन्मुक्त महापुरुषका शरीरसे ज्ञानपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद होता है। इसलिये उसको प्रिय और अप्रियका, शरीरकी पीड़ा आदिका ज्ञान तो होता है, पर उनसे वह हर्षित-उद्विग्न, सुखी-दुःखी नहीं होता। उसकी शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिकी परवशता मिट जाती है।

ब्रह्मको जानना और उसमें स्थित होना—दोनों एक ही हैं।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ २१॥

बाह्यस्पर्शेषु	=बाह्यस्पर्श (प्राकृत वस्तुमात्रके सम्बन्ध) में	**आत्मनि**	=अन्तःकरणमें	**ब्रह्मयोगयुक्तात्मा**	= ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित मनुष्य
		यत्	=जो		
		सुखम्	=(सात्त्विक) सुख है, (उसको)	**अक्षयम्**	=अक्षय
असक्तात्मा	=आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक	**विन्दति**	=प्राप्त होता है। (फिर)	**सुखम्**	=सुखका
		सः	=वह	**अश्नुते**	=अनुभव करता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ २२॥

हि	=क्योंकि		पैदा होनेवाले	**दुःखयोनयः, एव**	=दुःखके ही कारण हैं। (अतः)
कौन्तेय	=हे कुन्तीनन्दन!	**भोगाः**	=भोग (सुख) हैं,		
ये	=जो	**ते**	=वे	**बुधः**	=विवेकशील मनुष्य
संस्पर्शजाः	=इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे	**आद्यन्तवन्तः**	=आदि-अन्तवाले (और)	**तेषु**	=उनमें
				न, रमते	=रमण नहीं करता।

विशेष भाव—वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके सम्बन्धसे होनेवाला सुख दुःखोंका कारण है। सुखके भोगीको नियमसे दुःख भोगना ही पड़ता है। सुखकी आशा, कामना और भोगसे वास्तवमें सुख नहीं मिलता, प्रत्युत दुःख ही मिलता है। भोगोंका संयोग अनित्य है और वियोग नित्य है। मनुष्य अनित्यको महत्त्व देकर ही दुःख पाता है। उसको विचार करना चाहिये कि क्या सुख चाहनेसे सुख मिल जायगा और दुःखोंका नाश हो जायगा ? सुखकी इच्छा करनेसे न तो सुख मिलता है और न दुःख मिटता है। दुःखको मिटानेके लिये सुखकी इच्छा करना दुःखकी जड़ है।

एक दुःखका भोग होता है और एक दुःखका प्रभाव होता है। जब मनुष्य दुःखका भोग करता है, तब उसमें सुखकी इच्छा उत्पन्न होती है और जब उसपर दुःखका प्रभाव होता है, तब सुखकी इच्छा मिट जाती है, उससे अरुचि हो जाती है। दुःखके भोगसे मनुष्य दुःखी होता है और दुःखके प्रभावसे वह दुःखसे ऊँचा उठता है। दुःखके प्रभावसे वह दुःखमें तल्लीन न होकर उसके कारणपर विचार करता है कि मेरेको दुःख क्यों हुआ ? विचार करनेपर उसको पता लगता है कि सुखासक्तिके सिवाय दुःखका और कोई कारण है नहीं, था नहीं, होगा नहीं और हो सकता ही नहीं। परिस्थिति भी दुःखका कारण नहीं है; क्योंकि वह बेचारी एक क्षण भी टिकती नहीं। कोई प्राणी भी दुःखका कारण नहीं है; क्योंकि वह हमारे पुराने पापोंका नाश करता है और आगे विकास करता है। संसार

भी दु:खका कारण नहीं है; क्योंकि जो भी परिवर्तन होता है, वह हमें दु:ख देनेके लिये नहीं होता, प्रत्युत हमारे विकासके लिये होता है। अगर परिवर्तन न हो तो विकास कैसे होगा? परिवर्तनके बिना बीजका वृक्ष कैसे बनेगा? रज-वीर्यका शरीर कैसे बनेगा? बालकसे जवान कैसे बनेगा? मूर्खसे विद्वान् कैसे बनेगा? रोगीसे नीरोग कैसे बनेगा? तात्पर्य है कि स्वाभाविक परिवर्तन विकास करनेवाला है। संसारमें परिवर्तन ही सार है। परिवर्तनके बिना संसार एक अचल, स्थिर चित्रकी तरह ही होता। अत: परिवर्तन दोषी नहीं है, प्रत्युत उसमें सुखबुद्धि करना दोषी है। भगवान् भी दु:खके कारण नहीं हैं, क्योंकि वे आनन्दघन हैं, उनके यहाँ दु:ख है ही नहीं।

'न तेषु रमते बुध:'—विवेकी मनुष्य भोगोंमें रमण नहीं करता; क्योंकि भोगोंकी कामना विवेकियोंकी नित्य वैरी है—**'ज्ञानिनो नित्यवैरिणा'** (गीता ३। ३९)। अविवेकीको भोग अच्छे लगते हैं; क्योंकि दोषोंमें गुणबुद्धि अविवेकसे ही होती है। सभी भोग दोषजनित होते हैं। अन्त:करणमें कोई दोष न हो तो कोई भोग नहीं होता। दोष विवेकीको ही दीखता है। इसलिये वह भोगोंमें रमण नहीं करता अर्थात् उनसे सुख नहीं लेता।

विवेकी मनुष्य उस वस्तुको नहीं चाहता, जो सदा उसके साथ न रहे। अपने विवेकसे वह इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि मिली हुई कोई भी वस्तु, व्यक्ति, योग्यता और सामर्थ्य मेरी नहीं है और मेरे लिये भी नहीं है। इतना ही नहीं, अनन्त सृष्टिमें कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो मेरी हो और मेरे लिये हो। प्यारी-से-प्यारी वस्तु भी सदाके लिये मेरी नहीं है, सदा मेरे साथ रहनेवाली नहीं है। इसलिये विवेकी मनुष्य यह निश्चय कर लेता है कि जो वस्तु और व्यक्ति सदा मेरे साथ रहनेवाले नहीं हैं, उनके बिना मैं सदाके लिये प्रसन्नतासे रह सकता हूँ।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ २३॥

इह	=इस मनुष्यशरीरमें	**कामक्रोधोद्भवम्**	=काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले	**सः**	=वह
यः	=जो कोई (मनुष्य)			**नरः**	=नर
				युक्तः	=योगी है (और)
शरीरविमोक्षणात्	=शरीर छूटनेसे	**वेगम्**	=वेगको		
प्राक्	=पहले	**सोढुम्**	=सहन करनेमें	**सः**	=वही
एव	=ही	**शक्नोति**	=समर्थ होता है,	**सुखी**	=सुखी है।

विशेष भाव—पहले स्फुरणा होती है। उस स्फुरणामें सत्ता, आसक्ति और आग्रह होनेसे वह स्फुरणा पकड़ी जाती है और संकल्प बन जाती है। संकल्पसे मनोरथ (मनोराज्य) होने लगता है, जिससे काम-क्रोधादिका वेग उत्पन्न होता है (गीता २। ६२-६३)। साधकके लिये एक नम्बरकी बात तो यह है कि वेग उत्पन्न ही न होने दे अर्थात् संकल्प न करे। दो नम्बरकी बात है कि वेग उत्पन्न होनेपर भी वैसी क्रिया न करे।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ २४॥

यः	=जो मनुष्य (केवल)	**तथा**	=तथा		स्थितिका अनुभव करनेवाला (ब्रह्मरूप बना हुआ)
अन्तःसुखः	=परमात्मामें सुखवाला (और)	**यः**	=जो		
		अन्तर्ज्योतिः, एव	=केवल परमात्मामें ज्ञानवाला है,		
अन्तरारामः	=(केवल) परमात्मामें रमण करनेवाला है			**योगी**	=सांख्ययोगी
		सः	=वह	**ब्रह्मनिर्वाणम्**	=निर्वाण ब्रह्मको
		ब्रह्मभूतः	=ब्रह्ममें अपनी	**अधिगच्छति**	=प्राप्त होता है।

विशेष भाव—यहाँ **'अन्तः'** पदका अर्थ 'परमात्मा' मानना चाहिये, न कि 'अन्तःकरण'। कारण कि अन्तःकरणमें सुखवाले अथवा अन्तःकरणमें रमण करनेवाले या अन्तःकरणमें ज्ञानवाले मनुष्यको ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। ब्रह्मकी प्राप्ति तो अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर होती है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ २५॥

यतात्मानः = जिनका शरीर मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित वशमें है,
सर्वभूतहिते = जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें
रताः = रत हैं,
छिन्नद्वैधाः = जिनके सम्पूर्ण संशय मिट गये हैं,
क्षीणकल्मषाः = जिनके सम्पूर्ण दोष नष्ट हो गये हैं,
ऋषयः = (वे) विवेकी साधक
ब्रह्मनिर्वाणम् = निर्वाण ब्रह्मको
लभन्ते = प्राप्त होते हैं।

विशेष भाव— लोगोंकी दृष्टिमें ज्ञानयोगी दूसरोंका हित करता हुआ **(सर्वभूतहिते रताः)** दीखता है, पर वास्तवमें वह दूसरोंका हित करता नहीं, प्रत्युत उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक दूसरोंका हित होता है।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ २६॥

कामक्रोध-वियुक्तानाम् = काम-क्रोधसे सर्वथा रहित,
यतचेतसाम् = जीते हुए मनवाले (और)
विदितात्मनाम् = स्वरूपका साक्षात्कार किये हुए
यतीनाम् = सांख्ययोगियोंके लिये
अभितः = सब ओरसे (शरीरके रहते हुए अथवा शरीर छूटनेके बाद)
ब्रह्मनिर्वाणम् = निर्वाण ब्रह्म
वर्तते = परिपूर्ण है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ २७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ २८॥

बाह्यान् = बाहरके
स्पर्शान् = पदार्थोंको
बहिः = बाहर
एव = ही
कृत्वा = छोड़कर
च = और
चक्षुः = नेत्रोंकी दृष्टिको
भ्रुवोः = भौंहोंके
अन्तरे = बीचमें (स्थित करके)
नासाभ्यन्तरचारिणौ = (तथा) नासिकामें विचरनेवाले
प्राणापानौ = प्राण और अपान वायुको
समौ = सम
कृत्वा = करके
यतेन्द्रियमनोबुद्धिः = जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अपने वशमें हैं,
यः = जो

मोक्षपरायणः	=(केवल) मोक्ष-परायण है (तथा)		भय और क्रोधसे सर्वथा रहित है,	**मुनिः**	=मुनि
विगतेच्छाभयक्रोधः	=(जो) इच्छा,	**सः**	=वह	**सदा**	=सदा
				मुक्तः	=मुक्त
				एव	=ही है।

विशेष भाव—बाहरके पदार्थोंको बाहर ही छोड़नेका तात्पर्य है—स्वयंको शरीरसे अलग कर लेना कि शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और मेरे लिये नहीं है। ये तीन बातें प्रत्येक साधकको माननी ही पड़ेंगी, चाहे वह किसी भी योगमार्गसे क्यों न चले। शरीरके साथ अपना कोई सम्बन्ध न मानें तो मुक्ति स्वत:सिद्ध है।

पहले चौबीसवें श्लोकमें '**अन्तः**' शब्द आया था, इसलिये यहाँ '**बाह्य**' शब्द दिया है। वास्तवमें बाह्य कोई वस्तु नहीं है, प्रत्युत केवल वृत्ति है। '**बाह्य**' शब्दका प्रयोग दूसरी सत्ता मानकर ही होता है, जबकि वास्तवमें सत्ता एक ही है। अत: '**स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्**' पदोंका तात्पर्य है कि एक तत्त्वके सिवाय दूसरी किसी सत्ताकी मान्यता न रहे।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ २९॥

माम्	=मुझे		लोकोंका महान् ईश्वर (तथा)		दयालु और प्रेमी)
यज्ञतपसाम्	=सब यज्ञों और तपोंका	**सर्वभूतानाम्**	=सम्पूर्ण प्राणियोंका	**ज्ञात्वा**	=जानकर (भक्त)
भोक्तारम्	=भोक्ता,			**शान्तिम्**	=शान्तिको
सर्वलोकमहेश्वरम्	=सम्पूर्ण	**सुहृदम्**	=सुहृद् (स्वार्थरहित	**ऋच्छति**	=प्राप्त हो जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसन्न्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

(छठा अध्याय)

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—

कर्मफलम्	=कर्मफलका	**सन्न्यासी**	=संन्यासी		होता
अनाश्रितः	=आश्रय न लेकर	**च**	=तथा	**च**	= तथा
यः	=जो	**योगी**	=योगी है	**अक्रियः**	=(केवल)
कार्यम्	=कर्तव्य	**च**	=और		क्रियाओंका त्याग
कर्म	=कर्म	**निरग्निः**	=(केवल) अग्निका		करनेवाला
करोति	=करता है,		त्याग करनेवाला	**न**	=(योगी) नहीं
सः	=वही	**न**	=(संन्यासी) नहीं		होता।

विशेष भाव— चींटीसे लेकर ब्रह्मलोकतक सम्पूर्ण संसार कर्मफल है। संसारका स्वरूप है—वस्तु, व्यक्ति और क्रिया। वस्तुमात्रकी प्राप्ति और अप्राप्ति होती है, व्यक्तिमात्रका संयोग और वियोग होता है तथा क्रियामात्रका आरम्भ और अन्त होता है। जो वस्तु, व्यक्ति और क्रिया—तीनोंके आश्रयका त्याग करके प्राप्त कर्तव्यका पालन करता है, वही सच्चा संन्यासी तथा योगी है। जो कर्मफलका त्याग न करके केवल अग्निका त्याग करता है, वह सच्चा संन्यासी नहीं है और जो केवल क्रियाओंका त्याग करता है, वह सच्चा योगी नहीं है। कारण कि मनुष्य कर्मफलसे बँधता है, अग्निसे अथवा क्रियाओंसे नहीं।

तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने दो निष्ठाएँ बतायी थीं—सांख्यनिष्ठा (सांख्ययोग) और योगनिष्ठा (कर्मयोग)। फिर पाँचवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनोंको एक फलवाला बताया। अब यहाँ भगवान् उसी भावको लेकर कहते हैं कि जिसने कर्मफलका त्याग कर दिया है, वही सच्चा सांख्ययोगी और कर्मयोगी है। तात्पर्य है कि चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेमात्रसे कोई योगी नहीं होता। योगी तभी होता है, जब वह कर्मफलका त्याग कर देता है। कारण कि जबतक कर्मफलकी चाहना है, तबतक वृत्तिनिरोध करनेसे सिद्धियोंकी प्राप्ति तो हो सकती है, पर कल्याण नहीं हो सकता।

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

पाण्डव	= हे अर्जुन!	**सन्न्यासम्**	=संन्यास—	**प्राहुः**	=कहते हैं,
यम्	=(लोग) जिसको	**इति**	=ऐसा	**तम्**	=उसीको (तुम)

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल
पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
प्रूफ कापी : पहला
पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक..

योगम्	= योग	**असन्न्यस्तसङ्कल्पः**	= संकल्पोंका त्याग किये बिना (मनुष्य)	**योगी**	= योगी
विद्धि	= समझो;			**न**	= नहीं
हि	= क्योंकि	**कश्चन**	= कोई-सा (भी)	**भवति**	= हो सकता ।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

योगम्	= जो योग (समता) में		योगीके लिये	**योगारूढस्य**	= योगारूढ़ मनुष्यका
आरुरुक्षोः	= आरूढ़ होना चाहता है, (ऐसे)	**कर्म**	= कर्तव्यकर्म करना	**शमः**	= शम (शान्ति)
		कारणम्	= कारण		
		उच्यते	= कहा गया है (और)	**कारणम्**	= (परमात्मप्राप्तिमें) कारण
मुनेः	= मननशील	**तस्य, एव**	= उसी	**उच्यते**	= कहा गया है।

विशेष भाव—योगारूढ़ होनेकी इच्छावाले साधकके लिये योगारूढ़ होनेमें निष्काम भावसे कर्म करना कारण है और उससे प्राप्त होनेवाली शान्ति परमात्मप्राप्तिमें कारण है। तात्पर्य है कि परमात्मप्राप्तिमें कर्म कारण नहीं हैं, प्रत्युत कर्मोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे होनेवाली शान्ति कारण है। यह शान्ति साधन है, सिद्धि नहीं।

विवेकपूर्वक कर्म करनेसे ही कर्मोंका राग (वेग) मिटता है; क्योंकि राग मिटानेकी शक्ति कर्ममें नहीं है, प्रत्युत विवेकमें है। जिसकी योगारूढ़ होनेकी लालसा है, वह सब कर्म विवेकपूर्वक ही करता है। विवेक तब विकसित होता है, जब साधक कामनाकी पूर्तिमें परतन्त्रताका और अपूर्तिमें अभावका अनुभव करता है। परतन्त्रता और अभावको कोई नहीं चाहता, जबकि कामना करनेसे ये दोनों ही नहीं छूटते।

योगारूढ़ अवस्थामें राजी नहीं होना है; क्योंकि राजी होनेसे साधक वहीं अटक जायगा, जिससे परमात्मप्राप्ति होनेमें बहुत समय लग जायगा (गीता १४। ६)। जैसे, पहले बालककी खेलमें रुचि रहती है। परन्तु बड़े होनेपर जब उसकी रुचि रुपयोंमें हो जाती है, तब खेलकी रुचि अपने-आप मिट जाती है। ऐसे ही जबतक परमात्मप्राप्तिका अनुभव नहीं हुआ है, तबतक उस शान्तिमें रुचि रहती है अर्थात् शान्ति बहुत बढ़िया मालूम देती है। परन्तु उस शान्तिका उपभोग न किया जाय, उससे उपराम हो जायँ तो उसकी रुचि अपने-आप मिट जाती है और बहुत जल्दी परमात्मप्राप्तिका अनुभव हो जाता है।

योगारूढ़ होनेमें कर्म करना कारण है अर्थात् नि:स्वार्थभावसे दूसरोंके हितके लिये कर्म करते-करते जब सबका वियोग हो जाता है, तब साधक योगारूढ़ हो जाता है। कर्मोंकी समाप्ति हो जाती है और योग नित्य रहता है।

कर्मी (भोगी) भी कर्म करता है और कर्मयोगी भी कर्म करता है, पर उन दोनोंके उद्देश्यमें बड़ा भारी अन्तर रहता है। एक आसक्ति रखनेके लिये अथवा कामनापूर्तिके लिये कर्म करता है और एक आसक्तिका त्याग करनेके लिये कर्म करता है। भोगी अपने लिये कर्म करता है और कर्मयोगी दूसरोंके लिये कर्म करता है। अत: आसक्तिपूर्वक कर्म करनेमें समान होनेपर भी जो आसक्ति-त्यागके उद्देश्यसे दूसरोंके लिये कर्म करता है, वह योगी (योगारूढ़) हो जाता है। कर्म करनेसे ही योगीकी पहचान होती है, अन्यथा '**वृद्धा नारी पतिव्रता**'!

यहाँ जिसको 'शम' (शान्ति) कहा गया है, उसीको दूसरे अध्यायके चौंसठवें श्लोकमें 'प्रसाद' (अन्त:करणकी प्रसन्नता) कहा गया है। इस शान्तिमें रमण न करनेसे 'निर्वाणपरमा शान्ति' की प्राप्ति होती है (गीता ६। १५)। त्यागसे शान्ति मिलती है (गीता १२। १२)। शान्तिमें रमण न करनेसे अखण्डरस (तत्त्वज्ञान) मिलता है और अखण्डरसमें भी सन्तोष न करनेसे अनन्तरस (परमप्रेम) मिलता है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ४॥

हि	=कारण कि	**न**	=न	**सर्वसङ्कल्प-**	
यदा	=जिस समय	**कर्मसु**	=कर्मोंमें (ही)	**सन्न्यासी**	=सम्पूर्ण संकल्पोंका त्यागी मनुष्य
न	=न	**अनुषज्जते**	=आसक्त होता है,		
इन्द्रियार्थेषु	=इन्द्रियोंके भोगोंमें (तथा)	**तदा**	=उस समय (वह)	**योगारूढः**	=योगारूढ़
				उच्यते	=कहा जाता है।

विशेष भाव—योगारूढ़की पहचान क्या है ? इसके लिये यहाँ तीन बातें बतायी हैं—पदार्थों (वस्तुओं तथा व्यक्तियों)में आसक्ति न होना, क्रियाओंमें आसक्ति न होना और सम्पूर्ण संकल्पोंका अर्थात् मनचाहीका त्याग होना। तात्पर्य है कि इन्द्रियोंके भोगोंमें और क्रियाओंमें आसक्ति न हो तथा भीतरसे यह आग्रह भी न हो कि ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये। जिसकी न तो पदार्थोंमें आसक्ति है और न पदार्थोंके अभावमें आसक्ति है; न क्रियाओंमें आसक्ति है और न क्रियाओंके अभावमें आसक्ति है तथा न कोई संकल्प है, वह 'योगारूढ़' है। तात्पर्य है कि पदार्थ मिले या न मिले, व्यक्ति मिले या न मिले, क्रिया हो या न हो—इसका कोई आग्रह नहीं होना चाहिये (गीता ३। १८)।

साधकको विचार करना चाहिये कि ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सदा हमारे पास रहेगी और हम सदा उसके पास रहेंगे ? ऐसा कौन-सा व्यक्ति है, जो सदा हमारे साथ रहेगा और हम सदा उसके साथ रहेंगे? ऐसी कौन-सी क्रिया है, जिसको हम सदा करते रहेंगे और जो सदा हमसे होती रहेगी ? सदाके लिये हमारे साथ न कोई वस्तु रहेगी, न कोई व्यक्ति रहेगा और न कोई क्रिया रहेगी। एक दिन हमें वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे रहित होना ही पड़ेगा। अगर हम वर्तमानमें ही उनके वियोगको स्वीकार कर लें, उनसे असंग हो जायँ तो जीवन्मुक्ति स्वतः सिद्ध है। तात्पर्य है कि वस्तु, व्यक्ति और क्रियाका संयोग तो अनित्य है, पर वियोग नित्य है। नित्यको स्वीकार करनेसे नित्य-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और कोई अभाव शेष नहीं रहता।

इन्द्रियोंके भोगोंमें और कर्मोंमें आसक्ति न होनेका अर्थ है—कामनारहित और कर्तृत्वरहित होना। इन्द्रियोंके भोगोंमें, पदार्थोंमें आसक्ति न हो तो साधक कामनारहित हो जाता है और क्रियाओंमें आसक्ति न हो तो कर्तृत्वरहित हो जाता है। कामनारहित और कर्तृत्वरहित होनेपर स्वरूपमें स्वतः स्थिति हो जाती है। वास्तवमें स्थिति होती नहीं, प्रत्युत स्थिति है; परन्तु कामनारहित और कर्तृत्वरहित न होनेसे इसका अनुभव नहीं होता। कामना और कर्तृत्वका अभाव होनेपर स्वरूपमें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है।

जैसे लिखनेके समय लेखनीको काममें लेते हैं और लिखना पूरा होते ही लेखनीको ज्यों-का-त्यों रख देते हैं, ऐसे ही साधक कार्य करते समय शरीरको काममें ले और कार्य पूरा होते ही उसको ज्यों-का-त्यों रख दे अर्थात् उससे असंग हो जाय तो प्रत्येक क्रियाके बाद उसकी योग (समता)में स्थिति होगी। अगर क्रियासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय तो वह योगारूढ़ हो जायगा।

क्रिया (भोग) और पदार्थ (ऐश्वर्य) की आसक्तिसे पतन होता है (गीता २। ४४)। इसलिये न तो क्रियामें आसक्ति हो और न फलमें ही आसक्ति हो (गीता २। ४७; ५। १२)। संकल्पजन्य सुखका भोग भी न हो अर्थात् संकल्पपूर्तिका सुख भी न ले। अपनी मुक्तिका भी संकल्प न हो; क्योंकि मुक्तिके संकल्पसे बन्धनकी सत्ता दृढ़ होती है। अतः कोई भी संकल्प न रखकर उदासीन रहे।

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल
पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
प्रूफ कापी : पहला
पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक...

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५॥

आत्मना	= अपने द्वारा	**हि**	= क्योंकि		(और)
आत्मानम्	= अपना	**आत्मा**	= आप	**आत्मा**	= आप
उद्धरेत्	= उद्धार करे,	**एव**	= ही	**एव**	= ही
आत्मानम्	= अपना	**आत्मनः**	= अपना	**आत्मनः**	= अपना
न, अवसादयेत्	= पतन न करे;	**बन्धुः**	= मित्र है	**रिपुः**	= शत्रु है।

विशेष भाव— अपने उद्धार और पतनमें मनुष्य स्वयं ही कारण होता है, दूसरा कोई नहीं। भगवान्ने मनुष्यशरीर दिया है तो अपने कल्याणकी सामग्री भी पूरी दी है। इसलिये अपने कल्याणके लिये दूसरेकी जरूरत नहीं है। पतन भी दूसरा नहीं करता। जीव खुद ही गुणोंका संग करके जन्म-मरणमें पड़ता है (गीता १३। २१)।

गुरु, सन्त और भगवान् भी तभी उद्धार करते हैं, जब मनुष्य स्वयं उनपर श्रद्धा-विश्वास करता है, उनको स्वीकार करता है, उनके सम्मुख होता है, उनके शरण होता है, उनकी आज्ञाका पालन करता है। अगर मनुष्य उनको स्वीकार न करे तो वे कैसे उद्धार करेंगे? नहीं कर सकते। खुद शिष्य न बने तो गुरु क्या करेगा? जैसे, दूसरा व्यक्ति भोजन तो दे देगा, पर भूख खुदकी चाहिये। खुदकी भूख न हो तो दूसरेके द्वारा दिया गया भोजन किस कामका? ऐसे ही खुदकी लगन न हो तो गुरुका, सन्त-महात्माओंका उपदेश किस कामका?

गुरु, सन्त और भगवान्का कभी अभाव नहीं होता। अनेक बड़े-बड़े सन्त होते आये हैं, गुरु होते आये हैं, भगवान्के अवतार होते आये हैं, पर अभीतक हमारा उद्धार नहीं हुआ है तो इससे सिद्ध होता है कि हमने ही उनको स्वीकार नहीं किया। अतः अपने उद्धार और पतनमें हम ही हेतु हैं। जो अपने उद्धार और पतनमें दूसरेको हेतु मानता है, उसका उद्धार कभी हो ही नहीं सकता।

वास्तविक दृष्टिसे देखें तो भगवान् भी विद्यमान हैं, गुरु भी विद्यमान है, तत्त्वज्ञान भी विद्यमान है और अपनेमें योग्यता, सामर्थ्य भी विद्यमान है। केवल नाशवान् सुखकी आसक्तिसे ही उनके प्रकट होनेमें बाधा लग रही है। नाशवान् सुखकी आसक्ति मिटानेकी जिम्मेवारी साधकपर है; क्योंकि उसीने आसक्ति की है।

गुरु बनना या बनाना गीताका सिद्धान्त नहीं है। मनुष्य आप ही अपना गुरु है। इसलिये उपदेश अपनेको ही देना है। जब सब कुछ परमात्मा ही हैं **(वासुदेवः सर्वम्)**, तो फिर दूसरा गुरु कैसे बने और कौन किसको उपदेश दे ? अतः '**उद्धरेदात्मनात्मानम्**' का तात्पर्य है कि दूसरेमें कमी न देखकर अपनेमें ही कमी देखे और उसको दूर करनेकी चेष्टा करे, अपनेको ही उपदेश दे। आप ही अपना गुरु बने, आप ही अपना नेता बने और आप ही अपना शासक बने।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६॥

येन	= जिसने	**एव**	= ही		है, ऐसे अनात्माका
आत्मना	= अपने-आपसे	**आत्मनः**	= अपना	**आत्मा**	= आत्मा
आत्मा	= अपने-आपको	**बन्धुः**	= बन्धु है	**एव**	= ही
जितः	= जीत लिया है,	**तु**	= और	**शत्रुत्वे**	= शत्रुतामें
तस्य	= उसके लिये	**अनात्मनः**	= जिसने अपने-आपको नहीं जीता	**शत्रुवत्**	= शत्रुकी तरह
आत्मा	= आप			**वर्तेत**	= बर्ताव करता है।

विशेष भाव—शरीरमें मैं-मेरापन न रहे तो आप ही अपना मित्र है और शरीरको मैं-मेरा माने तो आप ही अपने शत्रुकी तरह है अर्थात् अनात्माको सत्ता देनेसे उसका परिणाम शत्रुकी तरह ही होगा।

'शत्रुवत्'—जो नुकसान शत्रु करता है, वही नुकसान वह खुद अपना करता है। वास्तवमें भोगी मनुष्य अपना जितना नुकसान करता है, उतना शत्रु भी नहीं कर सकता। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो शत्रुके द्वारा हमारा भला ही होता है। वह हमारा बुरा कर ही नहीं सकता। कारण कि वह वस्तुओंतक ही पहुँचता है, स्वयंतक पहुँचता ही नहीं । अतः नाशवान्के नाशके सिवाय और वह कर ही क्या सकता है? नाशवान्के नाशसे हमारा भला ही होगा। वास्तवमें हमारा नुकसान हमारा भाव बिगड़नेसे ही होता है।

~~~

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

जितात्मनः	=जिसने अपने-आपपर विजय कर ली है, उस	**दुःखेषु**	=शीत-उष्ण (अनुकूलता-प्रतिकूलता), सुख-दुःख	**मानापमानयोः**	=मान-अपमानमें
शीतोष्णसुख-		**तथा**	=तथा	**प्रशान्तस्य**	=निर्विकार मनुष्यको
				परमात्मा	=परमात्मा
				समाहितः	=नित्यप्राप्त हैं।

विशेष भाव—जिसकी आत्मा मित्रकी तरह है अर्थात् जिसका शरीरमें मैं-पन और मेरा-पन नहीं है, वह अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख और मान-अपमान प्राप्त होनेपर भी सम, निर्विकार रहता है। ऐसा मनुष्य सिद्ध कर्मयोगी है अर्थात् उसको परमात्माका अनुभव हो चुका है—ऐसा मानना चाहिये। कारण कि अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख और मान-अपमान तो आते-जाते हैं, पर परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों रहता है।

~~~

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ८॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा	= जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है,	**विजितेन्द्रियः**	=जितेन्द्रिय है (और)		वाला है—
कूटस्थः	=जो कूटकी तरह निर्विकार है,	**समलोष्टाश्मकाञ्चनः**	=मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा स्वर्णमें समबुद्धि-	**इति**	=ऐसा
				योगी	=योगी
				युक्तः	=युक्त (योगारूढ़)
				उच्यते	=कहा जाता है।

~~~

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थ-द्वेष्यबन्धुषु	=सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और सम्बन्धियोंमें	**च**	=तथा		करनेवालोंमें
		साधुषु	=साधु-आचरण करनेवालोंमें (और)	**अपि**	=भी
		पापेषु	=पाप-आचरण	**समबुद्धिः**	=समबुद्धिवाला मनुष्य
				विशिष्यते	=श्रेष्ठ है।

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल
पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
प्रूफ कापी : पहला
पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक...
~~~

विशेष भाव—समताका विभाग अलग है और विषमताका विभाग अलग है। परमात्मतत्त्व सम है और संसार विषम है। सिद्ध कर्मयोगीकी विषम व्यवहारमें भी समबुद्धि रहती है। बर्ताव करनेमें जिनसे कभी एकता नहीं हो सकती, एकता करनी भी नहीं चाहिये और एकता कर भी नहीं सकते, उन मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा स्वर्णमें और सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, साधु तथा पापी व्यक्तियोंमें भी उसकी समबुद्धि रहती है। कारण कि उसको 'एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है'—ऐसा अनुभव हो गया है।

एक सोनेसे बनी हुई विष्णुभगवान्‌की मूर्ति हो और एक सोनेसे बनी हुई कुत्तेकी मूर्ति हो तो तौलमें बराबर होनेके कारण दोनोंका मूल्य समान होगा। विष्णुभगवान् सर्वश्रेष्ठ एवं परमपूज्य हैं और कुत्ता नीच (अस्पृश्य) एवं अपूज्य है— इस तरह बाहरी रूपको देखें तो दोनोंमें बड़ा भारी फर्क है, पर सोनेको देखें तो दोनोंमें कोई फर्क नहीं! इसी तरह संसारमें कोई मित्र है, कोई शत्रु है; कोई महात्मा है, कोई दुरात्मा है; कोई अच्छा है, कोई मन्दा है; कोई सज्जन है, कोई दुष्ट है; कोई सदाचारी है, कोई दुराचारी है; कोई धर्मात्मा है, कोई पापी है; कोई विद्वान् है, कोई मूर्ख है—यह सब तो बाहरी दृष्टिसे है, पर तत्त्वसे देखें तो सब-के-सब एक भगवान् ही हैं। एक भगवान् ही अनन्त रूपोंमें प्रकट हुए हैं। जानकार मुनष्य उनको पहचान लेता है,दूसरा नहीं पहचान सकता।

स्नान करते समय शरीरमें साबुन लगाकर दर्पणमें देखे तो शरीर बहुत बुरा, भद्दा दीखेगा। कहीं फफोले दीखेंगे, कहीं लकीरें दीखेंगी। परन्तु ऐसा दीखनेपर भी मनमें दुःख नहीं होगा कि कैसी बीमारी हो गयी! कारण कि भीतर यह भाव रहता है कि यह तो ऊपरसे ऐसा दीखता है, जल डालते ही साफ हो जायगा। ऐसे ही सब परमात्माके स्वरूप हैं, पर ऊपरसे शरीरोंमें उनका अलग-अलग स्वभाव दीखता है। वास्तवमें ऊपरसे दीखनेवाले भी परमात्माके ही स्वरूप हैं, पर अपने राग-द्वेषके कारण वे अलग-अलग दीखते हैं।

जो बात पाँचवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें '**कर्मयोगो विशिष्यते**' पदोंसे कही थी, वही बात यहाँ '**समबुद्धिर्विशिष्यते**' पदोंसे कही है। समबुद्धिवाला मनुष्य निर्लिप्त रहता है। निर्लिप्त रहनेसे 'योग' होता है, लिप्तता होते ही 'भोग' हो जाता है। समबुद्धि तीनों योगोंमें है, पर कर्मयोगमें विशेष है; क्योंकि भौतिक साधना होनेसे कर्मयोगीके सामने विषमता ज्यादा आती है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १०॥

अपरिग्रहः	= भोगबुद्धिसे संग्रह न करनेवाला,		तथा शरीरको वशमें रखनेवाला	**स्थितः**	= स्थित होकर
निराशीः	= इच्छारहित (और)	**योगी**	= योगी	**आत्मानम्**	= मनको
		एकाकी	= अकेला	**सततम्**	= निरन्तर
यतचित्तात्मा	= अन्तःकरण	**रहसि**	= एकान्तमें	**युञ्जीत**	= (परमात्मामें) लगाये।

विशेष भाव—कर्मयोग*, ज्ञानयोग और भक्तियोग तो करणनिरपेक्ष साधन हैं, पर ध्यानयोग करणसापेक्ष साधन है। अब भगवान् ध्यानयोगका वर्णन आरम्भ करते हैं।

* कर्मयोगमें 'कर्म' तो करणसापेक्ष है, पर 'योग' करणनिरपेक्ष है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥

शुचौ = शुद्ध
देशे = भूमिपर,
चैलाजिन-कुशोत्तरम् = (जिसपर क्रमशः) कुश, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं,
न = (जो) न
अत्युच्छ्रितम् = अत्यन्त ऊँचा है (और)
न = न
अतिनीचम् = अत्यन्त नीचा, (ऐसे)
आत्मनः = अपने
आसनम् = आसनको
स्थिरम् = स्थिर
प्रतिष्ठाप्य = स्थापन करके।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२॥

तत्र = उस
आसने = आसनपर
उपविश्य = बैठकर
यतचित्तेन्द्रियक्रियः = चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए।
मनः = मनको
एकाग्रम् = एकाग्र
कृत्वा = करके
आत्मविशुद्धये = अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये
योगम् = योगका
युञ्ज्यात् = अभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३॥

कायशिरोग्रीवम् = काया, सिर और गलेको
समम् = सीधे
अचलम् = अचल
धारयन् = धारण करके
च = तथा
दिशः = दिशाओंको
अनवलोकयन् = न देखकर (केवल)
स्वम् = अपनी
नासिकाग्रम् = नासिकाके अग्रभागको
सम्प्रेक्ष्य = देखते हुए
स्थिरः = स्थिर होकर (बैठे)।

विशेष भाव— यहाँ नासिकाके अग्रभागको देखना मुख्य नहीं है, प्रत्युत मनको एकाग्र करना मुख्य है।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥

प्रशान्तात्मा = जिसका अन्तः-करण शान्त है,
विगतभीः = जो भयरहित है (और)
ब्रह्मचारिव्रते = जो ब्रह्मचारिव्रतमें
स्थितः = स्थित है, (ऐसा)
युक्तः = सावधान ध्यानयोगी
मनः = मनका
संयम्य = संयम करके
मच्चित्तः = मेरेमें चित्त लगाता हुआ
मत्परः = मेरे परायण होकर
आसीत = बैठे।

विशेष भाव— अपनी विशेषता माननेसे आसुरी सम्पत्ति आ जाती है। इसलिये भगवान्‌ने '**मत्परः**' पदसे ध्यानयोगीके लिये भी अपने परायण होनेकी बात कही है। भगवत्परायणतामें भगवान्‌का बल रहनेसे विकार शीघ्र

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल
पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
प्रूफ कापी : पहला
पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक...

दूर हो जाते हैं और अभिमान भी नहीं होता। यह भक्तिकी विशेषता है।

इस श्लोकमें **'मन'** और **'चित्त'**—ये दो समानार्थक पद आये हैं। 'मन' से किसी वस्तुका बार-बार मनन किया जाता है और 'चित्त' से किसी एक ही वस्तुका चिन्तन किया जाता है। अतः यहाँ आये **'मनः संयम्य मच्चित्तः'** पदोंका तात्पर्य है कि संसारका मनन नहीं करे अर्थात् मनको संसारसे हटा ले और चित्तसे केवल भगवान्‌का चिन्तन करे अर्थात् चित्तको केवल भगवान्‌में लगा दे।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५॥

नियतमानसः	= वशमें किये हुए मनवाला	**सदा**	= सदा	**निर्वाणपरमाम्**	= (जो) निर्वाणपरमा
योगी	= योगी	**युञ्जन्**	= (परमात्मामें) लगाता हुआ	**शान्तिम्**	= शान्ति है, (उसको)
आत्मानम्	= मनको	**मत्संस्थाम्**	= मुझमें सम्यक् स्थितिवाली	**अधिगच्छति**	= प्राप्त हो जाता है।
एवम्	= इस तरहसे				

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ १६॥

अर्जुन	= हे अर्जुन!	**न**	= न	**च**	= और
योगः	= (यह) योग	**एकान्तम्**	= बिलकुल	**न**	= न
न	= न	**अनश्नतः**	= न खानेवालेका	**जाग्रतः**	= (बिलकुल) न सोनेवालेका
तु	= तो	**च**	= तथा		
अति	= अधिक	**न**	= न	**एव**	= ही
अश्नतः	= खानेवालेका	**अति**	= अधिक	**अस्ति**	= सिद्ध होता है।
च	= और	**स्वप्नशीलस्य**	= सोनेवालेका		

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ १७॥

दुःखहा	= दुःखोंका नाश करनेवाला		विहार करने-वालेका,		(तथा)
योगः	= योग (तो)	**कर्मसु**	= कर्मोंमें	**युक्तस्वप्नावबोधस्य**	= यथायोग्य सोने और जागने-वालेका (ही)
युक्ताहारविहारस्य	= यथायोग्य आहार और	**युक्तचेष्टस्य**	= यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका	**भवति**	= (सिद्ध) होता है।

विशेष भाव—सोलहवाँ और सत्रहवाँ श्लोक ध्यानयोगीके लिये तो उपयोगी हैं ही, अन्य योगियों (साधकों)के लिये भी बड़े उपयोगी हैं।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ १८॥

विनियतम्	=वशमें किया हुआ	**अवतिष्ठते**	=स्थित हो जाता है (और)		(हो जाता है),
चित्तम्	=चित्त			**तदा**	=उस कालमें
यदा	=जिस कालमें	**सर्वकामेभ्यः**	=(स्वयं) सम्पूर्ण पदार्थोंसे	**युक्तः**	=(वह) योगी है—
आत्मनि	=अपने स्वरूपमें			**इति**	= ऐसा
एव	=ही	**निःस्पृहः**	=निःस्पृह	**उच्यते**	=कहा जाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ १९॥

यथा	=जैसे		जाती है,	**योगिनः**	=योगीके
निवातस्थः	=स्पन्दनरहित वायुके स्थानमें स्थित	**योगम्**	=योगका	**आत्मनः**	=चित्तकी
		युञ्जतः	=अभ्यास करते हुए	**सा**	=वैसी ही
दीपः	=दीपककी लौ	**यतचित्तस्य**	=वशमें किये हुए चित्तवाले	**उपमा**	=उपमा
न, इङ्गते	=चेष्टारहित हो			**स्मृता**	=कही गयी है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २०॥

योगसेवया	=योगका सेवन करनेसे	**उपरमते**	=उपराम हो जाता है	**आत्मानम्**	=अपने-आपको
		च	=तथा	**पश्यन्**	=देखता हुआ
यत्र	=जिस अवस्थामें	**यत्र**	=जिस अवस्थामें (स्वयं)	**आत्मनि**	=अपने-आपमें
निरुद्धम्	=निरुद्ध			**एव**	=ही
चित्तम्	=चित्त	**आत्मना**	=अपने-आपसे	**तुष्यति**	=सन्तुष्ट हो जाता है।

विशेष भाव—मन आत्मामें नहीं लगता, प्रत्युत उपराम हो जाता है। कारण कि मनकी जाति अलग है और आत्माकी जाति अलग है। मन अपरा प्रकृति (जड़) है और आत्मा परा प्रकृति (चेतन) है। इसलिये आत्मा ही आत्मामें लगती है—**'आत्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति'।**

अपने-आपमें अपने-आपको देखनेका तात्पर्य है कि आत्मतत्त्व परसंवेद्य नहीं है, प्रत्युत स्वसंवेद्य है। मनसे जो चिन्तन किया जाता है, वह मनके विषय (अनात्मा)का ही चिन्तन होता है, परमात्माका नहीं। बुद्धिसे जो निश्चय किया जाता है, वह बुद्धिके विषयका ही निश्चय होता है, परमात्माका नहीं। वाणीसे जो वर्णन किया जाता है, वह वाणीके विषयका ही वर्णन होता है, परमात्माका नहीं। तात्पर्य है कि मन-बुद्धि-वाणीसे प्रकृतिके कार्य (अनात्मा)का ही चिन्तन, निश्चय तथा वर्णन किया जाता है। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति मन-बुद्धि-वाणीसे सर्वथा विमुख (सम्बन्ध-विच्छेद) होनेपर ही होती है*।

यहाँ जिस तत्त्वकी प्राप्ति ध्यानयोगसे बतायी गयी है, उसी तत्त्वकी प्राप्ति दूसरे अध्यायके पचपनवें श्लोकमें

* यदि एक परमात्मप्राप्तिका ही ध्येय हो तो मन-बुद्धि-वाणीसे चिन्तन, निश्चय तथा वर्णन करना भी अनुचित नहीं है, प्रत्युत वह भी साधनरूप हो जाता है। परन्तु साधक उसमें ही सन्तोष कर ले, पूर्णता मान ले तो वह बाधक हो जाता है।

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल
पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
प्रूफ कापी : पहला
पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक...

कर्मयोगसे भी बतायी गयी है। अन्तर इतना है कि ध्यानयोग तो करणसापेक्ष साधन है, पर कर्मयोग करणनिरपेक्ष साधन है। करणसापेक्ष साधनमें जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद देरीसे होता है और इसमें योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ २१॥

यत्	=जो	**तत्**	=उस सुखका	**अयम्**	=यह ध्यानयोगी
सुखम्	=सुख	**यत्र**	=जिस अवस्थामें	**तत्त्वतः**	=तत्त्वसे
आत्यन्तिकम्	=आत्यन्तिक,	**वेत्ति**	=अनुभव करता है	**एव**	=फिर (कभी)
अतीन्द्रियम्	=अतीन्द्रिय (और)	**च**	=और (जिस सुखमें)	**न, चलति**	=विचलित नहीं होता ।
बुद्धिग्राह्यम्	=बुद्धिग्राह्य है,	**स्थितः**	=स्थित हुआ		

विशेष भाव—स्वरूपका अनुभव होनेपर ध्यानयोगीको उस अविनाशी, अखण्ड सुखकी अनुभूति हो जाती है, जो 'आत्यन्तिक' अर्थात् सात्त्विक सुखसे विलक्षण, 'अतीन्द्रिय' अर्थात् राजस सुखसे विलक्षण और 'बुद्धिग्राह्य' अर्थात् तामस सुखसे विलक्षण है।

अविनाशी सुखको 'बुद्धिग्राह्य' कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि वह बुद्धिकी पकड़में आनेवाला है। कारण कि बुद्धि तो प्रकृतिका कार्य है, फिर वह प्रकृतिसे अतीत सुखको कैसे पकड़ सकती है? इसलिये अविनाशी सुखको बुद्धिग्राह्य कहनेका तात्पर्य उस सुखको तामस सुखसे विलक्षण बतानेमें ही है। निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होनेवाला सुख तामस होता है (गीता १८। ३९)। गाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) में बुद्धि अविद्यामें लीन हो जाती है और आलस्य तथा प्रमादमें बुद्धि पूरी तरह जाग्रत् नहीं रहती। परन्तु स्वत:सिद्ध अविनाशी सुखमें बुद्धि अविद्यामें लीन नहीं होती, प्रत्युत पूरी तरह जाग्रत् रहती है—'**ज्ञानदीपिते**' (गीता ४। २७)। अत: बुद्धिकी जागृतिकी दृष्टिसे ही उसको 'बुद्धिग्राह्य' कहा गया है। वास्तवमें बुद्धि वहाँतक पहुँचती ही नहीं।

जैसे दर्पणमें सूर्य नहीं आता, प्रत्युत सूर्यका बिम्ब आता है, ऐसे ही बुद्धिमें वह अविनाशी सुख नहीं आता, प्रत्युत उस सुखका बिम्ब, आभास आता है, इसलिये भी उसको '**बुद्धिग्राह्य**' कहा गया है।

तात्पर्य यह हुआ कि स्वयंका अखण्ड सुख सात्त्विक, राजस और तामस सुखसे भी अत्यन्त विलक्षण अर्थात् गुणातीत है। उसको बुद्धिग्राह्य कहनेपर भी वास्तवमें वह बुद्धिसे सर्वथा अतीत है।

बुद्धियुक्त (प्रकृतिसे मिला हुआ) चेतन ही बुद्धिग्राह्य है, शुद्ध चेतन नहीं। वास्तवमें स्वयं प्रकृतिसे मिल सकता ही नहीं, पर वह अपनेको मिला हुआ मान लेता है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ २२॥

यम्	=जिस		(लाभ)		(वह)
लाभम्	=लाभकी	**न, मन्यते**	=(उसके) माननेमें भी नहीं आता	**गुरुणा**	=बड़े भारी
लब्ध्वा	= प्राप्ति होनेपर			**दुःखेन**	=दु:खसे
ततः	=उससे	**च**	=और	**अपि**	=भी
अधिकम्	=अधिक	**यस्मिन्**	=जिसमें	**न, विचाल्यते**	=विचलित नहीं किया जा सकता।
अपरम्	=कोई दूसरा	**स्थितः**	=स्थित होनेपर		

विशेष भाव—यह श्लोक सभी साधनोंकी कसौटी है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि किसी

भी साधनसे यह कसौटी प्राप्त होनी चाहिये। अपनी स्थिति समझनेके लिये यह श्लोक साधकके लिये बहुत उपयोगी है। जीवमात्रका ध्येय यही रहता है कि मेरा दुःख मिट जाय और सुख मिल जाय। अतः इस श्लोकमें वर्णित स्थिति साधकमात्रको प्राप्त करनी चाहिये, अन्यथा उसकी साधना पूर्ण नहीं हुई। साधक बीचमें अटक न जाय, अपनी अधूरी स्थितिको ही पूर्ण न मान ले, इसके लिये उसको यह श्लोक सामने रखना चाहिये।

जिसमें लाभका तो अन्त नहीं और दुःखका लेश भी नहीं—ऐसा दुर्लभ पद मनुष्यमात्रको मिल सकता है! परन्तु वह भोग और संग्रहमें लगकर कितना अनर्थ कर लेता है, जिसका कोई पारावार नहीं!

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

दुःखसंयोगवियोगम् = जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है, **तम्** = उसीको **योगसञ्ज्ञितम्** = 'योग' नामसे **विद्यात्** = जानना चाहिये। **सः** = (वह योग जिस ध्यानयोगका लक्ष्य है,) उस **योगः** = ध्यानयोगका अभ्यास **अनिर्विण्णचेतसा** = न उकताये हुए चित्तसे **निश्चयेन** = निश्चयपूर्वक **योक्तव्यः** = करना चाहिये।

विशेष भाव—सांसारिक संयोगका विभाग अलग है और योगका विभाग अलग है। 'संयोग' उसके साथ होता है, जिसके साथ हम सदा नहीं रह सकते और जो हमारे साथ सदा नहीं रह सकता। 'योग' उसके साथ होता है, जिसके साथ हम सदा रह सकते हैं और जो हमारे साथ सदा रह सकता है। इसलिये संसारमें एक-दूसरेके साथ संयोग होता है और परमात्माके साथ योग होता है। संसारका योग नहीं है और परमात्माका वियोग नहीं है अर्थात् संसार हमें मिला हुआ नहीं है और परमात्मा हमारेसे अलग नहीं है। संसारको मिला हुआ मानना और परमात्माको अलग मानना—यही अज्ञान है, यही मनुष्यकी सबसे बड़ी भूल है। संसारके संयोगका तो वियोग होता ही है, पर परमात्माके योगका कभी वियोग होता ही नहीं।

मनुष्य चाहता है संयोग, पर हो जाता है वियोग, इसलिये संसार दुःखरूप है—**'दुःखालयमशाश्वतम्'** (गीता ८। १५)। कुछ चाहना रहनेसे ही दुःखोंका संयोग होता है। कुछ भी चाहना न रहे तो दुःखोंका संयोग नहीं होता, प्रत्युत परमात्माके साथ योग होता है।

परमात्माके साथ जीवका योग अर्थात् सम्बन्ध नित्य है। इस स्वतःसिद्ध नित्ययोगका ही नाम 'योग' है। यह नित्ययोग सब देशमें है, सब कालमें है, सब क्रियाओंमें है, सब वस्तुओंमें है, सब व्यक्तियोंमें है, सब अवस्थाओंमें है, सब परिस्थितियोंमें है, सब घटनाओंमें है। तात्पर्य है कि इस नित्ययोगका कभी वियोग हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं। परन्तु असत् (शरीर) के साथ अपना सम्बन्ध मान लेनेसे इस नित्ययोगका अनुभव नहीं होता। दुःखरूप असत्‌के साथ माने हुए संयोगका वियोग (सम्बन्ध-विच्छेद) होते ही इस नित्ययोगका अनुभव हो जाता है। यही गीताका मुख्य योग है और इसी योगका अनुभव करनेके लिये गीताने कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि साधनोंका वर्णन किया है। परन्तु इन साधनोंको 'योग' तभी कहा जायगा, जब असत्‌से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद और परमात्माके साथ नित्य सम्बन्धका अनुभव होगा।

योगकी परिभाषा भगवान्‌ने दो प्रकारसे की है—

(१) समताका नाम योग है—**'समत्वं योग उच्यते'** (२। ४८)

(२) दुःखरूप संसारके संयोगके वियोगका नाम योग है—**'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्'** (६। २३)

चाहे समता कह दें, चाहे संसारके संयोगका वियोग कह दें, दोनों एक ही हैं। तात्पर्य है कि समतामें स्थिति

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल
पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
प्रूफ कापी : पहला
पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक..

होनेपर संसारके संयोगका वियोग हो जायगा और संसारके संयोगका वियोग होनेपर समतामें स्थिति हो जायगी। दोनोंमेंसे कोई एक होनेपर नित्ययोगकी प्राप्ति हो जायगी। परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे देखें तो '**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' पहली स्थिति है और '**समत्वं योग उच्यते**' बादकी स्थिति है, जिसमें नैष्ठिकी शान्ति, परमशान्ति अथवा आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति है।

समताकी प्राप्ति भी स्वतः हो रही है और दुःखोंकी निवृत्ति भी स्वतः हो रही है। प्राप्ति उसीकी होती है, जो नित्यप्राप्त है और निवृत्ति उसीकी होती है, जो नित्यनिवृत्त है। नित्यप्राप्तकी प्राप्तिका नाम भी योग है और नित्यनिवृत्तकी निवृत्तिका नाम भी योग है। वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके संयोगसे होनेवाले जितने भी सुख हैं, वे सब दुःखोंके कारण अर्थात् दुःख पैदा करनेवाले हैं (गीता ५। २२)। अतः संयोगमें ही दुःख होता है, वियोगमें नहीं। वियोग (संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद)में जो सुख है, उस सुखका वियोग नहीं होता, क्योंकि वह नित्य है। जब संयोगमें भी वियोग है और वियोगमें भी वियोग है तो वियोग ही नित्य हुआ। इस नित्य वियोगको ही गीता 'योग' कहती है।

परमात्मतत्त्व 'है'-रूप और संसार 'नहीं'-रूप है। एक मार्मिक बात है कि 'है' को देखनेसे शुद्ध 'है' नहीं दीखता, पर 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे देखनेपर शुद्ध 'है' दीखता है! कारण कि 'है' को देखनेमें मन-बुद्धि लगायेंगे, वृत्ति लगायेंगे तो 'है'के साथ वृत्तिरूप 'नहीं' भी मिला रहेगा। परन्तु 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे देखनेपर वृत्ति भी 'नहीं' में चली जायगी और शुद्ध 'है' शेष रह जायगा; जैसे—कूड़ा-करकट दूर करनेपर उसके साथ झाड़ूका भी त्याग हो जाता है और मकान शेष रह जाता है। तात्पर्य है कि 'परमात्मा सबमें परिपूर्ण हैं'—इसका मनसे चिन्तन करनेपर, बुद्धिसे निश्चय करनेपर वृत्तिके साथ हमारा सम्बन्ध बना रहेगा। परन्तु 'संसारका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है'—इस प्रकार संसारको अभावरूपसे देखनेपर संसार और वृत्ति—दोनोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और भावरूप शुद्ध परमात्मतत्त्व स्वतः शेष रह जायगा।

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४॥

सङ्कल्पप्रभवान्	= संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली	**अशेषतः**	= सर्वथा	**एव**	= ही
सर्वान्	= सम्पूर्ण	**त्यक्त्वा**	= त्याग करके (और)	**इन्द्रियग्रामम्**	= इन्द्रिय-समूहको
कामान्	= कामनाओंका	**मनसा**	= मनसे	**समन्ततः**	= सभी ओरसे
				विनियम्य	= हटाकर।

विशेष भाव—पहले स्फुरणा होती है, फिर संकल्प होता है। स्फुरणामें सत्ता, आसक्ति और आग्रह होनेसे वह संकल्प हो जाता है, जो बन्धनकारक होता है। संकल्पसे फिर कामना उत्पन्न होती है। 'स्फुरणा' दर्पणके काँचकी तरह है, जिसमें चित्र पकड़ा नहीं जाता। परन्तु 'संकल्प' कैमरेके काँचकी तरह है, जिसमें चित्र पकड़ा जाता है। साधकको सावधानी रखनी चाहिये कि स्फुरणा तो हो, पर संकल्प न हो।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ २५॥

धृतिगृहीतया	= धैर्ययुक्त		(और)	**कृत्वा**	= करके (फिर)
बुद्ध्या	= बुद्धिके द्वारा (संसारसे)	**मनः**	= मन (बुद्धि)को	**किञ्चित्**	= कुछ
शनैः, शनैः	= धीरे-धीरे	**आत्मसंस्थम्**	= परमात्मस्वरूपमें सम्यक् प्रकारसे स्थापन	**अपि**	= भी
उपरमेत्	= उपराम हो जाय			**न, चिन्तयेत्**	= चिन्तन न करे।

विशेष भाव— ध्यानयोगके दो प्रकार हैं—(१) मनको एकाग्र करना और (२) विवेकपूर्वक मनसे सम्बन्ध-विच्छेद करना। विवेकपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेदसे तत्काल मुक्ति होती है। संसारमें कितना पाप-पुण्य होता है, पर उसके साथ हमारा सम्बन्ध है ही नहीं, ऐसे ही शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके साथ भी हमारा सम्बन्ध नहीं है। इसीको 'उपरति' कहते हैं। चिन्तन करनेकी वृत्तिसे भी सम्बन्ध नहीं रहना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें आया है—

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(११। २९। १८)

'पूर्वोक्त साधन (मन-वाणी-शरीरकी सभी क्रियाओंसे परमात्माकी उपासना) करनेवाले भक्तका 'सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है'—ऐसा निश्चय हो जाता है। फिर वह इस अध्यात्मविद्याके द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा ही दीखने लगें।'

सम्पूर्ण देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें एक ही परमात्मतत्त्व सत्तारूपसे ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। देश, काल आदिका तो अभाव है, पर परमात्मतत्त्वका नित्य भाव है। इस प्रकार साधक पहले मन-बुद्धिसे यह निश्चय कर ले कि 'परमात्मतत्त्व है'। फिर इस निश्चयको भी छोड़ दे और चुप हो जाय अर्थात् कुछ भी चिन्तन न करे। आत्माका, अनात्माका; परमात्माका, संसारका; संयोगका, वियोगका, कुछ भी चिन्तन न करे। कुछ भी चिन्तन करेगा तो संसार आ ही जायगा। कारण कि कुछ भी चिन्तन करनेसे चित्त (करण) साथमें रहेगा। करण साथमें रहेगा तो संसारका त्याग नहीं होगा; क्योंकि करण भी संसार ही है। इसलिये **'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'** में करणसे सम्बन्ध-विच्छेद है; क्योंकि जब करण साथमें नहीं रहेगा, तभी असली ध्यान होगा। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चिन्तन करनेपर भी वृत्ति रहती ही है, वृत्तिका अभाव नहीं होता। परन्तु कुछ भी चिन्तन करनेका भाव न रहनेसे वृत्ति स्वत: शान्त हो जाती है। अत: साधकको चिन्तनकी सर्वथा उपेक्षा करनी है। जैसे जलके स्थिर (शान्त) होनेपर उसमें मिली हुई मिट्टी शनैः-शनैः अपने-आप नीचे बैठ जाती है, ऐसे ही चुप होनेपर सब विकार शनैः-शनैः अपने-आप शान्त हो जाते हैं, अहम् गल जाता है और वास्तविक तत्त्व (अहंरहित सत्ता) का अनुभव हो जाता है।

यहाँ वृत्तिका अभाव करनेमें ही **'शनैः शनैः'** पदोंका प्रयोग हुआ है **'शनैः शनैः'** कहनेका तात्पर्य है कि जबर्दस्ती न करे, जल्दबाजी न करे; क्योंकि जन्म-जन्मान्तरके संस्कार जल्दबाजीसे नहीं मिटते। जल्दबाजी चंचलताको स्थिर, स्थायी करनेवाली है, पर **'शनैः शनैः'** चंचलताका नाश करनेवाली है।

प्रकृतिके सम्बन्धके बिना तत्त्वका चिन्तन, मनन आदि नहीं हो सकता । अत: साधक तत्त्वका चिन्तन करेगा तो चित्त साथमें रहेगा, मनन करेगा तो मन साथमें रहेगा, निश्चय करेगा तो बुद्धि साथमें रहेगी, दर्शन करेगा तो दृष्टि साथमें रहेगी, श्रवण करेगा तो श्रवणेन्द्रिय साथमें रहेगी, कथन करेगा तो वाणी साथमें रहेगी। ऐसे ही 'है' को मानेगा तो मान्यता तथा माननेवाला रह जायगा और 'नहीं' का निषेध करेगा तो निषेध करनेवाला रह जायगा। कर्तृत्वाभिमानका त्याग करेगा तो 'मैं कर्ता नहीं हूँ'—यह सूक्ष्म अहंकार रह जायगा अर्थात् त्याग करनेसे त्याज्य वस्तु और त्यागी (त्याग करनेवाला) रह जायगा। इसलिये साधक उपराम हो जाय अर्थात् न मान्यता करे, न निषेध करे; न ग्रहण करे, न त्याग करे, प्रत्युत स्वत:सिद्ध स्वाभाविक तत्त्वको स्वीकार करे और बाहर-भीतरसे चुप हो जाय। मेरेको चुप होना है—यह आग्रह (संकल्प) भी न रखे, नहीं तो कर्तृत्व आ जायगा; क्योंकि चुप स्वत:सिद्ध है।

साधक मैं, तू ,यह और वह—इन चारोंको छोड़ दे तो एक 'है' (सत्तामात्र) रह जाता है। उस स्वत:सिद्ध 'है' को स्वीकार कर ले तथा अपनी ओरसे कुछ भी चिन्तन न करे। यदि अपने-आप कोई चिन्तन आ जाय तो उससे न राग करे, न द्वेष करे; न राजी हो, न नाराज हो; न उसको अच्छा माने, न बुरा माने और न अपनेमें माने, चिन्तन करना नहीं है, पर चिन्तन हो जाय तो उसका कोई दोष नहीं है। अपने-आप हवा बहती है, सरदी-

गरमी आती है, वर्षा होती है तो उसका हमें कोई दोष नहीं लगता; क्योंकि उसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं है। दोष तो जड़तासे सम्बन्ध जोड़नेसे लगता है । अत: चिन्तन हो जाय तो उसकी उपेक्षा रखे, उसके साथ अपनेको मिलाये नहीं अर्थात् ऐसा न माने कि मैं चिन्तन करता हूँ और चिन्तन मेरेमें होता है। चिन्तन मनमें होता है और मनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

'**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा**' में 'मन' शब्द बुद्धिका वाचक है; क्योंकि चंचलता मनमें और स्थिरता बुद्धिमें होती है। अत: '**आत्मसंस्थम्**' कहनेका तात्पर्य है कि चंचलता न रहे, प्रत्युत स्थिरता रहे। जैसे 'यह अमुक गाँव है'—ऐसी मान्यता दृढ़ होनेसे इसका चिन्तन नहीं करना पड़ता, ऐसे ही 'परमात्मा हैं'—ऐसी मान्यता दृढ़ रहे तो फिर इसका चिन्तन नहीं करना पड़ेगा। जो स्वत:सिद्ध है, उसका चिन्तन क्या करें ? इसलिये आत्मचिन्तन करनेसे आत्मबोध नहीं होता; क्योंकि आत्मचिन्तन करनेसे चिन्तक रहता है और अनात्माकी सत्ता रहती है। अनात्माकी सत्ता मानेंगे, तभी तो अनात्माका त्याग और आत्माका चिन्तन करेंगे!

'**न किञ्चिदपि चिन्तयेत्**'—इसको 'चुप साधन', 'मूक सत्संग' और 'अचिन्त्यका ध्यान' भी कहते हैं। इसमें न तो स्थूलशरीरकी क्रिया है, न सूक्ष्मशरीरका चिन्तन है और न कारणशरीरकी स्थिरता है। इसमें इन्द्रियाँ भी चुप हैं, मन भी चुप है, बुद्धि भी चुप है अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिकी कोई क्रिया नहीं है। सभी चुप हैं, कोई बोलता नहीं! जो देखना था वह देख लिया, सुनना था वह सुन लिया, बोलना था वह बोल लिया, करना था वह कर लिया, अब कुछ भी देखने, सुनने, बोलने, करने आदिकी रुचि नहीं रही—ऐसा होनेपर ही 'चुप साधन' होता है। यह 'चुप साधन' समाधिसे भी ऊँचा है; क्योंकि इसमें बुद्धि और अहम्से सम्बन्ध-विच्छेद है। समाधिमें तो लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद—ये चार दोष (विघ्न) रहते हैं, पर चुप साधनमें ये दोष नहीं रहते। चुप साधन वृत्तिरहित है।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

अस्थिरम्	=(यह) अस्थिर (और)	**यतः, यतः**	=जहाँ-जहाँ	**एतत्**	=इसको
		निश्चरति	=विचरण करता है,	**आत्मनि**	=(एक) परमात्मामें
चञ्चलम्	=चंचल	**ततः, ततः**	=वहाँ-वहाँसे	**एव**	=ही
मनः	=मन	**नियम्य**	=हटाकर	**वशम्, नयेत्**	=भलीभाँति लगाये।

विशेष भाव—यदि पूर्वश्लोकके अनुसार चुप-साधन न कर सके तो मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर उसको एक परमात्मामें लगाये। मनको परमात्मामें लगानेका एक बहुत श्रेष्ठ साधन है कि मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँ-वहाँ परमात्माको ही देखे अथवा मनमें जो-जो चिन्तन आये, उसको परमात्माका ही स्वरूप समझे।

एक मार्मिक बात है कि जबतक साधक एक परमात्माकी सत्ताके सिवाय दूसरी सत्ता मानेगा, तबतक उसका मन सर्वथा निरुद्ध नहीं हो सकता। कारण कि जबतक अपनेमें दूसरी सत्ताकी मान्यता है,तबतक रागका सर्वथा नाश नहीं हो सकता और रागका सर्वथा नाश हुए बिना मन सर्वथा निर्विषय नहीं हो सकता। रागके रहते हुए मनका सीमित निरोध होता है, जिससे लौकिक सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है, वास्तविक तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। दूसरी सत्ताकी मान्यता रहते हुए जो मन निरुद्ध होता है, उसमें व्युत्थान होता है अर्थात् उसमें समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। कारण कि दूसरी सत्ता माने बिना दो अवस्थाएँ सम्भव ही नहीं हैं। अत: मनका सर्वथा निरोध दूसरी सत्ता न माननेसे ही होगा।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

अकल्मषम्	= जिसके सब पाप नष्ट हो गये हैं,	**प्रशान्तमनसम्**	= जिसका मन सर्वथा शान्त (निर्मल) हो गया है, (ऐसे)	**योगिनम्**	= योगीको
शान्तरजसम्	= जिसका रजोगुण शान्त हो गया है (तथा)	**एनम्**	= इस	**हि**	= निश्चित ही
		ब्रह्मभूतम्	= ब्रह्मरूप बने हुए	**उत्तमम्**	= उत्तम (सात्त्विक)
				सुखम्	= सुख
				उपैति	= प्राप्त होता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ २८॥

एवम्	= इस प्रकार		लगाता हुआ	**ब्रह्मसंस्पर्शम्**	= ब्रह्मप्राप्तिरूप
आत्मानम्	= अपने-आपको	**विगतकल्मषः**	= पापरहित	**अत्यन्तम्**	= अत्यन्त
सदा	= सदा	**योगी**	= योगी	**सुखम्**	= सुखका
युञ्जन्	= (परमात्मामें)	**सुखेन**	= सुखपूर्वक	**अश्नुते**	= अनुभव कर लेता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥

सर्वत्र	= सब जगह		अन्तःकरणवाला (सांख्ययोगी)	**ईक्षते**	= देखता है (और)
समदर्शनः	= अपने स्वरूपको देखनेवाला	**आत्मानम्**	= अपने स्वरूपको	**सर्वभूतानि**	= सम्पूर्ण प्राणियोंको
च	= और	**सर्वभूतस्थम्**	= सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित	**आत्मनि**	= अपने स्वरूपमें (देखता है)।
योगयुक्तात्मा	= ध्यानयोगसे युक्त				

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३०॥

यः	= जो (भक्त)	**मयि**	= मुझमें	**न, प्रणश्यामि**	= अदृश्य नहीं होता
सर्वत्र	= सबमें	**सर्वम्**	= सबको	**च**	= और
माम्	= मुझे	**पश्यति**	= देखता है,	**सः**	= वह
पश्यति	= देखता है	**तस्य**	= उसके लिये	**मे**	= मेरे लिये
च	= और	**अहम्**	= मैं	**न, प्रणश्यति**	= अदृश्य नहीं होता।

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें आत्मज्ञानकी बात कहकर अब भगवान् परमात्मज्ञानकी बात कहते हैं। ध्यानयोगके किसी साधकमें ज्ञानके संस्कार रहनेसे विवेककी मुख्यता रहती है और किसी साधकमें भक्तिके संस्कार रहनेसे श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता रहती है। अतः ज्ञानके संस्कारवाला ध्यानयोगी विवेकपूर्वक आत्माका अनुभव करता है—

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६ प्रूफ कापी : पहला
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक...

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' (गीता ६। २९) और भक्तिके संस्कारवाला ध्यानयोगी श्रद्धा-विश्वासपूर्वक परमात्माका अनुभव करता है—**'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'**।

'यो मां पश्यति सर्वत्र' पदोंका भाव है कि जो मेरेको दूसरोंमें भी देखता है और अपनेमें भी देखता है। **'सर्वं च मयि पश्यति'** पदोंका भाव है कि जो दूसरोंको भी मेरेमें देखता है और अपनेको भी मेरेमें देखता है।

जैसे सब जगह बर्फ-ही-बर्फ पड़ी हो तो बर्फ कैसे छिपेगी? बर्फके पीछे बर्फ रखनेपर भी बर्फ ही दीखेगी। ऐसे ही जब सब रूपोंमें एक भगवान् ही हैं तो फिर वे कैसे छिपें, कहाँ छिपें और किसके पीछे छिपें? क्योंकि एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं। परमात्मामें शरीर और शरीरी, सत् और असत्, जड़ और चेतन, ईश्वर और जगत्, सगुण और निर्गुण, साकार और निराकार आदि कोई विभाग है ही नहीं। उस एकमें ही अनेक विभाग हैं और अनेक विभागोंमें वह एक ही है। यह विवेक-विचारका विषय नहीं है, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासका विषय है। अतः 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इसको साधक श्रद्धा-विश्वासपूर्वक मान ले, स्वीकार कर ले। दृढ़तासे माननेपर फिर वैसा ही अनुभव हो जायगा।

साधक पहले परमात्माको दूर देखता है, फिर नजदीक देखता है, फिर अपनेमें देखता है, और फिर केवल परमात्माको ही देखता है। कर्मयोगी परमात्माको नजदीक देखता है, ज्ञानयोगी परमात्माको अपनेमें देखता है और भक्तियोगी सब जगह परमात्माको ही देखता है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ३१॥

एकत्वम्	= (मुझमें) एकीभावसे		प्राणियोंमें स्थित	**अपि**	= भी
आस्थितः	= स्थित हुआ	**माम्**	= मेरा	**मयि**	= मुझमें (ही)
यः	= जो	**भजति**	= भजन करता है,	**वर्तते**	= बर्ताव कर रहा है अर्थात् वह नित्य-निरन्तर मुझमें ही स्थित है।
योगी	= भक्तियोगी	**सः**	= वह		
सर्वभूतस्थितम्	= सम्पूर्ण	**सर्वथा**	= सब कुछ		
		वर्तमानः	= बर्ताव करता हुआ		

विशेष भाव— भक्त सम्पूर्ण जगत्को परमात्माका ही स्वरूप देखता है। उसकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय और किसीकी सत्ता नहीं रहती। उसके लिये द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—तीनों ही परमात्मस्वरूप हो जाते हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)। इसलिये जैसे गङ्गाजलसे गङ्गाका पूजन किया जाय, ऐसे ही उस भक्तका सब बर्ताव परमात्मामें ही होता है। जैसे शरीरमें तादात्म्यवाला व्यक्ति सब क्रिया करते हुए शरीरमें ही रहता है, ऐसे ही भक्त सब क्रिया करते हुए भी परमात्मामें ही रहता है।

आगे तेरहवें अध्यायमें भगवान्ने ज्ञानयोगीके लिये कहा है—**'सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते'** (१३। २३) और यहाँ भक्तके लिये कहा है—**'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते'**। तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञानमार्गमें तो जन्म-मरण मिट जाता है, मुक्ति हो जाती है,पर भक्तिमार्गमें जन्म-मरण मिटकर भगवान्से अभिन्नता होती है, आत्मीयता होती है। इसी भावको गीतामें इस प्रकार भी कहा गया है—**'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति'** (६। ३०), **'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'** (७। १७), **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (७। १८), **'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्'** (९। २९)। ज्ञानमार्गमें तो सूक्ष्म अहम्की गन्ध रहनेसे दार्शनिक मतभेद रह सकता है, पर भक्तिमार्गमें भगवान्से आत्मीयता होनेपर सूक्ष्म अहम्की गन्ध तथा उससे होनेवाला दार्शनिक मतभेद नहीं रहता। **'न स भूयोऽभिजायते'** में स्वरूपमें स्थितिका अनुभव होनेपर केवल स्वयं (स्वरूप) रहता है और **'स योगी मयि वर्तते'** में केवल भगवान् रहते हैं, स्वयं (योगी) नहीं रहता अर्थात् स्वयं योगीरूप नहीं रहता, प्रत्युत भगवत्स्वरूप रहता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ३२॥

अर्जुन	=हे अर्जुन!	**समम्**	=समान		(भी समान देखता है),
यः	=जो (भक्त)	**पश्यति**	=देखता है	**सः**	=वह
आत्मौपम्येन	=अपने शरीरकी उपमासे	**वा**	=और	**परमः**	=परम
सर्वत्र	=सब जगह (मुझे)	**सुखम्**	=सुख	**योगी**	=योगी
		यदि, वा	=अथवा	**मतः**	=माना गया है।
		दुःखम्	=दुःखको		

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें **'स योगी मयि वर्तते'** (वह मेरेमें ही बर्ताव कर रहा है) कहकर अब भगवान् बताते हैं कि वह कैसे बर्ताव करता है? जैसे साधारण मनुष्य शरीरमें अपनेको देखता है, शरीरके किसी भी अंगकी पीड़ा न चाहकर, किसी भी अंगसे द्वेष न करके सब अंगोंको समानरूपसे अपना मानता है, ऐसे ही भक्त सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपने अंशी भगवान्को देखता है और सबका दुःख दूर करने तथा सुख पहुँचानेकी समानरूपसे स्वाभाविक चेष्टा करता है। वह वस्तु, योग्यता और सामर्थ्यको अपनी न मानकर भगवान्की मानता है। जैसे गङ्गाजलसे गङ्गाका पूजन किया जाय, दीपकसे सूर्यका पूजन किया जाय, ऐसे ही भक्त भगवान्की वस्तुको भगवान्की सेवामें अर्पित करता है—**'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'।**

जैसे शरीरके सब अंगोंसे यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी उनमें आत्मबुद्धि एक ही रहती है तथा उन अंगोंकी पीड़ा दूर करने तथा उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा भी समान ही रहती है, ऐसे ही 'जैसा देव, वैसी पूजा' के अनुसार ब्राह्मण और चाण्डाल, साधु और कसाई, गाय और कुत्ता आदि सबसे शास्त्रमर्यादाके अनुसार यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी भक्तकी भगवद्बुद्धिमें तथा उनका दुःख दूर करने और उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टामें कोई अन्तर नहीं आता।

जैसे भक्त सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्माके साथ भगवान्की एकता मानता है (गीता ६। ३१), ऐसे ही वह सब शरीरोंकी भी अपने शरीरके साथ एकता मानता है। इसलिये वह दूसरेके दुःखसे दुःखी और सुखसे सुखी होता है—***'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर'*** (मानस, उत्तर० ३८। १)। वह अपने शरीरके सुख-दुःखकी तरह सबके सुख-दुःखको अपना ही सुख-दुःख समझता है। दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेका तात्पर्य खुद दुःखी होना नहीं है, प्रत्युत दूसरेका दुःख दूर करनेकी चेष्टा करना है। इसी तरह खुद सुखी होनेके लिये दूसरेका दुःख दूर नहीं करना है, प्रत्युत करुणा करके दूसरेको सुखी करनेकी चेष्टा करना है। तात्पर्य है कि खुद सुखका भोग नहीं करना है, प्रत्युत 'दूसरेका दुःख दूर हो गया, वह सुखी हो गया'—इसको लेकर प्रसन्न होना है।

आँख और पैरका भेद इतना है कि आँखोंसे देखते हैं और पैरोंसे चलते हैं; आँख ज्ञानेन्द्रिय है और पैर कर्मेन्द्रिय है। इतना भेद होते हुए भी अभिन्नता इतनी है कि काँटा पैरमें लगता है, आँसू आँखोंमें आ जाते हैं और मिट्टी आँखमें पड़ती है, लड़खड़ाते पैर हैं! तात्पर्य है कि हम शरीरको संसारसे और संसारको शरीरसे अलग नहीं कर सकते। इसलिये अगर हम शरीरकी परवाह करते हैं तो वैसे ही संसारकी भी परवाह करें और अगर संसारकी बेपरवाह करते हैं तो वैसे ही शरीरकी भी बेपरवाह करें। दोनों बातोंमें चाहे कोई मान लें, इसीमें ईमानदारी है!

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल
पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
प्रूफ कापी : पहला
पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक..

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ३३॥

अर्जुन बोले—

मधुसूदन	=हे मधुसूदन!	**योगः**	=योग	**एतस्य**	=इस योगकी
त्वया	=आपने	**प्रोक्तः**	=कहा है,	**स्थिराम्**	=स्थिर
साम्येन	=समतापूर्वक	**चञ्चलत्वात्**	=(मनकी) चंचलताके कारण	**स्थितिम्**	=स्थिति
यः	=जो			**न**	=नहीं
अयम्	=यह	**अहम्**	=मैं	**पश्यामि**	=देखता हूँ।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

हि	=कारण कि	**दृढम्**	=दृढ़ (जिद्दी)		स्थित)
कृष्ण	=हे कृष्ण!	**बलवत्**	=(और) बलवान् है।	**वायोः**	=वायुकी
मनः	=मन			**इव**	=तरह
चञ्चलम्	=(बड़ा ही) चंचल,	**तस्य**	=उसको	**सुदुष्करम्**	=अत्यन्त कठिन
		निग्रहम्	=रोकना		
प्रमाथि	=प्रमथनशील,	**अहम्**	=मैं (आकाशमें	**मन्ये**	=मानता हूँ।

विशेष भाव—भगवान्ने उन्तीसवें श्लोकमें स्वरूपका ध्यान करनेवाले साधकका अनुभव बताया और तीसवेंसे बत्तीसवें श्लोकोंमें सगुण-साकार भगवान्का ध्यान करनेवाले साधकका अनुभव बताया। इन श्लोकोंमें भगवान्का आशय यह था कि सबमें आत्मदर्शन अथवा सबमें भगवद्दर्शन करना ही ध्यानयोगका अन्तिम फल है। ज्ञानके संस्कारवाले ध्यानयोगी सबमें आत्माको और भक्तिके संस्कारवाले ध्यानयोगी सबमें भगवान्को देखते हैं। सबमें आत्माको देखना 'आत्मज्ञान' है और सबमें भगवान्को देखना 'परमात्मज्ञान' है। आत्मज्ञानमें विवेककी और परमात्मज्ञानमें श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता है, मनकी स्थिरताकी मुख्यता नहीं है। परन्तु अर्जुनके भीतर दसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतक कहे ध्यानयोगका संस्कार बैठा था; अतः उन्होंने आत्मज्ञान अथवा परमात्मज्ञान न होनेमें मनकी चंचलताको हेतु मान लिया। उनकी दृष्टि ध्यानयोगीके भीतरके ज्ञान या भक्तिके संस्कारकी तरफ नहीं गयी, प्रत्युत मनकी चंचलताकी तरफ गयी। अतः उन्होंने मनकी चंचलताको बाधक मान लिया।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥

श्रीभगवान् बोले—

महाबाहो	=हे महाबाहो!		भी बड़ा कठिन है—	**अभ्यासेन**	=अभ्यास
मनः	=यह मन	**असंशयम्**	=यह तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है।	**च**	=और
चलम्	=बड़ा चंचल है (और)			**वैराग्येण**	=वैराग्यके द्वारा
		तु	=परन्तु	**गृह्यते**	=(इसका) निग्रह किया जाता है।
दुर्निग्रहम्	=इसका निग्रह करना	**कौन्तेय**	=हे कुन्तीनन्दन!		

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

असंयतात्मना	=जिसका मन पूरा	**तु**	=परन्तु		साधकको
	वशमें नहीं है,	**उपायतः**	=उपायपूर्वक	**अवाप्तुम्**	=(योग) प्राप्त हो
	उसके द्वारा	**यतता**	=यत्न करनेवाले	**शक्यः**	=सकता है,
योगः	=योग		(तथा)	**इति**	=ऐसा
दुष्प्रापः	=प्राप्त होना	**वश्यात्मना**	=वशमें किये हुए	**मे**	=मेरा
	कठिन है।		मनवाले	**मतिः**	=मत है।

विशेष भाव—वास्तवमें ध्यानयोगकी सिद्धिके लिये मनका निग्रह करना उतना आवश्यक नहीं है, जितना उसको वशमें करना अर्थात् शुद्ध करना आवश्यक है। शुद्ध करनेका तात्पर्य है—मनमें विषयोंका राग न रहना। जिसने अपने मनको शुद्ध कर लिया है, उसका ध्यानयोग प्रयत्न करनेपर सिद्ध हो जाता है।

भगवान्‌ने इकतीसवें श्लोकमें '**सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः**' पदोंसे जो बात कही थी, उसमें मुख्य बाधा है—भगवद्बुद्धि न होना और बत्तीसवें श्लोकमें '**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन**' पदोंसे जो बात कही थी, उसमें मुख्य बाधा है—राग-द्वेष होना। परन्तु अर्जुनने भूलसे मनकी चंचलताको बाधक समझ लिया! वास्तवमें मनकी चंचलता बाधक नहीं है, प्रत्युत सबमें भगवद्बुद्धि न होना और राग-द्वेष होना बाधक है। जबतक राग-द्वेष रहते हैं, तबतक सबमें भगवद्बुद्धि नहीं होती और जबतक सबमें भगवद्बुद्धि नहीं होती अर्थात् भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ताकी मान्यता रहती है, तबतक मनका सर्वथा निरोध नहीं होता।

वृत्तिका निरोध करनेसे वृत्तिकी सत्ता आती है; क्योंकि वृत्तिकी सत्ता स्वीकार की है, तभी तो निरोध करते हैं। स्वरूपमें कोई वृत्ति नहीं है। अतः वृत्तिका निरोध करनेसे कुछ कालके लिये मनका निरोध होगा, फिर व्युत्थान हो जायगा। अगर दूसरी सत्ताकी मान्यता ही न रहे, तो फिर व्युत्थानका प्रश्न ही पैदा नहीं होगा। कारण कि दूसरी सत्ता न हो तो मन है ही नहीं!

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ ३७॥

अर्जुन बोले—

कृष्ण	=हे कृष्ण!		अन्त समयमें अगर)		योगसिद्धिको
श्रद्धया, उपेतः	= जिसकी साधनमें	**योगात्**	=योगसे	**अप्राप्य**	=प्राप्त न करके
	श्रद्धा है,	**चलितमानसः**	=विचलितमना	**काम्**	=किस
अयतिः	=पर जिसका प्रयत्न		हो जाय (तो)	**गतिम्**	=गतिको
	शिथिल है, (वह	**योगसंसिद्धिम्**	=(वह)	**गच्छति**	=चला जाता है?

विशेष भाव—करणसापेक्ष साधनमें मनको साथ लेकर स्वरूपमें स्थिति होती है—'**यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते**' (गीता ६। १८)। अतः मनके साथ सम्बन्ध रहनेसे विचलितमना होकर योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है। करणको अपना माननेसे ही करणसापेक्ष साधन होता है। ध्यानयोगी मन (करण) को अपना मानकर उसको परमात्मामें लगाता है। मन लगानेसे ही वह योगभ्रष्ट होता है। अतः योगभ्रष्ट होनेमें करणसापेक्षता कारण है। यह करणसापेक्षता कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही साधनोंमें नहीं है।

ध्यानयोगीका पुनर्जन्म होता है—मनके विचलित होनेसे अर्थात् अपने साधनसे भ्रष्ट होनेसे, पर कर्मयोगी अथवा

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल
पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
प्रूफ कापी : पहला
पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक..

ज्ञानयोगीका पुनर्जन्म होता है—सांसारिक आसक्ति रहनेसे। भक्तियोगमें भगवान्‌का आश्रय रहनेसे भगवान् अपने भक्तकी विशेष रक्षा करते हैं—'**योगक्षेमं वहाम्यहम्**' (गीता ९। २२), '**मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि**' (गीता १८। ५८)।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ ३८॥

महाबाहो	=हे महाबाहो!	**विमूढः**	=मोहित अर्थात् विचलित	**कच्चित्**	=क्या
अप्रतिष्ठः	=संसारके आश्रयसे रहित (और)	**उभयविभ्रष्टः**	=(—इस तरह) दोनों ओरसे भ्रष्ट हुआ साधक	**छिन्नाभ्रम्**	=छिन्न-भिन्न बादलकी
ब्रह्मणः	=परमात्मप्राप्तिके			**इव**	=तरह
पथि	=मार्गमें			**न, नश्यति**	=नष्ट तो नहीं हो जाता?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ ३९॥

कृष्ण	=हे कृष्ण!	**छेत्तुम्**	=छेदन करनेके लिये	**छेत्ता**	=छेदन करनेवाला
मे	=मेरे	**अर्हसि**	=(आप ही) योग्य हैं;	**त्वदन्यः**	=आपके सिवाय दूसरा
एतत्	=इस	**हि**	=क्योंकि		
संशयम्	=सन्देहका	**अस्य**	=इस	**न, उपपद्यते**	=कोई हो नहीं सकता।
अशेषतः	=सर्वथा	**संशयस्य**	=संशयका		

विशेष भाव—अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णकी भगवत्तापर विश्वास था, तभी यहाँ वे योगभ्रष्टकी गतिके विषयमें प्रश्न करते हैं और कहते हैं कि इस बातको आपके सिवाय दूसरा कोई बता नहीं सकता। भगवान् श्रीकृष्णकी भगवत्तापर विश्वास होनेके कारण ही उन्होंने एक अक्षौहिणी सशस्त्र नारायणी सेनाको छोड़कर निःशस्त्र भगवान्‌को ही स्वीकार किया था!

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥ ४०॥

श्रीभगवान् बोले—

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**एव**	=ही		काम करनेवाला
तस्य	=उसका	**विनाशः**	=विनाश		
न	=न तो	**विद्यते**	=होता है;	**कश्चित्**	=कोई भी मनुष्य
इह	=इस लोकमें (और)	**हि**	=क्योंकि	**दुर्गतिम्**	=दुर्गतिको
न	=न	**तात**	=हे प्यारे!	**न**	=नहीं
अमुत्र	=परलोकमें	**कल्याणकृत्**	=कल्याणकारी	**गच्छति**	=जाता।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ ४१॥

योगभ्रष्टः	=(वह) योगभ्रष्ट	**प्राप्य**	=प्राप्त होकर (और)	**शुचीनाम्**	=शुद्ध (ममता-रहित)
पुण्यकृताम्	=पुण्यकर्म करनेवालोंके	**शाश्वतीः**	=(वहाँ) बहुत	**श्रीमताम्**	=श्रीमानोंके
		समाः	=वर्षोंतक	**गेहे**	=घरमें
लोकान्	=लोकोंको	**उषित्वा**	=रहकर (फिर यहाँ)	**अभिजायते**	=जन्म लेता है।

~~~~~~

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ ४२॥

अथवा	=अथवा (वैराग्यवान् योगभ्रष्ट)	**एव**	=ही	**जन्म**	=जन्म है, (यह)
		भवति	=जन्म लेता है।	**लोके**	=संसारमें
धीमताम्	=ज्ञानवान्	**ईदृशम्**	=इस प्रकारका	**हि**	=निःसन्देह
योगिनाम्	=योगियोंके	**यत्**	=जो	**दुर्लभतरम्**	=बहुत ही दुर्लभ है।
कुले	=कुलमें	**एतत्**	=यह		

~~~~~~

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ ४३॥

कुरुनन्दन	=हे कुरुनन्दन!	**बुद्धिसंयोगम्**	=साधन-सम्पत्ति (अनायास ही)	**ततः**	=उससे (वह)
तत्र	=वहाँपर			**संसिद्धौ**	=साधनकी सिद्धिके विषयमें
तम्	=उसको	**लभते**	=प्राप्त हो जाती है।		
पौर्वदेहिकम्	=पहले मनुष्यजन्मकी			**भूयः**	=पुनः (विशेषतासे)
		च	=फिर	**यतते**	=यत्न करता है।

विशेष भाव—पारमार्थिक उन्नति 'स्व' की है और सांसारिक उन्नति 'पर' की है। इसलिये सांसारिक पूँजी तो नष्ट हो जाती है, पर पारमार्थिक पूँजी (साधन) योगभ्रष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होती। पारमार्थिक उन्नति ढक सकती है, पर मिटती नहीं और समय पाकर प्रकट हो जाती है।

पूर्वजन्ममें किये साधनके जो संस्कार बुद्धिमें बैठे हुए हैं, उनको यहाँ 'बुद्धिसंयोग' कहा गया है।

~~~~~~

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ ४४॥

सः	=वह (श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट मनुष्य)		होता हुआ		(साधन)के कारण
		अपि	=भी	**एव**	=ही
		तेन	=उस	**ह्रियते**	=(परमात्माकी तरफ) खिंच जाता है;
अवशः	=(भोगोंके) परवश	**पूर्वाभ्यासेन**	=पहले मनुष्यजन्ममें किये हुए अभ्यास		

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल　　पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६　　प्रूफ कापी : पहला
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल　　पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक...
~~~~~~

हि	= क्योंकि	**जिज्ञासुः**	= जिज्ञासु		सकाम कर्मोंका
योगस्य	= योग (समता)का	**अपि**	= भी	**अतिवर्तते**	= अतिक्रमण कर जाता है।
		शब्दब्रह्म	= वेदोंमें कहे हुए		

विशेष भाव—सांसारिक पुण्य तो पापकी अपेक्षासे (द्वन्द्ववाला) है, पर भगवान्‌के सम्बन्ध (सत्संग, भजन आदि)से होनेवाला पुण्य (योग्यता, सामर्थ्य) विलक्षण है। इसलिये सांसारिक पुण्य मनुष्यको भगवान्‌में नहीं लगाता, पर भगवत्सम्बन्धी पुण्य मनुष्यको भगवान्‌में ही लगाता है। यह पुण्य फल देकर नष्ट नहीं होता (गीता २। ४०)। सांसारिक कामनाओंका त्याग करना और भगवान्‌की तरफ लगना—दोनों ही भगवत्सम्बन्धी पुण्य हैं।

'**पूर्वाभ्यासेन तेनैव**' पदोंका तात्पर्य है कि वर्तमान जन्ममें सत्संग, सच्चर्चा आदि न होनेपर भी केवल पूर्वाभ्यासके कारण वह परमात्मामें लग जाता है। इस पूर्वाभ्यासमें क्रिया (प्रवृत्ति) नहीं है, प्रत्युत गति है*। '**जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते**' में भी क्रियावाला अभ्यास न होकर गतिवाला अभ्यास है। तात्पर्य है कि इस अभ्यासमें प्रयत्न भी नहीं है और कर्तृत्व भी नहीं है, पर गति है। गतिमें स्वतः परमात्माकी ओर खींचनेकी शक्ति है। क्रियावाला अभ्यास किया जाता है और गतिवाला अभ्यास स्वतः होता है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ ४५॥

तु	= परन्तु	**संशुद्धकिल्बिषः**	= जिसके पाप नष्ट हो गये हैं (तथा)		है, वह योगी
योगी	= जो योगी			**ततः**	= फिर
प्रयत्नात्	= प्रयत्नपूर्वक			**पराम्**	= परम
यतमानः	= यत्न करता है (और)	**अनेकजन्मसंसिद्धः**	= जो अनेक जन्मोंसे सिद्ध हुआ	**गतिम्**	= गतिको
				याति	= प्राप्त हो जाता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ ४६॥

तपस्विभ्यः	= (सकामभाववाले) तपस्वियोंसे (भी)	**अपि**	= भी	**मतः**	= (ऐसा मेरा) मत है।
		अधिकः	= (योगी) श्रेष्ठ है		
		च	= और	**तस्मात्**	= अतः
योगी	= योगी	**कर्मिभ्यः**	= कर्मियोंसे भी	**अर्जुन**	= हे अर्जुन! (तू)
अधिकः	= श्रेष्ठ है,	**योगी**	= योगी	**योगी**	= योगी
ज्ञानिभ्यः	= ज्ञानियोंसे	**अधिकः**	= श्रेष्ठ है—	**भव**	= हो जा।

विशेष भाव—भोगीका विभाग अलग है और योगीका विभाग अलग है। भोगी योगी नहीं होता और योगी भोगी नहीं होता। जिनमें सकामभाव होता है, वे भोगी होते हैं और जिनमें निष्कामभाव होता है, वे योगी होते हैं। इसलिये सकामभाववाले तपस्वी, ज्ञानी और कर्मीसे भी निष्कामभाववाला योगी श्रेष्ठ है।

* गति और प्रवृत्तिका भेद जाननेके लिये पन्द्रहवें अध्यायके छठे श्लोककी परिशिष्टव्याख्या देखनी चाहिये।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ४७॥

सर्वेषाम्	= सम्पूर्ण	**मद्गतेन**	= मुझमें तल्लीन हुए	**सः**	= वह
योगिनाम्	= योगियोंमें			**मे**	= मेरे
अपि	= भी	**अन्तरात्मना**	= मनसे	**मतः**	= मतमें
यः	= जो	**माम्**	= मेरा	**युक्ततमः**	= सर्वश्रेष्ठ योगी है।
श्रद्धावान्	= श्रद्धावान् भक्त	**भजते**	= भजन करता है,		

विशेष भाव—मनुष्यकी स्थिति वहीं होती है, जहाँ उसके मन-बुद्धि होते हैं (गीता १२। ८)। यहाँ '**मद्गतेनान्तरात्मना**' में भक्तका मन भगवान्‌में लगा है और '**श्रद्धावान्**' में उसकी बुद्धि भगवान्‌में लगी है। अतः भगवान्‌में गाढ़ आत्मीयता होनेसे ऐसा भक्त भगवान्‌में ही स्थित है।

कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, हठयोगी, लययोगी, राजयोगी आदि जितने भी योगी हो सकते हैं, उन सब योगियोंमें भगवान्‌का भक्त सर्वश्रेष्ठ है। अपने भक्तके विषयमें ऐसी बात भगवान्‌ने और जगह भी कही है; जैसे—'**ते मे युक्ततमा मताः**' (१२। २), '**भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः**' (१२। २०), '**स योगी परमो मतः**' (६। ३२)।

परमात्मप्राप्तिके सभी साधनोंमें भक्ति मुख्य है। इतना ही नहीं सभी साधनोंका अन्त भक्तिमें ही होता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि तो साधन हैं, पर भक्ति साध्य है। भक्ति इतनी व्यापक है कि वह प्रत्येक साधनके आदिमें भी है और अन्तमें भी है। भक्ति प्रत्येक साधनके आरम्भमें पारमार्थिक आकर्षणके रूपमें रहती है; क्योंकि परमात्मामें आकर्षण हुए बिना कोई मनुष्य साधनमें लग ही नहीं सकता। साधनके अन्तमें भक्ति प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमके रूपमें रहती है—'**मद्भक्तिं लभते पराम्**' (गीता १८। ५४)। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें अन्य सब धर्मोंकी अपेक्षा भगवद्भक्ति-विषयक धर्मको श्रेष्ठ बताया गया है—'**अतस्त्वितरज्यायो लिङ्गाच्च**' (३। ४। ३९)।

प्रस्तुत श्लोकसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं और उनकी भक्ति अलौकिक है! उस भक्तिकी प्राप्तिमें ही मानवजीवनकी पूर्णता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल
पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
प्रूफ कापी : पहला
पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक...

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः
(सातवाँ अध्याय)

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**युञ्जन्**	= अभ्यास करता हुआ	**यथा**	= जिस प्रकारसे
मयि	= मुझमें			**ज्ञास्यसि**	= जानेगा,
आसक्तमनाः	= आसक्त मनवाला,	**माम्**	= (तू) मेरे	**तत्**	= उसको (उसी प्रकारसे)
मदाश्रयः	= मेरे आश्रित होकर	**समग्रम्**	= (जिस) समग्ररूपको		
योगम्	= योगका	**असंशयम्**	= निःसन्देह	**शृणु**	= सुन।

विशेष भाव—जिसका मन स्वाभाविक ही भगवान्‌की तरफ खिंच गया है, जो सर्वथा भगवान्‌के आश्रित हो गया है और जिसने भगवान्‌के साथ अपने स्वतःसिद्ध नित्ययोग (आत्मीय सम्बन्ध) को स्वीकार कर लिया है, वह भक्त भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है। सब कुछ भगवान् ही हैं—यह भगवान्‌का समग्ररूप है।

'**मय्यासक्तमनाः**' में प्रेमकी और '**मदाश्रयः**' में श्रद्धाकी मुख्यता है।

'**समग्रं माम्**'—इसमें '**समग्रम्**' (समग्ररूप) विशेषण है और '**माम्**' (भगवान्) विशेष्य हैं। भक्तका सम्बन्ध विशेषणके साथ न होकर विशेष्यके साथ होता है।

छठे अध्यायके अन्तमें '**श्रद्धावान्भजते यो माम्**' पदोंमें आये '**माम्**' का क्या स्वरूप है—इसको भगवान् यहाँ बताते हैं कि वह '**माम्**' मेरा समग्ररूप है।

'**यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु**'—उस समग्ररूपका वर्णन मैं इस प्रकार, ढंग, युक्ति, शैलीसे करूँगा, जिससे तू मेरेको सुगमतापूर्वक यथार्थरूपसे जान लेगा।

अर्जुनने पिछले अध्यायमें अपना संशय प्रकट किया था—'**एतन्मे संशयं कृष्ण०**' (६। ३९), इसलिये भगवान् कहते हैं कि अब मैं वही बात कहूँगा, जिससे कोई संशय बाकी न रहे।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २॥

ते	= तेरे लिये	**अशेषतः**	= सम्पूर्णतासे	**इह**	= इस विषयमें
अहम्	= मैं	**वक्ष्यामि**	= कहूँगा,	**ज्ञातव्यम्**	= जाननेयोग्य
इदम्	= यह	**यत्**	= जिसको	**अन्यत्**	= अन्य (कुछ भी)
सविज्ञानम्	= विज्ञानसहित	**ज्ञात्वा**	= जाननेके बाद	**न, अवशिष्यते**	= शेष नहीं रहेगा।
ज्ञानम्	= ज्ञान	**भूयः**	= फिर		

विशेष भाव—परा तथा अपरा प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—यह 'ज्ञान' है और परा-अपरा सब कुछ भगवान् ही हैं—यह 'विज्ञान' है। अतः अहम्-सहित सब कुछ भगवान् ही हैं—यही विज्ञानसहित ज्ञान है।

'ज्ञातव्यम्'—जिसको अवश्य जानना चाहिये और जो जाना जा सकता है, उसको 'ज्ञातव्य' कहते हैं।

विज्ञानसहित ज्ञानको अर्थात् भगवान्के समग्ररूपको जाननेके बाद फिर जाननेयोग्य कुछ भी शेष नहीं रहता अर्थात् जो यथार्थ तत्त्व जानना चाहता है, उसके लिये जानना कुछ भी बाकी नहीं रहता। कारण कि जब एक भगवान्के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ है ही नहीं (गीता ७। ७), तो फिर जाननेयोग्य क्या बाकी रहेगा?

यहाँ कोई कह सकता है कि 'विज्ञानसहित ज्ञान' कहनेसे ज्ञानकी मुख्यता और विज्ञानकी गौणता हुई? परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। केवल 'ज्ञान' से मुक्ति तो हो जाती है, पर प्रेमका अनन्त आनन्द तभी मिलता है, जब उसके साथ विज्ञान भी हो। 'ज्ञान' धनकी तरह है और 'विज्ञान' आकर्षण है। जैसे धनके आकर्षणमें जो सुख है, वह धनमें नहीं है, ऐसे ही 'विज्ञान' (भक्ति) में जो आनन्द है, वह 'ज्ञान' में नहीं है। 'ज्ञान' में तो अखण्डरस है, पर 'विज्ञान' में प्रतिक्षण वर्धमान रस है। इसलिये 'विज्ञानसहित ज्ञान' कहनेमें भगवान्का लक्ष्य मुख्यरूपसे 'विज्ञान' की तरफ ही है और उसीको भगवान् श्रेष्ठ बताना चाहते हैं; क्योंकि 'विज्ञान' समग्रताका वाचक है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥

सहस्रेषु	=हजारों	**यतति**	=यत्न करता है (और)	**कश्चित्**	=कोई (एक)
मनुष्याणाम्	=मनुष्योंमें	**यतताम्**	=(उन) यत्न करनेवाले	**अपि**	=ही
कश्चित्	=कोई (एक)			**माम्**	=मुझे
सिद्धये	=सिद्धि (कल्याण) के लिये	**सिद्धानाम्**	=सिद्धों (मुक्त-पुरुषों) में	**तत्त्वतः**	=यथार्थरूपसे
				वेत्ति	=जानता है।

विशेष भाव—कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि जितने साधन हैं, उन साधनोंसे (यत्न करते हुए) जो सिद्ध हो चुके हैं, ऐसे जीवन्मुक्त ज्ञानी महापुरुषोंमें भी 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस प्रकार भगवान्के समग्ररूपको यथार्थरूपसे अनुभव करनेवाले प्रेमी भक्त दुर्लभ हैं* (गीता ७। १९)।

'यततामपि सिद्धानाम्'—वे सिद्ध अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष अपनी स्थिति (मुक्तावस्था) से असन्तुष्ट हैं और उनके भीतर परमप्रेम (अनन्तरस) को प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा है, भूख है। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें आया है—**'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्'** (१। ३। २) 'उस प्रेमस्वरूप भगवान्को मुक्त पुरुषोंके लिये भी प्राप्तव्य बताया गया है'। कारण यह है कि मुक्त होनेपर नाशवान् रसकी कामना तो मिट जाती है, पर अनन्तरसकी भूख नहीं मिटती। वह भूख भगवान्की कृपासे ही जाग्रत् होती है। तात्पर्य है कि जो भगवान्पर श्रद्धा-विश्वास रखते हुए साधन करते हैं, जिनके भीतर भक्तिके संस्कार हैं, उनको भगवान् ज्ञानमें सन्तुष्ट नहीं होने देते, उसमें टिकने नहीं देते और उनकी मुक्तिके रसको फीका कर देते हैं।

सिद्ध (मुक्त) तो कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी आदि सभी हो सकते हैं, पर भगवान्के समग्ररूपको जाननेवाले सब नहीं होते। अतः **'यततामपि सिद्धानाम्'** पदोंका तात्पर्य है कि वे यत्न करते हुए अपनी पद्धतिसे सिद्ध तो हो गये, पर मेरे समग्ररूपको नहीं जान सके! कारण कि मेरे समग्ररूपको पराभक्तिसे ही जाना जा सकता है—

* **धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥**
सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥
(मानस, उत्तर० ५४। ३-४)

'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः' (गीता १८। ५५)।

'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः'—यहाँ **'माम्'** पद समग्र परमात्माका वाचक है। भगवान्‌के समग्ररूपको भगवान्‌की कृपासे ही जाना जा सकता है, विचारसे नहीं (गीता १०। ११)। अर्जुनने भी गीता सुननेके बाद भगवान्‌से कहा है कि आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और स्मृति प्राप्त हो गयी—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत'** (१८। ७३)। जैसे दूध पिलाते समय गाय अपने बछड़ेको स्नेहपूर्वक चाटती है तो उससे बछड़ेकी जो पुष्टि होती है, वह केवल दूध पीनेसे नहीं होती। ऐसे ही भगवान्‌की कृपासे जो ज्ञान होता है, वह अपने विचारसे नहीं होता; क्योंकि विचार करनेमें स्वयंकी सत्ता रहती है।

केवल निर्गुणको जाननेवाला परमात्माको तत्त्वसे नहीं जानता, प्रत्युत सगुण-निर्गुण दोनोंको (समग्रको) जाननेवाला ही परमात्माको तत्त्वसे जानता है।

कर्मयोगसे 'शान्त आनन्द' (शान्ति) की प्राप्ति होती है, क्योंकि संसारके साथ सम्बन्ध होनेसे ही अशान्ति होती है। कर्मयोगसे संसारका सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे शान्ति प्राप्त हो जाती है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२)। ज्ञानयोगसे 'अखण्ड आनन्द' की प्राप्ति होती है। अखण्ड आनन्दको 'निजानन्द' भी कहते हैं; क्योंकि यह अपने स्वरूपका आनन्द है। निजानन्दमें जीवका ब्रह्मके साथ साधर्म्य हो जाता है अर्थात् जैसे ब्रह्म सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है, ऐसे ही जीव भी सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हो जाता है—**'मम साधर्म्यमागताः'** (गीता १४। २)। यद्यपि निजानन्दकी प्राप्ति होनेपर साधकमें कोई कमी नहीं रहती, फिर भी जिसके भीतर भक्तिके संस्कार हैं और भगवान्‌की कृपाका आश्रय है, उसको निजानन्दमें सन्तोष नहीं होता*। उसके भीतर 'अनन्त आनन्द' की भूख रहती है। अतः भक्तियोगसे 'अनन्त आनन्द' की प्राप्ति होती है। निजानन्द तो अंश (स्वरूप) का आनन्द है, पर अनन्त आनन्द अंशी (भगवान्) का आनन्द है। यह सिद्धान्त है कि वस्तुके आकर्षणमें जो सुख होता है, वह सुख वस्तुके ज्ञानमें नहीं होता। जैसे, रुपयोंके लोभमें जो सुख मिलता है, वह रुपयोंका ज्ञान होनेसे नहीं मिलता। रुपयोंका ज्ञान होनेसे उनका उपयोग करना तो आ जायगा, पर विशेष आकर्षण नहीं होगा। 'और मिले, और मिले'—यह आकर्षण तो लोभ होनेसे ही होगा। रुपयोंका सुख तो लोभरूप दोषके कारण दीखता है, वास्तवमें है नहीं, पर भगवान्‌का आनन्द निर्दोष प्रेमके कारण है, जो वास्तवमें है। कारण कि भगवान्‌का ही अंश होनेसे जीवमें अंशी (भगवान्) का आकर्षण स्वतः है। यह सिद्धान्त है कि अंशका अंशीकी तरफ स्वतः आकर्षण होता है; जैसे—पृथ्वीका अंश होनेसे ऊपर फेंका गया पत्थर स्वतः पृथ्वीकी तरफ खिंचता है, अग्नि स्वतः सूर्यकी तरफ (ऊपर) खिंचती है†, नदियाँ स्वतः समुद्रकी तरफ खिंचती हैं, आदि।

हमें भगवान्‌की आवश्यकता क्यों है?—इसपर विचार करें तो मालूम होता है कि हमारी कोई ऐसी आवश्यकता है, जिसको हम न तो अपने द्वारा पूरी कर सकते हैं और न संसारके द्वारा ही पूरी कर सकते हैं। दुःखोंका नाश करनेके लिये और परमशान्तिको प्राप्त करनेके लिये हमें भगवान्‌की आवश्यकता नहीं है। कारण कि अगर हम कामनाओंका सर्वथा त्याग कर दें तो स्वतः हमारे दुःखोंका नाश होकर परमशान्तिकी प्राप्ति हो जायगी—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** अर्थात् हम मुक्त हो जायँगे। हमें परमप्रेमकी प्राप्तिके लिये ही भगवान्‌की आवश्यकता है; क्योंकि हम भगवान्‌के ही अंश हैं।

जो मनुष्य सांसारिक दुःखोंसे छूटना चाहता है, पराधीनतासे छूटकर स्वाधीन होना चाहता है, उसकी मुक्ति हो जाती है। परन्तु जो मनुष्य संसारसे दुःखी होकर ऐसा सोचता है कि कोई तो अपना होता, जो मेरेको अपनी

* जो मुक्त हो जाता है, उसको तो स्वाभाविक ही सन्तोष हो जाता है, पर जिसके भीतर भक्तिके संस्कार हैं, उसको सन्तोष नहीं होता। कारण कि भक्तिके संस्कारवालेपर भगवान् विशेष कृपा करते हैं और उसको कहीं अटकने नहीं देते।

† यहाँ शंका हो सकती है कि रातको सूर्य नहीं रहता, फिर भी अग्नि रातको ऊपरकी तरफ क्यों जाती है? इसका समाधान है कि रात हो या दिन, सूर्य कहीं भी रहे, वह सदा पृथ्वीसे ऊपर ही रहता है। इसलिये जैसे भारतके लोग सूर्यको पृथ्वीसे ऊपर देखते हैं, ऐसे ही (पृथ्वीमण्डलपर भारतसे लगभग विपरीत दिशामें स्थित) अमेरिकाके लोग भी सूर्यको ऊपर ही देखते हैं।

शरण लेकर, अपने गले लगाकर मेरे दुःख, सन्ताप, पाप, अभाव, भय, नीरसता आदिको हर लेता, उसको भक्ति प्राप्त हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि मुक्ति पानेके लिये ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत भक्ति पानेके लिये ईश्वरकी आवश्यकता है। जब मनुष्य इस बातको जान लेता है कि इतने बड़े संसारमें, अनन्त ब्रह्माण्डोंमें कोई भी वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत जिसके एक अंशमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, वही अपना है, तब उसके भीतर भगवान्‌की आवश्यकताका अनुभव होता है। कारण कि अपनी वस्तु वही हो सकती है, जो सदा हमारे साथ रहे और हम सदा उसके साथ रहें। जो कभी हमारेसे अलग न हो और हम कभी उससे अलग न हों। ऐसी वस्तु भगवान् ही हो सकते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब मनुष्यको भगवान्‌की आवश्यकता है, तो फिर भगवान् मिलते क्यों नहीं? इसका कारण यह है कि मनुष्य भगवान्‌की प्राप्तिके बिना सुख-आरामसे रहता है, वह अपनी आवश्यकताको भूले रहता है। वह मिली हुई वस्तु, योग्यता और सामर्थ्यमें ही सन्तोष कर लेता है। अगर वह भगवान्‌की आवश्यकताका अनुभव करे, उनके बिना चैनसे न रह सके तो भगवान्‌की प्राप्तिमें देरी नहीं है। कारण कि जो नित्यप्राप्त है, उसकी प्राप्तिमें क्या देरी? भगवान् कोई वृक्ष तो हैं नहीं कि आज बोयेंगे और वर्षोंके बाद फल मिलेगा! वे तो सब देशमें, सब समयमें, सब वस्तुओंमें, सब अवस्थाओंमें, सब परिस्थितियोंमें ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। हम ही उनसे विमुख हुए हैं, वे हमसे कभी विमुख नहीं हुए।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ ५॥

भूमिः	=पृथ्वी,	**इति**	=इस प्रकार	**अन्याम्**	=भिन्न
आपः	=जल,	**इयम्**	=यह	**जीवभूताम्**	=जीवरूप बनी हुई
अनलः	=तेज,	**अष्टधा**	=आठ प्रकारके	**मे**	=मेरी
वायुः	=वायु,	**भिन्ना**	=भेदोंवाली	**पराम्**	=परा
खम्	=आकाश (—ये पञ्चमहाभूत)	**मे**	=मेरी	**प्रकृतिम्**	=प्रकृतिको
		इयम्	=यह	**विद्धि**	=जान,
च	=और	**अपरा**	=अपरा	**यया**	=जिसके द्वारा
मनः	=मन,	**प्रकृतिः**	=प्रकृति है;	**इदम्**	=यह
बुद्धिः	=बुद्धि	**तु**	=और	**जगत्**	=जगत्
एव	=तथा	**महाबाहो**	=हे महाबाहो!	**धार्यते**	=धारण किया जाता है।
अहङ्कारः	=अहंकार—	**इतः**	=इस अपरा प्रकृतिसे		

विशेष भाव—जब चेतन अपरा प्रकृतिके साथ तादात्म्य कर लेता है अर्थात् 'अहम्' के साथ एक होकर अपनेको 'मैं हूँ' ऐसा मान लेता है, तब वह जीवरूप बनी हुई 'परा प्रकृति' कहलाता है। 'अहम्' (मैं) से इधर जगत् (अपरा प्रकृति) है और उधर परमात्मा हैं। परन्तु जीव उन परमात्माको स्वीकार न करके, प्रत्युत उनकी अपरा प्रकृतिको स्वीकार करके उसको जगत्-रूपसे धारण कर लेता है और जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ जाता है।

'अपरेयमितस्त्वन्याम्'—अपरासे अन्य परा है और परासे अन्य अपरा है। अपरा 'अन्य' अर्थात् विजातीय है। अन्यको पकड़नेसे ही परा 'जीव' बनी है—**'जीवभूताम्'।**

अपरा (परिवर्तनशील) और परा (अपरिवर्तनशील)—दोनों ही भगवान्‌की प्रकृतियाँ अर्थात् शक्तियाँ हैं, स्वभाव

हैं। भगवान्‌की शक्ति होनेसे दोनों भगवान्‌से अभिन्न हैं; क्योंकि शक्तिमान्‌के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। जैसे नख और केश निष्प्राण होनेपर भी हमारे प्राणयुक्त शरीरसे अलग नहीं हैं, ऐसे ही अपरा प्रकृति जड़ होनेपर भी चेतन भगवान्‌से अलग नहीं है— **'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)। इस प्रकार जब अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌का स्वरूप हुईं तो फिर भगवान्‌के सिवाय क्या शेष रहा? कुछ भी शेष नहीं रहा—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)। तात्पर्य है कि अपरा और परा—दोनों प्रकृतियोंके सहित भगवान्‌का स्वरूप 'समग्र' है अर्थात् परा-अपरा, सत्-असत्, जड़-चेतन सब कुछ भगवान् ही हैं।

'ययेदं धार्यते जगत्' का तात्पर्य है कि संसार न तो भगवान्‌की दृष्टिमें है और न महात्माकी दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवकी दृष्टि (मान्यता) में है। भगवान्‌की दृष्टिमें सत्-असत् सब कुछ वे ही हैं—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९) और महात्माकी दृष्टिमें भी सब कुछ भगवान् ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)। जीवने ही राग-द्वेषके कारण जगत्‌को अपनी बुद्धिमें धारण कर रखा है। इसी बातको आगे पन्द्रहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें **'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति'** पदोंसे कहा गया है। जगत्‌को सत्ता देनेसे ही राग-द्वेष पैदा होते हैं।

जीवने संसारकी सत्ता मान ली और सत्ता मानकर उसको महत्ता दे दी। महत्ता देनेसे कामना अर्थात् सुखभोगकी इच्छा पैदा हुई, जिससे जीव जन्म-मरणमें पड़ गया। तात्पर्य यह हुआ कि एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता माननेसे ही जीव संसार-बन्धनमें पड़ा है। अतः दूसरी सत्ता न माननेकी जिम्मेवारी जीवकी ही है। अगर वह संसारकी सत्ता न माने तो संसार है ही कहाँ?

भगवान्‌ने पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—इन आठोंको अपरा (जड़) प्रकृति कहा है*। अतः जैसे पृथ्वी जड़ और जाननेमें आनेवाली है, ऐसे ही अहम् भी जड़ और जाननेमें आनेवाला है। तात्पर्य है कि पृथ्वी, जल आदि आठों एक ही जातिके हैं†। अतः जिस जातिकी पृथ्वी है, उसी जातिका अहम् भी है अर्थात् अहम् भी मिट्टीके ढेलेकी तरह जड़ और दृश्य है। अतः भगवान्‌ने अहम्‌को एतत्तासे कहा है; जैसे—**'एतद् यो वेत्ति'** (गीता १३। १)। **'एतत्'** (यह) कभी 'अहम्' (मैं) नहीं होता; अतः अहम्‌को एतत्तासे कहनेका तात्पर्य है कि यह अपना स्वरूप नहीं है। परन्तु जब चेतन (जीव) इस अहम्‌के साथ अपना तादात्म्य मान लेता है, तब वह बँध जाता है—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७)। इसीको चिज्जड़ग्रन्थि कहते हैं।

'अहङ्कार इतीयं मे'—यह धातुरूप अहंकार तो अपरा प्रकृतिका (जड़) है, पर 'मैं हूँ'—यह ग्रन्थिरूप अहंकार केवल अपरा प्रकृतिका नहीं है, प्रत्युत इसमें परा प्रकृति (चेतन) भी मिली हुई है। तत्त्वज्ञान होनेपर यह जन्म-मरण देनेवाला ग्रन्थिरूप अहंकार तो नहीं रहता, पर अपरा प्रकृतिका धातुरूप अहंकार रहता है।

क्रिया और पदार्थ न तो परा प्रकृतिमें हैं और न परमात्मामें हैं, प्रत्युत अपरा प्रकृतिमें हैं। अपरा प्रकृति क्रियारूप और पदार्थरूप है। परमात्मा प्रकृतिकी सहायतासे ही सृष्टि-रचना करते हैं। परा प्रकृति अर्थात् जीव क्रिया और पदार्थरूप अपरा प्रकृतिमें आसक्ति करके और उसका आश्रय लेकर बँध जाता है। अपराकी आसक्ति और उसका आश्रय लेना ही जगत्‌को धारण करना है। इसलिये भगवान्‌ने सातवें अध्यायके आरम्भमें ही **'मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः'** पदोंसे अपनेमें आसक्ति (प्रेम) करने और अपना आश्रय लेनेकी बात कही है। अगर जीव अपरा प्रकृतिमें आसक्ति न रखे और उसका आश्रय न ले तो वह 'मुक्त' हो जायगा। अगर वह भगवान्‌में आसक्ति (प्रेम) करे और उनका आश्रय ले तो वह 'भक्त' हो जायगा।

---

* पृथ्वी स्थूल है। पृथ्वीसे सूक्ष्म जल है। जलसे सूक्ष्म तेज है। तेजसे सूक्ष्म वायु है। वायुसे सूक्ष्म आकाश है। आकाशसे सूक्ष्म मन है। मनसे सूक्ष्म बुद्धि है। बुद्धिसे सूक्ष्म अहम् है। अपरा प्रकृतिमें अहम् सबसे सूक्ष्म है। इस प्रकार भगवान्‌ने स्थूलसे सूक्ष्मतक क्रमसे अपरा प्रकृतिका वर्णन किया है।

† एक अनेकमें अनुगत हो तो उसे 'जाति' कहते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—इन आठोंमें जातीय एकता तो है, पर स्वरूपकी एकता नहीं है अर्थात् जाति एक होनेपर भी इनका स्वरूप अलग-अलग है। इसीलिये इसको 'अष्टधा' कहा गया है। अपरा प्रकृतिका कार्य होनेसे यहाँ पृथ्वी, जल आदिको भी अपरा प्रकृति कहा गया है।

जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। बाँधनेवाला जगत् तो जीवने ही बना रखा है। जीव जगत्‌को धारण करता है, इसीसे सुख-दुःख होते हैं, बन्धन होता है, चौरासी लाख योनियाँ, भूत, प्रेत, पिशाच, देवता आदि योनियाँ तथा नरकोंकी प्राप्ति होती है। सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण कोई बाधा नहीं देते; परन्तु इनका संग करनेसे जीव ऊर्ध्वगति, मध्यगति अथवा अधोगतिमें जाता है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। गुणोंका संग जीव स्वयं करता है। अपरा प्रकृति किसीके साथ कोई सम्बन्ध नहीं करती। सम्बन्ध न प्रकृति करती है, न गुण करते हैं, न इन्द्रियाँ करती हैं, न मन करता है, न बुद्धि करती है। जीव स्वयं ही सम्बन्ध करता है, इसीलिये सुखी-दुःखी हो रहा है, जन्म-मरणमें जा रहा है। जीव स्वतन्त्र है; क्योंकि यह 'परा' अर्थात् उत्कृष्ट प्रकृति है। अपरा प्रकृति तो बेचारी कुछ नहीं करती; क्योंकि उसमें चेतना और कामना नहीं है। उससे सम्बन्ध जोड़कर, उसका सदुपयोग-दुरुपयोग करके जीव ऊँच-नीच योनियोंमें जाता है, भटकता है। तात्पर्य है कि अपरिवर्तनशील होते हुए भी जीव विजातीय जगत्‌के साथ सम्बन्ध जोड़कर परिवर्तनशील जगत्-रूप हो जाता है* (गीता ७। १३)। उसकी दृष्टि शरीरकी तरफ ही रहती है, अपने स्वरूपकी स्फुरणा होती ही नहीं!

जो हमसे सर्वथा अलग है, उस जगत् अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्‌के साथ अपनी एकता मान ली—यही जगत्‌को धारण करना है। वास्तवमें जगत् हमारा है ही नहीं; क्योंकि अगर हमारी चीज हमारेको मिल गयी होती तो हमारी कामनाएँ सदाके लिये मिट जातीं, हम निर्मम, निर्भय, निश्चिन्त, निष्काम हो जाते। परन्तु जगत् हमें ऐसी चीज नहीं दे सकता, जो हमारी हो अर्थात् जो हमसे कभी बिछुड़े नहीं। जो चीज वास्तवमें हमारी है, वह जगत्‌के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती, प्रत्युत जगत्‌के सम्बन्ध-विच्छेदसे प्राप्त हो सकती है। हमारी वस्तु है—परमात्मा। हम उस परमात्माके ही अंश हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७)। उसकी प्राप्तिका उपाय (कर्मयोगकी दृष्टिसे) यह है कि जगत्‌से मिली हुई वस्तुओं (शरीरादि)को जगत्‌की ही सेवामें लगा दें और बदलेमें उससे कुछ भी आशा (फलेच्छा) न रखें। उससे कोई सम्बन्ध न जोड़ें, न क्रियाके साथ, न पदार्थके साथ। सेवा करनेकी अपेक्षा भी किसीको दुःख न देना श्रेष्ठ है। किसीको भी दुःख न देनेसे, किसीका भी अहित न करनेसे सेवा अपने-आप होने लगती है, करनी नहीं पड़ती†। अपने-आप होनेवाली क्रियाका अभिमान नहीं होता और उसके फलकी इच्छा भी नहीं होती। अभिमान और फलेच्छाका त्याग होनेपर हमें वह वस्तु मिल जाती है, जो वास्तवमें हमारी है।

वास्तवमें अपरा प्रकृतिकी परमात्माके सिवाय अलग सत्ता है ही नहीं—**'नासतो विद्यते भावः'।** उसको विशेष सत्ता जीवने ही दी है। जैसे, रुपयोंकी अपनी कोई महत्ता नहीं है, हम ही लोभके कारण उसको महत्ता देते हैं। हम जिसको महत्ता देते हैं, उसीमें हमारा आकर्षण होता है। महत्ता तब देते हैं, जब दोषोंको स्वीकार करते हैं‡। काम-रूप दोषके कारण ही स्त्रीमें आकर्षण होता है, लोभ-रूप दोषके कारण ही धनमें आकर्षण होता है, मोह-रूप दोषके कारण ही कुटुम्ब-परिवारमें आकर्षण होता है, आदि। परन्तु दोषोंके साथ तादात्म्य होनेके कारण दोष दोषरूपसे नहीं दीखते और हमें इस बातका पता नहीं लगता कि हम ही उनको (अपरा प्रकृतिको) सत्ता और महत्ता दे रहे हैं। तादात्म्य मिटनेपर दोष तो रहते नहीं और गुण दीखते नहीं!

---

* यहाँ 'जगत्' शब्द परिवर्तनशीलका वाचक है—'गच्छतीति जगत्'।

† किसीका भी अहित न करनेसे दो बातें होंगी—हम कुछ नहीं करेंगे, अगर कुछ करेंगे तो हमारेसे सेवा ही होगी। कुछ न करना अथवा सेवा करना—इन दोनोंसे ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। कारण कि कुछ न करनेमें कोई दोष होता ही नहीं और अपने-आप सेवा होनेसे सब दोष मिट जाते हैं। जैसे भोजन करनेमें 'मैं खाता हूँ'—इस प्रकार जो अभिमान होता है, वह भोजन पचनेमें नहीं होता; क्योंकि वह अपने-आप पचता है। ऐसे ही सेवा अपने-आप होनेसे कर्तृत्वाभिमान और फलासक्तिका त्याग स्वतः होता है।

‡ संसारके सब सुख दोषजनित हैं। दोषोंको स्वीकार करनेसे ही सुख दीखता है। कामके कारण ही मनुष्य स्त्रीके बिना नहीं रह सकता। लोभके कारण ही मनुष्य धनके बिना नहीं रह सकता। मोहके कारण ही मनुष्य परिवारके बिना नहीं रह सकता। दोषके कारण ही उसको त्यागका महत्त्व नहीं दीखता।

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें तीन लोक, चौदह भुवन, जड़-चेतन, स्थावर-जंगम, थलचर-जलचर-नभचर, जरायुज-अण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज, सात्त्विक-राजस-तामस, मनुष्य, देवता, पितर, गन्धर्व, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, भूत-प्रेत-पिशाच, ब्रह्मराक्षस आदि जो कुछ भी देखने, सुनने, पढ़ने तथा कल्पना करनेमें आता है, उसमें 'परा' और 'अपरा'—इन दो प्रकृतियोंके सिवाय कुछ भी नहीं है। जो देखने, सुनने, पढ़ने तथा कल्पना करनेमें आता है और जिन शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्‌के द्वारा देखा, सुना, पढ़ा, सोचा जाता है, वह सब-का-सब 'अपरा' है। परन्तु जो देखता, सुनता, पढ़ता, सोचता, जानता, मानता है, वह 'परा' है। परा और अपरा—दोनों ही भगवान्‌की शक्तियाँ होनेसे भगवान्‌से अभिन्न अर्थात् भगवत्स्वरूप ही हैं। अतः अनन्त ब्रह्माण्डोंके भीतर तथा बाहर और अनन्त ब्रह्माण्डोंके रूपमें एक भगवान्‌के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९), **'सदसच्चाहमर्जुन'** (९। १९)। संसारके सभी दर्शन, मत-मतान्तर आचार्योंको लेकर हैं, पर **'वासुदेवः सर्वम्'** किसी आचार्यका दर्शन, मत नहीं है, प्रत्युत साक्षात् भगवान्‌का अटल सिद्धान्त है, जिसके अन्तर्गत सभी दर्शन, मत-मतान्तर आ जाते हैं।

'अपरा' (जगत्) को स्वतन्त्र सत्ता जीवने ही दी है—**'ययेदं धार्यते जगत्'**। **'अपरा'** भगवान्‌की है, पर उसको अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्‌को अपना और अपने लिये मान लेनेसे ही जीव बन्धनमें पड़ा है। अतः साधकको अगर जगत् दीखता है तो यह उसकी व्यक्तिगत दृष्टि है। व्यक्तिगत दृष्टि सिद्धान्त नहीं होता। दीखना सीमित होता है, जबकि तत्त्व असीम है। जैसे, सूर्य थालीकी तरह दीखता है, पर वास्तवमें वह थालीके आकारका नहीं है, प्रत्युत पृथ्वीसे भी कई गुना अधिक बड़ा है!

अगर साधकको जगत् दीखता है तो उसको निष्कामभावपूर्वक जगत्‌की सेवा करनी चाहिये। जगत्‌को अपना और अपने लिये मानना तथा उससे सुख लेना ही असाधन है, बन्धन है। कारण कि हमारे पास शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि जो कुछ भी है, वह सब जगत्‌का है और जगत्‌के लिये है। अतः जगत्‌की वस्तुको जगत्‌की सेवामें लगानेसे जगत् जगत्-रूपसे नहीं दीखेगा, प्रत्युत भगवत्स्वरूप दीखने लगेगा, जो कि वास्तवमें है। तात्पर्य है कि साधक चाहे जगत्‌को माने, चाहे आत्माको माने, चाहे परमात्माको माने, किसीको भी मानकर वह साधन कर सकता है और अन्तिम तत्त्व **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव कर सकता है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥

सर्वाणि	=सम्पूर्ण		प्रकृतियोंका	**कृत्स्नस्य**	=सम्पूर्ण
भूतानि	=प्राणियोंके		संयोग ही कारण है—	**जगतः**	=जगत्‌का
	(उत्पन्न होनेमें)	**इति**	=ऐसा	**प्रभवः**	=प्रभव
एतद्योनीनि	=अपरा और	**उपधारय**	=तुम समझो।	**तथा**	=तथा
	परा—इन दोनों	**अहम्**	=मैं	**प्रलयः**	=प्रलय हूँ।

विशेष भाव—जो न खुदको जान सके और न दूसरेको जान सके, वह 'अपरा प्रकृति' है। जो खुदको भी जान सके और दूसरेको भी जान सके, वह 'परा प्रकृति' है। इन अपरा और परा—दोनोंके माने हुए संयोगसे ही सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणी पैदा होते हैं*।

मूल दोष एक ही है, जो स्थानभेदसे अनेक रूपसे दीखता है, वह है—अपराके साथ सम्बन्ध। इस एक दोषसे ही सम्पूर्ण दोष उत्पन्न होते हैं। यह एक दोष आ जाय तो सम्पूर्ण दोष आ जायँगे और यह एक दोष दूर

* **यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।**
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ (गीता १३। २६)

हो जाय तो सम्पूर्ण दोष दूर हो जायँगे। इसी तरह मूल गुण भी एक ही है, जिससे सम्पूर्ण गुण प्रकट होते हैं, वह है—भगवान्‌के साथ सम्बन्ध।

अपराको चाहे नित्य मानें, चाहे अनित्य मानें, पर उसके साथ हमारा सम्बन्ध अनित्य है—यह सर्वसम्मत बात है। यह सम्बन्ध ही जन्म-मरणका कारण है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। यही संसारका बीज है।

मैं सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव तथा प्रलय हूँ—इसका तात्पर्य है कि इस स्थावर-जंगमरूप जगत्‌को मैं ही उत्पन्न करनेवाला हूँ और मैं ही उत्पन्न होनेवाला हूँ; मैं ही नाश करनेवाला हूँ और मैं ही नष्ट होनेवाला हूँ; क्योंकि मेरे सिवाय संसारका दूसरा कोई भी कारण तथा कार्य नहीं है (गीता ७। ७) अर्थात् मैं ही इसका निमित्त तथा उपादान कारण हूँ। अतः जगत्-रूपसे मैं ही हूँ। नवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने कहा है—'**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन**' अर्थात् 'अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं ही हूँ।' श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥

(११। २८। ६)

'जो कुछ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वस्तु है, वह सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही हैं। जो कुछ सृष्टि प्रतीत हो रही है, इसके निमित्त कारण भी वे ही हैं और उपादान कारण भी वे ही हैं अर्थात् वे ही विश्व बनाते हैं और वे ही विश्व बनते हैं। वे ही रक्षक हैं और वे ही रक्षित हैं। वे ही सर्वात्मा भगवान् इसका संहार करते हैं और जिसका संहार होता है, वह भी वे ही हैं।'

तैत्तिरीयोपनिषद्‌में आया है कि अन्न भी मैं ही हूँ और अन्नको खानेवाला भी मैं ही हूँ—'**अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः।**' (३। १०। ६)

तात्पर्य यह हुआ कि अपरा और परा प्रकृति तथा उनके संयोगसे पैदा होनेवाले सम्पूर्ण प्राणी—ये सब-के-सब एक भगवान् ही हैं। कारण भी भगवान् हैं और कार्य भी!

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

इसलिये—

धनञ्जय	=हे धनञ्जय!		(कारण तथा कार्य)		(पिरोयी हुई होती हैं,)
मत्तः	=मेरे	**न**	=नहीं	**इव**	=ऐसे ही
परतरम्	=सिवाय (इस जगत्‌का)	**अस्ति**	=है।	**इदम्**	=यह
		मणिगणाः	=(जैसे सूतकी) मणियाँ	**सर्वम्**	=सम्पूर्ण जगत्
अन्यत्	=दूसरा कोई			**मयि**	=मेरेमें (ही)
किञ्चित्	=किंचिन्मात्र भी	**सूत्रे**	=सूतके धागेमें	**प्रोतम्**	=ओतप्रोत है।

विशेष भाव—जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई हों तो उनमें सूतके सिवाय और कुछ नहीं है, ऐसे ही संसारमें भगवान्‌के सिवाय और कुछ नहीं है। तात्पर्य है कि मणिरूप अपरा प्रकृति और धागारूप परा प्रकृति—दोनोंमें भगवान् ही परिपूर्ण हैं। मणियाँ बननेमें अपरा प्रकृतिकी मुख्यता है और धागा बननेमें परा प्रकृतिकी मुख्यता है। '**मणिगणाः**' पद बहुवचनमें देनेका तात्पर्य है कि अपरा प्रकृति स्थावर-जंगम, जलचर-थलचर-नभचर, चौदह भुवन, चौरासी लाख योनियाँ आदि अनन्त रूपोंमें और अनन्त समुदायोंमें विभक्त है।

अपरा और पराका भेद '**अपरा**' प्रकृतिके कारण ही है; क्योंकि अपराको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेके कारण ही जीव है (गीता ७। ५)। अत: अपरा प्रकृति जगत्‌में भी है और जीवमें भी। परन्तु परमात्मामें न अपरा है, न परा है; न जगत् है, न जीव है। तात्पर्य है कि वास्तवमें न धागा है, न मणियाँ हैं, प्रत्युत एक सूत (रुई) ही है। इसी तरह न अपरा है, न परा है, प्रत्युत एक परमात्मा ही हैं। इसी बातका भगवान्‌ने आगे बारहवें श्लोकतक वर्णन किया है। इस श्लोकमें आये '**मत्तः**' पदसे आरम्भ करके बारहवें श्लोकके '**मत्त एव**' पदोंतक भगवान्‌ने यही बात बतायी है कि मेरे सिवाय कुछ भी नहीं है। यहाँ '**मत्तः**' पद समग्र परमात्माका वाचक है, जो परा और अपरा दोनों प्रकृतियोंका मालिक है।

कारण ही कार्यमें परिणत होता है; जैसे, रुई ही धागा बनती है, बीज ही वृक्ष बनता है। अत: सबके परम कारण भगवान् होनेसे सब रूपोंमें भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्।**' इसलिये भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ताको देखना भूल है।

'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति**'—जो दोमें श्रेष्ठ हो, उसको 'परतर' कहते हैं। भगवान् अद्वितीय हैं, उनके सिवाय दूसरी कोई वस्तु ('पर') है ही नहीं, फिर वे 'परतर' कैसे हो सकते हैं? उनमें 'परतर' शब्द लागू ही नहीं होता। यहाँ भगवान्‌को अद्वितीय बतानेके लिये ही 'परतर' शब्द आया है। तात्पर्य है कि भगवान्‌से अन्य भी कुछ नहीं है और श्रेष्ठ भी कुछ नहीं है। उपनिषद्‌में आया है—

पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

(कठ० १। ३। ११)

'पुरुषसे पर कुछ भी नहीं है। वही सबकी परम अवधि और वही परम गति है।'

अर्जुनने भी कहा है—

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव। (गीता ११। ४३)

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीनन्दन!	**प्रभा**	=प्रभा (प्रकाश)	**शब्दः**	=शब्द
अप्सु	=जलोंमें	**अस्मि**	=मैं हूँ,		(और)
रसः	=रस	**सर्ववेदेषु**	=सम्पूर्ण वेदोंमें	**नृषु**	=मनुष्योंमें
अहम्	=मैं हूँ,	**प्रणवः**	=प्रणव (ओंकार),	**पौरुषम्**	=पुरुषार्थ
शशिसूर्ययोः	=चन्द्रमा और सूर्यमें	**खे**	=आकाशमें		(मैं हूँ)।

विशेष भाव—छठे-सातवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपनेको सम्पूर्ण जगत्‌का कारण बताया है। इसलिये अब भगवान् आठवें श्लोकसे बारहवें श्लोकतक 'कारण'-रूपसे अपनी विभूतियोंका वर्णन करते हैं। यद्यपि कारणकी अपेक्षा कार्यमें विशेष गुण होता है, पर स्वतन्त्र सत्ता कारणकी ही होती है अर्थात् कारणके बिना कार्यकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। जैसे, मिट्टी कारण है और घड़ा कार्य है। घड़ेमें जल भरा जा सकता है, पर यह विशेषता मिट्टीमें नहीं है। परन्तु मिट्टीके बिना घड़ेकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। तात्पर्य है कि कारण ही कार्यरूपमें परिणत होता है। घड़ेकी रचनामें कर्ता, कारण और कार्य—तीनों एक नहीं होते अर्थात् कारण (मिट्टी) और कार्य (घड़ा) की तो एक सत्ता होती है, पर कर्ता (कुम्हार) की अलग (स्वतन्त्र) सत्ता होती है। परन्तु सृष्टिकी रचनामें कर्ता, कारण और कार्य—तीनों एक भगवान् ही होते हैं। अत: रस भी भगवान् हैं और जल भी भगवान् हैं। प्रभा भी भगवान् हैं और चन्द्र-सूर्य भी भगवान् हैं। ओंकार भी भगवान् हैं और वेद भी भगवान् हैं। शब्द भी भगवान् हैं और आकाश भी भगवान् हैं। पुरुषार्थ भी भगवान् हैं और मनुष्य भी भगवान् हैं।

[मिट्टी तो घड़ेके रूपमें परिणत होती है, पर परमात्मा संसारके रूपमें परिणत नहीं होते। कारण कि परिणत

होनेवाली वस्तु विकारी होती है, जबकि परमात्मा निर्विकार हैं। अतः जैसे अँधेरेमें रस्सी ही साँपके रूपमें दीखती है अथवा साँप ही कुण्डलीरूपमें दीखता है, ऐसे ही परमात्मा संसाररूपमें दीखते हैं। तात्पर्य है कि परमात्मामें कार्य-कारणका भेद नहीं है; क्योंकि उनके सिवाय अन्य कोई वस्तु है ही नहीं। कार्य-कारणका भेद मनुष्योंकी दृष्टिमें ही है। इसलिये मनुष्योंको समझानेके लिये अन्य वस्तुकी कुछ-न-कुछ सत्ता मानकर ही परमात्माका वर्णन, विवेचन, विचार, चिन्तन, प्रश्नोत्तर आदि किया जाता है—'**नोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया।**']

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥

पृथिव्याम्	= पृथ्वीमें	**तेजः**	= तेज	**जीवनम्**	= जीवनीशक्ति (मैं हूँ)
पुण्यः	= पवित्र	**अस्मि**	= मैं हूँ	**च**	= और
गन्धः	= गन्ध	**च**	= तथा	**तपस्विषु**	= तपस्वियोंमें
च	= और	**सर्वभूतेषु**	= सम्पूर्ण प्राणियोंमें	**तपः**	= तपस्या
विभावसौ	= अग्निमें			**अस्मि**	= मैं हूँ।

विशेष भाव—सृष्टिकी रचनामें भगवान् ही कर्ता हैं, भगवान् ही कारण हैं और भगवान् ही कार्य हैं। अतः गन्ध और पृथ्वी, तेज और अग्नि, जीवनीशक्ति और प्राणी, तपस्या और तपस्वी—ये सब-के-सब (कारण तथा कार्य) एक भगवान् ही हैं। कारण कि परा और अपरा—दोनों ही भगवान्‌की शक्ति होनेसे भगवान्‌से अभिन्न हैं। अतः परा-अपराके संयोगसे पैदा होनेवाली सम्पूर्ण सृष्टि भगवत्स्वरूप ही है।

'**पुण्यो गन्धः**'—गन्ध-तन्मात्रा कारण है और पृथ्वी उसका कार्य है। गन्धको पवित्र कहनेका तात्पर्य है कि कारण (तन्मात्रा) सदा पवित्र ही होता है। अपवित्रता कार्यमें विकृति होनेसे ही आती है। अतः जैसे गन्ध-तन्मात्रा पवित्र है, ऐसे ही शब्द, स्पर्श, रूप और रस-तन्मात्रा भी पवित्र समझनी चाहिये।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**माम्**	= मुझे	**तेजस्विनाम्**	= तेजस्वियोंमें
सर्वभूतानाम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंका	**विद्धि**	= जान।	**तेजः**	= तेज
सनातनम्	= अनादि	**बुद्धिमताम्**	= बुद्धिमानोंमें	**अहम्**	= मैं
बीजम्	= बीज	**बुद्धिः**	= बुद्धि (और)	**अस्मि**	= हूँ।

विशेष भाव— अपनेको सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज कहनेका तात्पर्य यह है कि सब प्राणियोंके रूपमें मैं ही हूँ। सृष्टि अनन्त है। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त जीव हैं। परन्तु उन अनन्त जीवोंका बीज (परमात्मा) एक ही है। अनन्त सृष्टि पैदा होनेपर भी उस बीजमें कोई फर्क नहीं पड़ता; क्योंकि वह अव्यय है—'**बीजमव्ययम्**' (गीता ९। १८)। उस एक ही बीजसे अनेक प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न होती है (गीता १०। ३९)। बीजको कितनी ही सूक्ष्म दृष्टिसे देखें, उसमें फल-फूल-पत्ते आदि नहीं दीखेंगे; क्योंकि वे उस बीजमें कारणरूपसे विद्यमान हैं। उस बीजसे पैदा होनेवाले वृक्षके दो पत्ते भी आपसमें नहीं मिलते—यह अनेकता भी उस एक बीजमें ही रहती है।

सृष्टिकी एक-एक वस्तुमें अनेक भेद हैं। विभिन्न देशोंमें मनुष्योंकी अनेक जातियाँ हैं। उनमें भी इतना भेद है कि दो मनुष्योंके अँगूठेकी रेखाएँ भी परस्पर नहीं मिलतीं। उनके रूप, स्वभाव, रुचि, प्रकृति, मान्यता, भाव आदि भी परस्पर नहीं मिलते। गाय, भैंस, भेड़, बकरी, घोड़ा, ऊँट, कुत्ता आदिकी अनेक जातियाँ हैं और उनकी एक-एक जातिमें भी अनेक भेद हैं। वृक्षोंमें भी एक-एक वृक्षकी अनेक जातियाँ होती हैं। एक-एक विद्याको देखें तो उसमें इतने भेद हैं कि उनका अन्त नहीं आता। मूल रंग तीन हैं, पर उनके मिश्रणसे अनेक रंग बन जाते हैं। उनमें भी एक-एक रंगमें इतने भेद हैं कि दो व्यक्तियोंको भी एक रंग समानरूपसे नहीं दीखता। इस प्रकार सृष्टिमें एक समान दीखनेवाली दो चीजें भी वास्तवमें समान नहीं होतीं। इतनी अनेकता होनेपर भी सृष्टिका बीज एक ही है। तात्पर्य है कि एक ही भगवान् अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं और अनेक रूपोंमें प्रकट होनेपर भी एक ही रहते हैं।*

भगवान् देश, काल आदि सभी दृष्टियोंसे अनन्त हैं। जब भगवान्‌की बनायी हुई सृष्टिका भी अन्त नहीं आ सकता तो फिर भगवान्‌का अन्त आ ही कैसे सकता है? आजतक भगवान्‌के विषयमें जो कुछ सोचा गया है, जो कुछ कहा गया है, जो कुछ लिखा गया है, जो कुछ माना गया है, वह पूरा-का-पूरा मिलकर भी अधूरा है। इतना ही नहीं, भगवान् भी अपने विषयमें पूरी बात नहीं कह सकते, अगर कह दें तो अनन्त कैसे रहेंगे?

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११ ॥

भरतर्षभ	= हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!		रागसे रहित	**धर्माविरुद्धः**	= धर्मसे अविरुद्ध (धर्मयुक्त)
बलवताम्	= बलवानोंमें	**बलम्**	= बल		
कामराग-विवर्जितम्	= काम और	**अहम्**	= मैं हूँ		
		च	= और	**कामः**	= काम
		भूतेषु	= प्राणियोंमें	**अस्मि**	= मैं हूँ।

विशेष भाव—जंगम सृष्टिमात्र कामसे पैदा होती है। अत: मनुष्यमें जो काम धर्मसे विरुद्ध नहीं है, मर्यादाके अनुसार है, वह काम भगवान्‌का स्वरूप है। भगवान् पहले कह चुके हैं—**'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'** (७। ७) और आगे भी कहेंगे—**'ये चैव सात्त्विका भावा०'** (७। १२), **'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९)। अत: जैसे धर्मयुक्त काम भगवान्‌का स्वरूप है, ऐसे ही धर्मविरुद्ध काम भी भगवान्‌से अलग नहीं है। जो धर्मविरुद्ध कामका आचरण करते हैं, उनको नरकरूपसे भगवान् मिलते हैं; क्योंकि नरक भी भगवान् ही हैं! परन्तु गीताका उद्देश्य मनुष्यको नरकोंमें अथवा जन्म-मरणमें भेजना नहीं है, प्रत्युत उसका कल्याण करना है। उद्देश्य सदा कल्याणका, आनन्दका ही होता है, दु:खका नहीं। दु:ख कोई भी नहीं चाहता। अर्जुनने भी कल्याणकी बात पूछी है†। उदाहरणार्थ,

---

* प्राणियोंमें अनेकता होनेपर भी उनमें परस्पर प्रेमकी एकता होनी चाहिये। जैसे काँटा पैरमें गड़ता है, पर आँसू नेत्रोंमें आते हैं, ऐसा ही भाव सम्पूर्ण प्राणियोंमें रहना चाहिये—**'सर्वभूतहिते रताः'** (गीता ५। २५, १२। ४)। एकमात्र प्रेम ही ऐसी चीज है, जिसमें कोई भेद नहीं रहता। प्रेमका भेद नहीं कर सकते। प्रेममें सब एक हो जाते हैं। ज्ञानमें तत्त्वभेद तो नहीं रहता, पर मतभेद रहता है। प्रेममें मतभेद भी नहीं रहता। अत: प्रेमसे आगे कुछ भी नहीं है। प्रेमसे त्रिलोकीनाथ भगवान् भी वशमें हो जाते हैं।

† **'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'** (गीता २। ७)
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ (गीता ३। २)
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ (गीता ५। १)

शब्द अच्छे भी होते हैं और बुरे भी, पर व्याकरणमें अच्छे शब्दोंपर ही विचार किया जाता है; क्योंकि व्याकरण आदि भी मनुष्यके उद्धारके लिये हैं।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ १२॥

और तो क्या कहूँ—

ये	= जितने	**च**	= तथा	**विद्धि**	= समझो।
एव	= भी	**तामसाः**	= तामस (भाव हैं, वे सब)	**तु**	= परन्तु
सात्त्विकाः	= सात्त्विक			**अहम्**	= मैं
भावाः	= भाव हैं (और)	**मत्तः**	= मुझसे	**तेषु**	= उनमें (और)
ये	= जितने	**एव**	= ही होते हैं—	**ते**	= वे
च	= भी	**इति**	= ऐसा	**मयि**	= मुझमें
राजसाः	= राजस	**तान्**	= उनको	**न**	= नहीं हैं।

विशेष भाव—'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' (७। ७) का विस्तार करते हुए भगवान्‌ने पिछले चार श्लोकोंमें जो बात कही है और जो बात नहीं कही है, वह सब-की-सब बात उपसंहाररूपसे भगवान्‌ने इस श्लोकमें कह दी है। भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण सात्त्विक, राजस और तामस भाव मेरेसे ही उत्पन्न होते हैं, मेरेसे ही सत्ता-स्फूर्ति पाते हैं, तथापि मैं इनमें नहीं हूँ और ये मेरेमें नहीं हैं अर्थात् सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ। अतः मेरी प्राप्ति चाहनेवाले साधककी दृष्टि इन भावोंकी तरफ न जाकर मेरी तरफ ही जानी चाहिये। अगर वह उन भावोंमें ही उलझ जायगा तो कभी मुक्त अथवा भक्त नहीं हो सकेगा।

देखने, सुनने, समझने आदिमें जो भी भाव आते हैं और जो नहीं आते, वे सब-के-सब **'ये'** पदके अन्तर्गत समझने चाहिये।

भगवान्‌से उत्पन्न होनेके कारण यहाँ सात्त्विक, राजस और तामस गुणोंको 'भाव' नामसे कहा गया है। तात्पर्य है कि भगवान् भाव (सत्ता) रूप हैं*; अतः उनसे भाव ही उत्पन्न होगा, अभाव कैसे उत्पन्न होगा? भगवान्‌से उत्पन्न होनेके कारण सब भाव भगवान्‌के ही स्वरूप हैं—**'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः'** (गीता १०। ५)। तात्पर्य है कि शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जो भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव, क्रिया, पदार्थ आदि ग्रहण किये जाते हैं, वे सब भगवान् ही हैं†। मनकी स्फुरणामात्र चाहे अच्छी हो या बुरी, भगवान् ही हैं। संसारमें अच्छा-बुरा, शुद्ध-अशुद्ध, शत्रु-मित्र, दुष्ट-सज्जन, पापात्मा-पुण्यात्मा आदि जो कुछ भी देखने, सुनने, कहने, सोचने, समझने आदिमें आता है, वह सब केवल भगवान् ही हैं। भगवान्‌के सिवाय कहीं कुछ भी नहीं है।

अपना कुछ स्वार्थ रखें, लेनेकी इच्छा रखें, तभी सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीन भेद होते हैं। यदि

---

* **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'** (गीता २। १६); **'मद्भावं सोऽधिगच्छति'** (गीता १४। १९); **'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।'** (गीता १८। २०)

† **मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।**
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ (शब्दादि विषय) ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार करके अनुभव कर लें।'

अपना कुछ स्वार्थ न रखें और दूसरेके हितकी दृष्टि रखें तो ये भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। इनको अपने लिये मानना, इनसे सुख लेना ही पतनका कारण है।*

'तीनों गुण मेरेसे ही प्रकट होते हैं'—ऐसा कहकर भगवान्‌ने यह भाव प्रकट किया है कि साधककी दृष्टि इन गुणोंकी तरफ न जाकर मुझ गुणातीतकी तरफ ही जानी चाहिये, अर्थात् मेरी सत्ता और महत्ता मानकर मेरे ही साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहिये, जिससे मेरी प्राप्ति हो जाय और सदाके लिये दुःख मिटकर महान् आनन्दका अनुभव हो जाय। 'मैं उनमें नहीं हूँ और वे मेरेमें नहीं हैं'—ऐसा कहकर भगवान्‌ने यह भाव प्रकट किया है कि अगर कोई मनुष्य मेरेको सत्ता और महत्ता न देकर सात्त्विक, राजस और तामस गुण, पदार्थ तथा क्रियाको सत्ता और महत्ता देकर उनके साथ सम्बन्ध जोड़ेगा तो वह मेरेको प्राप्त न होकर जन्म-मरणमें चला जायगा—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)।

'मत्त एव' पदोंका प्रयोग करके भगवान् मानो यह कहते हैं कि तीनों गुण मेरेसे ही होते हैं, फिर तुम मेरी तरफ न आकर गुणोंमें क्यों फँसते हो? जो गुणोंमें फँस जाते हैं, वे मेरा भजन नहीं कर सकते (गीता ७। १३)। परन्तु जो गुणोंमें नहीं फँसते, वे भक्त मेरा भजन करते हैं (गीता ७। १६, १०। ८)। ये गुण टिकनेवाले नहीं हैं; क्योंकि कारण टिकता है, कार्य नहीं टिकता। जैसे सोना टिकता है, गहने नहीं टिकते; मिट्टी टिकती है, घड़ा नहीं टिकता, ऐसे ही भगवान् टिकते हैं, गुण नहीं टिकते। गुण तो परिवर्तनशील और मिटनेवाले हैं, पर भगवान् नित्य-निरन्तर ज्यों-के-त्यों रहनेवाले हैं। उनका न परिवर्तन होता है, न नाश। इसलिये भगवान्‌की प्राप्ति गुणोंसे नहीं होती, प्रत्युत गुणोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। अतः तमोगुणको रजोगुणसे और रजोगुणको सत्त्वगुणसे जीतकर गुणोंसे अतीत होना है।

यहाँ एक विशेष बात समझनेयोग्य है कि सगुण-साकार भगवान् भी वास्तवमें निर्गुण ही हैं; क्योंकि वे सत्त्व, रज और तमोगुणसे युक्त नहीं हैं, प्रत्युत ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि गुणोंसे युक्त हैं। इसलिये सगुण-साकार भगवान्‌की भक्तिको भी निर्गुण (सत्त्वादि गुणोंसे रहित) बताया गया है; जैसे—**'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्', 'मन्निकेतं तु निर्गुणम्', 'निर्गुणो मदपाश्रयः', 'मत्सेवायां तु निर्गुणा'** (श्रीमद्भा० ११। २५। २४—२७)।

प्रश्न—जब सब कुछ भगवान् ही हैं, तो फिर सात्त्विक-राजस-तामस भाव त्याज्य क्यों हैं?

उत्तर—जैसे जमीनमें जल सब जगह रहता है, पर उसका प्राप्ति-स्थान कुआँ है, ऐसे ही भगवान् सब जगह हैं, पर उनका प्राप्ति-स्थान यज्ञ (कर्तव्य-कर्म) है—**'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्'** (गीता ३। १५)। परन्तु सात्त्विक-राजस-तामस भाव भगवान्‌के प्राप्ति-स्थान नहीं हैं अर्थात् इनके द्वारा भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती (गीता ७। १३)। अतः ये साधकके लिये कामके नहीं हैं। इसलिये भगवान्‌ने कहा है कि ये भाव मेरेसे होनेपर भी मैं इनमें और ये मेरेमें नहीं हैं।

जैसे, बाजरीकी खेतीमें बाजरी ही मुख्य होती है, पत्ती-डंठल नहीं। किसानका लक्ष्य केवल बाजरीको प्राप्त करनेका ही होता है। बाजरीको प्राप्त करनेके लिये वह खेतीको जल, खाद आदिसे पुष्ट करता है, जिससे बढ़िया बाजरी प्राप्त हो सके। ऐसे ही साधकका लक्ष्य भी केवल भगवान्‌का होना चाहिये, संसारका नहीं। भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये साधकको संसारकी सेवा करनी चाहिये। सेवाके सिवाय संसारसे अपना कोई मतलब नहीं रखना चाहिये। महत्त्व बाजरी (दाने) का है, पत्ती-डंठलका नहीं; क्योंकि आरम्भमें भी बाजरी रहती है और अन्तमें भी बाजरी ही रहती है। बाजरी प्राप्त करनेके बाद जो शेष बचता है, वह (पत्ती-डंठल) बाजरीसे अलग न होनेपर भी अपने लिये किसी कामकी चीज नहीं है, प्रत्युत पशुओंके खानेकी चीज है। ऐसे ही सात्त्विक-राजस-तामस भाव मूढ़ (अविवेकी) मनुष्योंके लिये हैं। ये तीनों ही भाव मनुष्यको बाँधनेवाले हैं†। इसलिये ये भाव भगवान्‌के रूप होते हुए भी स्वयंके लिये नहीं हैं, प्रत्युत विवेकपूर्वक सांसारिक व्यवहारके लिये हैं। जैसे, जहर भी भगवान्‌का

---

* **काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।**
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ (गीता ३। ३७)

† **सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।**
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ (गीता १४। ५)

रूप है, पर वह खानेके लिये नहीं है!

जैसे बाजरी (बीज) से पत्ती-डंठल पैदा होनेपर भी पत्ती-डंठलमें बाजरी नहीं है और बाजरीमें पत्ती-डंठल नहीं है, ऐसे ही भगवान्‌से पैदा होनेपर भी सात्त्विक-राजस-तामस भावोंमें भगवान् नहीं हैं और भगवान्‌में सात्त्विक-राजस-तामस भाव नहीं हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ १३॥

किन्तु—

एभिः	= इन	**इदम्**	= यह	**परम्**	= अतीत
त्रिभिः	= तीनों	**सर्वम्**	= सम्पूर्ण	**अव्ययम्**	= अविनाशी
गुणमयैः	= गुणरूप	**जगत्**	= जगत् (प्राणिमात्र)	**माम्**	= मुझे
भावैः	= भावोंसे			**न**	= नहीं
मोहितम्	= मोहित	**एभ्यः**	= इन गुणोंसे	**अभिजानाति**	= जानता।

विशेष भाव—जो मनुष्य भगवान्‌को न देखकर सात्त्विक, राजस और तामस भावोंको ही देखता है, उनका भोग करता है, उनसे सुख लेता है, वह उन भावोंसे मोहित हो जाता है अर्थात् भगवान्‌की दुरत्यय गुणमयी मायासे बँध जाता है और फलस्वरूप बार-बार जन्मता-मरता है। तात्पर्य है कि सात्त्विक, राजस और तामस भाव (कर्म, पदार्थ, काल, स्वभाव, गुण आदि) अनित्य हैं और भगवान् नित्य हैं। जो अनित्यका भोग करते हैं, वे बँध जाते हैं; परन्तु जो अनित्यका त्याग करके नित्यस्वरूप भगवान्‌का आश्रय लेते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं (गीता ७। १४)।

इस श्लोकमें जीवात्माके लिये 'जगत्' शब्द आया है। इसका तात्पर्य है कि जिसकी सत्ता विद्यमान है ही नहीं, उसको सत्ता और महत्ता देकर उससे सम्बन्ध जोड़नेसे जीव भी जगत् हो जाता है! चेतन भी (चेतनताका दुरुपयोग करके) जड़ हो जाता है! उत्कृष्ट परा प्रकृति भी निकृष्ट अपरा प्रकृति बन जाती है! जीव जगत्‌के उत्पत्ति-विनाशको अपना उत्पत्ति-विनाश, जगत्‌के लाभ-हानिको अपना लाभ-हानि मान लेता है। जैसे मनुष्य कामनाके साथ अभिन्न होकर '**कामात्मानः**' अर्थात् कामना-रूप हो जाता है (गीता २। ४३) और भगवान्‌के साथ अभिन्न होकर '**मन्मयाः**' अर्थात् भगवद्रूप हो जाता है (गीता ४। १०), ऐसे ही जीव जगत्‌के साथ अभिन्न होकर जगत्-रूप हो जाता है। फर्क यही है कि भगवद्रूपसे वह नित्य है, पर कामनारूप या जगत्-रूपसे वह अनित्य है।

जीवने भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ताको माना, सत्ता मानकर उसको महत्त्व दिया, महत्त्व देकर उससे सम्बन्ध जोड़ा और सम्बन्ध जोड़कर अपनी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव कर लिया, इसलिये वह 'जगत्' बन गया! जो केवल जगत्‌की सत्ताको मानता है, वह अपनी सत्तासे विमुख होकर जगत् हो जाता है, जो अवास्तविक है और जो केवल भगवान्‌की सत्ताको मानता है, वह अपनी स्वतन्त्र सत्ताकी मान्यताको मिटाकर भगवान् हो जाता है—'**मम साधर्म्यमागताः**' (गीता १४। २), जो वास्तविक है।

जीवको 'जगत्' कहनेका तात्पर्य है कि उसका चेतनताकी तरफ ख्याल ही नहीं रहा, प्रत्युत जड़ शरीरको ही 'मैं' (अपना स्वरूप) और 'मेरा' मानने लग गया। जीव स्वरूपसे निर्गुण तथा अव्यय होनेपर भी 'जगत्' हो जानेके कारण सात्त्विक-राजस-तामस गुणोंसे बँध जाता है—'**निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्**' (गीता १४। ५)। वास्तवमें अलौकिक परमात्माका अंश होनेसे जीव भी अलौकिक ही है*, पर लौकिक जगत्‌को पकड़नेसे वह

---

* **अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।**
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ (गीता १३। ३१)

भी लौकिक हो जाता है! अहम्‌से लेकर पृथ्वीतक सब अपरा प्रकृति है (गीता ७। ४)। अतः जैसे पृथ्वी जड़ है, ऐसे ही अहम् भी जड़ है। जब जीव अहम्‌को दृढ़तासे पकड़कर '**अहङ्कारविमूढात्मा**' हो जाता है अर्थात् अहम्‌को अपना स्वरूप मान लेता है, तब उसका पतन होते-होते वह भी जड़ जगत् ही बन जाता है अर्थात् उसका चेतनपना लुप्त (विस्मृत) हो जाता है, उसको चेतनपनेका अनुभव नहीं होता।

जो गुणोंमें आसक्त नहीं होते, उनके सामने जड़ता रहती ही नहीं, इसलिये उनको सब जगह भगवान्-ही-भगवान् दीखते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)। परन्तु जो गुणोंमें आसक्त होते हैं, उनको भगवान् दीखते ही नहीं, प्रत्युत संसार-ही-संसार दीखता है, इसलिये वे भगवान्‌को भी संसारी ही देखते हैं! वे गुणोंसे अतीत भगवान्‌को भी गुणोंसे बँधे हुए देखते हैं, अविनाशी भगवान्‌को भी जन्मने-मरनेवाला देखते हैं (गीता ७। २४)। भक्तकी दृष्टि तो भगवान्‌को छोड़कर दूसरी तरफ नहीं जाती, पर गुणोंमें आसक्त संसारी लोगोंकी दृष्टि संसारको छोड़कर दूसरी तरफ नहीं जाती। इसलिये भक्तको आनन्द-ही-आनन्द प्राप्त होता है और संसारी मनुष्यको दुःख-ही-दुःख—'**दुःखालयम्**' (गीता ८। १५)।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ १४॥

हि	= क्योंकि	**दुरत्यया**	= दुरत्यय है अर्थात् इससे पार पाना बड़ा कठिन है।	**एव**	= ही
मम	= मेरी			**प्रपद्यन्ते**	= शरण होते हैं,
एषा	= यह			**ते**	= वे
गुणमयी	= गुणमयी			**एताम्**	= इस
दैवी	= दैवी	**ये**	= जो	**मायाम्**	= मायाको
माया	= माया	**माम्**	= केवल मेरे	**तरन्ति**	= तर जाते हैं।

विशेष भाव—जब मनुष्य संसारसे विमुख होकर भगवान्‌की शरणागति स्वीकार कर लेता है, तब वह माया (अपरा प्रकृतिके कार्य) को तर जाता है अर्थात् उसके अहम्‌का सर्वथा नाश हो जाता है। भगवान्‌की शरणागति स्वीकार करनेका तात्पर्य है—भगवान्‌की सत्तामें ही अपनी सत्ता मिला दे अर्थात् केवल भगवान्‌की ही सत्ताको स्वीकार कर ले। न अपनी स्वतन्त्र सत्ता माने, न मायाकी स्वतन्त्र सत्ता माने। न अहम्‌का आश्रय ले, न माया (गुणों) का आश्रय ले। इसमें कोई परिश्रम, उद्योग नहीं है।

मायाको सत्ता मनुष्यने ही दी है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५), '**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' (गीता १५। ७)। अगर वह मायाको सत्ता न देकर केवल भगवान्‌की ही शरणमें रहता तो वह मायाको तर जाता अर्थात् उसके लिये मायाकी सत्ता रहती ही नहीं।

जीव जड़ताका आश्रय लेनेसे अर्थात् उसको अपना एवं अपने लिये माननेसे जड़तामें चला जाता है और जगत् बन जाता है (गीता ७। १३)। परन्तु भगवान्‌का आश्रय लेनेसे वह स्वतःसिद्ध चिन्मयतामें चला जाता है और भक्त हो जाता है। भक्त होनेपर जगत् लुप्त हो जाता है अर्थात् जगत् जगत्-रूपसे नहीं रहता, प्रत्युत भगवत्स्वरूप हो जाता है, जो वास्तवमें है।

'**मामेव**' पदसे भगवान्‌का तात्पर्य है कि जीव मेरा ही (**मम एव**) अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७); अतः मेरे ही (**माम् एव**) शरण होनेसे वह मायाको तर जाता है। इसलिये मेरी शरण लेनेवाले भक्तोंका मेरे सिवाय अन्य किसीसे सम्बन्ध होता ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं; क्योंकि उनकी दृष्टिमें मेरे (भगवान्‌के) सिवाय अन्य कोई होता ही नहीं। न तो उनकी दृष्टि दूसरेमें जाती है और न दूसरा उनकी दृष्टिमें आता है। उनकी दृष्टिमें अपरा प्रकृतिकी न तो सत्ता रहती है, न महत्ता रहती है और न अपनापन ही रहता है। उनकी केवल भगवद्बुद्धि

हो जाती है, जो वास्तवमें भगवत्स्वरूप ही है।

जिनमें विवेककी प्रधानता है, ऐसे भक्त अहम्‌का आश्रय छोड़कर अर्थात् संसारका त्याग करके भगवान्‌के आश्रित होते हैं। परन्तु जिनमें विवेककी प्रधानता नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌में श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता है, ऐसे सीधे-सरल भक्त अहम्‌के साथ (जैसे हैं, वैसे ही) भगवान्‌के आश्रित हो जाते हैं। ऐसे भक्तोंके अहम्‌का नाश भगवान् स्वयं करते हैं (गीता १०। ११)।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥

परन्तु—

मायया	= मायाके द्वारा	**भावम्**	= भावका	**दुष्कृतिनः**	= पाप-कर्म करनेवाले
अपहृतज्ञानाः	= जिनका ज्ञान हरा गया है, (वे)	**आश्रिताः**	= आश्रय लेनेवाले (और)	**मूढाः**	= मूढ़ मनुष्य
आसुरम्	= आसुर	**नराधमाः**	= मनुष्योंमें महान् नीच (तथा)	**माम्**	= मेरे
				न, प्रपद्यन्ते	= शरण नहीं होते।

विशेष भाव—जो मनुष्य भगवान्‌का आश्रय नहीं लेते, वे आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिका आश्रय लेनेवाले होते हैं (गीता ९। १२)। उनकी दृष्टि संसार (पदार्थ और क्रिया) को छोड़कर दूसरी तरफ जाती ही नहीं। उनकी दृष्टिमें भगवान्‌की सत्ता ही नहीं होती, फिर भगवान्‌की शरण लेनेका प्रश्न ही नहीं उठता! भोग भोगना और संग्रह करना ही उनका अन्तिम लक्ष्य होता है—'**कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः**' (गीता १६। ११)। उनका ज्ञान मायाके द्वारा अपहृत होनेसे वे मायाके वशमें होते हैं। मायाके वशमें होनेसे वे मायाको तर ही नहीं सकते।

'**माययापहृतज्ञानाः**' पदका तात्पर्य है कि मायाके कारण उन मनुष्योंकी विवेकशक्ति तिरस्कृत हो गयी है। वे मनुष्य मायामें ही रचे-पचे रहते हैं अर्थात् भोग भोगने और संग्रह करने, शरीरको सजाने, मकानकी सजावट करने आदिमें ही लगे रहते हैं। वे शरीरको सुख-आराम देनेवाली वस्तुओंका ही नया-नया आविष्कार करते रहते हैं और उसीको विशेष महत्त्व देते हैं। ऐसे अनित्य, परिवर्तनशील वस्तुओंको ही जाननेवाले लोग नित्य, अपरिवर्तनशील तत्त्वको कैसे जानें? क्योंकि उधर उनकी दृष्टि जाती ही नहीं, जा सकती ही नहीं।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६॥

भरतर्षभ, अर्जुन	= हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**आर्तः**	= आर्त,	**चतुर्विधाः**	= चार प्रकारके
सुकृतिनः	= पवित्र कर्म करनेवाले	**जिज्ञासुः**	= जिज्ञासु	**जनाः**	= मनुष्य
अर्थार्थी	= अर्थार्थी,	**च**	= और	**माम्**	= मेरा
		ज्ञानी	= ज्ञानी अर्थात् प्रेमी—(ये)	**भजन्ते**	= भजन करते हैं अर्थात् मेरे शरण होते हैं।

विशेष भाव—चौदहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि मेरी शरण लेनेवाले भक्त गुणमयी मायाको तर जाते

हैं। वे शरण लेनेवाले भक्त कौन हैं—इसको अब इस श्लोकमें बताते हैं।

पूर्व श्लोकमें 'दुष्कृती' मनुष्योंकी और इस श्लोकमें 'सुकृती' मनुष्योंकी बात आयी है। जो हमारेसे अलग है, उस संसारको अपना मानना सबसे बड़ा दुष्कृत अर्थात् पाप है और जो हमारेसे अभिन्न हैं, उन भगवान्‌को अपना मानना सबसे बड़ा सुकृत अर्थात् पुण्य है। अत: जो संसारको अपना मानते हैं, वे दुष्कृती हैं और जो भगवान्‌को अपना मानते हैं, वे सुकृती हैं।

भोगी मनुष्य भगवान्‌में नहीं लगता, इसलिये 'अर्थार्थी' तो भगवान्‌का भक्त हो सकता है, पर 'भोगार्थी' भगवान्‌का भक्त नहीं हो सकता। कारण कि भोगार्थीमें संसारकी लिप्तता अधिक होती है और अर्थार्थीमें लिप्तता कम होती है तथा भगवान्‌की मुख्यता होती है।

कुछ अंशमें भगवान्‌के सिवाय अन्य सत्ताकी मान्यता होनेके कारण ही भक्त अर्थार्थी, आर्त अथवा जिज्ञासु होता है। अगर अन्य सत्ताकी मान्यता सर्वथा न हो तो वह ज्ञानी (प्रेमी) हो जाता है। तात्पर्य है कि भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता माननेसे ही ये चार भेद होते हैं। वास्तवमें एक भगवान्‌की सत्ताके सिवाय दूसरी सत्ता सम्भव ही नहीं है।

जो विज्ञानसहित ज्ञानको अर्थात् परमात्माके समग्ररूपको जानना चाहता है, वह 'जिज्ञासु' है। जिज्ञासु भगवान्‌के ऐश्वर्य, प्रभाव, सामर्थ्यको जानना चाहता है, इसलिये भगवान्‌की लीला-कथामें उसको विशेष रस आता है। भगवान्‌ने 'मुमुक्षु' पद न देकर 'जिज्ञासु' पद दिया है; क्योंकि मुमुक्षु तो केवल तत्त्वज्ञान चाहनेवाला ही हो सकता है, पर 'जिज्ञासु' ज्ञान चाहनेवाला भी हो सकता है और भक्ति चाहनेवाला भी। मुमुक्षुमें अपने कल्याणकी बात मुख्य होती है और जिज्ञासु भक्तमें अपनेको भगवान्‌के अर्पित करनेकी बात मुख्य होती है। मुमुक्षुको ब्रह्मका ज्ञान होता है और जिज्ञासु भक्तको '**वासुदेवः सर्वम्**' का ज्ञान होता है। तत्त्वज्ञानीको तो ब्रह्मका ज्ञान होता है, पर भक्तको समग्रका ज्ञान होता है (गीता ७। २९-३०)।

अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासुमें क्रमशः संसारका सम्बन्ध घटता जाता है और परमात्माका सम्बन्ध बढ़ता जाता है। जबतक जीव जगत्‌को धारण किये रहता है, तभीतक अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु रहते हैं। जब वह जगत्‌को धारण नहीं करता, तब केवल 'ज्ञानी' रहता है।

जिस भक्तको 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार परमात्माके समग्ररूपका ज्ञान हो गया है, उसको यहाँ '**ज्ञानी**' कहा गया है। इसी ज्ञानी भक्तको आगे उन्नीसवें श्लोकमें '**ज्ञानवान्**' कहा गया है।

'अर्थार्थी' प्राप्त परिस्थितिमें सन्तोष न करके धन चाहता है। 'आर्त' प्राप्त परिस्थितिमें सन्तोष तो करता है, पर दु:ख आनेपर उससे दु:ख सहा नहीं जाता। 'अर्थार्थी' में अर्थकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की मुख्यता है। उसमें धनकी इच्छा तो रहती है, पर उस इच्छाको वह केवल भगवान्‌से ही पूरी कराना चाहता है। कारण कि भगवान्‌में कोई कमी नहीं है। अपरा प्रकृति है तो भगवान्‌की ही! 'आर्त' भी अपना दु:ख केवल भगवान्‌से ही दूर करना चाहता है। 'जिज्ञासु' भी केवल भगवान्‌से ही अपनी जिज्ञासाकी पूर्ति करना चाहता है। परन्तु जब भक्तमें ऐसी उत्कट अभिलाषा रहती है कि 'मेरेको केवल भगवान् ही प्यारे लगें', तब उसमें अर्थार्थीपना, आर्तपना और जिज्ञासुपना नहीं रहता और वह ज्ञानी अर्थात् प्रेमी हो जाता है।

'अर्थार्थी' का तो अर्थसे निरन्तर सम्बन्ध रहता है; क्योंकि अर्थकी वासना हरदम रहती है। परन्तु 'आर्त' का दु:खसे निरन्तर सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि दु:ख हरदम नहीं रहता। 'जिज्ञासु' को सुख-दु:खकी परवाह नहीं होती; अत: वह न तो सुखके आनेकी इच्छा करता है और न दु:खके जानेकी इच्छा करता है। अर्थार्थी और आर्त—दोनों जिज्ञासु होकर ज्ञानी हो जाते हैं।

'अर्थार्थी' भक्तको जब अर्थ मिलता है, तब उसको अपनी भूलपर पश्चात्ताप होता है; जैसे—ध्रुवजीको राज्य मिलनेपर पश्चात्ताप हुआ। परन्तु 'आर्त' भक्तको उतना पश्चात्ताप नहीं होता, प्रत्युत उसमें यह भाव रहता है कि भगवान् दु:ख दूर करनेवाले हैं; जैसे—द्रौपदी और गजेन्द्रकी रक्षा होनेपर उनको पश्चात्ताप नहीं हुआ, प्रत्युत भगवान्‌की तरफ ही उनकी वृत्ति रही। 'आर्त' भक्त आये हुए दु:खको सह नहीं सकता—यह उसकी कमजोरी है।

'जिज्ञासु' भक्तमें भगवान्‌के समग्ररूपको जाननेकी कमी रहती है। उसको मुक्ति, तत्त्वज्ञान होनेपर भी सन्तोष

नहीं होता, प्रत्युत उसमें प्रेम प्राप्त करनेकी भूख रहती है। परन्तु 'ज्ञानी' भक्तकी दृष्टिमें एक वासुदेवके सिवाय अन्य सत्ता लेशमात्र भी नहीं होती, फिर उसमें कोई कमी कैसे रह सकती है? इसलिये भगवान्‌ने ज्ञानी भक्तको अपना स्वरूप बताया है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७। १८)।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ १७॥

तेषाम्	=उन चार भक्तोंमें	**विशिष्यते**	=श्रेष्ठ है;	**प्रियः**	=प्रिय हूँ
नित्ययुक्तः	=मुझमें निरन्तर लगा हुआ	**हि**	=क्योंकि	**च**	=और
		ज्ञानिनः	=ज्ञानी भक्तको	**सः**	=वह
एकभक्तिः	=अनन्य भक्तिवाला	**अहम्**	=मैं	**मम**	=मुझे
ज्ञानी	=ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त	**अत्यर्थम्**	=अत्यन्त	**प्रियः**	=(अत्यन्त) प्रिय है।

विशेष भाव—भगवान्‌ने अपने प्रेमी भक्तको 'ज्ञानी' नामसे इसलिये कहा है कि 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यही वास्तविक और अन्तिम ज्ञान है, इससे आगे कुछ नहीं है। इसलिये ऐसा अनुभव करनेवाला प्रेमी भक्त ही वास्तविक ज्ञानी है (गीता ७। १९)। कारण कि ऐसे भक्तकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं, जबकि विवेकी पुरुषकी दृष्टिमें सत् और असत्—दो सत्ता रहती है। तात्पर्य है कि यहाँ 'ज्ञानी' शब्द जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानीके लिये नहीं आया है, प्रत्युत **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव करनेवाले ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्तके लिये आया है। गीतामें भगवान्‌ने मुख्य रूपसे भक्तको ही 'ज्ञानी' कहा है (७। १६—१८); क्योंकि वही अन्तिम और असली ज्ञानी है। उसका केवल भगवान्‌में ही प्रेम होता है, इसलिये वह श्रेष्ठ है—**'एकभक्तिर्विशिष्यते'।**

भगवान्‌का अर्थार्थी भक्त अनित्ययुक्त (निरन्तर भगवान्‌में न लगा हुआ) होता है। अर्थार्थीकी अपेक्षा आर्त कम अनित्ययुक्त होता है। आर्तकी अपेक्षा भी जिज्ञासु कम अनित्ययुक्त होता है। परन्तु ज्ञानी सर्वथा नित्ययुक्त होता है।

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' पदोंका तात्पर्य है कि **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव होनेपर फिर भक्त और भगवान्—दोनोंमें परस्पर प्रेम-ही-प्रेम शेष रहता है। इसीको शास्त्रोंमें प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम, अनन्तरस आदि नामोंसे कहा गया है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ १८॥

एते	=पहले कहे हुए	**आत्मा**	=स्वरूप	**अनुत्तमाम्, गतिम्**	=जिससे श्रेष्ठ दूसरी कोई गति नहीं है, (ऐसे)
सर्वे, एव	=सब-के-सब (चारों) ही भक्त	**एव**	=ही है—		
		मतम्	=(ऐसा मेरा) मत है।		
उदाराः	=बड़े उदार (श्रेष्ठ भाववाले) हैं।	**हि**	=कारण कि		
तु	=परन्तु	**सः**	=वह	**माम्**	=मुझमें
ज्ञानी	=ज्ञानी (प्रेमी) तो	**युक्तात्मा**	=मुझसे अभिन्न है (और)	**एव**	=ही
मे	=मेरा			**आस्थितः**	=दृढ़ स्थित है।

विशेष भाव—सांसारिक अर्थार्थी भगवान्‌को छोड़कर केवल अर्थको ही चाहता है; अतः वह झूठ, कपट, बेईमानी आदिका भक्त होता है। उसके भीतर धनका महत्त्व ज्यादा होनेसे वह उदार नहीं होता, प्रत्युत महान् कृपण होता है। अतः उसके लिये 'उदार' शब्द लागू ही नहीं होता। परन्तु जो अर्थार्थी भगवान्‌का भक्त होता है, उसके भीतर अर्थका महत्त्व न होकर भगवान्‌का महत्त्व होता है। इसलिये उसमें कृपणता नहीं होती, प्रत्युत उदारता होती है। अतः उसको भगवान्‌ने यहाँ उदार कहा है। यहाँ उदारभावका अर्थ है—त्याग। अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु भक्त संसार (भोग और संग्रह) को छोड़कर भगवान्‌में लग गये—यह उनका त्याग है। इसलिये वे सभी उदार हैं—'**उदाराः सर्व एवैते।**' एकमात्र भगवान्‌का सम्बन्ध मुख्य होनेसे अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु भी आगे चलकर स्वतः 'ज्ञानी' हो जाते हैं।

एक मार्मिक बात है कि भगवान्‌को न मानना कामनासे भी अधिक दोषी है। जो भगवान्‌को छोड़कर अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, उनमें यदि कामना रह जाय तो वे जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं—'**गतागतं कामकामा लभन्ते**' (गीता ९। २१)। परन्तु जो केवल भगवान्‌का ही भजन करते हैं, उनमें यदि कामना रह भी जाय तो भगवान्‌की कृपा और भजनके प्रभावसे वे भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं। कारण कि मनुष्यका किसी भी तरहसे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ जाय तो वह भगवान्‌को ही प्राप्त होता है*; क्योंकि वह मूलमें भगवान्‌का ही अंश है।

अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु—इन तीनोंको ही भगवान्‌ने यहाँ 'उदार' कहा है। परन्तु जो भगवान्‌के सिवाय अन्यका भजन करनेवाले हैं, उनको भगवान्‌ने उदार न कहकर 'अल्पमेधा' कहा है (गीता ७। २३) और उनके भजनको अविधिपूर्वक किया गया बताया है (गीता ९। २३)। देवताओंको भगवान्‌से अलग समझनेके कारण अर्थात् देवताओंमें भगवद्‌बुद्धि न होनेके कारण तथा कामना भी होनेके कारण उनकी उपासना अविधिपूर्वक है। तात्पर्य है कि सबमें भगवद्‌बुद्धि न होना सकामभावसे भी अधिक घातक है; क्योंकि चेतनके साथ सम्बन्ध नहीं हुआ!

तत्त्वज्ञानीकी ब्रह्मसे 'तात्त्विक एकता' अर्थात् सधर्मता होती है; परन्तु भक्तकी भगवान्‌के साथ 'आत्मीय एकता' होती है—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**'। तत्त्वज्ञानीकी तात्त्विक एकता (सधर्मता) में जीव और ब्रह्ममें अभेद हो जाता है अर्थात् जैसे ब्रह्म सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है, ऐसे वह भी सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हो जाता है और एक तत्त्वके सिवाय कुछ नहीं रहता। परन्तु भक्तकी आत्मीय एकतामें जीव और भगवान्‌में अभिन्नता हो जाती है। अभिन्नतामें भक्त और भगवान् एक होते हुए भी प्रेमके लिये दो हो जाते हैं। उनमें दोनों ही प्रेमी और दोनों ही प्रेमास्पद होते हैं। इसलिये वे दो होते हुए भी एक ही रहते हैं।

जीव परमात्माका अंश है। अतः वह परमात्मासे जितना-जितना दूर जाता है, उतना-उतना अहंकार दृढ़ होता जाता है और वह ज्यों-ज्यों परमात्माकी तरफ आता है, त्यों-त्यों अहंकार मिटता जाता है। स्वरूपमें स्थित होनेपर भी सूक्ष्म अहम्‌की गन्ध रह सकती है। परन्तु प्रेममें परमात्माके साथ अभिन्नता (आत्मीयता) होनेपर जीवका अपरा प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और अहंकार सर्वथा मिट जाता है; क्योंकि अहंकार अपरा प्रकृतिका ही कार्य है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।**'

अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासुमें क्रमशः अपनी स्वतन्त्र सत्ता (अहंता) कम होती जाती है और ज्ञानीमें अपनी स्वतन्त्र सत्ता बिलकुल नहीं रहती। इसलिये '**त्वात्मैव**' पदका तात्पर्य है कि प्रेमी भक्तकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रही, प्रत्युत केवल भगवान् ही रहे अर्थात् प्रेमीके रूपमें साक्षात् भगवान् ही हैं—'**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्**' (नारद० ४१)। यह आत्मीयता भक्तिके लिये स्वीकृत द्वैत है, जो ज्ञानयोगके अद्वैतसे भी सुन्दर है—'**भक्त्यर्थं कल्पितं (स्वीकृतं) द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्**'† (बोधसार, भक्ति० ४२)।

---

* **कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः।**
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥ (श्रीमद्भा० ७। १। २९)

'एक नहीं, अनेक मनुष्य कामसे, द्वेषसे, भयसे और स्नेहसे अपने मनको भगवान्‌में लगाकर तथा अपने सारे पाप धोकर वैसे ही भगवान्‌को प्राप्त हुए हैं, जैसे भक्त भक्तिसे।'

† भक्तिका यह अद्वैत कल्पना नहीं है, प्रत्युत स्वीकृति है। कल्पित अद्वैत तो असत्य होता है, उसमें प्रेम नहीं होता।

'**मामेवानुत्तमां गतिम्**'—भगवान्‌से बढ़कर उत्तम गति और कोई नहीं है। 'गति' शब्दके तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। यहाँ 'गति' शब्द प्राप्तिके अर्थमें आया है। अन्तिम प्रापणीय तत्त्व होनेसे भगवान् सर्वोत्तम गति हैं।

'**आस्थितः**'—एक दृढ़ता अभ्याससे होती है और एक दृढ़ता स्वतः होती है। जैसे मात्र प्राणियोंकी 'मैं हूँ'—इस प्रकार अपने-आपमें स्वतः दृढ़ स्थिति होती है, ऐसे ही ज्ञानी भक्तकी भगवान्‌में स्वतः दृढ़ स्थिति होती है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ १९॥

बहूनाम्	= बहुत	**सर्वम्**	= 'सब कुछ	**माम्**	= मेरे
जन्मनाम्	= जन्मोंके	**वासुदेवः**	= परमात्मा ही हैं'—	**प्रपद्यते**	= शरण होता है,
अन्ते	= अन्तिम जन्ममें अर्थात् मनुष्यजन्ममें	**इति**	= इस प्रकार	**सः**	= वह
		ज्ञानवान्	= (जो) ज्ञानवान्	**महात्मा**	= महात्मा
				सुदुर्लभः	= अत्यन्त दुर्लभ है।

विशेष भाव—सोलहवें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—इन चार प्रकारके भक्तोंद्वारा अपना भजन करनेकी बात कही थी—'**चतुर्विधा भजन्ते माम्**'। उनमें ज्ञानीके भजनका क्या स्वरूप है—इसको इस श्लोकमें बताते हैं कि 'सब कुछ वासुदेव ही है'—ऐसा अनुभव करना ही ज्ञानीका भजन है, शरणागति है। असली शरणागति वही है, जिसमें शरणागतकी सत्ता ही न रहे, प्रत्युत शरण्य ही रह जाय।

सब कुछ भगवान् ही हैं—यह वास्तविक ज्ञान है। ऐसे वास्तविक ज्ञानवाला महात्मा भक्त भगवान्‌के शरण हो जाता है अर्थात् अपना अस्तित्व (मैंपन) मिटाकर भगवान्‌में लीन हो जाता है। फिर मैंपन नहीं रहता अर्थात् प्रेमवाला नहीं रहता, प्रत्युत केवल प्रेमस्वरूप भगवान् रह जाते हैं, जिनमें मैं-तू-यह-वह चारों ही नहीं हैं। यही शरणागतिका वास्तविक स्वरूप है।

'महात्मा' शब्दका अर्थ है—महान् आत्मा अर्थात् अहंभाव, व्यक्तित्व, एकदेशीयतासे सर्वथा रहित आत्मा*। जिसमें अहंभाव, व्यक्तित्व, एकदेशीयता है, वह 'अल्पात्मा' है।

यहाँ '**वासुदेवः**' पद पुँल्लिङ्गमें आया है; अतः यहाँ '**वासुदेवः सर्वः**' पद आने चाहिये थे। परन्तु यहाँ '**सर्वः**' पद न देकर '**सर्वम्**' पद दिया गया है, जो नपुंसकलिङ्गमें है। अगर तीनों लिङ्गों (**सर्वः, सर्वा और सर्वम्**) का एकशेष किया जाय तो नपुंसकलिङ्ग (**सर्वम्**) ही एकशेष रहता है। नपुंसकलिङ्गके अन्तर्गत तीनों लिङ्ग आ जाते हैं। अतः '**सर्वम्**' पदमें स्त्री, पुरुष और नपुंसक—सबका समाहार हो जाता है। गीतामें जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंके लिये पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—इन तीनों ही लिङ्गोंका प्रयोग हुआ है†। इससे यह तात्पर्य

* गीतामें भगवान्‌ने 'महात्मा' शब्दका प्रयोग केवल भक्तके लिये ही किया है। जो भक्तिमार्गपर चलते हैं, उन साधकोंको भी महात्मा कहा है—'**महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः**' (९। १३), जो भगवान्‌से अभिन्न हो गये हैं, उनको भी महात्मा कहा है—'**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः**' (७। १९), और जो परमसिद्धि (परमप्रेम) को प्राप्त हो चुके हैं, उनको भी महात्मा कहा है—'**नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः**' (८। १५)। इसी तरह गीतामें भगवान्‌ने '**सुकृतिनः**' (७।१६), '**उदाराः**' (७। १८), '**सुदुर्लभः**' (७। १९), '**युक्ततमः**' (६। ४७; १२। २), '**अद्वेष्टा**', '**मैत्रः**', '**करुणः**' (१२। १३), '**अतीव मे प्रियाः**' (१२। २०) आदि पदोंका प्रयोग भी केवल भक्तके लिये ही किया है।

† द्रष्टव्य—'गीता-दर्पण' ग्रन्थमें लेख-संख्या ९९— 'गीतामें ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृतिकी अलिङ्गता'।

निकलता है कि जगत्, जीव और परमात्मा—ये तीनों ही '**सर्वम्**' शब्दके अन्तर्गत हैं। अतः तीनों लिङ्गोंसे कही जानेवाली सब-की-सब वस्तुएँ, व्यक्ति, परिस्थितियाँ आदि परमात्मा ही हैं।

'**वासुदेवः सर्वम्**'—इसमें '**सर्वम्**' तो असत् है और '**वासुदेवः**' सत् है। असत्का भाव विद्यमान नहीं है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। तात्पर्य है कि सत्-ही-सत् है, असत् है ही नहीं। वासुदेव-ही-वासुदेव है, '**सर्वम्**' है ही नहीं। परन्तु कहने, सुनने, पढ़नेवाले साधकोंकी दृष्टिमें '**सर्वम्**' (संसार) रहता है, इसलिये भगवान् '**सर्वम्**' की धारणा मिटानेके लिये '**वासुदेवः सर्वम्**' कहते हैं।

कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, लययोगी, हठयोगी, राजयोगी, मन्त्रयोगी, अनासक्तयोगी आदि अनेक तरहके योगी हैं, जिनका शास्त्रोंमें वर्णन हुआ है, पर उनको भगवान् अत्यन्त दुर्लभ नहीं बताते हैं, प्रत्युत 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इसका अनुभव करनेवाले महात्माको ही अत्यन्त दुर्लभ बताते हैं।

भगवान् सम्पूर्ण संसारके बीज हैं—'**यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन**' (गीता १०। ३९), '**बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्**' (गीता ७। १०)। बीजसे जितनी चीजें पैदा होती हैं, वे सब बीजरूप ही होती हैं। जैसे, गेहूँसे पैदा होनेवाली खेतीको भी गेहूँ ही कहते हैं। किसानलोग कहते हैं कि गेहूँकी खेती बहुत अच्छी हुई है! देखो, खेतमें गेहूँ खड़े हैं, गेहूँसे खेत भरा है! परन्तु कोई शहरमें रहनेवाला व्यापारी हो, वह उसको गेहूँ कैसे मान लेगा? वह कहेगा कि मैंने बोरे-के-बोरे गेहूँ खरीदा और बेचा है, क्या मैं नहीं जानता कि गेहूँ कैसा होता है? यह तो घास है, डंठल और पत्ती है, यह गेहूँ नहीं है। परन्तु खेती करनेवाला जानकार आदमी तो यही कहेगा कि यह वह घास नहीं है, जो पशु खाया करते हैं; यह तो गेहूँ है। खेतीको गाय खा जाती है तो कहते हैं कि तुम्हारी गाय हमारा गेहूँ खा गयी, जबकि उसने गेहूँका एक दाना भी नहीं खाया। खेतमें भले ही गेहूँका एक दाना भी न दीखे, पर यह गेहूँ है—इसमें सन्देह नहीं होता। कारण कि यह पहले भी गेहूँ ही था, अन्तमें भी गेहूँ रहेगा; अतः बीचमें खेतीरूपसे अलग दीखते हुए भी गेहूँ ही है। अभी तो यह हरी-हरी घास दीखती है, पर बादमें पकनेपर इससे गेहूँ ही निकलेगा। इसी तरह संसारके पहले भी परमात्मा थे—'**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**' (छान्दोग्य० ६। २। १), अन्तमें भी परमात्मा ही रहेंगे—'**शिष्यते शेषसंज्ञः**' (श्रीमद्भा० १०। ३। २५)। अतः बीचमें भी सब कुछ परमात्मा ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

जबतक साधकमें अहम् है, तबतक वह भोगी है। मैं योगी हूँ—यह योगका भोग है, मैं ज्ञानी हूँ—यह ज्ञानका भोग है, मैं प्रेमी हूँ—यह प्रेमका भोग है। जबतक साधकमें भोग रहता है, तबतक उसके पतनकी सम्भावना रहती है। जो योगका भोगी है, वह कभी विषयोंका भोगी भी हो सकता है; जो ज्ञानका भोगी है, वह कभी अज्ञानका भोगी भी हो सकता है और जो प्रेमका भोगी है, वह कभी रागका भोगी भी हो सकता है। कारण कि उसमें पहलेसे भोगकी प्रवृत्ति, आदत रही है। जब भोगी नहीं रहता, तब केवल योग रहता है। योग रहनेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है। परन्तु मुक्त होनेपर भी महापुरुषने जिस साधनसे मुक्ति प्राप्त की है, उस साधनका एक संस्कार (अहम्की सूक्ष्म गन्ध) रह जाता है, जो दूसरे दार्शनिकोंके साथ एकता नहीं होने देता। इस संस्कारके कारण ही दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें मतभेद रहता है। अपने मतका संस्कार दूसरे दार्शनिकोंके मतोंका समान आदर नहीं करने देता। परन्तु प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति होनेपर अपने मतका संस्कार भी नहीं रहता और सबके साथ एकता हो जाती है अर्थात् सम्पूर्ण मतभेद मिट जाते हैं और '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव हो जाता है। वास्तवमें '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करनेवाला, इसको जाननेवाला, कहनेवाला भी नहीं रहता, प्रत्युत एक वासुदेव ही रहता है, जो अनादिकालसे ज्यों-का-त्यों है। सबमें परमात्माको देखनेसे सम्पूर्ण मतोंमें समान आदरभाव हो जाता है; क्योंकि अपने इष्ट परमात्मासे विरोध सम्भव ही नहीं है—'***निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध***' (मानस, उत्तर० ११२ ख)।

ईश्वर और जीवके विषयमें दो तरहका वर्णन है—(१) ईश्वर समुद्र है और जीव उसकी तरंग है अर्थात् तरंग समुद्रकी है और (२) जीव (स्वरूप) समुद्र है और ईश्वर उसकी तरंग है अर्थात् समुद्र तरंगका है। इन दोनोंमें तरंग समुद्रकी है—ऐसा मानना ही ठीक दीखता है। समुद्र तरंगका है—ऐसा मानना ठीक नहीं दीखता; क्योंकि समुद्र अपेक्षाकृत नित्य है और तरंग अनित्य (क्षणभंगुर) है। अतः तरंग समुद्रकी होती है, समुद्र तरंगका नहीं

होता। अगर अपनेको समुद्र और ईश्वरको तरंग मानें तो इस मान्यतासे अनर्थ होगा; क्योंकि ऐसा माननेसे अभिमान पैदा हो जायगा तथा अहम् (चिज्जड़ग्रन्थि) तो नित्य रहेगा और ईश्वर अनित्य हो जायगा! कारण कि जीवमें अनादिकालसे अहम् (व्यक्तित्व) का अभ्यास पड़ा हुआ है। अतः जहाँ स्वरूपको अहम् कहेंगे, वहाँ वही अहम् आयेगा, जो अनादिकालसे है। उस अहम्‌के मिटनेसे ही मुक्ति होती है। उपर्युक्त दोनों बातोंके सिवाय तीसरी एक विलक्षण बात है कि जल-तत्त्वमें न समुद्र है, न तरंग है अर्थात् वहाँ समुद्र और तरंगका भेद नहीं है। यही वास्तविक बात है। समुद्र और तरंग तो सापेक्ष हैं, पर जल-तत्त्व निरपेक्ष है।

जैसे जल-तत्त्वमें समुद्र, नदी, वर्षा, ओस, कोहरा, भाप, बादल आदि सब मिटकर एक हो जाते हैं, ऐसे ही **'वासुदेवः सर्वम्'** में सभी साधन, योगमार्ग मिटकर एक (वासुदेवरूप) हो जाते हैं। जैसे जल-तत्त्वमें कोई भेद नहीं है, ऐसे ही **'वासुदेवः सर्वम्'** में कोई भेद नहीं है। मतभेदसे असन्तोष होता है, पर **'वासुदेवः सर्वम्'** में कोई मतभेद न होनेसे सबको सर्वथा सन्तोष हो जाता है। **'वासुदेवः सर्वम्'** में न योगी है, न ज्ञानी है, न प्रेमी है, इसलिये इसका अनुभव करनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

एक ही जल बर्फ, कोहरा, बादल, ओला, वर्षा, नदी, तालाब, समुद्र आदि अनेक रूपोंमें हो जाता है। कड़ाहीमें बर्फ डालकर उसको अग्निपर रखा जाय तो बर्फ पिघलकर पानी हो जायगी। फिर पानी भी भाप हो जायगा और भाप परमाणु होकर निराकार हो जायगा। जल ही कोहरारूपसे होता है, वही बादलरूपसे होता है, वही निराकाररूपसे होता है, वही बर्फरूपसे होता है, वही ओलारूपसे होता है, वही वर्षारूप होकर पृथ्वीपर बरसता है, वही नदीरूपसे होता है, वही समुद्ररूपसे होता है। अनेक रूपसे होनेपर भी तत्त्वसे जल एक ही रहता है। इसी तरह एक ही भगवान् अनेक रूपसे बन जाते हैं। जैसे जल ठण्डकसे जमकर बर्फ हो जाता है और गरमीसे पिघलकर तथा भाप बनकर परमाणुरूप हो जाता है, ऐसे ही अज्ञानरूपी ठण्डकसे भगवान् स्थूल तथा जड़ संसाररूपसे दीखते हैं और ज्ञानरूपी अग्निसे सूक्ष्म तथा चेतन वासुदेवरूपसे दीखते हैं। जल चाहे बर्फरूपसे दीखे, चाहे भाप, बादल आदि रूपोंसे दीखे, है वह जल ही। जलके सिवाय कुछ नहीं है। ऐसे ही भगवान् चाहे संसाररूपसे दीखें, चाहे अन्य रूपोंसे दीखें, हैं वे भगवान् ही। भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है।

साधकसे एक गलती होती है कि वह अपनेको अलग रखकर संसारको भगवत्स्वरूप देखनेकी चेष्टा करता है अर्थात् **'वासुदेवः सर्वम्'** को अपनी बुद्धिका विषय बनाता है। वास्तवमें दीखनेवाला संसार ही भगवत्स्वरूप नहीं है, प्रत्युत देखनेवाला भी भगवत्स्वरूप है—**'सकलमिदमहं च वासुदेवः'** (विष्णुपुराण ३। ७। ३२)। अतः साधकको ऐसा मानना चाहिये कि अपनी देहसहित सब कुछ भगवान् ही हैं अर्थात् शरीर भी भगवत्स्वरूप है, इन्द्रियाँ भी भगवत्स्वरूप हैं, मन भी भगवत्स्वरूप है, बुद्धि भी भगवत्स्वरूप है, प्राण भी भगवत्स्वरूप हैं, और अहम् (मैंपन) भी भगवत्स्वरूप है। सब कुछ भगवान् ही हैं— इसको माननेके लिये साधकको बुद्धिसे जोर नहीं लगाना चाहिये, प्रत्युत सहजरूपसे जैसा है, वैसा स्वीकार कर लेना चाहिये। इसलिये श्रीमद्भागवतमें आया है—

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(११। २९। १८)

जब 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा निश्चय हो जाय, तब साधक इस अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) के द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह भगवान्‌को भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् भगवान् ही दीखने लगें।

तात्पर्य है कि 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस भावसे भी उपराम हो जाय अर्थात् न द्रष्टा (देखनेवाला) रहे, न दृश्य (दीखनेवाला) रहे और न दर्शन (देखनेकी वृत्ति) ही रहे, केवल भगवान् ही रहें।

'वासुदेवः सर्वम्' का अनुभव अनेक दृष्टियोंसे हो सकता है; जैसे—

(१) क्रिया, पदार्थ और व्यक्तिका तो आदि और अन्त होता है, पर सत्ता निरन्तर ज्यों-की-त्यों रहती है। इसलिये मनुष्यमात्रको क्रिया, पदार्थ और व्यक्तिके अभावका तो अनुभव होता है, पर अपनी सत्ताके अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। इस नित्य-निरन्तर रहनेवाली सत्ताका अनुभव होना विवेककी दृष्टिसे **'वासुदेवः सर्वम्'** है।

(२) सृष्टिसे पहले भी केवल भगवान् थे और पीछे भी केवल भगवान् रहेंगे, फिर बीचमें भगवान्‌के सिवाय दूसरा कैसे आ सकता है?—यह युक्तिकी दृष्टिसे '**वासुदेवः सर्वम्**' है।

(३) मेरे तो एक भगवान् ही हैं, भगवान्‌के सिवाय मेरा कोई है ही नहीं; और कोई है तो होगा, हमें उससे क्या मतलब?—यह सीधे-सरल, विश्वासी भक्तोंकी दृष्टिसे '**वासुदेवः सर्वम्**' है। जैसे, व्रजमें एक साधु कुएँपर किसीसे बातें कर रहा था कि ब्रह्म ऐसा होता है, जीव ऐसा होता है आदि-आदि। वहाँ जल भरनेके लिये आयी एक गोपीने ये बातें सुनीं तो उसने दूसरी गोपीसे पूछा—अरी वीर! ये ब्रह्म, जीव आदि क्या होते हैं? वह गोपी बोली कि ये हमारे लालाके ही कोई सगे-सम्बन्धी होंगे, तभी साधुलोग उनकी बात करते हैं, नहीं तो साधुओंको लालाके सिवाय औरसे क्या मतलब?

(४) जिसके भीतर भगवत्तत्त्वको जाननेकी व्याकुलता है, दिनमें भूख नहीं लगती, रातमें नींद नहीं आती, वह किसी सन्तसे सुनकर अथवा पुस्तकमें पढ़कर दृढ़तापूर्वक मान लेता है कि सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान् कैसे हैं—इसका तो पता नहीं, पर भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है—यह सन्तके वचनोंपर विश्वासकी दृष्टिसे '**वासुदेवः सर्वम्**' है। सन्त-वचनपर प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास होनेपर फिर वैसा ही दीखने लग जाता है अर्थात् अनुभव हो जाता है।

दार्शनिक दृष्टिसे विचार करें तो सत्ता एक ही हो सकती है, दो नहीं। श्रद्धा-विश्वास (भक्ति) की दृष्टिसे देखें तो सब कुछ भगवान् ही हैं, भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है। भक्तकी दृष्टि भगवान्‌को छोड़कर दूसरी तरफ जाती ही नहीं और भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई उसकी दृष्टिमें आता ही नहीं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ २०॥

परन्तु—

तैः, तैः	= उन-उन	**प्रकृत्या**	= प्रकृति अर्थात् स्वभावसे		उन-उन
कामैः	= कामनाओंसे	**नियताः**	= नियन्त्रित होकर	**नियमम्**	= नियमोंको
हृतज्ञानाः	= जिनका ज्ञान हरा गया है, (ऐसे मनुष्य)	**तम्, तम्**	= उस-उस अर्थात् देवताओंके	**आस्थाय**	= धारण करते हुए
स्वया	= अपनी-अपनी			**अन्यदेवताः**	= अन्य देवताओंके
				प्रपद्यन्ते	= शरण हो जाते हैं।

विशेष भाव—भगवान्‌के अर्थार्थी और आर्त भक्तोंमें जो कामनाएँ हैं, वही कामनाएँ इस श्लोकमें वर्णित मनुष्योंमें भी हैं। परन्तु दोनोंमें फर्क यह है कि अर्थार्थी और आर्त भक्तोंमें कामनाकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की मुख्यता है, इसलिये वे '**हृतज्ञानाः**' नहीं हैं। परन्तु यहाँ वर्णित मनुष्योंमें कामनाकी मुख्यता है; इसलिये ये '**हृतज्ञानाः**' हैं।

अर्थार्थी और आर्त भक्त तो केवल भगवान्‌के ही शरण होते हैं, पर ये मनुष्य भगवान्‌को छोड़कर अन्य देवताओंके शरण होते हैं। कामनाएँ, देवता, मनुष्य और नियम—ये सभी अनेक हुआ करते हैं। अगर अनेक कामनाएँ होनेपर भी उपास्यदेव एक परमात्मा हों तो वे उपासकका उद्धार कर देंगे। परन्तु कामनाएँ भी अनेक हों और उपास्यदेव भी अनेक हों तो उद्धार कौन करेगा?

एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं—यह ज्ञान सुखकी कामनाके कारण ढक जाता है। यह कामना न तो प्रकृतिकी बनायी हुई है और न परमात्माकी बनायी हुई है, प्रत्युत मनुष्यकी अपनी बनायी हुई है। इसलिये इसको मिटानेकी जिम्मेवारी मनुष्यपर ही है। '**हृतज्ञानाः**' कहनेका तात्पर्य है कि यह ज्ञान नष्ट नहीं हुआ है, प्रत्युत कामनाके कारण हरा गया है। इस बातको गीतामें '**माययापहृतज्ञानाः**' (७। १५), '**अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्**' (५। १५) आदि पदोंसे भी कहा गया है।

इसी अध्यायके पन्द्रहवें श्लोकमें आये '**माययापहृतज्ञानाः**' पदमें तमोगुणकी प्रधानता और रजोगुणकी गौणता

है, पर यहाँ आये '**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः**' पदमें रजोगुणकी प्रधानता और तमोगुणकी गौणता है। '**माययापहृतज्ञानाः**' पदमें अर्थकी इच्छा मुख्य है और '**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः**' पदमें भोगोंकी इच्छा मुख्य है। दोनोंमें फर्क यह है कि मायासे अपहृत ज्ञानवाले मनुष्य देवताओंका पूजन नहीं करते, पर कामनाओंसे अपहृत ज्ञानवाले मनुष्य देवताओंका पूजन कर सकते हैं। कारण कि अर्थसे अरुचि नहीं होती—'***जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई***', पर भोगोंसे अरुचि होती ही है। '**माययापहृतज्ञानाः**' में तो आसुरभावका, झूठ, कपट, बेईमानी आदिका आश्रय है, पर '**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः**' में देवताओंका आश्रय है। अतः '**माययापहृतज्ञानाः**' में तो विशेष जड़ता है, पर '**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः**' में उनकी अपेक्षा चेतनता है*।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ २१॥

यः, यः	= जो-जो	**अर्चितुम्**	= पूजन करना	**अहम्**	= मैं
भक्तः	= भक्त	**इच्छति**	= चाहता है,	**ताम्**	= उसी
याम्, याम्	= जिस-जिस	**तस्य, तस्य**	= उस-उस देवतामें	**श्रद्धाम्**	= श्रद्धाको
तनुम्	= देवताका			**अचलाम्**	= दृढ़
श्रद्धया	= श्रद्धापूर्वक	**एव**	= ही	**विदधामि**	= कर देता हूँ।

विशेष भाव—प्रायः मनुष्य दूसरे मनुष्योंको अपनी तरफ लगाना चाहते हैं, अपना शिष्य या दास बनाना चाहते हैं, अपने सम्प्रदायमें लाना चाहते हैं, अपनेमें श्रद्धा करवाना चाहते हैं, अपना पूजन, आदर, मान-सम्मान करवाना चाहते हैं, अपनी बात मनवाना चाहते हैं। परन्तु भगवान् सर्वोपरि होते हुए भी किसीको अपने अधीन नहीं बनाते, प्रत्युत जो जहाँ श्रद्धा रखता है, उसकी श्रद्धाको वहीं दृढ़ कर देते हैं—यह भगवान्‌की कितनी उदारता है, निष्पक्षता है!

भगवान्‌की दृष्टिमें सब कुछ उनका ही स्वरूप है—'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति**'। इसलिये भगवान्‌में किसीके प्रति किञ्चिन्मात्र भी पक्षपात नहीं है। परन्तु भगवान्‌का यह पक्षपातरहित स्वभाव सहज ही समझमें नहीं आता, प्रत्युत गहरा विचार करनेसे ही समझमें आता है। अगर यह स्वभाव किसीकी समझमें आ जाय तो वह भगवान्‌का भक्त हो जायगा—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

(मानस, सुन्दर० ३४। २)

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ (गीता १५। १९)

दूसरेको अपना दास वही बनाता है, जिसमें कोई कमी है। भगवान्‌में कोई कमी है ही नहीं, इसलिये वे अपनी तरफसे किसीको अपना दास (अधीन) कैसे बना सकते हैं? परन्तु कोई उनका दास बनना चाहे तो वे मना नहीं करते और दयापूर्वक उसको दास स्वीकार कर लेते हैं। यह उनकी विशेष उदारता है! जैसे छोटे-से बालकको देखकर कोई व्यक्ति रीझ जाता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उस बालकसे उसका कोई स्वार्थभाव है। ऐसे ही जो भगवान्‌का दास बनता है, उसके सरलभावसे भगवान् रीझ जाते हैं—'***मोरें अधिक दास पर प्रीती***' (मानस, उत्तर० १६। ४)। गीताके अठारहवें अध्यायमें जब भगवान्‌के द्वारा '**यथेच्छसि तथा कुरु**' सुनकर अर्जुन घबरा गये, तब भगवान् दयापरवश होकर अर्जुनसे बोले कि तू मेरी शरणमें आ जा—'**मामेकं शरणं व्रज**' (१८। ६६) परन्तु ऐसा कहनेसे पहले भगवान्‌ने कहा कि यह सबसे अत्यन्त गोपनीय बात है (१८। ६४) और बादमें भी कहा कि इसे हर किसीको मत कहना (१८। ६७)। इससे सिद्ध होता है कि दूसरेको अपना दास बनानेकी नीयत न होनेपर भी अगर कोई दूसरा सहारा न मिलनेपर मनुष्य घबरा जाय और उनका दास बनना चाहे तो भगवान् दयापरवश होकर उसको स्वीकार कर लेते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जो किसी देवतापर श्रद्धा रखता है, उसकी श्रद्धाको भगवान् उस देवतामें दृढ़ कर देते हैं और जो भगवान्‌पर श्रद्धा रखता है, उसकी श्रद्धाको भगवान्

* जो अपनेको तथा दूसरेको भी जाने, वह 'चेतन' है और जो अपनेको तथा दूसरेको भी नहीं जाने, वह 'जड़' है।

अपनेमें दृढ़ कर दें—इसमें सन्देह ही क्या है! कारण कि भगवान्‌की दृष्टि भक्तके हितके लिये होती है, अपने स्वार्थके लिये नहीं।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ २२॥

तया	=उस (मेरे द्वारा		भावपूर्वक)	**हि**	=परन्तु
	दृढ़ की हुई)		उपासना	**तान्**	=वह (कामना-
श्रद्धया	=श्रद्धासे	**ईहते**	=करता है		पूर्ति)
युक्तः	=युक्त होकर	**च**	=और	**मया**	=मेरे द्वारा
सः	=वह मनुष्य	**ततः**	=उसकी	**एव**	=ही
तस्य	=उस देवताकी	**कामान्**	=(वह) कामना	**विहितान्**	=विहित की हुई
आराधनम्	=(सकाम-	**लभते**	=पूरी भी होती है;		होती है।

विशेष भाव—भगवान्‌ने सब देवताओंको अलग-अलग और सीमित अधिकार दिये हुए हैं। परन्तु भगवान्‌का अधिकार असीम है। भगवान्‌में यह विशेषता है कि वे किसीपर शासन नहीं करते, किसीको अपना गुलाम नहीं बनाते, किसीको अपना चेला नहीं बनाते, प्रत्युत हर एकको अपना मित्र बनाते हैं, अपने समान बनाते हैं। जैसे, निषादराज सिद्ध भक्त था, विभीषण साधक था और सुग्रीव विषयी था, पर भगवान् श्रीरामने तीनोंको ही अपना सखा बनाया। यह विशेषता देवताओं आदि किसीमें भी नहीं है। इसलिये वेदोंमें भी भगवान्‌को जीवका सखा बताया गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

(मुण्डक० ३। १। १, श्वेता० ४। ६)

गीतामें भी भगवान्‌ने अर्जुनको कहा है—'**भक्तोऽसि मे सखा चेति**' (४। ३)। यहाँ भगवान्‌ने 'भक्त' तो अर्जुनकी दृष्टिसे कहा है*, पर अपनी दृष्टिसे 'सखा' कहा है। '**ममैवांशो जीवलोके**' (१५। ७)—इन पदोंमें भी भगवान्‌ने '**एव**' पदसे जीवको साक्षात् अपना स्वरूप बताया है। यह मेरा ही अंश है—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि इसमें प्रकृतिका अंश बिलकुल नहीं है।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ २३॥

तु	=परन्तु	**अन्तवत्**	=अन्तवाला	**यान्ति**	=प्राप्त होते हैं
तेषाम्	=उन		(नाशवान्) ही		(और)
अल्पमेधसाम्	=तुच्छ बुद्धिवाले	**भवति**	=मिलता है।	**मद्भक्ताः**	=मेरे भक्त
	मनुष्योंको	**देवयजः**	=देवताओंका	**माम्**	=मुझे
तत्	=उन देवताओंकी		पूजन	**अपि**	=ही
	आराधनाका		करनेवाले	**यान्ति**	=प्राप्त
फलम्	=फल	**देवान्**	=देवताओंको		होते हैं।

* अर्जुनकी दृष्टिसे इसलिये 'भक्त' कहा कि अर्जुनने भगवान्‌की शरणागति स्वीकार की थी—'**शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' (गीता २। ७)

विशेष भाव—देवताओंकी उपासना करनेवाले तो अधिक-से-अधिक देवताओंके पुनरावर्ती लोकोंमें ही जा सकते हैं, पर भगवान्‌की उपासना करनेवाले भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं। हाँ, अगर साधकको देवताओंमें भगवद्‌बुद्धि हो अथवा अपनेमें निष्कामभाव हो तो उसका उद्धार हो जायगा अर्थात् वह भी भगवान्‌को प्राप्त हो जायगा। परन्तु देवताओंमें भगवद्‌बुद्धि न हो और अपनेमें निष्कामभाव भी न हो तो उद्धार नहीं होगा।

देवताओंकी उपासनाका दोष यह है कि उसका फल अन्तवाला अर्थात् नाशवान् होता है; क्योंकि देवता खुद भी सीमित अधिकारवाले हैं। अत: जो भगवान्‌को छोड़कर अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, वे अल्प बुद्धिवाले हैं। यदि वे अल्प बुद्धिवाले न होते तो नाशवान् फल देनेवाले देवताओंकी उपासना क्यों करते? भगवान्‌की ही उपासना करते अथवा देवताओंमें भगवद्‌बुद्धि करते। भगवान्‌की उपासना तो बड़ी सुगम है, उसमें विधिकी, नियमकी, परिश्रमकी जरूरत नहीं है। उसमें तो केवल भावकी ही प्रधानता है। परन्तु देवताओंकी उपासनामें क्रिया, विधि और पदार्थकी प्रधानता है।

मनुष्यको संसारकी कितनी ही विद्याओंका, कला-कौशल आदिका ज्ञान हो जाय तो भी वह '**अल्पमेधा**' (तुच्छ बुद्धिवाला) ही है। वह ज्ञान वास्तवमें अज्ञानको दृढ़ करनेवाला है। परन्तु जिसने भगवान्‌को जान लिया है, उसको किसी सांसारिक विद्या, कला-कौशल आदिका ज्ञान न होनेपर भी वह '**सर्ववित्**' (सब कुछ जाननेवाला) है*!

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ २४॥

अबुद्धयः	= बुद्धिहीन मनुष्य	**भावम्**	= भावको		घन परमात्मा) को
मम	= मेरे	**अजानन्तः**	= न जानते हुए	**व्यक्तिम्**	= मनुष्यकी तरह शरीर
परम्	= परम,	**अव्यक्तम्**	= अव्यक्त (मन-इन्द्रियोंसे पर)	**आपन्नम्**	= धारण करनेवाला
अव्ययम्	= अविनाशी (और)				
अनुत्तमम्	= सर्वश्रेष्ठ	**माम्**	= मुझ (सच्चिदानन्द-	**मन्यन्ते**	= मानते हैं।

विशेष भाव—भगवान् व्यक्त भी हैं और अव्यक्त भी हैं, लौकिक भी हैं और अलौकिक भी हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९), '**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। परन्तु बुद्धिहीन मनुष्य भगवान्‌को उन प्राणियोंकी तरह अव्यक्तसे व्यक्त होनेवाला अर्थात् लौकिक (जन्मने-मरनेवाला) मानते हैं, जिनके लिये भगवान्‌ने कहा है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

(गीता २। २८)

'हे भारत! सभी प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद अप्रकट हो जायँगे, केवल बीचमें ही प्रकट दीखते हैं; अत: इसमें शोक करनेकी बात ही क्या है?'

भगवान् मनुष्योंकी तरह अव्यक्तसे व्यक्त नहीं होते, प्रत्युत अव्यक्त रहते हुए ही व्यक्त होते हैं और व्यक्त होते हुए भी अव्यक्त रहते हैं।

'**परम्**'—भगवान् देवताओंकी उपासना करनेवालोंको श्रद्धा भी देते हैं और उनकी उपासनाका फल भी देते हैं—यह भगवान्‌का परम अर्थात् पक्षपातरहित भाव है।

---

* **यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।**
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ (गीता १५। १९)

'अव्ययम्'—देवता सापेक्ष अविनाशी (अमर) हैं, सर्वथा अविनाशी नहीं। परन्तु भगवान् निरपेक्ष अविनाशी हैं। उनके समान अविनाशी दूसरा कोई नहीं है और हो भी नहीं सकता।

'अनुत्तमम्'—भगवान् प्राणिमात्रका हित चाहते हैं—यह भगवान्का सर्वश्रेष्ठ भाव है। इससे श्रेष्ठ दूसरा कोई भाव हो ही नहीं सकता।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ २५॥

अयम्	= यह जो	**न, अभिजानाति**	= ठीक तरहसे नहीं जानता (मानता),	**समावृतः**	= योगमायासे अच्छी तरह ढका हुआ
मूढः	= मूढ़				
लोकः	= मनुष्य-समुदाय				
माम्	= मुझे	**सर्वस्य**	= उन सबके (सामने)	**अहम्**	= मैं
अजम्	= अज (और)			**प्रकाशः**	= प्रकट
अव्ययम्	= अविनाशी	**योगमाया-**		**न**	= नहीं होता।

विशेष भाव—जो बुद्धिहीन मनुष्य भगवान्को नहीं मानते, भगवान् अवतारकालमें सबके सामने प्रकट होते हुए भी उनके सामने प्रकट नहीं होते—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)। वास्तवमें भगवान् अप्रकट रहना चाहते नहीं, पर जो उनको नहीं मानते, उनके सामने वे कैसे प्रकट हों?

अवतारकालमें भगवान् लौकिक रूपमें दीखनेपर भी वास्तवमें सदा अलौकिक ही रहते हैं। परन्तु राग-द्वेषके कारण अज्ञानी मनुष्योंको भगवान् लौकिक दीखते हैं अर्थात् भगवान्रूपसे न दीखकर मनुष्यरूपसे ही दीखते हैं।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ २६॥

अर्जुन	= हे अर्जुन!	**च**	= और	**तु**	= परन्तु
भूतानि	= जो प्राणी	**भविष्याणि**	= जो भविष्यमें होंगे, (उन सब प्राणियोंको तो)	**माम्**	= मुझे
समतीतानि	= भूतकालमें हो चुके हैं,			**कश्चन**	= (भक्तके सिवाय) कोई भी
च	= तथा	**अहम्**	= मैं	**न**	= नहीं
वर्तमानानि	= जो वर्तमानमें हैं	**वेद**	= जानता हूँ;	**वेद**	= जानता।

विशेष भाव—यहाँ शंका हो सकती है कि जब भगवान् सब जीवोंको जानते ही हैं तो फिर जिसको बद्ध जानते हैं, वह बद्ध ही रहेगा और जिसको मुक्त जानते हैं, वही मुक्त होगा; क्योंकि भगवान्का ज्ञान नित्य है! यह शंका वस्तुतः संसारकी सत्ता और महत्ताको लेकर (हमारी दृष्टिमें) है। वास्तवमें भगवान् और महात्मा—दोनोंकी ही दृष्टिमें संसार नहीं है, प्रत्युत केवल भगवान् ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**। हमने ही अहम्के कारण संसारको सत्ता और महत्ता दे रखी है। इसलिये भगवान् हमारी भाषामें भूत-भविष्य-वर्तमानकी बात कहते हैं। अगर वे हमारी भाषामें नहीं बोलेंगे तो हम समझेंगे कैसे? जैसे, हमें अँग्रेजी भाषा सिखानेवाला अगर अँग्रेजी भाषामें ही बोले तो हम अँग्रेजी सीख ही नहीं सकेंगे।

भगवान्का ज्ञान नित्य है। सब कुछ भगवान्के ज्ञानके अन्तर्गत है। उनके ज्ञानसे बाहर कुछ भी नहीं है। भगवान्के ज्ञानमें उनके सिवाय कुछ नहीं है—**'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'** (गीता ७। ७)। जीवने ही अहम्के

कारण (अज्ञानसे) जगत्‌को धारण कर रखा है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५) । अतः बन्धन और मोक्ष जीवके ही बनाये हुए हैं। तत्त्वसे न बन्धन है, न मोक्ष; किन्तु केवल परमात्मा ही हैं*।

दो बार '**च**' पद देनेका तात्पर्य है कि कोई भी काल स्थायी नहीं है। न भूतकाल सदा रहता है, न वर्तमान सदा रहता है और न भविष्य सदा रहता है, पर भगवान् सदा रहते हैं। जैसे भूतकाल और भविष्यकाल अभी नहीं हैं, ऐसे ही वर्तमानकाल भी नहीं है। भूतकाल और भविष्यकालकी सन्धिको ही वर्तमानकाल कह देते हैं। पाणिनि-व्याकरणका एक सूत्र है—'**वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा**' (३। ३। १३१) अर्थात् वर्तमानसामीप्य भी वर्तमानकी तरह होता है। जैसे, भूतकालको लेकर कहते हैं कि 'मैं अभी आया हूँ' और भविष्यकालको लेकर कहते हैं कि 'मैं अभी जा रहा हूँ'— यह वर्तमानसामीप्य है। वास्तवमें वर्तमानसामीप्यको ही वर्तमानकाल कह देते हैं। अगर वर्तमानकाल वास्तवमें होता तो वह कभी भूतकालमें परिणत नहीं होता। वास्तवमें काल वर्तमान नहीं है, प्रत्युत भगवान् ही वर्तमान हैं। तात्पर्य है कि जो प्रतिक्षण बदलता है, वह वर्तमान नहीं है, प्रत्युत जो कभी नहीं बदलता, वही वर्तमान है। इसलिये भगवान्‌ने श्लोकके आरम्भमें वर्तमान-क्रिया दी है—'**वेदाहम्**' (मैं जानता हूँ)। भगवान् भूत, भविष्य और वर्तमान—सबमें सदा वर्तमान हैं, पर भगवान्‌में न भूत है, न भविष्य है और न वर्तमान है। भगवान्‌का वर्तमानपना कालके अधीन नहीं है; क्योंकि भगवान् कालातीत हैं। काल न भगवान्‌की दृष्टिमें है, न महात्माकी दृष्टिमें।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥ २७॥

कारण कि—

भारत	=हे भरतवंशमें उत्पन्न		द्वेषसे उत्पन्न होनेवाले	**सर्गे**	=संसारमें (अनादिकालसे)
परन्तप	=शत्रुतापन अर्जुन!	**द्वन्द्वमोहेन**	=द्वन्द्व-मोहसे (मोहित)	**सम्मोहम्**	=मूढ़ताको अर्थात् जन्म-मरणको
इच्छा-द्वेषसमुत्थेन	=इच्छा (राग) और	**सर्वभूतानि**	=सम्पूर्ण प्राणी	**यान्ति**	=प्राप्त हो रहे हैं।

विशेष भाव—यद्यपि संसार-बन्धनका मूल कारण अज्ञान है, तथापि अज्ञानकी अपेक्षा भी मनुष्य राग-द्वेषरूप द्वन्द्वसे संसारमें ज्यादा फँसता है। किसी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिको अपने सुख-दुःखका कारण माननेसे राग-द्वेष पैदा होते हैं। जिसको अपने सुखका कारण मानते हैं, उसमें 'राग' हो जाता है और जिसको अपने दुःखका कारण मानते हैं, उसमें 'द्वेष' हो जाता है। राग-द्वेष मिटनेपर मनुष्य सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है—'**निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते**' (गीता ५। ३)।

पहले तेरहवें श्लोकमें भी भगवान् कह चुके हैं कि तीनों गुणोंसे मोहित प्राणी मेरेको नहीं जानता। ऐसे मोहित प्राणी न संसारको जानते हैं, न भगवान्‌को। संसारमें रचे-पचे रहकर मनुष्य संसारको नहीं जान सकता और भगवान्‌से अलग (दूर) रहकर मनुष्य भगवान्‌को नहीं जान सकता। वास्तवमें संसारका ज्ञान संसारसे अलग होनेपर और भगवान्‌का ज्ञान भगवान्‌से अभिन्न होनेपर ही होता है। संसार नहीं है—यही संसारका ज्ञान है। वास्तवमें जो है ही नहीं, रहता ही नहीं, उसका ज्ञान कैसा? संसार है—ऐसा मानना ही अज्ञान है।

* **न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥**

(आत्मोपनिषद् ३१)

'न प्रलय है और न उत्पत्ति है, न बद्ध है और न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है—यही परमार्थता अर्थात् वास्तविक तत्त्व है।'

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ २८॥

तु	= परन्तु	**पापम्**	= पाप		रहित हुए मनुष्य
येषाम्	= जिन	**अन्तगतम्**	= नष्ट हो गये हैं,	**दृढव्रताः**	= दृढ़व्रती होकर
पुण्यकर्मणाम्	= पुण्यकर्मा	**ते**	= वे	**माम्**	= मेरा
जनानाम्	= मनुष्योंके	**द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः**	= द्वन्द्वमोहसे	**भजन्ते**	= भजन करते हैं।

विशेष भाव—भगवान्‌के सम्मुख होना सबसे बड़ा पुण्य है; क्योंकि यह सब पुण्योंका मूल है*। परन्तु भगवान्‌से विमुख होना सबसे बड़ा पाप है; क्योंकि यह सब पापोंका मूल है। जिन मनुष्योंके पाप नष्ट हो गये हैं अर्थात् जो संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो गये हैं, वे राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित होकर भगवान्‌का भजन करते हैं। भजन करनेवालोंके प्रकारका वर्णन भगवान् सोलहवें श्लोकमें '**चतुर्विधा भजन्ते माम्**' पदोंसे कर चुके हैं।

राग-द्वेष मनुष्यको संसारकी तरफ खींचते रहते हैं। जबतक एक वस्तुमें राग रहता है, तबतक दूसरी वस्तुमें द्वेष रहता ही है; क्योंकि मनुष्य किसी वस्तुके सम्मुख होगा तो किसी वस्तुसे विमुख होगा ही। जबतक मनुष्यके भीतर राग-द्वेष रहते हैं; तबतक वह भगवान्‌के सर्वथा सम्मुख नहीं हो सकता; क्योंकि उसका सम्बन्ध संसारसे जुड़ा रहता है। उसका जितने अंशमें संसारसे राग रहता है, उतने अंशमें भगवान्‌से द्वेष अर्थात् विमुखता रहती है।

'**दृढव्रताः**'—ढीली प्रकृतिवाला अर्थात् शिथिल स्वभाववाला मनुष्य असत्‌का जल्दी त्याग नहीं कर सकता। एक विचार किया और उसको छोड़ दिया, फिर दूसरा विचार किया और उसको छोड़ दिया—इस प्रकार बार-बार विचार करने और उसको छोड़ते रहनेसे आदत बिगड़ जाती है। इस बिगड़ी हुई आदतके कारण ही वह असत्‌के त्यागकी बातें तो सीख जाता है, पर असत्‌का त्याग नहीं कर पाता। अगर वह असत्‌का त्याग कर भी देता है तो स्वभावकी ढिलाईके कारण फिर उसको सत्ता दे देता है। स्वभावकी यह शिथिलता स्वयं साधककी बनायी हुई है। अतः साधकके लिये यह बहुत आवश्यक है कि वह अपना स्वभाव दृढ़ रहनेका बना ले। एक बार वह जो विचार कर ले, उसपर वह दृढ़ रहे। छोटी-से-छोटी बातमें भी वह दृढ़ (पक्का) रहे तो ऐसा स्वभाव बननेसे उसमें असत्‌का त्याग करनेकी, संसारसे विमुख होनेकी शक्ति आ जायगी।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥

जरामरण-		**माम्**	= मेरा	**कृत्स्नम्**	= सम्पूर्ण
मोक्षाय	= वृद्धावस्था	**आश्रित्य**	= आश्रय लेकर	**अध्यात्मम्**	= अध्यात्मको
	और मृत्युसे	**यतन्ति**	= प्रयत्न करते हैं,	**च**	= और
	मुक्ति पानेके	**ते**	= वे	**अखिलम्**	= सम्पूर्ण
	लिये	**तत्**	= उस	**कर्म**	= कर्मको
ये	= जो मनुष्य	**ब्रह्म**	= ब्रह्मको,	**विदुः**	= जान जाते हैं।

* **सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥**

(मानस, सुन्दर० ४४। १)

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

ये	= जो मनुष्य	**माम्**	= मुझे	**प्रयाणकाले**	= अन्तकालमें
साधि-		**विदुः**	= जानते हैं,	**अपि**	= भी
भूताधिदैवम्	= अधिभूत तथा अधिदैवके सहित	**ते**	= वे	**माम्**	= मुझे
च	= और	**युक्तचेतसः**	= मुझमें लगे हुए चित्तवाले मनुष्य	**च**	= ही
साधियज्ञम्	= अधियज्ञके सहित			**विदुः**	= जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।

विशेष भाव—इस अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा था कि मैं वह विज्ञानसहित ज्ञान कहूँगा, जिससे तू मेरे समग्ररूपको जान जायगा और जिसको जाननेके बाद फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहेगा। फिर उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने **'वासुदेवः सर्वम्'** कहकर अपने समग्ररूपका संक्षेपसे वर्णन किया। अब अध्यायके अन्तमें भगवान् उसका खुलासा करते हैं।

साधकका जन्म तो हो चुका है और व्याधि अवश्यम्भावी नहीं है; परन्तु वृद्धावस्था और मत्यु—ये दोनों अवश्यम्भावी हैं और इनसे मनुष्यको अधिक दुःख होता है। इसलिये यहाँ **'जरामरणमोक्षाय'** कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्‌का आश्रय लेनेवाले भक्त जरा और मरण—दोनोंसे मुक्त हो जाते हैं अर्थात् उनको शरीरके रहते हुए वृद्धावस्थाका भी दुःख नहीं होता और गतिके विषयमें भी दुःख नहीं होता कि मरनेके बाद हमारी क्या गति होगी? वे भगवान्‌का आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, इसलिये वे परा-अपराके सहित भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेते हैं अर्थात् विज्ञानसहित ज्ञानको जान लेते हैं।

यद्यपि कर्मयोगी और ज्ञानयोगी भी जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं, पर भक्त जरा-मरणसे मुक्त होनेके साथ-साथ भगवान्‌के समग्ररूपको भी जान लेते हैं। कारण कि कर्मयोगी और ज्ञानयोगीकी तो आरम्भसे ही अपने साधनकी निष्ठा होती है (गीता ३। ३), पर भक्त आरम्भसे ही भगवन्निष्ठ अर्थात् भगवत्परायण होता है। भगवन्निष्ठ होनेसे भगवान् कृपा करके उसको अपने समग्ररूपका ज्ञान करा देते हैं।

इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि कोई एक ही (विरला) मनुष्य मेरे समग्ररूपको जानता है— **'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः'**। यहाँ बताते हैं कि जो मेरे शरण हो जाता है, वह मेरे समग्ररूपको जान लेता है। अतः भगवान्‌के समग्ररूप (विज्ञानसहित ज्ञान) को जाननेकी मुख्य साधना है—शरणागति **(मामाश्रित्य)**। कारण कि समग्रका ज्ञान विचारसे नहीं होता, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शरणागत होनेपर भगवत्कृपासे ही होता है। इसलिये भगवान्‌ने सातवें अध्यायके आरम्भमें **'मदाश्रयः'** कहकर अन्तमें **'मामाश्रित्य'** पदसे उसका उपसंहार किया है।

ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), **कृत्स्न अध्यात्म** (अनन्त योनियोंके अनन्त जीव) तथा **अखिल कर्म** (उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय आदिकी सम्पूर्ण क्रियाएँ)—यह **'ज्ञान'** का विभाग है। इस विभागमें निर्गुणकी मुख्यता है।

अधिभूत (अपने शरीरसहित सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक जगत्), **अधिदैव** (मन-इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवतासहित ब्रह्माजी आदि सभी देवता) तथा **अधियज्ञ** (अन्तर्यामी विष्णु और उनके सभी रूप)—यह **'विज्ञान'** का विभाग है। इस विभागमें सगुणकी मुख्यता है।

अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके 'सहित' कहनेका तात्पर्य है कि सत्-असत्, परा-अपरा सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान्‌के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है। सत्-असत्‌को अलग-अलग करनेसे ज्ञानमार्ग होता है— **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि.....'** (गीता २। १६) और एक करनेसे भक्तिमार्ग होता है—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)।

'ब्रह्म' की बात पहले पाँचवें अध्यायमें तेरहवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक कही गयी है। 'कृत्स्न अध्यात्म' की

बात पहले छठे अध्यायके उन्तीसवें श्लोकमें '**सर्वभूतस्थमात्मानम्**' पदसे कही गयी है। 'अखिल कर्म' की बात पहले चौथे अध्यायके अठारहवें, तेईसवें और तैंतीसवें श्लोकमें क्रमशः '**कृत्स्नकर्मकृत्**', '**कर्म समग्रम्**' और '**सर्वं कर्माखिलम्**' पदसे कही गयी है।

अभाव कर्मका होता है, आत्मा या ब्रह्मका नहीं। न्यायमें आता है कि किसी वस्तुके भावका ज्ञान जिस इन्द्रियसे होता है, उसी इन्द्रियसे उसके अभावका और जातिका ज्ञान भी होता है। अतः मनुष्य जिस ज्ञानसे कर्मोंको जानता है **(कर्म चाखिलम्),** उसी ज्ञानसे कर्मोंके अभावको अर्थात् अकर्मको भी जानता है—'**कर्मण्यकर्म यः पश्येत्**' (गीता ४। १८)। ब्रह्म, आत्मा और अकर्म तीनों एक ही हैं; ऐसा जानना ही '**ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्**' पदोंका तात्पर्य है।

'कर्म' सीमित है, कर्मसे व्यापक 'अध्यात्म' है और अध्यात्मसे व्यापक 'ब्रह्म' है। परन्तु '**माम्**' (समग्र) उस ब्रह्मसे भी श्रेष्ठ है; क्योंकि ब्रह्मके अन्तर्गत तो समग्र नहीं आता, पर समग्रके अन्तर्गत ब्रह्म आ जाता है।

'अध्यात्म' के साथ 'कृत्स्न' शब्द देनेका तात्पर्य है—जिनको भगवान्‌ने अपनी परा प्रकृति बताया है, वे अनेक रूपसे दीखनेवाले सम्पूर्ण जीव। 'कर्म' के साथ 'अखिल' शब्द देनेका तात्पर्य है—जिनके फलस्वरूप जीव अनेक योनियोंमें और अनेक लोकोंमें जाता है, वे शुभ-अशुभ सम्पूर्ण कर्म, परन्तु 'ब्रह्म' के साथ 'कृत्स्न' या 'अखिल' शब्द न देनेका तात्पर्य है कि ब्रह्म अनेक नहीं है, प्रत्युत एक ही है।

गीतामें भगवान्‌ने दो निष्ठाएँ बतायी हैं—कर्मयोग और ज्ञानयोग। ये दोनों ही निष्ठाएँ लौकिक हैं—'**लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा**' (गीता ३। ३); परन्तु भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है। कारण कि कर्मयोगमें 'क्षर' (संसार) की प्रधानता है और ज्ञानयोगमें 'अक्षर' (जीवात्मा)की प्रधानता है। क्षर और अक्षर—दोनों ही लोकमें हैं—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (गीता १५। १६) इसलिये कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों लौकिक निष्ठाएँ हैं। परन्तु भक्तियोगमें 'परमात्मा' की प्रधानता है, जो क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम है*। इसलिये भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है। भगवान्‌के समग्ररूपमें ब्रह्म, अध्यात्म तथा कर्म—इनमें लौकिक निष्ठा (कर्मयोग तथा ज्ञानयोग) की बात आयी है† और अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ—इनमें अलौकिक निष्ठा (भक्तियोग) की बात आयी है। 'ज्ञान' लौकिक है—'**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह‡ विद्यते**' (गीता ४। ३८) और 'विज्ञान' अलौकिक है। लौकिक तथा अलौकिक—दोनों ही समग्र भगवान्‌के रूप हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

'लोक' शब्दमें जड़ भी है और चेतन भी। केवल जड़ अथवा केवल चेतनका वाचक 'लोक' शब्द नहीं हो सकता। अतः 'लौकिक' में जड़ और चेतन दोनों आते हैं, पर 'अलौकिक' में केवल चेतन ही आता है; क्योंकि अलौकिक सदा चिन्मय ही होता है। परन्तु 'समग्र' में लौकिक और अलौकिक—दोनों आ जाते हैं।

---

* **उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥**
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ (गीता १५। १७-१८)

† 'अध्यात्म' से ज्ञानयोग और 'कर्म' से कर्मयोग लेना चाहिये। ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनोंसे 'ब्रह्म' की प्राप्ति होती है—

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ (गीता ५। ४-५)

'बेसमझ लोग सांख्ययोग और कर्मयोगको अलग-अलग फलवाले कहते हैं, न कि पण्डितजन; क्योंकि इन दोनोंमेंसे एक साधनमें भी अच्छी तरहसे स्थित मनुष्य दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है।' 'सांख्ययोगियोंके द्वारा जो तत्त्व प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंके द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। अतः जो मनुष्य सांख्ययोग और कर्मयोगको (फलरूपमें) एक देखता है, वही ठीक देखता है।'

भक्तिका प्रसंग होनेसे यहाँ भगवान्‌ने ज्ञानयोग और कर्मयोगका विस्तारसे वर्णन नहीं किया। इनका विस्तारसे वर्णन पिछले (दूसरेसे छठे) अध्यायोंमें कर चुके हैं।

‡ यहाँ 'पवित्रमिह' के अन्तर्गत आया 'इह' शब्द लोकका वाचक है।

यहाँ एक विशेष ध्यान देनेकी बात है कि निर्गुण-निराकार 'ब्रह्म' का नाम भगवान्‌के समग्ररूपके अन्तर्गत आया है। लोगोंमें प्राय: इस बातकी प्रसिद्धि है कि 'निर्गुण-निराकार ब्रह्मके अन्तर्गत ही सगुण ईश्वर है। ब्रह्म मायारहित है और ईश्वर मायासहित है। अत: ब्रह्मके एक अंशमें ईश्वर है।' वास्तवमें ऐसा मानना शास्त्रसम्मत एवं युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि जब ब्रह्ममें माया है ही नहीं तो फिर मायासहित ईश्वर ब्रह्मके अन्तर्गत कैसे हुआ? ब्रह्ममें माया कहाँसे आयी? परन्तु गीतामें भगवान् कह रहे हैं कि मेरे समग्ररूपके एक अंशमें ब्रह्म है! इसलिये भगवान्‌ने अपनेको ब्रह्मका आधार बताया है—'**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**' (गीता १४। २७) 'मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ' तथा '**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**' (गीता ९। ४) 'यह सब संसार मेरे अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है।' भगवान्‌के इस कथनका तात्पर्य है कि ब्रह्मका अंश मैं नहीं हूँ, प्रत्युत मेरा अंश ब्रह्म है। अत: निष्पक्ष विचार करनेसे ऐसा दीखता है कि गीतामें ब्रह्मकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत ईश्वरकी मुख्यता है। पूर्ण तत्त्व समग्र ही है। समग्रमें सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सब आ जाते हैं।

वास्तवमें देखा जाय तो समग्ररूप सगुणका ही हो सकता है; क्योंकि सगुण शब्दके अन्तर्गत तो निर्गुण आ सकता है, पर निर्गुण शब्दके अन्तर्गत सगुण नहीं आ सकता। कारण कि सगुणमें निर्गुणका निषेध नहीं है, जबकि निर्गुणमें गुणोंका निषेध है। अत: निर्गुणमें समग्र शब्द लग ही नहीं सकता। इसलिये यहाँ 'अध्यात्म' और 'कर्म' के साथ तो क्रमश: 'कृत्स्न' और 'अखिल' शब्द आये हैं, जो समग्रताके वाचक हैं, पर 'ब्रह्म' के साथ समग्रताका वाचक कोई शब्द कहीं भी नहीं आया है। अत: समग्रता सगुणमें ही है, निर्गुणमें नहीं।

प्रश्न—ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म—ये तीनों लौकिक कैसे हैं?

उत्तर—भगवान्‌ने ब्रह्मको 'अक्षर' कहा है—'**अक्षरं ब्रह्म परमम्**' (गीता ८। ३) और जीवको भी 'अक्षर' कहा है—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (गीता १५। १६)। जीव और ब्रह्म—दोनों एक हैं—'**अयमात्मा ब्रह्म**' (माण्डूक्य० १)। प्रकृति (शरीर) के साथ सम्बन्ध होनेसे जो 'जीव' (अध्यात्म) है*, वही प्रकृतिके साथ सम्बन्ध न होनेसे सामान्य 'ब्रह्म' है। अत: गीताके अनुसार जैसे जीव लोकमें है, ऐसे ही ब्रह्म भी लोकमें है अर्थात् ब्रह्म लौकिक निष्ठा (कर्मयोग तथा ज्ञानयोग) से प्रापणीय तत्त्व है।

'अध्यात्म' अर्थात् जीवने जगत्‌को धारण किया हुआ है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। जीवकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसलिये जगत्‌के संगसे जीव भी जगत् अर्थात् लौकिक हो जाता है (गीता ७। १३)। लोकमें होनेके कारण भी जीव लौकिक है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७), '**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (गीता १५। १६)।

'कर्म' दो प्रकारसे होते हैं—सकामभावसे और निष्कामभावसे। ये दोनों ही प्रकारके कर्म लोकमें होनेसे लौकिक हैं†।

प्रश्न—अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—ये तीनों अलौकिक कैसे हैं?

उत्तर—'अधिभूत' अर्थात् सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक जगत् तत्त्वसे भगवान्‌का ही स्वरूप होनेसे अलौकिक है—'**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९) 'अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं ही हूँ‡।

---

* **बँध्यो बिषय सनेह ते, ताते कहियै जीव। अलख अजोणी आप है, हरिया न्यारौ थीव॥**

† लोकमें होनेवाले सकाम-कर्म—'**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।**' (गीता ३। ९), '**क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥**' (गीता ४। १२); '**कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके**' (गीता १५। २)।

लोकमें होनेवाले निष्काम-कर्म—'**लोकेऽस्मिन्द्विविधा.........योगिनाम्॥**' (गीता ३। ३)।

वास्तवमें कर्म सकाम या निष्काम नहीं होते, प्रत्युत कर्ता सकाम या निष्काम होता है। अत: सकाम-निष्कामभाव कर्तामें रहते हैं।

‡ **मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः। अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥**

(श्रीमद्भा० ११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अत: मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आपलोग विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें, स्वीकार कर लें।

भगवान्‌ने अर्जुनको जो विराट्‌रूप दिखाया था, वह भी दिव्य अर्थात् अलौकिक था*। वह दिव्य विराट्‌रूप भगवान्‌ने अपने ही दिव्य शरीरके एक अंगमें दिखाया था†। अत: भगवान्‌का ही विराट्‌रूप होनेसे यह पाञ्चभौतिक जगत् भी अलौकिक ही है‡। भगवान्‌ने संसारमें अपनी विभूतियोंको भी दिव्य अर्थात् अलौकिक कहा है—**'दिव्या ह्यात्मविभूतयः'** (गीता १०। १९), **'मम दिव्यानां विभूतीनाम्'** (१०। ४०)§। परन्तु जीवको अज्ञानवश अपनी बुद्धिसे (राग-द्वेषके कारण) यह जगत् लौकिक दीखता है। इसलिये अज्ञान मिटनेपर जड़ता रहती ही नहीं, केवल चिन्मयता रहती है।

'अधिदैव' अर्थात् ब्रह्माजी आदि सभी देवता अलौकिक हैं।

'अधियज्ञ' अर्थात् अन्तर्यामी भगवान् सबके हृदयमें रहते हुए भी निर्लिप्त होनेके कारण अलौकिक हैं#।

भगवान्‌ने **'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञम्'** पदोंमें अपनेको अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञके सहित जाननेकी बात कही है। इससे सिद्ध होता है कि परमात्माके सहित होनेसे ही ये तीनों अलौकिक हैं, अन्यथा लौकिक ही हैं। जबतक भगवान्‌के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तबतक सब लौकिक ही होता है; परन्तु भगवान्‌के साथ सम्बन्ध होनेसे सब अलौकिक हो जाता है। इसलिये अपना उद्योग मुख्य होनेसे कर्मयोग तथा ज्ञानयोग 'लौकिक निष्ठा' है और भगवान्‌का आश्रय मुख्य होनेसे भक्तियोग 'अलौकिक निष्ठा' है।

वास्तवमें लौकिक कोई तत्त्व नहीं है। वास्तविक तत्त्व तो अलौकिक ही है। परन्तु साधककी दृष्टिसे लौकिक और अलौकिक—ये दो भेद कहे गये हैं। तात्पर्य है कि लौकिक-अलौकिकका विभाग अज्ञानवश होनेवाले राग-द्वेषके कारण ही है। राग-द्वेष न हों तो सब कुछ अलौकिक, चिन्मय, दिव्य ही है—**'वासुदेवः सर्वम्'**। कारण कि लौकिककी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। राग-द्वेषके कारण ही लौकिककी सत्ता और महत्ता दीखती है। राग-द्वेषके कारण ही जीवने भगवत्स्वरूप संसारको भी लौकिक बना दिया और खुद भी लौकिक बन गया!

---

* **'नानाविधानि दिव्यानि'** (गीता ११। ५), **'अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्'** (११। १०), **'दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्'** (११। ११), **'पश्यामि देवांस्तव देव देहे'''''''सर्वानुरगांश्च दिव्यान्'** (११। १५)।

† भगवान्‌के वचन हैं—**'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं''''''मम देहे'** (११। ७)।

संजयके वचन हैं—**'तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं'''''''''''अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे'** (११। १३)।

अर्जुनके वचन हैं—**'पश्यामि देवांस्तव देव देहे'** (११। १५)।

‡ **खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।**
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, जीव-जन्तु, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के ही शरीर हैं—ऐसा मानकर भक्त सभीको अनन्यभावसे प्रणाम करता है।'

भूद्वीपवर्षसरिदद्रिनभःसमुद्रपातालदिङ्नरकभागणलोकसंस्था ।
गीता मया तव नृपाद्भुतमीश्वरस्य स्थूलं वपुः सकलजीवनिकायधाम॥

(श्रीमद्भा० ५। २६। ४०)

'परीक्षित्! मैंने तुमसे पृथ्वी, उसके अन्तर्गत द्वीप, वर्ष, नदी, पर्वत, आकाश, समुद्र, पाताल, दिशा, नरक, ज्योतिर्गण और लोकोंकी स्थितिका वर्णन किया। यही भगवान्‌का अति अद्भुत स्थूल रूप है, जो समस्त जीवसमुदायका आश्रय है।'

§ अर्जुनने भी विभूतियोंको दिव्य कहा है—**'वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः'** (१०। १६)।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(मुण्डक० ३। १। १; श्वेताश्वतर० ४। ६)

'एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी—जीवात्मा और परमात्मा एक ही वृक्ष—शरीरका आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनोंमेंसे एक (जीवात्मा) तो उस वृक्षके कर्मफलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है, पर दूसरा (परमात्मा) उपभोग न करता हुआ केवल प्रकाशित करता है।'

विज्ञानसहित ज्ञानका अर्थात् भगवान्‌के समग्ररूपका वर्णन करनेका तात्पर्य यही है कि जड़-चेतन, सत्-असत्, परा-अपरा, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ आदि जो कुछ भी है, वह सब भगवान्‌का ही स्वरूप है। इसलिये भगवान्‌ने यहाँ समग्ररूपवर्णनके आदि और अन्तमें **'माम्'** पद दिया है, जो समग्रका वाचक है—**'मामाश्रित्य'** (७। २९) और **'मां ते विदुः'** (७। ३०)।

भगवान्‌ने कर्मोंकी गति (तत्त्व) को गहन बताया है—**'गहना कर्मणो गतिः'** (गीता ४। १७), पर भक्त उसको भी जान लेता है। कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म (४। १८)—दोनोंको भक्त जान लेता है। तात्पर्य है कि वह कर्मको भी जान लेता है और कर्मयोगको भी जान लेता है। कर्मयोगी तो कर्मयोगको ही जानता है और ज्ञानयोगी ज्ञानयोगको ही जानता है, पर भक्त भगवत्कृपासे कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंको ही जान लेता है।

इसी अध्यायके पहले श्लोकमें आये **'योगं युञ्जन्मदाश्रयः'** को यहाँ **'मामाश्रित्य यतन्ति ये'** पदोंसे और **'मय्यासक्तमनाः'** को यहाँ **'युक्तचेतसः'** पदसे कहा गया है। तात्पर्य है कि मेरा आश्रय लेनेसे भक्तको कर्मयोग तथा ज्ञानयोगकी भी सिद्धि हो जाती है अर्थात् वे दोनोंके फल (लक्ष्य) रूप ब्रह्मको भी जान लेते हैं—**'ते ब्रह्म तद्विदुः'** और मेरे समग्ररूपको भी जान लेते हैं—**'मां ते विदुः'।**

'प्रयाणकालेऽपि' में **'अपि'** पद देनेका तात्पर्य है कि वे भक्त मेरेको पहले भी जानते हैं और अन्तकालमें भी जानते हैं अर्थात् उनका ज्ञान कभी लुप्त नहीं होता। ऐसे भक्त 'युक्तचेता' हो जाते हैं अर्थात् उनके मनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, प्रत्युत केवल भगवान् ही रहते हैं। भगवान्‌के साथ उनकी अभिन्नता (नित्ययोग) होनेसे न वे भगवान्‌से वियुक्त होते हैं, न भगवान् उनसे वियुक्त होते हैं। ऐसे युक्तचेता भक्त अन्तकालमें कुछ भी चिन्तन होनेपर भी योगभ्रष्ट नहीं होते, प्रत्युत भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं—**'प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः'।** कारण कि उन भक्तोंकी दृष्टिमें जब भगवान्‌के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है, तो फिर उनका मन भगवान्‌को छोड़कर कहाँ जायगा? क्यों जायगा? कैसे जायगा? उनके मनमें कुछ भी चिन्तन होगा तो भगवान्‌का ही चिन्तन होगा, फिर उनका मन विचलित कैसे होगा और मनके विचलित हुए बिना वह योगभ्रष्ट कैसे होगा? कारण कि करणसापेक्ष साधनमें योगसे मनके विचलित होनेपर ही मनुष्य योगभ्रष्ट होता है—**'योगाच्चलितमानसः'** (गीता ६। ३७); परन्तु सब जगह भगवान्‌को देखनेवालेका भगवान्‌से नित्ययोग रहता है।

भगवान्‌के कुछ भक्त तो मुक्ति चाहते हैं—**'जरामरणमोक्षाय'** और कुछ भक्त प्रेम चाहते हैं—**'मां ते विदुर्युक्तचेतसः'।** मुक्ति चाहनेवाले भक्त कर्मयोग और ज्ञानयोग (ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म) को जान लेते हैं, पर प्रेम चाहनेवाले भक्त स्वयं समग्र भगवान्‌को जान लेते हैं—**'मां विदुः'।** भगवान् अपने प्रेमी भक्तोंको कर्मयोग (बुद्धियोग) और ज्ञानयोग—दोनों प्रदान कर देते हैं (गीता १०। १०-११)। जरा-मरणरूप बन्धन और मुक्ति—दोनों ही लौकिक हैं, पर प्रेम अलौकिक है। यद्यपि साधन-भक्ति भी लौकिक है, तथापि उद्देश्य अलौकिक होनेसे वह अलौकिक साध्य-भक्तिमें चली जाती है—**'भक्त्या सञ्जातया भक्त्या'** (श्रीमद्भा० ११। ३। ३१)।

॥श्रीहरिः॥

सातवें अध्यायका सार

भगवान्‌की दो प्रकृतियाँ हैं—अपरा और परा। संसार 'अपरा' प्रकृति है और जीव 'परा' प्रकृति है। अपरा प्रकृति जड़ तथा निरन्तर परिवर्तनशील है और परा प्रकृति चेतन तथा नित्य अपरिवर्तनशील है। भगवान्‌ने अपरा और परा—दोनोंको अपनी ही प्रकृति अर्थात् स्वभाव बताया है—**'इतीयं मे'** (७। ४), **'मे पराम्'** (७। ५)। भगवान्‌का स्वभाव होनेसे अपरा प्रकृतिकी स्वतन्त्र (भगवान्‌से अलग) सत्ता नहीं है; परन्तु जीव (परा प्रकृति) अपराको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। यह सम्बन्ध जीव दो प्रकारसे मानता है—(१) अहंतापूर्वक; जैसे—मैं शरीर हूँ और (२) ममतापूर्वक; जैसे—शरीर मेरा है। यह माना हुआ सम्बन्ध ही सम्पूर्ण प्राणियोंके उत्पन्न होनेमें कारण है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)।

वास्तवमें सम्पूर्ण जगत्‌के कर्ता, कारण तथा कार्य एक भगवान् ही हैं। भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं—**'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'** (७। ७)। यह सिद्धान्त है कि सत्ता एक ही होती है, दो नहीं होती। अतः एक भगवान् ही अनेक रूपोंमें प्रकट हुए हैं। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँच महाभूत तथा इनके कार्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय—इन सबके मूल कारण भगवान् ही हैं। भगवान् ही सम्पूर्ण प्राणियोंके अनादि तथा अविनाशी बीज हैं। तात्पर्य है कि सृष्टिमें जो कुछ भी क्रिया, पदार्थ, भाव आदि देखने-सुनने-समझनेमें आते हैं, उन सबके बीज (मूल कारण) एकमात्र भगवान् ही हैं। कारण ही कार्यरूपमें परिणत होता है*। अतः कारणकी तो स्वतन्त्र सत्ता होती है, पर कार्यकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। इसलिये अगर कोई साधक कार्यमें भगवान्‌को प्राप्त करना चाहे तो उसको भगवान् नहीं मिलेंगे—**'न त्वहं तेषु ते मयि'** (७। १२)। जो सबके कारणरूप भगवान्‌के शरण होते हैं, उन्हींको भगवान् मिलते हैं। परन्तु जो कारणरूप भगवान्‌के शरण न होकर कार्यरूप सत्त्वादि गुणोंमें उलझ जाते हैं, वे जन्म-मरणके चक्रमें पड़े रहते हैं। ऐसे मनुष्य कार्यरूप शरीर-संसारके सम्बन्धसे होनेवाली कामनाओंकी पूर्तिके लिये देवताओंकी शरण लेते हैं; क्योंकि वे अलौकिक भगवान्‌को साधारण मनुष्यकी तरह लौकिक मानते हैं। परन्तु जो मनुष्य तीनों गुणोंसे मोहित नहीं होते, वे भगवान्‌की शरण लेते हैं। ऐसे भक्तोंके चार भेद होते हैं—अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी। इन शरणागत भक्तोंमें भी जो 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस प्रकार भगवान्‌के शरण हो जाता है, वह महात्मा भक्त मुक्त पुरुषोंसे भी श्रेष्ठ होनेके कारण अत्यन्त दुर्लभ है। वह महात्मा भक्त भगवान्‌की कृपासे परा-अपरासहित भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है, जिसको जाननेपर फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता; क्योंकि उसके सिवाय अन्य चीज कोई है ही नहीं। उसका भगवान्‌के साथ आत्मीय सम्बन्ध हो जाता है, जिससे प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति (जागृति) हो जाती है। इस प्रेमकी जागृतिमें ही मनुष्यजन्मकी पूर्णता है।

× × ×

एक अपरा प्रकृति है, एक परा प्रकृति है और एक परा-अपराके मालिक परमात्मा हैं। सम्पूर्ण शरीर-संसार (अधिभूत) अपरा प्रकृतिके अन्तर्गत और सम्पूर्ण शरीरी (कृत्स्न अध्यात्म) परा प्रकृतिके अन्तर्गत आते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मात्र शरीर (संसार) भी एक हैं और मात्र शरीरी (जीव) भी एक हैं तथा अपरा और परा—ये दोनों जिसकी शक्तियाँ हैं, वे परमात्मा भी एक हैं। अतः शरीरोंकी दृष्टिसे, आत्माकी दृष्टिसे और परमात्माकी दृष्टिसे—तीनों ही दृष्टियोंसे हम सब एक हैं, अनेक नहीं हैं—**'नेह नानास्ति किञ्चन'** (कठ० २। १। ११, बृहदा० ४। ४। १९)।

सम्पूर्ण शरीरोंमें एकता स्वीकार करनेपर किसी भी प्राणीसे राग अथवा द्वेष नहीं होगा और सम्पूर्ण प्राणियोंके हितका भाव होगा। ऐसा होनेसे 'कर्मयोग' सुगमतापूर्वक स्वतः सिद्ध हो जायगा। कारण कि जब अपनेसे भिन्न दूसरा कोई है ही नहीं और व्यक्तिगत अपना कुछ है ही नहीं तो फिर अपने पास जो भी वस्तु है, उसमें ममता नहीं होगी और जो वस्तु नहीं है, उसकी कामना नहीं होगी। ममता और कामना न होनेपर अपने पास जो भी

---

* भगवान् कार्यरूपमें परिणत नहीं होते, प्रत्युत कार्यरूपसे प्रकट होते हैं।

वस्तु है, वह स्वतः दूसरोंकी सेवामें लगेगी।

सम्पूर्ण जीवोंमें एकता स्वीकार करनेपर सर्वत्र आत्मभाव अथवा ब्रह्मभाव हो जायगा—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छान्दोग्य० ३। १४। १), **'आत्मैवेदं सर्वम्'** (छान्दोग्य० ७। २५। २)। ऐसा होनेसे 'ज्ञानयोग' सुगमतापूर्वक स्वतः सिद्ध हो जायगा। कारण कि अनेक रूपसे जो जीव है, वही एक रूपसे ब्रह्म है अर्थात् जीव और ब्रह्म एक ही हैं—**'अयमात्मा ब्रह्म'** (माण्डूक्य० १)।

अपरा और परा—इन दोनों प्रकृतियोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; क्योंकि ये दोनों भगवान्‌की शक्तियाँ, स्वभाव होनेसे भगवत्स्वरूप ही हैं। ऐसा स्वीकार करनेसे सर्वत्र भगवद्भाव हो जायगा—**'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९)। ऐसा होनेसे 'भक्तियोग' सुगमतापूर्वक स्वतः सिद्ध हो जायगा। कारण कि 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यही वास्तविक शरणागति है।

तात्पर्य यह निकला कि जगत्, जीव और परमात्मा—तीनोंकी दृष्टिसे हम सब एक समान हैं। इस समताको गीताने 'योग' कहा है—**'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २। ४८)। भेद (विषमता) केवल व्यवहारके लिये है, जो अनिवार्य है; क्योंकि व्यवहारमें समता सम्भव ही नहीं है। अतः साधककी दृष्टि (भावना) सम होनी चाहिये—**'सर्वत्र समदर्शनः'** (गीता ६। २९), **'पण्डिताः समदर्शिनः'** (गीता ५। १८), **'समबुद्धिर्विशिष्यते'** (गीता ६। ९), **'सर्वत्र समबुद्धयः'** (गीता १२। ४)। व्यवहारकी भिन्नता तो स्वाभाविक है, पर भावकी भिन्नता मनुष्यने अपने राग-द्वेषसे पैदा की है। राग-द्वेषके कारण ही मनुष्यने जगत्, जीव और परमात्मा—तीनोंमें अनेक भेद पैदा कर लिये हैं, जो इसके जन्म-मरणका कारण है—**'मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति'** (कठ० २। १। ११)। जो किसीको भी पराया मानता है, किसीका भी बुरा चाहता, देखता तथा करता है और संसारसे कुछ भी चाहता है, वह न तो कर्मयोगी हो सकता है, न ज्ञानयोगी हो सकता है और न भक्तियोगी ही हो सकता है।

जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंपर विचार करें तो स्वतन्त्र सत्ता एक परमात्माकी ही है। जगत् और जीवकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जगत्‌को जीवने ही धारण किया है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (७। ५) अर्थात् जगत्‌को सत्ता जीवने ही दी है, इसलिये जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जीव परमात्माका ही अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७), इसलिये खुद जीवकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। तात्पर्य है कि जगत्‌की सत्ता जीवके अधीन है और जीवकी सत्ता परमात्माके अधीन है, इसलिये एक परमात्माके सिवाय अन्य कुछ नहीं है—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)। जगत् और जीव—दोनों परमात्मामें ही भासित हो रहे हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

अथाष्टमोऽध्यायः

(आठवाँ अध्याय)

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

अर्जुन बोले—

पुरुषोत्तम	= हे पुरुषोत्तम!	**च**	= और	**मधुसूदन**	= हे मधुसूदन!
तत्	= वह	**अधिदैवम्**	= अधिदैव	**नियतात्मभिः**	= वशीभूत अन्तः-करणवाले मनुष्यके द्वारा
ब्रह्म	= ब्रह्म	**किम्**	= किसको		
किम्	= क्या है?	**उच्यते**	= कहा जाता है?		
अध्यात्मम्	= अध्यात्म	**अत्र**	= यहाँ	**प्रयाणकाले**	= अन्तकालमें (आप)
किम्	= क्या है?	**अधियज्ञः**	= अधियज्ञ		
कर्म	= कर्म	**कः**	= कौन है?		
किम्	= क्या है?	**च**	= और (वह)	**कथम्**	= कैसे
अधिभूतम्	= अधिभूत	**अस्मिन्**	= इस	**ज्ञेयः**	= जाननेमें आते
किम्	= किसको	**देहे**	= देहमें		
प्रोक्तम्	= कहा गया है?	**कथम्**	= कैसे है?	**असि**	= हैं?

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः॥ ३॥

श्रीभगवान् बोले—

परमम्	= परम		(जीव-) को	**करः**	= प्राणियोंकी सत्ता-को प्रकट करनेवाला
अक्षरम्	= अक्षर	**अध्यात्मम्**	= अध्यात्म		
ब्रह्म	= ब्रह्म है (और)	**उच्यते**	= कहते हैं।	**विसर्गः**	= त्याग
स्वभावः	= परा प्रकृति-	**भूतभावोद्भव-**		**कर्मसञ्ज्ञितः**	= कर्म कहा जाता है।

विशेष भाव—‘स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते’—‘परा प्रकृति’ भगवान्‌का स्वभाव है—**‘प्रकृतिं विद्धि मे पराम्’** (गीता ७। ५)। प्रकृति कहो, चाहे स्वभाव कहो, एक ही बात है। यह परा प्रकृति अर्थात्

जीव ही 'अध्यात्म' नामसे कहा गया है। इसको भगवान्‌ने अपना अंश भी बताया है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७)।

'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते' का दूसरा तात्पर्य है कि बालक, जवानी और वृद्धावस्थामें; जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें; चौरासी लाख योनियोंमें, सर्ग और प्रलयमें, महासर्ग और महाप्रलयमें भी जीवका कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६) अर्थात् इसका अपना भाव (सत्ता या होनापन) सदा विद्यमान रहता है।

सृष्टि-रचनारूप कर्मको 'त्याग' कहनेका तात्पर्य है कि इसमें अपनी स्थिरताका त्याग है। कारण कि तत्त्व स्थिर, अचल है और उस स्थिरताका त्याग ही कर्म है।

भगवान्‌का सृष्टि-रचनारूप कर्म ही आदि कर्म है*, जिससे कर्मोंकी परम्परा चली है। अतः 'कर्म' के अन्तर्गत तीन प्रकारके कर्म आते हैं— (१) सृष्टिकी रचना (२) क्रियामात्र, जो फलजनक नहीं होती और (३) पाप-पुण्य (शुभाशुभ कर्म), जो फलजनक होते हैं।

भगवान्‌का सृष्टि-रचनारूप कर्म वास्तवमें 'अकर्म' ही है। भगवान्‌ने कहा भी है—**'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्'** (गीता ४। १३) 'उस सृष्टि-रचनाका कर्ता होनेपर भी मुझ अव्यय परमेश्वरको तू अकर्ता जान।'

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ४॥

देहभृताम्, वर	=हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**अधिभूतम्**	=अधिभूत हैं,	**अत्र**	=इस
क्षरः	=क्षर	**पुरुषः**	=पुरुष अर्थात् हिरण्यगर्भ ब्रह्मा	**देहे**	=देहमें (अन्तर्यामीरूपसे)
भावः	=भाव अर्थात् नाशवान् पदार्थ	**अधिदैवतम्**	= अधिदैव हैं	**अहम्**	= मैं
		च	= और	**एव**	= ही
				अधियज्ञः	= अधियज्ञ हूँ।

विशेष भाव—परिवर्तनशील एवं नाशवान् क्रिया और पदार्थमात्र 'क्षरभाव' है, जो भगवान्‌की अपरा प्रकृति है।

ज्ञानमें ब्रह्मके साथ एकता होती है और प्रेममें अन्तर्यामी भगवान्‌के साथ अभिन्नता होती है। भगवान्‌ने यहाँ अन्तर्यामी- (अधियज्ञ-) को अपना स्वरूप बताया है। अतः ब्रह्म तो विशेषण है और अन्तर्यामी विशेष्य है—**'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** (गीता १४। २७)। तात्पर्य है कि जिसको गीताने 'समग्र' कहा है, वह सबका रचयिता और नियन्ता अन्तर्यामी मैं ही हूँ। इसी अन्तर्यामीको चौदहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें **'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्'** और **'अहं बीजप्रदः पिता'** पदोंमें **'अहम्'** शब्दसे कहा गया है। गीतामें ब्रह्मके लिये कहा है—**'न सत्तन्नासदुच्यते'** (१३। १२) और समग्र भगवान्‌के लिये कहा है—**'सदसच्चाहम्'** (९। १९), **'सदसत्तत्परं यत्'** (११। ३७)।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ५॥

---

* **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'** (गीता ४। १३), **'कल्पादौ विसृजाम्यहम्'** (९। ७), **'विसृजामि पुनः पुनः'** (९। ८), **'अहं बीजप्रदः पिता'** (१४। ४)।

यः	=जो मनुष्य	**मुक्त्वा**	=छोड़कर	**याति**	=प्राप्त होता है,
अन्तकाले	=अन्तकालमें	**प्रयाति**	=जाता है,	**अत्र**	= इसमें
च	=भी	**सः**	=वह	**संशयः**	=सन्देह
माम्	=मेरा	**मद्भावम्**	=मेरे स्वरूपको	**न**	=नहीं
स्मरन्	=स्मरण करते हुए	**एव**	=ही	**अस्ति**	=है।
कलेवरम्	=शरीर				

विशेष भाव—जो मनुष्य शरीरके रहते-रहते अपना उद्धार नहीं कर सका, वह यदि अन्तकालमें भी भगवान्‌का स्मरण करते हुए शरीर छोड़े तो वह भगवान्‌को ही प्राप्त होता है—इसमें कोई सन्देह नहीं है। फिर जो सब समय भगवान्‌का स्मरण करता है, वह अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण करके भगवान्‌को प्राप्त हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है! भगवान्‌ने मनुष्यको (अपना उद्धार करनेकी) बहुत स्वतन्त्रता दी है, छूट दी है कि किसी तरहसे उसका कल्याण हो जाय। यह भगवान्‌की मनुष्यपर बहुत विशेष कृपा है!

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीपुत्र अर्जुन!	**कलेवरम्**	=शरीर	**तम्, तम्**	=उस-उसको
अन्ते	=(मनुष्य) अन्तकालमें	**त्यजति**	=छोड़ता है	**एव**	=ही
		सदा,			
यम्, यम्	=जिस-जिस	**तद्भावभावितः**	=वह उस (अन्तकालके) भावसे सदा भावित होता हुआ	**एति**	=प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनिमें ही चला जाता है।
वा, अपि	=भी				
भावम्	=भावका				
स्मरन्	=स्मरण करते हुए				

विशेष भाव—सातवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने **'यो यो यां यां तनुं भक्तः'** पदोंसे उपासनाके विषयमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता बतायी थी, अब इस श्लोकमें गतिके विषयमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता बताते हैं। तात्पर्य है कि अपनी उपासना और गतिके विषयमें मनुष्य स्वतन्त्र है* और उसमें भगवान् अपने दयालु स्वभावके कारण बाधक नहीं बनते, प्रत्युत उसकी सहायता करते हैं। मनुष्य ही मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके दुर्गतिमें चला जाता है।

यह मनुष्यशरीरकी महत्ता है कि वह जो चाहे, वही पा सकता है। ऐसा कोई दुर्लभ पद नहीं है, जो मनुष्यको न मिल सके। जिसमें लाभ- (सुख-) का तो कोई अन्त न हो और दुःखका लेश भी न हो, ऐसा पद मनुष्य प्राप्त कर सकता है†। परन्तु भोग और संग्रहमें लगकर मनुष्य चौरासी लाख योनियोंमें और नरकोंमें चला जाता

---

* **नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥**
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥
(मानस, उत्तर० १२१।५)

† **यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।**
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(गीता ६।२२)

है! इसलिये भगवान् दु:खके साथ कहते हैं—'**अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि**' (९। ३), '**मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्**' (१६। २०)।

मनुष्य अन्तकालमें जैसा चिन्तन करता है, वैसी ही उसकी गति होती है। इस विषयमें एक श्लोक आता है—

वासना यस्य यत्र स्यात् स तं स्वप्नेषु पश्यति।
स्वप्नवन्मरणे ज्ञेयं वासना तु वपुर्नृणाम्॥

'जिस मनुष्यकी जहाँ वासना होती है, उसी वासनाके अनुरूप वह स्वप्न देखता है। स्वप्नके समान ही मरण होता है अर्थात् वासनाके अनुरूप ही अन्तसमयमें चिन्तन होता है और उस चिन्तनके अनुसार ही मनुष्यकी गति होती है।'

तात्पर्य है कि मृत्युकालमें हम जैसा चाहें, वैसा चिन्तन नहीं कर सकते, प्रत्युत हमारे भीतर जैसी वासना होगी, वैसा ही चिन्तन स्वत: होगा और उसके अनुसार ही गति होगी। जिस वस्तुको हम सत्ता और महत्ता देते हैं, उससे सम्बन्ध जोड़ते हैं, उससे सुख लेते हैं, उसीकी वासना बनती है। अगर संसारमें सुखबुद्धि न हो तो संसारकी वासना नहीं बनेगी। वासना न बननेपर मृत्युकालमें जो भी चिन्तन होगा, भगवान्‌का ही चिन्तन होगा; क्योंकि सिद्धान्तसे सब कुछ भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

'**तं तमेवैति**'—जिस तरह सुईके पीछे-पीछे (उसी मार्गसे) धागा जाता है, उसी तरह मनुष्य भी अन्तकालके भावके अनुसार उसी गतिमें जाता है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

तस्मात्	= इसलिये (तू)	**युध्य, च**	= युद्ध भी कर।	**असंशयम्**	= नि:सन्देह
सर्वेषु	= सब	**मयि**	= मुझमें		
कालेषु	= समयमें	**अर्पितमनो-**		**माम्**	= मुझे
माम्	= मेरा	**बुद्धिः**	= मन और बुद्धि	**एव**	= ही
अनुस्मर	= स्मरण कर (और)		अर्पित करनेवाला (तू)	**एष्यसि**	= प्राप्त होगा।

विशेष भाव— भगवान्‌ने सातवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें कहा—'**प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः**' तो इसपर अर्जुनने आठवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें प्रश्न किया—'**प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः**'। उसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि जो मनुष्य अन्तकालमें मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह मेरेको ही प्राप्त होता है (८। ५)। परन्तु यह नियम केवल मेरी प्राप्तिके विषयमें नहीं है। मनुष्य जिस-जिसका भी स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है—यह सबके लिये सामान्य नियम है (८। ५-६)। अन्तकाल किसी भी समय आ सकता है। ऐसा कोई वर्ष, महीना, दिन, घण्टा, मिनट, क्षण नहीं है, जिसमें अन्तकाल न आ सके। इसलिये मनुष्यको नित्य-निरन्तर, सब समय मेरा स्मरण करना चाहिये—'**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर**'। जो नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उसके लिये मेरी प्राप्ति सुलभ है (७। १४); क्योंकि वह किसी भी समय शरीर छोड़ेगा तो मेरा स्मरण करते हुए ही छोड़ेगा और मेरेको ही प्राप्त होगा।

'जिस लाभकी प्राप्ति होनेपर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ उसके माननेमें भी नहीं आता और जिसमें स्थित होनेपर वह बड़े भारी दु:खसे भी विचलित नहीं किया जा सकता।'

'**मय्यर्पितमनोबुद्धिः**'—सब समयमें भगवान्‌का स्मरण करनेसे साधकके मन-बुद्धि भगवान्‌के अर्पित हो जाते हैं। मन-बुद्धि अपने नहीं हैं, इनके साथ अपना सम्बन्ध ही नहीं है—इस प्रकार मन-बुद्धिमें अपनापन छोड़नेसे मन-बुद्धि स्वतः भगवान्‌के अर्पित होंगे; क्योंकि ये भगवान्‌की ही अपरा प्रकृति हैं। यद्यपि परा और अपरा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌की हैं, तथापि परा प्रकृतिका सम्बन्ध अपराके साथ नहीं है, प्रत्युत केवल भगवान्‌के साथ है; क्योंकि वह भगवान्‌का अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (१५। ७)। इसलिये साधक 'मय्यर्पितमनोबुद्धि' तभी हो सकता है, जब वह अपराके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े, अपराको उसके मालिक भगवान्‌के अर्पित कर दे अर्थात् अपराको अपना और अपने लिये कभी न माने।

यहाँ 'मन' के अन्तर्गत चित्तको और 'बुद्धि'के अन्तर्गत अहंकारको भी समझ लेना चाहिये। मन-बुद्धि अर्पित होनेसे भक्त निर्मम और निरहंकार हो जाता है।

वास्तवमें भक्त स्वयं भगवान्‌के अर्पित होता है। स्वयं अर्पित होनेसे मन-बुद्धि आदि सर्वस्व अपने-आप अर्पित हो जाता है। सर्वस्व भगवान्‌के अर्पित होनेसे सर्वस्व नहीं रहता, प्रत्युत केवल भगवान् रह जाते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**चेतसा**	=चित्तसे	**अनुचिन्तयन्**	=चिन्तन करता हुआ (शरीर छोड़नेवाला मनुष्य)
अभ्यासयोगयुक्तेन	=अभ्यासयोगसे युक्त	**परमम्**	=परम	**याति**	=(उसीको) प्राप्त हो जाता है।
नान्यगामिना	=(और) अन्यका चिन्तन न करनेवाले	**दिव्यम्**	=दिव्य		
		पुरुषम्	=पुरुषका		

विशेष भाव—अर्जुनने प्रश्न किया था—'**प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः**' (८। २)। उस प्रश्नका उत्तर देकर अब आठवें, नवें और दसवें श्लोकमें अन्तकालमें स्मरण करनेवालोंके प्रकारका वर्णन करते हैं।

परमात्मामें बार-बार मन लगाना 'अभ्यास' है और किसी प्रकारकी कामना न रहना, चित्तमें निरन्तर समता रहना 'अभ्यासयोग' है। एक परमात्माके सिवाय अन्य किसी सत्ताकी धारणा न होना '**नान्यगामिना**' है। अन्यकी स्वतन्त्र सत्ता न रहनेसे, एकमात्र परमात्माका ही लक्ष्य रहनेसे साधक परमात्माको ही प्राप्त हो जाता है।

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ९॥

यः	=जो		करनेवाला,	**धातारम्**	=धारण-पोषण करनेवाला,
कविम्	=सर्वज्ञ,	**अणोः**	=सूक्ष्मसे	**तमसः**	=अज्ञानसे
पुराणम्	=अनादि,	**अणीयांसम्**	=अत्यन्त सूक्ष्म,	**परस्तात्**	=अत्यन्त परे,
अनुशासितारम्	= सबपर शासन	**सर्वस्य**	=सबका		

आदित्यवर्णम्	= सूर्यकी तरह प्रकाशस्वरूप		अर्थात् ज्ञानस्वरूप		स्वरूपका
		अचिन्त्यरूपम्	= —ऐसे अचिन्त्य	**अनुस्मरेत्**	= चिन्तन करता है।

विशेष भाव—परमात्माको '**कविम्**' कहनेका तात्पर्य है कि उसके ज्ञानके बाहर कुछ भी नहीं है। '**पुराणम्**' कहनेका तात्पर्य है कि वह अनादि है, कालसे भी अतीत अर्थात् कालका भी प्रकाशक है। '**अनुशासितारम्**' कहनेका तात्पर्य है कि सब स्वाभाविक ही उसके शासनमें हैं। वह जीव और जगत्—दोनोंका ही शासक है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।

(श्वेताश्वतर० १। १०)

'प्रकृति तो विनाशशील है और इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है। इन दोनों-(विनाशशील और अविनाशी-) को एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है।'

'**धातारम्**' कहनेका तात्पर्य है कि वह परमात्मा सबका पालन-पोषण करनेवाला है (गीता १५। १७)। '**आदित्यवर्णम्**' कहनेका तात्पर्य है कि जैसे सूर्यमें स्वतः स्वाभाविक नित्य प्रकाश रहता है, ऐसे ही परमात्मामें स्वतः स्वाभाविक नित्य ज्ञान, बोध रहता है। वह परमात्मा ज्ञानस्वरूप है और सबका प्रकाशक है (गीता १३। ३३)। '**तमसः परस्तात्**' कहनेका तात्पर्य है कि वह परमात्मा अज्ञानसे अथवा अपरासे अत्यन्त परे है—'**यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्**' (गीता १५। १८)।

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्-
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ १०॥

सः	= वह	**भ्रुवोः**	= भृकुटीके	**तम्**	= उस
भक्त्या, युक्तः	= भक्तियुक्त मनुष्य	**मध्ये**	= मध्यमें	**परम्**	= परम
प्रयाणकाले	= अन्त समयमें	**प्राणम्**	= प्राणोंको		
अचलेन	= अचल	**सम्यक्**	= अच्छी तरहसे	**दिव्यम्**	= दिव्य
मनसा	= मनसे			**पुरुषम्**	= पुरुषको
च	= और	**आवेश्य**	= प्रविष्ट करके	**एव**	= ही
योगबलेन	= योगबलके द्वारा		(शरीर छोड़नेपर)	**उपैति**	= प्राप्त होता है।

विशेष भाव—'**भक्त्या युक्तः**' का तात्पर्य है कि संसारकी आसक्ति मिट जानेसे उस साधकका एक परमात्मामें ही आकर्षण रहता है, अन्यमें आकर्षण नहीं रहता। संसारी मनुष्य तो अपरामें आकृष्ट रहते हैं, पर जो अपराको छोड़कर भगवान्‌में आकृष्ट हो जाता है, वह भक्त हो जाता है। संसारी मनुष्य शरीर-संसारमें आसक्त होनेसे 'विभक्त' अर्थात् भगवान्‌से अलग हो जाते हैं, पर भगवान्‌में लगा हुआ साधक विभक्त नहीं रहता, प्रत्युत 'भक्त' अर्थात् भगवान्‌से एक (अभिन्न) हो जाता है।

'**योगबलेन**' कहनेका तात्पर्य है कि पहले किये हुए योगाभ्यासके कारण अन्त समयमें होनेवाली अशक्त अवस्था उसको बाधा नहीं पहुँचा सकती, उसमें कोई विकार पैदा नहीं कर सकती। प्राणायाम आदिका बल 'योगबल' है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ ११॥

वेदविदः	=वेदवेत्ता लोग	**यत्**	=जिसको	**चरन्ति**	=पालन करते हैं,
यत्	=जिसको	**विशन्ति**	=प्राप्त करते हैं (और)	**तत्**	=वह
अक्षरम्	=अक्षर	**यत्**	=(साधक) जिसकी (प्राप्तिकी)	**पदम्**	=पद (मैं)
वदन्ति	=कहते हैं,			**ते**	=तेरे लिये
वीतरागाः	=वीतराग	**इच्छन्तः**	=इच्छा करते हुए	**सङ्ग्रहेण**	=संक्षेपसे
यतयः	=यति	**ब्रह्मचर्यम्**	=ब्रह्मचर्यका	**प्रवक्ष्ये**	=कहूँगा।

विशेष भाव—इस श्लोकमें गौणतासे चारों आश्रमोंका वर्णन ले सकते हैं; जैसे—'**यदक्षरं वेदविदो वदन्ति**' पदोंसे गृहस्थाश्रमका संकेत है; क्योंकि वेदोंका अध्ययन करना ब्राह्मणका खास काम है। '**विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः**' पदोंसे संन्यास और वानप्रस्थाश्रमका संकेत है। '**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति**' पदोंसे ब्रह्मचर्याश्रमका संकेत है।

मुक्ति सभी वर्णों, आश्रमोंमें हो सकती है। इसलिये भगवान्‌ने आश्रमोंका स्पष्टरूपसे वर्णन नहीं किया है और वर्णोंका स्पष्टरूपसे वर्णन भी कर्तव्य-पालनकी दृष्टिसे किया है। अर्जुन क्षत्रिय थे और वे अपने युद्धरूप कर्तव्यको छोड़ना चाहते थे। इसलिये भगवान्‌ने उनको अपने कर्तव्यमें लगानेके उद्देश्यसे वर्णधर्मका वर्णन किया। युद्ध करना वर्णधर्म है, आश्रमधर्म नहीं।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ १३॥

सर्वद्वाराणि	=(इन्द्रियोंके) सम्पूर्ण द्वारोंको	**आधाय**	=स्थापित करके		उच्चारण (और)
		योगधारणाम्	= योगधारणामें	**माम्**	=मेरा
संयम्य	=रोककर	**आस्थितः**	=सम्यक् प्रकारसे स्थित हुआ	**अनुस्मरन्**	=स्मरण करता हुआ
मनः	=मनका			**देहम्**	=शरीरको
हृदि	=हृदयमें	**यः**	=जो साधक	**त्यजन्**	=छोड़कर
निरुध्य	=निरोध करके	**ओम्**	='ॐ'	**प्रयाति**	=जाता है,
च	=और	**इति**	=इस	**सः**	=वह
आत्मनः	=अपने	**एकाक्षरम्**	=एक अक्षर	**पराम्**	=परम
प्राणम्	=प्राणोंको	**ब्रह्म**	=ब्रह्मका	**गतिम्**	=गतिको
मूर्ध्नि	=मस्तकमें	**व्याहरन्**	=(मानसिक)	**याति**	=प्राप्त होता है।

विशेष भाव—इन श्लोकोंमें योगाभ्यास करनेवाले अद्वैतवादीका वर्णन है। '**व्याहरन्**' पदसे मानसिक उच्चारण समझना चाहिये; क्योंकि मनका हृदयमें निरोध करनेपर तथा प्राणोंको मस्तकमें स्थापित करनेपर वाचिक उच्चारण होना असम्भव है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ १४॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**सततम्**	=निरन्तर	**योगिनः**	=योगीके लिये
अनन्यचेताः	=अनन्य चित्तवाला	**स्मरति**	=स्मरण करता है,	**अहम्**	=मैं
यः	= जो मनुष्य	**तस्य**	=उस	**सुलभः**	=सुलभ हूँ अर्थात् उसको सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ।
माम्	=मेरा	**नित्ययुक्तस्य**	=नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए		
नित्यशः	=नित्य-				

विशेष भाव—'अनन्यचेताः'—भक्तकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय अन्यकी सत्ता न होनेसे उसका मन अन्य जगह कैसे जायगा? क्यों जायगा? कहाँ जायगा? इसलिये वह स्वतः अनन्यचित्तवाला हो जाता है।

'**सततं यो मां स्मरति नित्यशः**'—एक 'करना' होता है और एक 'होना' होता है। जो करते हैं, वह क्रिया है और जो अपने-आप होता है, वह स्मरण है। जैसे, गीताके अन्तमें अर्जुनने कहा—'**स्मृतिर्लब्धा**' (१८। ७३) तो यह स्मृति क्रिया नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌के साथ अपने नित्य सम्बन्धकी स्वतः होनेवाली स्मृति है। भगवान्‌के स्मरणमें खास हेतु उनमें अपनापन है। भगवान् ही मेरे हैं और मेरे लिये हैं—इस प्रकार भगवान्‌में अपनापन होनेसे स्वतः भगवान्‌में प्रेम होता है और जिसमें प्रेम होता है, उसका स्मरण अपने-आप और नित्य-निरन्तर होता है। इसलिये भगवान्‌ने सातवें अध्यायके आरम्भमें '**मय्यासक्तमनाः**' पदसे अपनेमें आसक्ति अर्थात् प्रेम होनेकी बात कही है। तात्पर्य है कि केवल भगवान्‌को ही अपना और अपने लिये माननेसे साधककी भगवान्‌में प्रियता हो जाती है। भगवान्‌में प्रियता होनेके बाद फिर भगवान्‌का स्मरण स्वतः होता है।

'**नित्ययुक्तस्य**'—नित्य-निरन्तर भगवान्‌के साथ जुड़ा हुआ होनेसे भक्तको 'नित्ययुक्त' कहा गया है। सातवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें '**तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः**' पदोंसे भी यही बात कही गयी है। '**नित्ययुक्तस्य**' पदसे श्लोकके पूर्वार्धमें आयी सभी बातोंका समाहार हो जाता है।

'**तस्याहं सुलभः पार्थ**'—भगवान्‌ने महात्माको तो दुर्लभ बताया है—'**स महात्मा सुदुर्लभः**' (गीता ७। १९), पर यहाँ अपनेको सुलभ बताया है! इसका तात्पर्य है कि संसारमें भगवान् दुर्लभ नहीं हैं, प्रत्युत उनके तत्त्वको जानकर उनके शरण होनेवाले भक्त दुर्लभ हैं। कारण कि भगवान्‌को ढूँढ़े तो वे सब जगह मिल जायँगे, पर भगवान्‌का प्यारा भक्त कहीं-कहीं ही मिलेगा—

हरि दुरलभ नहिं जगतमें, हरिजन दुरलभ होय।
हरि हेर्‌याँ सब जग मिलै, हरिजन कहिं एक होय॥

भगवान् कृपा करके जो मनुष्यशरीर देते हैं, उस शरीरसे जीव अनेक योनियोंमें तथा नरकोंमें भी जा सकता है। परन्तु भक्त कृपा करके भगवान्‌की ही प्राप्ति कराता है—

हरि से तू जनि हेत कर, कर हरिजन से हेत।
हरि रीझै जग देत हैं, हरिजन हरि ही देत॥

वास्तवमें जो नित्यप्राप्त है, उसमें सुलभता-दुर्लभता कहना बनता ही नहीं। परन्तु लोगोंने उसको दुर्लभ (कठिन) मान रखा है, इस वृत्तिको हटानेके लिये भगवान्‌ने अपनेको सुलभ बताया है। जिसकी खुदकी सत्ता है ही नहीं, उस असत् (शरीर-संसार) को सत्ता और महत्ता देनेसे तथा उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही नित्यप्राप्त परमात्मा

दुर्लभ हो रहे हैं। असत्‌को सत्ता और महत्ता न दें तो परमात्माकी प्राप्ति स्वतःसिद्ध है। असत् है और वह अपना तथा अपने लिये है—ऐसा मानना ही असत्‌को सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ना है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ १५॥

महात्मानः	= महात्मालोग	**अशाश्वतम्**	= अशाश्वत अर्थात् निरन्तर बदलनेवाले	**परमाम्**	= परम
माम्	= मुझे			**संसिद्धिम्**	= सिद्धिको
उपेत्य	= प्राप्त करके			**गताः**	= प्राप्त हो गये हैं अर्थात् उनको परम प्रेमकी प्राप्ति हो गयी है।
दुःखालयम्	= दुःखालय अर्थात् दुःखोंके घर (और)	**पुनर्जन्म**	= पुनर्जन्मको		
		न, आप्नुवन्ति	= प्राप्त नहीं होते; (क्योंकि वे)		

विशेष भाव—गीताके सातवें अध्यायमें तो संसारको परमात्माका स्वरूप कहा गया है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९), पर यहाँ उसको दुःखालय अर्थात् दुःखोंका घर कहा गया है—'**दुःखालयम्**'। इसका तात्पर्य है कि जो मनुष्य सांसारिक वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सुख लेता है, उसके लिये तो संसार भयंकर दुःख देनेवाला है, पर जो वस्तु और क्रियासे व्यक्तियोंकी सेवा करता है, उसके लिये संसार परमात्माका स्वरूप है। सुखकी आशा, कामना और भोग महान् दुःखोंके कारण हैं। सुख भोगनेवाला दुःखसे कभी बच सकता ही नहीं—यह अकाट्य नियम है। इसलिये वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सुख लेना ही नहीं है। जिस क्षण सुखबुद्धिका त्याग है, उसी क्षण परमात्माकी प्राप्ति है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)।

जीव उस समग्र परमात्माका अंश है, जिसके रोम-रोममें करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं! पर जीव फँस गया अपरा प्रकृतिके तुच्छ-से-तुच्छ अंश एक शरीरमें! इसलिये जहाँ कोरा आनन्द-ही-आनन्द है, वहाँ जीव कोरा दुःख-ही-दुःख पा रहा है! जैसे—गायके थनोंमें जहाँ केवल दूध-ही-दूध है, वहाँ रहकर चींचड़ केवल खून-ही-खून पीता है! गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

आनँद-सिंधु-मध्य तव बासा । बिनु जाने कस मरसि पियासा॥

(विनयपत्रिका १३६। २)

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ १६॥

अर्जुन	= हे अर्जुन!		पुनः लौटकर संसारमें आना पड़ता है;	**माम्**	= मुझे
आब्रह्मभुवनात्	= ब्रह्मलोकतक			**उपेत्य**	= प्राप्त होनेपर
लोकाः	= सभी लोक			**पुनर्जन्म**	= पुनर्जन्म
पुनरावर्तिनः	= पुनरावर्तीवाले हैं अर्थात् वहाँ जानेपर	**तु**	= परन्तु	**न**	= नहीं
		कौन्तेय	= हे कौन्तेय!	**विद्यते**	= होता।

विशेष भाव—यहाँ कोई शंका कर सकता है कि ब्रह्मलोकतक सभी लोक भगवान्‌के ही स्वरूप हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**', फिर उन लोकोंमें जानेवालोंका संसारमें पुनर्जन्म क्यों होता है? इसका समाधान है कि उन लोकोंमें जानेवाले मनुष्य उन लोकोंको भगवान्‌का स्वरूप नहीं समझते, प्रत्युत भोग-सामग्री समझते हैं (गीता ९। २३)। वे सुखभोगके उद्देश्यसे ही ब्रह्मलोक आदिमें जाते हैं। इसलिये उनको कर्मफलके रूपमें ब्रह्मलोकतकके लोकोंकी प्राप्ति होती है और उनका पुनर्जन्म मिटता नहीं।

पुनर्जन्म सुखासक्तिके कारण ही होता है। इसलिये यहाँ '**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः**' कहनेका तात्पर्य है कि सांसारिक सुखोंकी आखिरी हद जो 'ब्रह्मलोक' है, वहाँ जानेपर भी जीवको लौटना ही पड़ता है। अनन्त ब्रह्माण्डोंका सुख मिलकर भी जीवको सुखी नहीं कर सकता, उसकी आफत, जन्म-मरण नहीं मिटा सकता। अतः संसारसे सुखकी आशा करनेवाला केवल धोखेमें रहता है।

ब्रह्मलोकमें दो प्रकारके मनुष्य जाते हैं—एक तो सुखभोगके लिये ब्रह्मलोक जाते हैं और फिर लौटकर संसारमें आते हैं और दूसरे क्रममुक्तिवाले ब्रह्मलोक जाते हैं और ब्रह्माजीके साथ मुक्त हो जाते हैं (गीता ८। २४)। वे (क्रममुक्तिवाले) लौटकर संसारमें नहीं आते तो यह उनके उद्देश्यकी महिमा है, ब्रह्मलोककी महिमा नहीं है। ब्रह्मलोक तो पुनरावर्ती ही है; क्योंकि वहाँ कोई भी सदा नहीं रह सकता, न भोगी सदा रहता है, न योगी (क्रममुक्तिवाला) सदा रहता है। ब्रह्मलोकतक सब कर्मफल है। जब कर्ममात्र आदि-अन्तवाला (नाशवान्) होता है तो फिर उसका फल अविनाशी कैसे हो सकता है?

'**मामुपेत्य**' में '**माम्**' पद समग्र परमात्माका वाचक है, जो परा और अपरा—दोनोंका मालिक है। उसको प्राप्त होनेके बाद फिर दुःखालय संसारमें जन्म नहीं होता। हाँ, उनको प्राप्त हुए मनुष्य उनकी इच्छासे कारक महापुरुषके रूपमें अथवा भगवान्‌के अवतारके समय संसारमें आ सकते हैं। परन्तु उनका वह जन्म कर्मोंके अधीन नहीं होता, प्रत्युत भगवान्‌की इच्छासे होता है।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥

यत्	=जो मनुष्य	**अहः**	=एक दिनको (और)	**विदुः**	=जानते हैं,
ब्रह्मणः	=ब्रह्माके	**युग-**		**ते**	=वे
सहस्रयुग-		**सहस्रान्ताम्**	=एक हजार चतुर्युगीवाली	**जनाः**	=मनुष्य
पर्यन्तम्	=एक हजार चतुर्युगीवाले	**रात्रिम्**	=एक रात्रिको	**अहोरात्रविदः**	=ब्रह्माके दिन और रातको जाननेवाले हैं।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके॥ १८॥

अहरागमे	=ब्रह्माके दिनके आरम्भकालमें	**व्यक्तयः**	=शरीर	**अव्यक्तसञ्ज्ञके, एव**	=अव्यक्त नामवाले-(ब्रह्माके सूक्ष्मशरीर-) में ही
अव्यक्तात्	=अव्यक्त-(ब्रह्माके सूक्ष्मशरीर-) से	**प्रभवन्ति**	=पैदा होते हैं (और)	**प्रलीयन्ते**	=(सम्पूर्ण शरीर) लीन हो जाते हैं।
सर्वाः	=सम्पूर्ण	**रात्र्यागमे**	=ब्रह्माकी रातके आरम्भकालमें		
		तत्र	=उस		

विशेष भाव—सोलहवें श्लोकमें भगवान्‌ने बताया कि ब्रह्मलोकतक सभी लोक पुनरावर्ती हैं। वे पुनरावर्ती क्यों हैं? इसके उत्तरमें भगवान् सत्रहवें-अठारहवें श्लोकोंमें बताते हैं कि ऊँचे-से-ऊँचा ब्रह्मलोक भी कालकी अवधिमें है। उस अवधिका विवेचन करते हुए भगवान् बताते हैं कि ब्रह्मलोककी अवधि कितनी ही बड़ी क्यों न हो, है वह कालके अन्तर्गत ही। परन्तु भगवान् कालकी अवधिमें नहीं हैं।

जैसे हम रातको सोते हैं तो संसारको भूल जाते हैं और प्रातः जागते हैं तो संसार पुनः याद आ जाता है, ऐसे ही ब्रह्माजीके रातमें सम्पूर्ण सृष्टि लीन हो जाती है और दिनमें पुनः उत्पन्न हो जाती है। यह रात और दिनकी आखिरी हद है।

ब्रह्माजीके दिन और रात सूर्यसे नहीं होते, प्रत्युत प्रकृतिसे होते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥

पार्थ	= हे पार्थ!	**अवशः**	= प्रकृतिके परवश हुआ		(और)
सः, एव	= वही	**अहरागमे**	= ब्रह्माके दिनके समय	**रात्र्यागमे**	= ब्रह्माकी रात्रिके समय
अयम्	= यह	**प्रभवति**	= उत्पन्न होता है	**प्रलीयते**	= लीन होता है।
भूतग्रामः	= प्राणिसमुदाय				
भूत्वा, भूत्वा	= उत्पन्न हो-होकर				

विशेष भाव—एक विभाग बदलनेवाले संसारका है और एक विभाग न बदलनेवाली चिन्मय सत्ताका है। जो अनादिकालसे जन्म-मरणके प्रवाहमें पड़ा हुआ है, वही यह जीव-समुदाय बार-बार उत्पन्न और लीन होता है। ब्रह्माके दिन और रातके बीचमें भी जीव निरन्तर जन्म लेता और मरता रहता है। तात्पर्य है कि जो बार-बार उत्पन्न और लीन होता है, वह संसार है और जो वही रहता है (जो पहले सर्गावस्थामें था), वह जीवका असली स्वरूप अर्थात् चिन्मय सत्ता है, जो परमात्माका साक्षात् अंश है। ब्रह्माजीके कितने ही रात-दिन बीत जायँ, पर जीव स्वयं वही-का-वही रहता है।

चिन्मय सत्ता (चितिशक्ति) अर्थात् स्वयंमें स्वीकार अथवा अस्वीकार करनेकी सामर्थ्य है। इस सामर्थ्यका दुरुपयोग करनेसे अर्थात् जड़ताको स्वीकार करनेसे ही वह जन्मता-मरता है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। यदि वह इस सामर्थ्यका दुरुपयोग न करे तो उसका जन्म-मरण हो ही नहीं सकता। अत: जीवका खास पुरुषार्थ है—जड़ताको स्वीकार न करना अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थित होना अथवा अपने अंशी भगवान्के शरण होना। जड़तामें अर्थात् देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्था, परिस्थितिमें परिवर्तन होता है, अपनेमें (अपने होनेपनमें) कभी परिवर्तन नहीं होता—यह मनुष्यमात्रका अनुभव है। परन्तु ऐसा अनुभव होते हुए भी मनुष्य सुखासक्तिके कारण जड़तासे बँधा रहता है, जिससे उसको अपने सहज स्वरूपका अनुभव नहीं होता, प्रत्युत वह पशु-पक्षी आदिकी तरह अपने स्वरूपको भूला रहता है।

'अवशः'—अपरा प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे जीव परवश, पराधीन हो जाता है—**'भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्'** (गीता ९। ८)*। अत: प्रकृतिके साथ माना हुआ सम्बन्ध छूटनेपर यह स्वाधीन अर्थात् मुक्त हो जाता है।

हमारी सत्ता अपरा प्रकृतिके अर्थात् वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके अधीन नहीं है। प्रत्येक वस्तुकी उत्पत्ति और विनाश होता है, प्रत्येक व्यक्तिका जन्म (संयोग) और मरण (वियोग) होता है तथा प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। परन्तु इन तीनों-(वस्तु, व्यक्ति और क्रिया-) को जाननेवाली हमारी चिन्मय सत्ता- (होनेपन-) का कभी उत्पत्ति-विनाश, जन्म-मरण (संयोग-वियोग) और आरम्भ-अन्त नहीं होता। यह सत्ता नित्य-निरन्तर स्वत: ज्यों-की-त्यों रहती है—**'भूतग्रामः स एवायम्'**। इस सत्ताका कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। इस सत्तामें स्वत:-स्वाभाविक स्थितिके अनुभवका नाम ही मुक्ति (स्वाधीनता) है।

मनुष्यको यह वहम रहता है कि अमुक वस्तुकी प्राप्ति होनेपर, अमुक व्यक्तिके मिलनेपर तथा अमुक क्रियाको करनेपर मैं स्वाधीन (मुक्त) हो जाऊँगा। परन्तु ऐसी कोई वस्तु, व्यक्ति और क्रिया है ही नहीं, जिससे मनुष्य स्वाधीन हो जाय। प्रकृतिजन्य वस्तु, व्यक्ति और क्रिया तो मनुष्यको पराधीन बनानेवाली हैं। उनसे सर्वथा असंग

* यहाँ (८।१९ में) और नवें अध्यायके आठवें श्लोकमें—दोनों जगह 'भूतग्राम' और 'अवश' शब्द आये हैं। फर्क इतना है कि यहाँ सर्ग तथा प्रलयका वर्णन है, वहाँ (९।८ में) महासर्ग तथा महाप्रलयका वर्णन है।

होनेपर ही मनुष्य स्वाधीन हो सकता है। अतः साधकको चाहिये कि वह वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके बिना अपनेको अकेला अनुभव करनेका स्वभाव बनाये, उस अनुभवको महत्त्व दे, उसमें अधिक-से-अधिक स्थित रहे। यह मनुष्यमात्रका अनुभव है कि सुषुप्तिके समय वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके बिना भी हम स्वतः रहते हैं; परन्तु हमारे बिना वस्तु, व्यक्ति और क्रिया नहीं रहती। जब जाग्रत्‌में भी हम इनके बिना रहनेका स्वभाव बना लेंगे, तब हम स्वाधीन (मुक्त) हो जायँगे। प्रकृतिजन्य वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके सम्बन्धकी मान्यता ही हमें स्वाधीन नहीं होने देती और हमारे न चाहते हुए भी हमें पराधीन बना देती है।

परमात्मामें अनन्त शक्तियाँ हैं, जो चित्स्वरूप हैं। माया-(प्रकृति-) में भी अनन्त शक्तियाँ हैं, पर वे जड़स्वरूप तथा परिवर्तनशील हैं—'**मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्**' (९। १०)। सबसे विलक्षण शक्ति भगवत्प्रेममें है। परन्तु मुक्ति-(स्वाधीनता-) में सन्तोष करनेसे वह प्रेम प्रकट नहीं होता। जड़ताके सम्बन्धसे ही परवशता होती है और मुक्त होनेपर वह परवशता सर्वथा मिट जाती है और जीव स्वाधीन हो जाता है। परन्तु प्रेम इस स्वाधीनतासे भी विशेष विलक्षण है। स्वाधीनता-(मुक्ति-) में अखण्ड आनन्द है, पर प्रेममें अनन्त आनन्द है।

ज्ञानयोगी तो स्वाधीन होता है और भक्त प्रेमी होता है। भक्तियोगमें भक्त भगवान्‌के पराधीन नहीं होता; क्योंकि भगवान् परकीय नहीं हैं, प्रत्युत स्वकीय (अपने) हैं। स्वकीयकी अधीनतामें विशेष स्वाधीनता होती है।

भगवान् तो स्वाधीन-से-स्वाधीन हैं। जीव ही जड़ताके पराधीन हो जाता है। उस पराधीनताको मिटानेसे वह स्वाधीन हो जाता है। परन्तु भगवान्‌के शरण होनेसे वह स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीन अर्थात् परम स्वाधीन हो जाता है। भगवान्‌की अधीनता परम स्वाधीनता है, जिसमें भगवान् भी भक्तके अधीन हो जाते हैं—'**अहं भक्तपराधीनः**' (श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ २०॥

तु	= परन्तु	**सनातनः**	= अनादि	**सः**	= वह
तस्मात्	= उस	**परः**	= अत्यन्त श्रेष्ठ	**सर्वेषु**	= सम्पूर्ण
अव्यक्तात्	= अव्यक्त- (ब्रह्माके सूक्ष्मशरीर-) से	**भावः**	= भावरूप	**भूतेषु**	= प्राणियोंके
		यः	= जो	**नश्यत्सु**	= नष्ट होनेपर भी
अन्यः	= अन्य (विलक्षण)	**अव्यक्तः**	= अव्यक्त (ईश्वर) है,	**न, विनश्यति**	= नष्ट नहीं होता।

विशेष भाव—एक अपरिवर्तनशील (स्थायी) तत्त्व 'परा' है और एक परिवर्तनशील (अस्थायी) तत्त्व 'अपरा' है। परामें कभी परिवर्तन होता ही नहीं और अपरामें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अपरा कभी परिवर्तनके बिना रहती ही नहीं, रह सकती ही नहीं। सर्ग और प्रलयमें तो परिवर्तन होता रहता है, महासर्ग और महाप्रलयमें भी परिवर्तन होता रहता है।

अगर परा और अपरा—दोनों ही तत्त्व अपरिवर्तनशील हों तो जन्म-मरण मिट जाय अथवा दोनों ही परिवर्तनशील हों तो जन्म-मरण मिट जाय! परन्तु स्वयं अपरिवर्तनशील होते हुए भी जीव- (परा-) ने परिवर्तनशील अपरासे सम्बन्ध जोड़ लिया, इसीसे वह जन्म-मरणके चक्रमें पड़ गया। जगत्‌से अपना सम्बन्ध जोड़कर वह भी जगत् हो गया (गीता ७। १३)। जैसे कोई चलती हुई गाड़ीमें बैठकर चल पड़े, ऐसे ही परिवर्तनशील संसारको पकड़कर जीव भी परिवर्तनशील बन गया—अनेक योनियोंमें भटकने लग गया!

परमात्माको 'पर' अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ कहनेका तात्पर्य है कि ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरसे भी श्रेष्ठ मूल प्रकृति (कारणशरीर) है और मूल प्रकृतिसे भी श्रेष्ठ परमात्मा हैं।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ २१॥

तम्	=उसीको	**परमाम्**	=परम	**न, निवर्तन्ते**	=फिर लौटकर (संसारमें) नहीं आते,
अव्यक्तः	=अव्यक्त (और)	**गतिम्**	=गति	**तत्**	=वह
अक्षरः	=अक्षर—	**आहुः**	=कहा गया है (और)	**मम**	=मेरा
इति	=ऐसा	**यम्**	=जिसको	**परमम्**	=परम
उक्तः	=कहा गया है (तथा उसीको)	**प्राप्य**	=प्राप्त होनेपर (जीव)	**धाम**	=धाम है।

विशेष भाव—अव्यक्त, अक्षर आदि नामोंकी पहुँच उस प्रापणीय तत्त्वतक नहीं है। कारण कि वह अव्यक्त-व्यक्त, अक्षर-क्षर, गति-स्थिति दोनोंसे रहित निरपेक्ष तत्त्व है। उसको प्राप्त होनेपर जीव लौटकर नहीं आता; क्योंकि उसकी अवधि नहीं है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ २२॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन अर्जुन!	**येन**	=जिससे	**परः**	=परम
		इदम्	=यह	**पुरुषः**	=पुरुष परमात्मा
भूतानि	=सम्पूर्ण प्राणी	**सर्वम्**	=सम्पूर्ण संसार	**तु**	=तो
यस्य	=जिसके	**ततम्**	=व्याप्त है,	**अनन्यया, भक्त्या**	= अनन्यभक्तिसे
अन्तःस्थानि	=अन्तर्गत हैं (और)	**सः**	=वह	**लभ्यः**	=प्राप्त होनेयोग्य है।

विशेष भाव—भक्तिको '**अनन्य**' कहनेका तात्पर्य है कि भक्तिके साथ थोड़ा भी जड़ताका अंश, अहम्का संस्कार, अपने मतका संस्कार न रहे अर्थात् किसी भी तरफ किंचिन्मात्र भी खिंचाव न रहे। सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा अनुभव करना अनन्यभक्ति है।

सुखकी वासना तो एक ही है, पर सुख-सामग्रीकी तारतम्यता अनेक लोकोंमें है। ब्रह्मलोकतकका सुख भी आकृष्ट न करे, यहाँतक कि अपनी स्वाधीनता- (मुक्ति-) का सुख भी सन्तुष्ट न कर सके, तब भक्ति प्राप्त होती है।

सातवें अध्यायमें भगवान्ने कहा था—'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति**' (७। ७), उसी बातको यहाँ '**यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्**' पदोंसे कहा है। इसीको आगे नवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें विस्तारसे कहेंगे। इन सबका तात्पर्य है कि एक भगवान्के सिवाय कुछ भी नहीं है अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ २३॥

तु	=परन्तु		मार्गमें	**यान्ति**	=प्राप्त होते हैं अर्थात् पीछे लौटकर नहीं आते
भरतर्षभ	=हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**प्रयाता**	=शरीर छोड़कर गये हुए		
यत्र	=जिस	**योगिनः**	=योगी	**च, एव**	=और (जिस मार्गमें गये हुए)
काले	=काल अर्थात्	**अनावृत्तिम्**	=अनावृत्तिको		

आवृत्तिम्	=आवृत्तिको प्राप्त होते हैं अर्थात् पीछे लौटकर आते हैं,	**तम्**	=उस		दोनों मार्गोंको
		कालम्	=कालको अर्थात्	**वक्ष्यामि**	=मैं कहूँगा।

विशेष भाव—जो परिवर्तनशील प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखता है, उसको पीछे लौटकर आना पड़ता है। परन्तु जो परिवर्तनशील प्रकृतिके साथ सम्बन्ध नहीं रखता, उसको पीछे लौटकर नहीं आना पड़ता।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २४॥

जिस मार्गमें—

ज्योतिः	=प्रकाशस्वरूप	**षण्मासाः**	=(और) छः महीनोंवाले	**जनाः**	=पुरुष (पहले ब्रह्मलोकको प्राप्त होकर पीछे ब्रह्माके साथ)
अग्निः	=अग्निका अधिपति देवता,	**उत्तरायणम्**	= उत्तरायणका अधिपति देवता है,		
अहः	=दिनका अधिपति देवता,	**प्रयाताः**	=शरीर छोड़कर	**ब्रह्म**	=ब्रह्मको
शुक्लः	=शुक्लपक्षका अधिपति देवता,	**तत्र**	=उस मार्गसे गये हुए	**गच्छन्ति**	=प्राप्त हो जाते हैं।
		ब्रह्मविदः	=ब्रह्मवेत्ता		

विशेष भाव—पहले साधनावस्थामें जिनके भीतर ब्रह्मलोककी वासना अथवा अपने मतका आग्रह रहा है, वे क्रममुक्तिसे पहले ब्रह्मलोकमें जाते हैं और फिर महाप्रलय आनेपर ब्रह्माजीके साथ मुक्त हो जाते हैं—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

(कूर्मपुराण, पूर्व० ११। २८४)

'ब्रह्माकी आयु पूर्ण होनेपर जब महाप्रलयकाल उपस्थित होता है, तब वे सम्पूर्ण शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुष ब्रह्माके साथ ही परमपदमें प्रविष्ट हो जाते हैं।'

क्रममुक्तिमें ब्रह्मलोक मार्गमें आनेवाले एक स्टेशनकी तरह है, जहाँ सुखकी वासनावाले पुरुष उतरते हैं। परन्तु जिनमें सुखकी वासना नहीं है, वे वहाँ नहीं उतरते; जैसे—हमारा कोई प्रयोजन न हो तो मार्गमें स्टेशन आये या जंगल, क्या फर्क पड़ता है!

उपनिषदोंमें शुक्लमार्गके क्रमका अलग-अलग ढंगसे वर्णन आता है; जैसे—

छान्दोग्योपनिषद्के अनुसार—अर्चिका देवता, दिनका देवता, शुक्लपक्षका देवता, उत्तरायणका देवता, संवत्सर, आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत् और फिर अमानव पुरुषके द्वारा ब्रह्मलोकमें (ब्रह्माके पास) ले जाना (४। १५। ५; ५। १०। १-२)।

बृहदारण्यकोपनिषद्के अनुसार—ज्योतिका देवता, दिनका देवता, शुक्लपक्षका देवता, उत्तरायणका देवता, देवलोक, आदित्य, विद्युत् (वैद्युत देव) और फिर मानस पुरुषके द्वारा ब्रह्मलोककी प्राप्ति (६। २। १५)।

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्के अनुसार—अग्निलोक, वायुलोक, सूर्यलोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक और ब्रह्मलोक (१। ३)।

ब्रह्मसूत्र (४। ३। २-३) में भी इसपर विचार किया गया है।

शुक्लमार्गको उपनिषदोंमें देवयान, अर्चिमार्ग, उत्तरमार्ग, देवपथ और ब्रह्मपथ नामसे भी कहा गया है।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ २५॥

जिस मार्गमें—

धूमः	= धूमका अधिपति देवता,	**षण्मासाः**	= छः महीनोंवाले	**चान्द्रमसम्**	= चन्द्रमाकी
रात्रिः	= रात्रिका अधिपति देवता,	**दक्षिणायनम्**	= दक्षिणायनका अधिपति देवता है,	**ज्योतिः**	= ज्योतिको
कृष्णः	= कृष्णपक्षका अधिपति देवता	**तत्र**	= (शरीर छोड़कर) उस मार्गसे गया हुआ	**प्राप्य**	= प्राप्त होकर
तथा	= और	**योगी**	= योगी (सकाम मनुष्य)	**निवर्तते**	= लौट आता है अर्थात् जन्म-मरणको प्राप्त होता है।

विशेष भाव—निष्कामभाव प्रकाश है और सकामभाव अँधेरा है।

उपनिषदोंमें कृष्णमार्गके क्रमका अलग-अलग प्रकारसे वर्णन आता है; जैसे—

छान्दोग्योपनिषद्के अनुसार—धूमका देवता, रात्रिका देवता, कृष्णपक्षका देवता, दक्षिणायनका देवता, पितृलोक, आकाश, चन्द्रमा (सोम) और फिर पुनरागमनको प्राप्त होना (५। १०। ३-४)।

बृहदारण्यकोपनिषद्के अनुसार—धूमका देवता, रात्रिका देवता, कृष्णपक्षका देवता, दक्षिणायनका देवता, पितृलोक, चन्द्रमा और फिर पुनरागमनकी प्राप्ति (६। २। १६)।

कृष्णमार्गको उपनिषदोंमें पितृयान, धूममार्ग और दक्षिणमार्ग नामसे भी कहा गया है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ २६॥

हि	= क्योंकि	**जगतः**	= जगत्-(प्राणिमात्र-) के साथ (सम्बन्ध रखनेवाली)	**अनावृत्तिम्, याति**	= जानेवालेको लौटना नहीं पड़ता (और)
शुक्लकृष्णे	= शुक्ल और कृष्ण—				
एते	= ये दोनों			**अन्यया**	= दूसरी गतिमें जानेवालेको
गती	= गतियाँ	**मते**	= मानी गयी हैं।		
शाश्वते	= अनादिकालसे	**एकया**	= (इनमेंसे) एक गतिमें	**पुनः, आवर्तते**	= पुनः लौटना पड़ता है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ २७॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**योगी**	= योगी	**कालेषु**	= समयमें
एते	= इन दोनों	**न, मुह्यति**	= मोहित नहीं होता।		
सृती	= मार्गोंको	**तस्मात्**	= अतः	**योगयुक्तः**	= योगयुक्त (समतामें स्थित)
जानन्	= जाननेवाला	**अर्जुन**	= हे अर्जुन! (तू)		
कश्चन	= कोई भी	**सर्वेषु**	= सब	**भव**	= हो जा।

विशेष भाव—कामनावाला मनुष्य ही मोहित होता है अर्थात् जन्म-मरणमें जाता है। शुक्ल और कृष्णमार्गको जाननेवाला मनुष्य निष्काम हो जाता है, इसलिये वह जन्म-मरणमें नहीं जाता अर्थात् कृष्णमार्गको प्राप्त नहीं होता।

इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा—'**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च**' और यहाँ कहते हैं—'**तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन**'। तात्पर्य है कि भगवत्स्मरण करना अर्थात् भगवान्‌में लगना भी 'योग' है और समतामें स्थित होना अर्थात् संसारसे हटना भी 'योग' है। दोनोंका परिणाम एक ही है।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ २८॥

योगी	= योगी (भक्त)	**तपःसु**	= तपोंमें	**सर्वम्**	= सभी पुण्यफलोंका
इदम्	= इसको (इस अध्यायमें वर्णित विषयको)	**च, एव**	= तथा	**अत्येति**	= अतिक्रमण कर जाता है
		दानेषु	= दानमें		
		यत्	= जो-जो	**च**	= और
विदित्वा	= जानकर	**पुण्यफलम्**	= पुण्यफल	**आद्यम्, स्थानम्**	= आदिस्थान
वेदेषु	= वेदोंमें,	**प्रदिष्टम्**	= कहे गये हैं,	**परम्**	= परमात्माको
यज्ञेषु	= यज्ञोंमें,	**तत्**	= उन	**उपैति**	= प्राप्त हो जाता है।

विशेष भाव—पिछले श्लोकमें शुक्ल तथा कृष्णमार्गको जाननेकी महिमा कहकर अब भगवान् इस श्लोकमें आठवें अध्यायमें वर्णित विषयको अर्थात् समग्रको जाननेकी महिमा बताते हैं कि इसको जाननेवाला सम्पूर्ण सकाम पुण्यफलोंका अतिक्रमण करके परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

परा और अपरा—दोनों जिसकी शक्तियाँ हैं, उस परमात्माको प्राप्त होना ही '**परं स्थानमुपैति चाद्यम्**' पदोंका तात्पर्य है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ नवमोऽध्यायः
(नवाँ अध्याय)

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—

इदम्	= यह	**ते**	= तेरे लिये	**ज्ञात्वा**	= जानकर (तू)
गुह्यतमम्	= अत्यन्त गोपनीय	**तु**	= तो (मैं फिर)	**अशुभात्**	= अशुभसे अर्थात् जन्म-मरणरूप संसारसे
विज्ञानसहितम्	= विज्ञानसहित	**प्रवक्ष्यामि**	= अच्छी तरहसे कहूँगा,		
ज्ञानम्	= ज्ञान				
अनसूयवे	= दोषदृष्टिरहित	**यत्**	= जिसको	**मोक्ष्यसे**	= मुक्त हो जायगा।

विशेष भाव—संसार 'प्रकट' है। कर्मयोग (निष्कामभाव) प्रकट न होनेसे 'गुह्य' है। उससे भी गुप्त होनेसे ज्ञानयोग (आत्मज्ञान) 'गुह्यतर' है। ज्ञानयोगसे भी गुप्त होनेसे भक्तियोग (परमात्मज्ञान) 'गुह्यतम' है। गुह्य और गुह्यतर तो लौकिक हैं, पर गुह्यतम अलौकिक है।

ब्रह्मलोकतकके सभी लोक पुनरावर्ती होनेसे 'अशुभ' हैं (गीता ८। १६)। गुह्यतम विषयको जान लेनेसे मनुष्य अशुभसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। अशुभसे मुक्ति तो कर्मयोग और ज्ञानयोगसे भी हो जाती है, पर यहाँ अशुभसे मुक्ति होनेका तात्पर्य है—एक परमात्माके सिवाय अन्यकी किंचिन्मात्र भी सत्ता न रहे, अहम्‌की वह सूक्ष्म गन्ध भी न रहे, जिससे दार्शनिक मतभेद पैदा होते हैं।

अपने स्वरूपको जानना 'ज्ञान' है और समग्र भगवान्‌को जानना 'विज्ञान' है। निर्गुणके अन्तर्गत तो सगुण (समग्र) नहीं आ सकता, पर सगुणके अन्तर्गत निर्गुण भी आ जाता है, इसलिये सगुणका ज्ञान 'विज्ञान' अर्थात् विशेष ज्ञान है।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २ ॥

इदम्	= यह (विज्ञानसहित ज्ञान अर्थात् समग्ररूप)	**पवित्रम्**	= यह अति पवित्र (तथा)	**धर्म्यम्**	= यह धर्ममय है,
				अव्ययम्	= अविनाशी है (और)
राजविद्या	= सम्पूर्ण विद्याओंका राजा (और)	**उत्तमम्**	= अतिश्रेष्ठ है (और)	**कर्तुम्**	= करनेमें
				सुसुखम्	= बहुत सुगम है अर्थात् इसको प्राप्त करना बहुत सुगम है।
राजगुह्यम्	= सम्पूर्ण गोपनीयोंका राजा है।	**प्रत्यक्षावगमम्**	= इसका फल भी प्रत्यक्ष है।		

विशेष भाव—कर्मयोग तथा ज्ञानयोग 'राजविद्या' है और भक्तियोग 'राजगुह्य' है। इसी अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें राजविद्याकी और चौंतीसवें श्लोकमें राजगुह्यकी बात मुख्यतासे कही गयी है।

'प्रत्यक्षावगमम्'—इसका प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) फल होता है। कर्मयोगसे शान्ति, ज्ञानयोगसे मुक्ति और भक्तियोगसे प्रेम प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। भगवान्‌के शरणागत होनेपर निर्भयता, नि:शोकता, निश्चिन्तता और नि:शंकता प्रत्यक्षमें प्राप्त होती है। अपने स्वरूपकी सत्ता-स्फूर्ति (सत्-चित्), अपने होनेपनका ज्ञान (अनुभव) भी प्रत्यक्ष है।

'धर्म्यम्'—यह धर्मसे रहित नहीं है, प्रत्युत धर्ममय है, धर्मसे ओतप्रोत है। इसको जाननेसे मनुष्यजीवन सफल हो जाता है अर्थात् मनुष्य कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है।

'सुसुखं कर्तुम्'—यह करनेमें बहुत सुगम है; क्योंकि यह स्वत: प्राप्त है। सब कुछ परमात्मा ही हैं—इसमें कोई परिश्रम नहीं है, यह तो केवल स्वीकृति है। कर्मयोगकी दृष्टिसे जो वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत दूसरोंकी है, उसको दूसरोंकी सेवामें लगानेमें क्या जोर आता है! ज्ञानयोगकी दृष्टिसे अपने-आपमें स्थित होनेमें क्या जोर आता है! भक्तियोगकी दृष्टिसे जो अपना है, उसकी तरफ जानेमें क्या जोर आता है! ये सब काम सुखपूर्वक होते हैं।

'अव्ययम्'—वास्तवमें अविनाशी और अन्तिम तत्त्व यही है इससे आगे कुछ नहीं है।

अश्रद्दधाना: पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३॥

परन्तप	=हे परन्तप!	**पुरुषा:**	=मनुष्य		संसारके मार्गमें
अस्य	=इस	**माम्**	=मुझे	**निवर्तन्ते**	=लौटते रहते हैं
धर्मस्य	=धर्मकी महिमापर	**अप्राप्य**	=प्राप्त न होकर		अर्थात् बार-बार
अश्रद्दधाना:	=श्रद्धा न रखनेवाले	**मृत्युसंसारवर्त्मनि**	= मृत्युरूप		जन्मते-मरते रहते हैं।

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें कही विज्ञानसहित ज्ञानकी महिमापर श्रद्धा न रखनेवाले मनुष्य इससे लाभ नहीं उठाते, प्रत्युत नाशवान् भोगोंको महत्त्व देकर उन्हींमें लगे रहते हैं। इसलिये वे भगवान्‌को प्राप्त न होकर बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं, स्वत:प्राप्त अमरताका रास्ता छोड़कर मृत्युके रास्तेपर चलते रहते हैं।

'अप्राप्य माम्' कहनेका तात्पर्य है कि मनुष्यशरीरमें भगवान्‌की प्राप्तिका मौका था, मनुष्य भगवत्प्राप्तिके नजदीक आ गया था, पर श्रद्धा न होनेके कारण वह भगवान्‌की प्राप्ति न करके संसारमें ही घूमता रहता है। जो नित्य विद्यमान है, उसको न मानकर वह जो एक क्षण भी नहीं टिकता, उसको मानता है। उसका अन्त:करण इतना अशुद्ध होता है कि भगवान्‌का प्रत्यक्ष प्रभाव देखकर भी उसपर श्रद्धा नहीं करता। जैसे—सत्संग, कीर्तन आदिमें प्रत्यक्ष लाभ दीखनेपर भी वह उसमें विशेषतासे नहीं लगता। किसी प्रिय व्यक्तिकी मृत्यु होनेपर या अन्य कोई घटना घटनेपर उसको संसारसे वैराग्य होता है, फिर भी वह उसमें स्थिर नहीं रहता। आश्विन कृष्ण १२, सं० २०५२ (दिनांक २१.९.९५) को भूमण्डलमात्रमें भगवान् गणेशजीकी प्रतिमाओंके द्वारा दूध पीनेकी प्रत्यक्ष घटना लोगोंके देखनेमें आयी। परन्तु अपनेको बुद्धिमान् समझनेवाले कई लोगोंने ऐसी प्रत्यक्ष घटनापर भी श्रद्धा नहीं की और अखबार, टेलिविजन आदिके माध्यमसे इसका खण्डन किया। कौरवोंकी सभामें भी जब द्रौपदीका चीर-हरण करनेकी चेष्टा की गयी, तब साड़ियोंका ढेर लग गया, पर दु:शासन द्रौपदीको किंचिन्मात्र भी नग्न नहीं कर सका। इतना बड़ा चमत्कार प्रत्यक्ष देखनेपर भी कौरवोंको चेत नहीं हुआ! अत: जिनकी बुद्धि तामसी है,* अशुद्ध है, उनपर ऐसी विलक्षण घटनाओंका असर नहीं पड़ता, उनकी श्रद्धा नहीं होती। उनको सब उलटा-ही-

---

* **अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।**
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धि: सा पार्थ तामसी॥

(गीता १८। ३२)

'हे पृथानन्दन! तमोगुणसे घिरी हुई जो बुद्धि अधर्मको धर्म और सम्पूर्ण चीजोंको उलटा मान लेती है, वह तामसी है।'

उलटा दीखता है। ऐसे अश्रद्धालु मनुष्य अमरताके मार्गको छोड़कर मृत्युके मार्गमें चलते रहते हैं, जिसमें केवल मृत्यु-ही-मृत्यु है। वे उस मार्गको पकड़ लेते हैं, जिस मार्गसे कभी भगवान्‌की प्राप्ति न हो सके।

अपराको पकड़नेसे ही मनुष्य मौतके रास्तेमें चला जाता है। अगर वह अपराको न पकड़े, प्रत्युत जिसकी अपरा है, उस भगवान्‌को पकड़े तो सदाके लिये जन्म-मरणसे मुक्त हो जाय! मनुष्य इसी जन्ममें मुक्त हो सकता है और मुक्तिसे भी बढ़कर भगवान्‌का प्रेम (भक्ति) प्राप्त कर सकता है। परन्तु भगवान्‌से इतनी बड़ी योग्यता, पात्रता, अधिकारिता पाकर भी वह मौतके रास्तेमें चल पड़ा! इसलिये भगवान् दुःखके साथ कहते हैं—**'अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि'**! और **'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्'** (गीता १६। २०)। इससे सिद्ध होता है कि अभी कल्याणप्राप्तिका बड़ा सुन्दर मौका है। मनुष्य खुद अपने कल्याणमें लग जाय तो इसमें धर्म, ग्रन्थ, महात्मा, संसार, भगवान् सब सहायता करते हैं!

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥

इदम्	= यह	**अहम्**	= मैं	**पश्य**	= देख।
सर्वम्	= सब	**तेषु**	= उनमें	**भूतभावनः**	= सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला
जगत्	= संसार	**न, अवस्थितः**	= स्थित नहीं हूँ		
मया	= मेरे	**च**	= तथा	**च**	= और
अव्यक्तमूर्तिना	= निराकार स्वरूपसे	**भूतानि**	= (वे) प्राणी (भी)	**भूतभृत्**	= प्राणियोंका धारण, भरण-पोषण करनेवाला
		मत्स्थानि	= मुझमें स्थित		
ततम्	= व्याप्त है।	**न**	= नहीं हैं—	**मम**	= मेरा
सर्वभूतानि	= सम्पूर्ण प्राणी	**मे**	= मेरे (इस)	**आत्मा**	= स्वरूप
मत्स्थानि	= मुझमें स्थित हैं;	**ऐश्वरम्**	= ईश्वर-सम्बन्धी	**भूतस्थः**	= उन प्राणियोंमें स्थित
च	= परन्तु	**योगम्**	= योग-(सामर्थ्य-) को	**न**	= नहीं है।

विशेष भाव—'मया ततमिदं सर्वम्' कहनेका तात्पर्य है कि बर्फमें जलकी तरह संसारमें सत्ता ('है')-रूपसे एक सम, शान्त, सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है। जिसका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है, उस संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। अज्ञानके कारण संसारमें जो सत्ता प्रतीत हो रही है, वह भी परमात्मतत्त्वकी सत्ताके कारण ही है। जब सबमें एक अविभक्त सत्ता ('है') ही परिपूर्ण है तो फिर उसमें मैं, तू, यह और वह—ये चार विभाग कैसे हो सकते हैं? अहंता और ममता कैसे हो सकती है? राग-द्वेष कैसे हो सकते हैं? जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसको मिटानेका अभ्यास भी कैसे हो सकता है?

भगवान्‌ने **'मत्स्थानि सर्वभूतानि'** के लिये **'न च मत्स्थानि भूतानि'** पद कहे हैं और **'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना'** के लिये **'न चाहं तेष्ववस्थितः'** पद कहे हैं। जबतक साधकमें यह भाव है कि परमात्मा और संसार दो हैं, तबतक उसको यह समझना चाहिये कि परमात्मामें संसार है और संसारमें परमात्मा हैं (गीता ६। ३०)। परन्तु जब दोका भाव न हो, तब न परमात्मामें संसार है और न संसारमें परमात्मा हैं।

संसारको स्वतन्त्र सत्ता जीवने ही दी है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५) संसारकी स्वतन्त्र सत्ता अहंता, ममता और कामनाके कारण ही है। अतः जबतक अहंता, ममता और कामना है, तबतक (साधककी दृष्टिमें) परमात्मामें संसार है और संसारमें परमात्मा हैं। परन्तु अहंता, ममता और कामनाके मिटनेपर (सिद्धकी दृष्टिमें) न परमात्मामें संसार है, न संसारमें परमात्मा हैं अर्थात् परमात्मा-ही-परमात्मा हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

परमात्मामें संसार है, संसारमें परमात्मा हैं—यह 'ज्ञान' है और न परमात्मामें संसार है, न संसारमें परमात्मा हैं अर्थात् परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है—यह 'विज्ञान' है।

श्रीमद्भागवतमें आया है कि जबतक साधककी दृष्टिमें जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता है, तबतक वह अपने बर्तावके द्वारा प्राणियोंमें भगवद्‌बुद्धिसे उपासना करे*। परन्तु जब उसकी दृष्टिमें जगत्‌की सत्ता न रहे अर्थात् केवल भगवान् ही रह जायँ, तब 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस चिन्तनसे भी उपराम हो जाय†।

'**भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः**'—भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करते हैं—'**अहं सर्वस्य प्रभवः**' (गीता १०। ८), '**अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः**' (गीता ७। ६)। उन प्राणियोंका भरण-पोषण भी भगवान् ही करते हैं—'**यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः**' (गीता १५। १७)। सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करने तथा उनका भरण-पोषण करते हुए भी भगवान् उनमें लिप्त, आसक्त नहीं होते, उनके आश्रित नहीं होते। भगवान् उन प्राणियोंमें स्थित नहीं हैं; अतः उन प्राणियों और पदार्थोंमें आसक्त होनेसे भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती।

वास्तवमें एक चिन्मय सत्ताके सिवाय जड़ताकी सत्ता है ही नहीं—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। जड़ता-(संसार-) की सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध केवल कामना- (भोगेच्छा-) के कारण ही है। अतः जबतक सुखकी इच्छा है, तभीतक यह संसार है।

जो परमात्मामें संसारको देखते हैं अर्थात् संसारको परमात्मरूपसे न देखकर संसाररूपसे (जड़) देखते हैं, वे नास्तिक होते हैं। परन्तु जो संसारमें परमात्माको देखते हैं अर्थात् संसारको संसाररूपसे न देखकर परमात्मरूपसे (चिन्मय) देखते हैं, वे आस्तिक होते हैं।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

यथा	= जैसे	**नित्यम्**	= नित्य ही	**भूतानि**	= प्राणी
सर्वत्रगः	= सब जगह विचरनेवाली	**आकाश-स्थितः**	= आकाशमें स्थित रहती है,	**मत्स्थानि**	= मुझमें ही स्थित रहते हैं—
महान्	= महान्	**तथा**	= ऐसे ही	**इति**	= ऐसा
वायुः	= वायु	**सर्वाणि**	= सम्पूर्ण	**उपधारय**	= तुम मान लो।

विशेष भाव—जैसे वायु आकाशसे ही उत्पन्न होती है, आकाशमें ही स्थित रहती है तथा आकाशमें ही लीन हो जाती है अर्थात् आकाशको छोड़कर वायुकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी भगवान्‌से ही उत्पन्न होते हैं, भगवान्‌में ही स्थित रहते हैं तथा भगवान्‌में ही लीन हो जाते हैं अर्थात् भगवान्‌को छोड़कर

---

* **यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।**
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥
(श्रीमद्भा० ११। २९। १७)

'जबतक सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरा भाव अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं' ऐसा वास्तविक भाव न होने लगे, तबतक इस प्रकार मन, वाणी और शरीरकी सभी वृत्तियों-(बर्ताव-)से मेरी उपासना करता रहे।'

† **सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।**
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥
(श्रीमद्भा० ११। २९। १८)

'पूर्वोक्त साधन करनेवाले भक्तका 'सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है' ऐसा निश्चय हो जाता है। फिर वह इस अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही है' यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा ही दीखने लगे।'

प्राणियोंकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं—इस बातको साधक दृढ़तासे स्वीकार कर ले तो उसको **'सब कुछ भगवान् ही हैं'** इस वास्तविक तत्त्वका अनुभव हो जायगा।

इस श्लोकको समझनेके लिये कार्य-कारणभाव जैसा ठीक बैठता है, वैसा विवर्तवाद ठीक नहीं बैठता। 'विवर्त' का अर्थ है—विरुद्ध बर्ताव। जो नहीं है और दीखता है, जैसे रस्सीमें साँप दीखना—यह विवर्तवाद है। विवर्तवादमें दो सत्ता होना आवश्यक है; जैसे-रस्सी और उसमें दीखनेवाला साँप—दोनोंकी अलग-अलग (व्यावहारिक और प्रातिभासिक) सत्ता है। परन्तु गीताके इस श्लोकमें आकाश और वायुका दृष्टान्त दिया गया है, जो दोनों एक ही (व्यावहारिक) सत्ता है। तात्पर्य है कि रस्सीमें साँपकी तरह आकाशमें वायु अध्यस्त नहीं है अथवा आकाशमें वायुकी प्रतीतिमात्र नहीं है, प्रत्युत वायु आकाशका कार्य है। कार्यकी कारणके साथ अभिन्नता होती है अर्थात् कार्य और कारणकी एक सत्ता होती है; जैसे—सोना और उसका कार्य गहने—दोनोंकी एक सत्ता है। अत: जैसे सोना और गहने— दोनोंमें तत्त्वसे एक सोना-ही-सोना है, ऐसे ही परमात्मा और सम्पूर्ण प्राणी—दोनोंमें तत्त्वसे एक परमात्मा-ही-परमात्मा है। इसी बातको गीताने **'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९) और **'सदसच्चाहम्'** (९। १९) पदोंसे कहा है, जो गीताका खास सिद्धान्त है। विवर्तवाद सिद्धान्त नहीं है, प्रत्युत संसारमें सत्यत्वबुद्धि हटानेका एक साधन है।

अगर वायु स्पन्दित हो तो वायुमें आकाश है और आकाशमें वायु है। अगर वायु स्पन्दित न हो तो न वायुमें आकाश है, न आकाशमें वायु है अर्थात् आकाश-ही-आकाश है। दूसरे शब्दोंमें, जबतक वायुकी स्वतन्त्र सत्ताकी मान्यता है, तबतक आकाशमें वायु और वायुमें आकाश है। परन्तु तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो न आकाशमें वायु है, न वायुमें आकाश है अर्थात् आकाश-ही-आकाश है। इसी तरह तात्त्विक दृष्टिसे न परमात्मामें प्राणी हैं, न प्राणियोंमें परमात्मा है अर्थात् परमात्मा-ही-परमात्मा है (गीता ९। ४-५)।

इस श्लोकमें वायुके लिये दो पद आये हैं—**'सर्वत्रगः'** और **'महान्'**। इससे यह समझना चाहिये कि जीवात्मा भी संसारकी दृष्टिसे (प्रकृतिके सम्बन्धसे) चौरासी लाख योनियाँ, तीन लोक, चौदह भुवन आदिमें घूमनेके कारण **'सर्वत्रगः'** है। **'महान्'** पदसे अनन्त ब्रह्माण्डोंके सभी जीव (जीव-समुदाय) समझना चाहिये। जैसे वायु नित्य ही आकाशमें स्थित रहती है अर्थात् वायुका आकाशके साथ नित्य सम्बन्ध है, ऐसे ही जीवमात्रका परमात्माके साथ नित्य सम्बन्ध (नित्ययोग) है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७॥

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!	**सर्वभूतानि**	= सम्पूर्ण प्राणी		(महासर्गके समय)
कल्पक्षये	= कल्पोंका क्षय होनेपर (महाप्रलय-के समय)	**मामिकाम्**	= मेरी	**अहम्**	= मैं
		प्रकृतिम्	= प्रकृतिको	**पुनः**	= फिर
		यान्ति	= प्राप्त होते हैं (और)	**तानि**	= उनकी
		कल्पादौ	= कल्पोंके आदिमें	**विसृजामि**	= रचना करता हूँ।

विशेष भाव—सृष्टिमें तीन बातें मुख्य हैं—उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय। साधककी दृष्टि संसारकी स्थितिकी तरफ ही रहती है, इसलिये पहले पूर्वश्लोकमें स्थितिकी बात कहकर अब भगवान् इस श्लोकमें उत्पत्ति और प्रलयकी बात कहते हैं। तात्पर्य है कि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय—तीनों ही समग्र परमात्मासे होते हैं।

वास्तवमें संसारकी स्थिति है ही नहीं, प्रत्युत उत्पत्ति और प्रलयके प्रवाहको ही स्थिति कह देते हैं। तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो संसारकी उत्पत्ति भी नहीं है, प्रत्युत प्रलय-ही-प्रलय अर्थात् अभाव-ही-अभाव है। अत: संसारका प्रलय, अभाव अथवा वियोग ही मुख्य है—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २। १६)।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ८॥

प्रकृतेः	= प्रकृतिके	**कृत्स्नम्**	= सम्पूर्ण	**प्रकृतिम्**	= प्रकृतिको
वशात्	= वशमें होनेसे	**भूतग्रामम्**	= प्राणिसमुदायकी	**अवष्टभ्य**	= वशमें करके
अवशम्	= परतन्त्र हुए		(कल्पोंके आदिमें)	**पुनः, पुनः**	= बार-बार
इमम्	= इस	**स्वाम्**	= (मैं) अपनी	**विसृजामि**	= रचना करता हूँ।

विशेष भाव—तत्त्वसे प्रकृति भगवान्‌से अभिन्न है। अतः वास्तवमें भगवान्‌का स्वरूप प्रकृतिसहित ही है। भगवान्‌को प्रकृतिरहित मानना उनको एकदेशीय मानना है, जो सम्भव ही नहीं है।

'अवशं प्रकृतेर्वशात्'—परा प्रकृति अर्थात् स्वयं सर्वथा स्वतन्त्र (स्वस्थ) है। विजातीय अपरा प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही वह परतन्त्र (प्रकृतिस्थ) हुआ है, अन्यथा वह परतन्त्र हो सकता ही नहीं। गुणोंका संग होना ही परतन्त्रता है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)।

जो प्रकृतिके वशमें (अवश) हैं, उन्हीं प्राणियोंकी भगवान् बार-बार रचना करते हैं। जो प्रकृतिके वशमें (अवश) नहीं हैं, उनकी रचना नहीं होती—**'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'** (गीता १४। २)।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ ९॥

धनञ्जय	= हे धनञ्जय!	**च**	= और	**तानि**	= वे
तेषु	= उन	**उदासीनवत्**	= उदासीनकी		
	(सृष्टि-रचना आदि)		तरह	**कर्माणि**	= कर्म
कर्मसु	= कर्मोंमें	**आसीनम्**	= रहते हुए	**न**	= नहीं
असक्तम्	= अनासक्त	**माम्**	= मुझे	**निबध्नन्ति**	= बाँधते।

विशेष भाव—कर्मोंसे मनुष्य बँधता है **(कर्मणा बध्यते जन्तुः)**—इस सांसारिक दृष्टिसे ही भगवान् कहते हैं कि मैं कर्मोंसे नहीं बँधता (गीता ४। १४); क्योंकि मेरेमें न कर्मासक्ति है, न फलासक्ति है और न कर्तृत्व है। परन्तु तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो कर्मोंकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं! सृष्टि-रचना-रूप कर्म भगवान्‌का ही स्वरूप है—**'ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्'** (गीता ७। २९), **'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः'** (गीता ८। ३)। तात्पर्य है कि सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि जो कुछ हो रहा है, वह सब भगवान्‌के द्वारा ही हो रहा है तथा भगवान्‌का ही स्वरूप है। उत्पन्न करनेवाला तथा उत्पन्न होनेवाला, पालन करनेवाला तथा पालित होनेवाला, नाश करनेवाला तथा नष्ट होनेवाला—ये सब एक ही समग्र भगवान्‌के अंग (स्वरूप) हैं—**'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा'** (गीता ७। ६)।

सब कुछ भगवान् ही हैं, दूसरा कोई है ही नहीं, फिर भगवान् किससे उदासीन हों? इसलिये भगवान्‌ने अपनेको **'उदासीनवत्'** अर्थात् उदासीनकी तरह कहा है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ १०॥

प्रकृतिः	=प्रकृति		जगत्‌की	**हेतुना**	=हेतुसे
मया	=मेरी	**सूयते**	=रचना करती है।	**जगत्**	=जगत्‌का (विविध प्रकारसे)
अध्यक्षेण	=अध्यक्षतामें	**कौन्तेय**	=हे कुन्तीनन्दन!		
सचराचरम्	=चराचरसहित सम्पूर्ण	**अनेन**	=इसी	**विपरिवर्तते**	=परिवर्तन होता है।

विशेष भाव—भगवान्‌से सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही प्रकृति चराचरसहित सम्पूर्ण प्राणियोंकी रचना करती है अर्थात् सब परिवर्तन प्रकृतिमें ही होता है, भगवान्‌में नहीं। जबतक प्राणियोंका प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहता है, तबतक प्रकृतिकी परवशताके कारण उनमें विविध परिवर्तन होता रहता है अर्थात् उनकी कहीं भी स्थायी स्थिति नहीं होती, प्रत्युत वे जन्म-मरणके चक्रमें घूमते रहते हैं।

प्रकृति तो परमात्माके अधीन रहकर सम्पूर्ण सृष्टिकी रचना करती है, पर जीव प्रकृतिके अधीन होकर जन्म-मरणके चक्रमें घूमता है। तात्पर्य है कि परमात्मा तो स्वतन्त्र हैं, पर उनका अंश जीवात्मा सुखकी इच्छाके कारण परतन्त्र हो जाता है।

तत्त्वसे भगवान् (शक्तिमान्) और प्रकृति (शक्ति) एक होते हुए भी मनुष्योंको समझानेकी दृष्टिसे भगवान् कहते हैं कि सृष्टिकी रचनामें प्रकृतिका मुख्य हाथ है। वास्तवमें न प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता है, न कर्मोंकी।

अगर भगवान् और उनकी प्रकृतिको अलग-अलग देखें तो संसारका उपादानकारण प्रकृति है और निमित्त-कारण भगवान् हैं; क्योंकि संसार-रूपसे भगवान् परिणत नहीं होते, प्रत्युत प्रकृति परिणत होती है। परन्तु भगवान् और उनकी प्रकृतिको एक देखें (जो कि वास्तवमें एक हैं) तो भगवान् संसारके अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं।

सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने परा और अपरा प्रकृतिके स्वरूपका वर्णन किया है और यहाँ (नवें अध्यायके आरम्भमें) उनके कार्यों-(उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय-) का वर्णन किया है, जो भगवान्‌की लीला है। तात्पर्य है कि सातवें अध्यायमें परा-अपराका वर्णन मुख्य है और यहाँ परा-अपराके मालिक-(परमात्मा-)का वर्णन मुख्य है। इस अध्यायमें भगवान्‌की लीला, प्रभाव, ऐश्वर्यका विशद वर्णन है, जिससे साधकका भगवान्‌में प्रेम हो जाय, वह मुक्तिमें अटके नहीं।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ ११॥

मूढाः	=मूर्खलोग	**अजानन्तः**	=न जानते हुए	**आश्रितम्**	=आश्रित मानकर अर्थात् साधारण मनुष्य मानकर
मम	=मेरे	**माम्**	=मुझे		
भूतमहेश्वरम्	=सम्पूर्ण प्राणियोंके महान् ईश्वररूप	**मानुषीम्,**		**अवजानन्ति**	=(मेरी) अवज्ञा करते हैं।
परम्, भावम्	=श्रेष्ठभावको	**तनुम्**	=मनुष्यशरीरके		

विशेष भाव—इस श्लोकमें भगवान्‌के प्रभावका विशेष वर्णन हुआ है। भगवान्‌से बड़ा कोई ईश्वर नहीं है। वे सर्वोपरि हैं। परन्तु अज्ञानी मनुष्य उनको स्वरूपसे नहीं जानते। वे अलौकिक भगवान्‌को भी अपनी तरह लौकिक समझते हैं।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण एक योगी थे, ईश्वर नहीं थे। योगके आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि (योगदर्शन २। २९)। इनमें सबसे पहले 'यम' आता है। यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (योगदर्शन २। ३०)। अत: जो योगी होगा, वह 'यम' का पालन अवश्य करेगा अर्थात् वह सत्य ही बोलेगा। अगर वह असत्य बोलता है तो वह योगी नहीं हो सकता; क्योंकि उसने योगके पहले अंग (यम) का ही पालन नहीं किया! गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने

जगह-जगह अपनेको ईश्वर कहा है*। अतः अगर वे योगी हैं तो वे सत्य बोलते हैं और अगर वे सत्य बोलते हैं तो वे समग्र ईश्वर हैं—यह मानना ही पड़ेगा।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ १२॥

आसुरीम्	=(जो) आसुरी,	**विचेतसः**	=ऐसे अविवेकी मनुष्योंकी	**मोघज्ञानाः**	=सब ज्ञान व्यर्थ होते हैं अर्थात् उनकी आशाएँ, कर्म और ज्ञान (समझ) सत्-फल देनेवाले नहीं होते।
राक्षसीम्	=राक्षसी	**मोघाशाः**	=सब आशाएँ व्यर्थ होती हैं,		
च	=और	**मोघकर्माणः**	=सब शुभकर्म व्यर्थ होते हैं (और)		
मोहिनीम्	=मोहिनी				
प्रकृतिम्	=प्रकृतिका				
एव	=ही				
श्रिताः	=आश्रय लेते हैं,				

विशेष भाव— इस श्लोकमें आसुरी सम्पत्तिकी बात आयी है, जिसका फलसहित विस्तारसे वर्णन भगवान्‌ने सोलहवें अध्यायमें किया है। आसुरी सम्पत्तिका फल है—चौरासी लाख योनियोंकी तथा नरकोंकी प्राप्ति (गीता १६। १९-२०)। आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य जो फल चाहते हैं, वह तो उनको नहीं मिलता (**मोघाशाः**), पर अनिष्ट फल (दण्ड) तो उनको मिलता ही है। वे पाप तो करते हैं सुख पानेके लिये, पर सुख तो मिलता नहीं, दुःख जरूर पाना पड़ता है! वे करते तो हैं भगवान्‌की अवज्ञा, पर परिणाममें अपना ही नुकसान करते हैं, भगवान्‌में क्या फर्क पड़ा?

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३॥

तु	=परन्तु	**अनन्यमनसः**	=अनन्यमनवाले	**अव्ययम्**	=(और) अविनाशी
पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**महात्मानः**	=महात्मालोग	**ज्ञात्वा**	=समझकर
दैवीम्	=दैवी	**माम्**	=मुझे	**भजन्ति**	=(मेरा) भजन करते हैं।
प्रकृतिम्	=प्रकृतिके	**भूतादिम्**	=सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि		
आश्रिताः	=आश्रित				

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें पतनकी तरफ जानेवाले संसारी मनुष्योंका वर्णन करके अब उनसे विलक्षण भगवान्‌की तरफ जानेवाले मनुष्यों-(भक्तों-)का वर्णन करते हैं। 'दैवी प्रकृति' का अर्थ है—भगवान्‌का स्वभाव।

आसुरी प्रकृतिके आश्रित मनुष्य न तो भगवान्‌को मानते हैं और न उनकी आज्ञाको ही मानते हैं†। परन्तु

* 'भूतानामीश्वरोऽपि सन्' (४। ६), 'सर्वलोकमहेश्वरम्' (५। २९), 'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' (७। ७), 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' (९। ४), 'यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्' (१०। ३), 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'(१५। १५) आदि-आदि।

† **ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।**
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥
(गीता ३। ३२)

'जो मनुष्य मेरे इस मतमें दोषदृष्टि करते हुए इसका अनुष्ठान नहीं करते, उन सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और अविवेकी मनुष्योंको नष्ट हुए ही समझो।'

दैवी प्रकृतिके आश्रित मनुष्य भगवान्‌को भी मानते हैं और उनकी आज्ञाको भी मानते हैं*।

'ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्'—अनन्त ब्रह्माण्डोंके अविनाशी बीज भगवान् ही हैं (गीता ७। १०, ९। १८)—इस प्रकार दृढ़तापूर्वक मानना ही भगवान्‌को आदि और अविनाशी जानना है। दृढ़ मान्यता भी जाननेके समान होती है। भगवान् सबके आदि और अविनाशी हैं—इसका वर्णन इसी अध्यायके चौथे श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक हुआ है।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ १४॥

नित्ययुक्ताः	=नित्य-निरन्तर (मुझमें) लगे हुए मनुष्य	**च**	=और	**नमस्यन्तः**	=नमस्कार करते हुए
		भक्त्या	=प्रेमपूर्वक	**सततम्**	=निरन्तर
दृढव्रताः	=दृढव्रती होकर	**कीर्तयन्तः**	=कीर्तन करते हुए		
यतन्तः	=लगनपूर्वक साधनमें लगे हुए	**च**	=तथा	**माम्**	=मेरी
		माम्	=मुझे	**उपासते**	=उपासना करते हैं।

विशेष भाव— भक्त जो कुछ कहता है, वह सब भगवान्‌का ही कीर्तन है। वह जो कुछ क्रिया करता है, वह सब भगवान्‌की ही सेवा है।† (गीता ९। २७)

अनित्य संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके कारण भक्त नित्ययुक्त होते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते॥
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५॥

अन्ये	=दूसरे साधक		(अभेदभावसे)	**उपासते**	=मेरी उपासना करते हैं
ज्ञानयज्ञेन	=ज्ञानयज्ञके द्वारा	**माम्**	=मेरा		
एकत्वेन	=एकीभावसे	**यजन्तः**	=पूजन करते हुए	**च**	=और

---

* **ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।**
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
(गीता ३। ३१)

'जो मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित होकर श्रद्धापूर्वक मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाते हैं।'

† **कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।**
करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ३६)

'शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहंकारसे अथवा अनुगत स्वभावसे मनुष्य जो-जो करे, वह सब परमपुरुष भगवान् नारायणके लिये ही है, इस भावसे उन्हें समर्पित कर दे।'

सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥
(शिवमानसपूजा)

'हे शम्भो! मेरा चलना-फिरना आपकी परिक्रमा है तथा सम्पूर्ण शब्द आपके स्तोत्र हैं। मैं जो-जो भी कर्म करता हूँ, वह सब आपकी आराधना ही है।'

अपि = दूसरे भी कई साधक
पृथक्त्वेन = (अपनेको) पृथक् मानकर
विश्वतोमुखम् = चारों तरफ मुखवाले मेरे विराट्‌रूपकी अर्थात् संसारको मेरा विराट्‌रूप मानकर सेव्य-सेवकभावसे
बहुधा = (मेरी) अनेक प्रकारसे (उपासना करते हैं)।

विशेष भाव— सभी साधक अपनी रुचि, योग्यता और श्रद्धा-विश्वासके अनुसार अलग-अलग साधनोंसे जिसकी भी उपासना करते हैं, वह भगवान्‌के समग्ररूपकी ही उपासना होती है। आगे सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक इसी समग्ररूपका वर्णन हुआ है।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥ १७॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ १८॥

क्रतुः = क्रतु
अहम् = मैं हूँ,
यज्ञः = यज्ञ
अहम् = मैं हूँ,
स्वधा = स्वधा
अहम् = मैं हूँ,
औषधम् = औषध
अहम् = मैं हूँ,
मन्त्रः = मन्त्र
अहम् = मैं हूँ,
आज्यम् = घृत
अहम् = मैं हूँ,
अग्निः = अग्नि
अहम् = मैं हूँ (और)
हुतम् = हवनरूप क्रिया
एव = भी
अहम् = मैं हूँ।
वेद्यम् = जाननेयोग्य
पवित्रम् = पवित्र
ओङ्कारः = ओंकार,
ऋक् = ऋग्वेद,
साम = सामवेद
च = और
यजुः = यजुर्वेद
एव = भी
अहम् = मैं ही हूँ।
अस्य = इस
जगतः = सम्पूर्ण जगत्‌का
पिता = पिता,
धाता = धाता,
माता = माता,
पितामहः = पितामह,
गतिः = गति,
भर्ता = भर्ता,
प्रभुः = प्रभु,
साक्षी = साक्षी,
निवासः = निवास,
शरणम् = आश्रय,
सुहृत् = सुहृद्,
प्रभवः = उत्पत्ति,
प्रलयः = प्रलय,
स्थानम् = स्थान,
निधानम् = निधान (भण्डार)
अव्ययम् = (तथा) अविनाशी
बीजम् = बीज (भी मैं ही हूँ)।

विशेष भाव—जैसे ज्ञानकी दृष्टिसे गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—'**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' (गीता ३। २८), ऐसे ही भक्तिकी दृष्टिसे भगवान्‌की वस्तु ही भगवान्‌के अर्पित हो रही है। जैसे कोई गङ्गाजलसे गङ्गाका पूजन करे, दीपकसे सूर्यका पूजन करे, पुष्पोंसे पृथ्वीका पूजन करे, ऐसे ही भगवान्‌की वस्तुसे भगवान्‌का ही पूजन हो रहा है! वास्तवमें देखा जाय तो पूज्य भी भगवान् हैं, पूजाकी सामग्री भी भगवान् हैं, पूजा भी भगवान् हैं तथा पूजक भी भगवान् हैं!

लौकिक बीज तो खेतीसे पैदा होनेवाला होता है, पर भगवान्‌रूपी अलौकिक बीज पैदा होनेवाला नहीं है, इसलिये भगवान्‌ने सातवें अध्यायमें अपनेको 'सनातन बीज' बताया—'**बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्**' (७। १०)। अब यहाँ भगवान् अपनेको 'अव्यय बीज' बताते हैं—'**बीजमव्ययम्**'। कारण कि लौकिक बीज तो

अङ्कुर पैदा करके नष्ट हो जाता है, पर भगवान्‌रूपी अलौकिक बीज अनन्त ब्रह्माण्ड पैदा करके भी ज्यों-का-त्यों रहता है, उसमें किंचिन्मात्र भी विकार नहीं होता। तात्पर्य है कि भगवान् सम्पूर्ण जगत्‌के आदिमें भी रहते हैं और अन्तमें भी रहते हैं। जो आदि और अन्तमें रहता है, वही मध्य-(वर्तमान-) में भी रहता है—यह सिद्धान्त है। जैसे अनेक तरहकी चीजें मिट्टीसे पैदा होती हैं, मिट्टीमें ही रहती हैं और अन्तमें मिट्टीमें ही मिल जाती हैं। ऐसे ही संसारमात्रके जितने भी बीज हैं, वे सब भगवान्‌से ही पैदा होते हैं, भगवान्‌में ही रहते हैं और अन्तमें भगवान्‌में ही लीन हो जाते हैं (गीता १०। ३९)। तात्पर्य है कि सांसारिक बीज तो उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, पर भगवान्‌रूपी अविनाशी बीज आदि, मध्य और अन्तमें ज्यों-का-त्यों रहता है। अतः वर्तमानमें संसाररूपसे भगवान् ही हैं। भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ १९॥

अर्जुन	=हे अर्जुन!(संसारके हितके लिये)	**च**	=और (फिर उस जलको)	**मृत्युः**	=मृत्यु
अहम्	=मैं (ही)	**वर्षम्**	=(मैं ही) वर्षारूपसे	**च**	=तथा
तपामि	=सूर्यरूपसे तपता हूँ,	**उत्सृजामि**	=बरसा देता हूँ। (और तो क्या कहूँ)	**सत्**	=सत्
अहम्	=मैं (ही)	**अमृतम्**	=अमृत	**च**	=और
निगृह्णामि	=जलको ग्रहण करता हूँ	**च**	=और	**असत्**	=असत् (भी)
				अहम्, एव	=मैं ही हूँ।

विशेष भाव—सृष्टिसे पहले भी परमात्मा थे और अन्तमें भी परमात्मा रहेंगे, फिर बीचमें दूसरा कहाँसे आया? इसलिये अमृत भी भगवान्‌का स्वरूप है और मृत्यु भी भगवान्‌का स्वरूप है। सत् (परा प्रकृति) भी भगवान्‌का स्वरूप है और असत् (अपरा प्रकृति) भी भगवान्‌का स्वरूप है। जैसे अन्नकूटके प्रसादमें रसगुल्ले, गुलाबजामुन आदि भी होते हैं और मेथी, करेला आदिका साग भी होता है अर्थात् मीठा भी भगवान्‌का प्रसाद होता है और कड़वा भी भगवान्‌का प्रसाद होता है। ऐसे ही जो हमारे मनको सुहाये, वह भी भगवान्‌का स्वरूप है और जो नहीं सुहाये, वह भी भगवान्‌का स्वरूप है। सूर्यरूपसे जलको ग्रहण करना और फिर उसको बरसा देना—ये दोनों विपरीत कार्य (ग्रहण और त्याग) भी भगवान् करते हैं। इतना ही नहीं, जलरूपसे ग्रहण किये जानेवाले भी भगवान् हैं, बरसनेवाले भी भगवान् हैं और वर्षारूप क्रिया भी भगवान् हैं!

'**सदसच्चाहमर्जुन**'—संसारमें सत् (परा) और असत्-(अपरा-) के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। संसार असत् है और उसमें रहनेवाला परमात्मतत्त्व सत् है। शरीर असत् है और उसमें रहनेवाला जीवात्मा सत् है। शरीर और संसार परिवर्तनशील हैं, जीवात्मा और परमात्मा अपरिवर्तनशील हैं। शरीर और संसार नाशवान् हैं, जीवात्मा और परमात्मा अविनाशी हैं (गीता २। १२)। भगवान् कहते हैं कि परिवर्तनशील भी मैं हूँ और अपरिवर्तनशील भी मैं हूँ, नाशवान् भी मैं हूँ और अविनाशी भी मैं हूँ। तात्पर्य है कि सब कुछ भगवान्-ही-भगवान् हैं। भगवान्‌के सिवाय और कुछ भी नहीं है (गीता ७। ७)।

'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**'—इसमें तो विवेक है, पर '**सदसच्चाहम्**'—इसमें विवेक नहीं है, प्रत्युत विश्वास है। सब कुछ भगवान् ही हैं—यह विश्वास विवेकसे भी तेज है। कारण कि विवेक वहीं काम करता है, जहाँ सत् और असत् दोनोंका विचार होता है। जब असत् है ही नहीं तो फिर विवेक क्या करे? असत्‌को मानें तो विवेक है और असत्‌को न मानें तो विश्वास है। विवेकमें सत्-असत्‌का विभाग है, पर विश्वासमें विभाग है ही नहीं। विश्वासमें केवल सत्-ही-सत् अर्थात् परमात्मा-ही-परमात्मा हैं।

ज्ञानमार्गमें विवेककी और भक्तिमार्गमें विश्वास तथा प्रेमकी मुख्यता है। ज्ञानमार्गमें सत्-असत्, जड़-चेतन, नित्य-अनित्य आदिका विवेक मुख्य होनेसे इसमें '*द्वैत*' है, पर भक्तिमार्गमें एक भगवान्‌का ही विश्वास मुख्य होनेसे

इसमें 'अद्वैत' है। तात्पर्य है कि दो सत्ता न होनेसे वास्तविक अद्वैत भक्तिमें ही है।

ज्ञानमार्गमें साधक असत्‌का निषेध करता है। निषेध करनेसे असत्‌की सत्ताका भाव बना रह सकता है। साधक असत्‌के निषेधपर जितना जोर लगाता है, उतना ही असत्‌की सत्ताका भाव दृढ़ होता है। अत: असत्‌का निषेध करना उतना बढ़िया नहीं है, जितना उसकी उपेक्षा करना बढ़िया है। उपेक्षा करनेकी अपेक्षा भी 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह भाव और भी बढ़िया है। अत: भक्त न असत्‌को हटाता है, न असत्‌की उपेक्षा करता है प्रत्युत सत्-असत् सबमें परमात्माका ही दर्शन करता है; क्योंकि वास्तवमें सब कुछ परमात्मा ही हैं। भगवान् कहते हैं—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० २। ९। ३२)

'सृष्टिसे पहले भी मैं ही विद्यमान था, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं था और सृष्टि उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह संसार दीखता है, वह भी मैं ही हूँ। सत्, असत् तथा सत्-असत्‌से परे जो कुछ हो सकता है, वह भी मैं ही हूँ। सृष्टिके सिवाय भी जो कुछ है, वह मैं ही हूँ और सृष्टिका नाश होनेपर जो शेष रहता है, वह भी मैं ही हूँ।'

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, अहम् आदि सब कुछ भगवान् ही हैं। जैसे हम मनसे हरिद्वारका चिन्तन करें तो हरिकी पैड़ी, घंटाघर आदि स्थावर भी मन ही बनता है और गङ्गाजी तथा उसमें तैरती हुई मछलियाँ, स्नान करते हुए मनुष्य आदि जंगम भी मन ही बनता है अर्थात् स्थावर भी मन ही हुआ और जंगम भी मन ही हुआ। इसी तरह सत् भी भगवान् हैं और असत् भी भगवान् हैं।

सत् और असत्—ये दो विभाग हमारी दृष्टिमें हैं, तभी भगवान् हमें समझानेके लिये कहते हैं—**'सदसच्चाहम्'।** भगवान्‌की दृष्टिमें तो एक उनके सिवाय कुछ नहीं है। ऊँची-से-ऊँची दार्शनिक दृष्टिसे भी देखें तो सत्ता एक ही है। दो सत्ता हो ही नहीं सकती। दूसरी सत्ता माननेसे ही मोह होता है (गीता ७। १३)। राग-द्वेष भी दूसरी सत्ता माननेसे ही होते हैं।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा-
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥ २०॥

त्रैविद्या	=तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम अनुष्ठान-को करनेवाले (और)	**यज्ञैः**	=यज्ञोंके द्वारा	**सुरेन्द्रलोकम्**	=इन्द्रलोकको
		माम्	=(इन्द्ररूपसे) मेरा	**आसाद्य**	=प्राप्त करके
		इष्ट्वा	=पूजन करके	**दिवि**	=(वहाँ) स्वर्गके
		स्वर्गतिम्	=स्वर्ग-प्राप्तिकी	**दिव्यान्,**	
सोमपाः	=सोमरसको पीनेवाले	**प्रार्थयन्ते**	=प्रार्थना करते हैं,	**देवभोगान्**	=देवताओंके दिव्य भोगोंको
पूतपापाः	=(जो)पापरहित मनुष्य	**ते**	=वे (पुण्योंके फलस्वरूप)		
		पुण्यम्	=पवित्र	**अश्नन्ति**	=भोगते हैं।

विशेष भाव—यहाँ ऐसे मनुष्योंका वर्णन हुआ है, जिनके भीतर संसारकी सत्ता और महत्ता बैठी हुई है और जो भगवान्‌की अविधिपूर्वक उपासना करनेवाले हैं (गीता ९। २३)। ऐसी मनुष्योंकी उपासनाका फल नाशवान् ही होता है (गीता ७। २३)।

समग्ररूपके अन्तर्गत होनेसे सब भगवान् ही हैं, इसलिये यहाँ इन्द्रके लिये भी **'माम्'** पद आया है। मनुष्यलोककी अपेक्षा पवित्र होनेसे इन्द्रलोकके लिये **'पुण्यम्'** पद आया है।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं-
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना-
गतागतं कामकामा लभन्ते॥ २१॥

ते	=वे	**पुण्ये**	=पुण्य		हुए सकाम धर्मका
तम्	=उस	**क्षीणे**	=क्षीण होनेपर	**अनुप्रपन्नाः**	=आश्रय लिये हुए
विशालम्	=विशाल	**मर्त्यलोकम्**	=मृत्युलोकमें	**कामकामाः**	=भोगोंकी कामना करनेवाले मनुष्य
स्वर्गलोकम्	=स्वर्गलोकके (भोगोंको)	**विशन्ति**	=आ जाते हैं।		
		एवम्	=इस प्रकार	**गतागतम्**	=आवागमनको
भुक्त्वा	=भोगकर	**त्रयीधर्मम्**	=तीनों वेदोंमें कहे	**लभन्ते**	=प्राप्त होते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ २२॥

ये	=जो	**पर्युपासते**	=(मेरी) भलीभाँति उपासना करते हैं,	**योगक्षेमम्**	=योगक्षेम (अप्राप्त-की प्राप्ति और प्राप्तकी रक्षा)
अनन्याः	=अनन्य				
जनाः	=भक्त	**नित्याभि-**			
माम्	=मेरा	**युक्तानाम्**	=(मुझमें) निरन्तर लगे हुए		
चिन्तयन्तः	=चिन्तन करते हुए			**अहम्**	=मैं
		तेषाम्	=उन भक्तोंका	**वहामि**	=वहन करता हूँ।

विशेष भाव—भगवान् यहाँ पूर्वश्लोकमें वर्णित वैदिक सकामी मनुष्यों और आगेके श्लोकमें वर्णित अन्य देवताओंके उपासकोंकी अपेक्षा अपने भक्तोंकी विशेषता बताते हैं। भगवान्‌के अनन्यभक्त न तो पूर्वश्लोकमें वर्णित इन्द्रको मानते हैं और न आगेके श्लोकमें वर्णित अन्य देवताओंको मानते हैं। इन्द्रादिकी उपासना करनेवालोंको तो कामनाके अनुसार सीमित फल मिलता है। परन्तु भगवान्‌की उपासना करनेवालेको असीम फल मिलता है। देवताओंका उपासक तो मजदूर (नौकर) की तरह है और भगवान्‌की उपासना करनेवाला घरके सदस्यकी तरह है। मजदूर काम करता है तो उसको मजदूरीके अनुसार सीमित पैसे मिलते हैं, पर घरका सदस्य काम करता है तो सब कुछ उसीका होता है।

अनन्यभक्त वे हैं, जिनकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय अन्यकी सत्ता ही नहीं है—***'उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥'*** (मानस, अरण्य० ५। ६)।

'योगक्षेमं वहाम्यहम्'—भगवान् साधकको उसके लिये आवश्यक साधन-सामग्री प्राप्त कराते हैं और प्राप्त साधन-सामग्रीकी रक्षा करते हैं—यही भगवान्‌का योगक्षेम वहन करना है। यद्यपि भगवान् सभी साधकोंका योगक्षेम वहन करते हैं, तथापि अनन्यभक्तोंका योगक्षेम विशेषरूपसे वहन करते हैं; जैसे—प्यारे बच्चेका पालन माँ स्वयं करती है, नौकरोंसे नहीं करवाती।

जैसे भक्तको भगवान्‌की सेवामें आनन्द आता है, ऐसे ही भगवान्‌को भी भक्तकी सेवामें आनन्द आता है—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!	**अन्यदेवताः**	= अन्य देवताओंका	**यजन्ति**	= पूजन करते हैं,
ये	= जो	**यजन्ते**	= पूजन करते हैं,	**अविधिपूर्वकम्**	= (पर करते हैं) अविधि-पूर्वक अर्थात् देवताओंको मुझसे अलग मानते हैं।
अपि	= भी	**ते**	= वे		
भक्ताः	= भक्त (मनुष्य)	**अपि**	= भी		
श्रद्धया, अन्विताः	= श्रद्धापूर्वक	**माम्**	= मेरा		
		एव	= ही		

विशेष भाव—'त्रैविद्या माम्' (९। २०), **'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्'** (९। २२) और **'तेऽपि मामेव'** (९। २३)—तीनों जगह भगवान्‌के लिये **'माम्'** शब्द देनेका तात्पर्य है कि सब कुछ भगवान् ही हैं, इसलिये भगवान् सबको अपना ही स्वरूप जानते हैं। अगर मनुष्यमें कामना न हो और सबमें भगवद्‌बुद्धि हो तो वह किसीकी भी उपासना करे, वह वास्तवमें भगवान्‌की ही उपासना है। तात्पर्य है कि अगर निष्कामभाव और भगवद्‌बुद्धि हो जाय तो उसका पूजन अविधिपूर्वक नहीं रहेगा, प्रत्युत वह भगवान्‌का ही पूजन हो जायगा।

सातवें अध्यायमें **'देवयजः'** पद आया था (७। २३), उसीको यहाँ **'यजन्ते'** पदसे कहा गया है।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४॥

हि	= क्योंकि	**अहम्**	= मैं	**न**	= नहीं
सर्वयज्ञानाम्	= सम्पूर्ण यज्ञोंका	**एव**	= ही हूँ;	**अभिजानन्ति**	= जानते,
भोक्ता	= भोक्ता	**तु**	= परन्तु	**अतः**	= इसीसे
च	= और	**ते**	= वे		
प्रभुः	= स्वामी	**माम्**	= मुझे	**च्यवन्ति**	= उनका पतन होता है।
च	= भी	**तत्त्वेन**	= तत्त्वसे		

विशेष भाव—पाँचवें अध्यायके अन्तमें भी भगवान्‌ने अपनेको सम्पूर्ण यज्ञों और तपोंका भोक्ता बताया है—**'भोक्तारं यज्ञतपसाम्'** (५। २९)। वहाँ तो भगवान्‌ने अन्वयरीतिसे अपनेको सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता जाननेवालोंको शान्ति प्राप्त होनेकी बात कही है और यहाँ व्यतिरेकरीतिसे वैसा न जाननेवालोंका पतन होनेकी बात कही है। स्वयं भोक्ता बननेसे ही पतन होता है। भगवान्‌को सम्पूर्ण शुभकर्मोंका भोक्ता माननेसे अपनेमें भोक्तापन या भोगेच्छा नहीं रहती। भोगेच्छा न रहनेसे शान्ति प्राप्त हो जाती है।

वास्तवमें सम्पूर्ण कर्मोंके महाकर्ता और महाभोक्ता भगवान् ही हैं। परन्तु कर्ता-भोक्ता होते हुए भी भगवान् वास्तवमें निर्लिप्त ही हैं अर्थात् उनमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है—**'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्'** (गीता ४। १३), **'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा'** (गीता ४। १४)।

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५॥

देवव्रताः	= (सकामभावसे) देवताओंका पूजन		करनेवाले (शरीर छोड़नेपर)	**देवान्**	= देवताओंको
				यान्ति	= प्राप्त होते हैं।

पितृव्रताः	=पितरोंका पूजन करनेवाले	**भूतेज्याः**	=भूत-प्रेतोंका पूजन करनेवाले	**मद्याजिनः**	=(परन्तु) मेरा पूजन करनेवाले
		भूतानि	=भूत-प्रेतोंको	**माम्**	=मुझे
पितॄन्	=पितरोंको			**अपि**	=ही
यान्ति	=प्राप्त होते हैं।	**यान्ति**	=प्राप्त होते हैं।	**यान्ति**	=प्राप्त होते हैं।

विशेष भाव—'व्रत' का अर्थ है—नियम। अतः **'देवव्रत'** शब्दका अर्थ हुआ—देवताओंकी उपासनाके नियमोंको धारण करना (गीता ७। २०)। भगवान्‌के शरण होकर उन्हींके लिये कर्म करना भगवान्‌का पूजन है—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** (गीता १८। ४६)।

मात्र क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण करनेसे सब भगवान्‌का पूजन हो जाता है (गीता ९। २७)। निष्कामभाव और भगवद्बुद्धि होनेसे कोई निषिद्ध क्रिया हो ही नहीं सकती; क्योंकि कामनाके कारण ही निषिद्ध क्रिया होती है (गीता ३। ३६-३७)।

वास्तवमें सब कुछ भगवान्‌का ही रूप है। परन्तु जो भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई भी स्वतन्त्र सत्ता मानता है, उसका उद्धार नहीं होता। वह ऊँचे-से-ऊँचे लोकोंमें भी चला जाय तो भी उसको लौटकर संसारमें आना ही पड़ता है (गीता ८। १६)।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ २६॥

यः	=जो भक्त	**भक्त्या**	=प्रेमपूर्वक	**भक्त्युपहृतम्**	=प्रेमपूर्वक दिये हुए उपहार-(भेंट-) को
पत्रम्	=पत्र,	**मे**	=मेरे		
पुष्पम्	=पुष्प,	**प्रयच्छति**	=अर्पण करता है,		
फलम्	=फल,	**तत्**	=उस (मुझमें)	**अहम्**	=मैं
तोयम्	=जल आदि-(यथा-साध्य एवं अनायास प्राप्त वस्तु-) को	**प्रयतात्मनः**	=तल्लीन हुए अन्तः-करणवाले भक्तके द्वारा	**अश्नामि**	=खा लेता हूँ अर्थात् स्वीकार कर लेता हूँ।

विशेष भाव—देवताओंकी उपासनामें तो अनेक नियमोंका पालन करना पड़ता है (गीता ७। २०); परन्तु भगवान्‌की उपासनामें कोई नियम नहीं है। भगवान्‌की उपासनामें प्रेमकी, अपनेपनकी प्रधानता है, विधिकी नहीं—**'भक्त्या प्रयच्छति', 'भक्त्युपहृतम्'**।

जैसे भोला बालक जो कुछ हाथमें आये, उसको मुँहमें डाल लेता है, ऐसे ही भोले भक्त भगवान्‌को जो भी अर्पण करते हैं, उसको भगवान् भी भोले बनकर खा लेते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११); जैसे—विदुरानीने केलेका छिलका दिया तो भगवान्‌ने उसको ही खा लिया!

'भक्त्या प्रयच्छति' का तात्पर्य है कि भक्त वस्तुको प्रेमपूर्वक भगवान्‌के अर्पण करता है, किसी कामनासे नहीं। देवताओंकी उपासनामें तो वस्तुविशेषकी आवश्यकता होती है, पर भगवान्‌की उपासनामें वस्तुविशेषकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत प्रेमकी आवश्यकता है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीपुत्र! (तू)	**यत्**	=जो कुछ	**यत्**	=जो कुछ
यत्	=जो कुछ	**जुहोषि**	=यज्ञ करता है,	**तपस्यसि**	=तप करता है,
करोषि	=करता है,	**यत्**	=जो कुछ	**तत्**	=वह (सब)
यत्	=जो कुछ	**ददासि**	=दान देता है (और)	**मदर्पणम्**	=मेरे अर्पण
अश्नासि	=भोजन करता है,			**कुरुष्व**	=कर दे।

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें 'पदार्थ' को अर्पण करनेकी और इस श्लोकमें 'क्रिया' को अर्पण करनेकी बात आयी है। आदरपूर्वक देना और उसीकी वस्तु उसीको देना 'अर्पण' कहलाता है। भगवान्ने पदार्थोंको तो देनेकी बात बतायी है—'**प्रयच्छति**' और क्रियाओंको अर्पण करनेकी बात बतायी है—'**तत्कुरुष्व मदर्पणम्**'; क्योंकि क्रियाएँ दी नहीं जातीं।

ज्ञानयोगी तो संसारके साथ माने हुए सम्बन्धका त्याग करता है, पर भक्त एक भगवान्के सिवाय दूसरी सत्ता मानता ही नहीं। दूसरे शब्दोंमें, ज्ञानयोगी 'मैं' और 'मेरा' का त्याग करता है तथा भक्त 'तू' और 'तेरा' को स्वीकार करता है। इसलिये ज्ञानयोगी पदार्थ और क्रियाका 'त्याग' करता है तथा भक्त पदार्थ और क्रियाको भगवान्के 'अर्पण' करता है अर्थात् उनको अपना न मानकर भगवान्का और भगवत्स्वरूप मानता है।

जिस वस्तुमें मनुष्यकी सत्यत्व एवं महत्त्वबुद्धि होती है, उसको मिथ्या समझकर यों ही त्याग देनेकी अपेक्षा किसी व्यक्तिके अर्पण कर देना, उसकी सेवामें लगा देना सुगम पड़ता है। फिर जो परम श्रद्धास्पद, परम प्रेमास्पद भगवान् हैं, उनको अर्पण करनेकी सुगमताका तो कहना ही क्या है! दूसरी बात, त्यागीको त्यागका अभिमान भी आ सकता है, पर अर्पण करनेवालेको अभिमान नहीं आ सकता; क्योंकि जिसकी वस्तु है, उसीको देनेसे अभिमान कैसे आयेगा? '**त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये**'। सम्पूर्ण वस्तुएँ (मात्र संसार) सदासे ही भगवान्की हैं। उनको भगवान्के अर्पण करना केवल अपनी भूल (उनको अपना मान लिया—यह भूल) मिटाना है। भूल मिटनेपर अभिमान नहीं होता, प्रत्युत प्रसन्नता होती है।

संसारको भगवान्का मानते ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् संसार लुप्त हो जाता है, संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती (जो वास्तवमें है ही नहीं), प्रत्युत भगवान् ही रह जाते हैं (जो वास्तवमें हैं)। अतः संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये भक्तको विवेककी जरूरत नहीं है। वह संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद (त्याग) नहीं करता, प्रत्युत उसको भगवान्का और भगवत्स्वरूप मानता है; क्योंकि अपरा प्रकृति भगवान्की ही है (गीता ७। ४)।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ २८॥

एवम्	=इस प्रकार (मेरे अर्पण करनेसे)		(निषिद्ध) सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंसे		अर्पण करनेवाला (और)
कर्मबन्धनैः	=कर्मबन्धनसे (और)	**मोक्ष्यसे**	=(तू) मुक्त हो जायगा।	**विमुक्तः**	=सबसे सर्वथा मुक्त हुआ (तू)
शुभाशुभफलैः	=शुभ (विहित) और अशुभ	**सन्न्यासयोग-युक्तात्मा**	=ऐसे अपनेसहित सब कुछ मेरे	**माम्**	=मुझे
				उपैष्यसि	=प्राप्त हो जायगा।

विशेष भाव— भगवान्ने **'यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्'** (९। २५) से जो बात कहनी आरम्भ की थी, उसीका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंको अपनेसहित मेरे अर्पण करनेसे तू कर्मबन्धनसे तथा शुभ-अशुभ दोनों कर्मोंके फलोंसे मुक्त होकर मेरेको ही प्राप्त हो जायगा।

'कर्म' भी शुभ-अशुभ होते हैं और 'फल' भी शुभ-अशुभ होता है। दूसरोंके हितके लिये करना 'शुभ कर्म' है और अपने लिये करना 'अशुभ कर्म' है। अनुकूल परिस्थिति 'शुभ फल' है और प्रतिकूल परिस्थिति 'अशुभ फल' है। भगवान्का भक्त शुभ-कर्मोंको भगवान्के अर्पण कर देता है, अशुभ कर्म करता ही नहीं और शुभ-अशुभ फलसे अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिसे सुखी-दुःखी नहीं होता। उसके अनन्त जन्मोंके संचित शुभाशुभ कर्म भस्म हो जाते हैं; जैसे—जलता हुआ घासका टुकड़ा फेंकनेसे सब घास जल जाता है!

भगवान्के अर्पण करनेसे संसारका सम्बन्ध (गुणसंग) नहीं रहता, केवल भगवान्का सम्बन्ध रह जाता है, जो कि स्वतः पहलेसे ही है—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** (गीता १५। ७)। जो अपना नहीं है, उसको अपना माननेसे सिवाय बन्धनके कुछ नहीं होता। अपना माननेसे वस्तु तो रहती नहीं, केवल बन्धन रह जाता है। भक्तका किसी भी वस्तु, व्यक्ति और क्रियामें अपनापन न रहनेसे वह **'विमुक्त'** हो जाता है।

यहाँ समर्पणयोगको 'संन्यासयोग' नामसे कहा गया है।

'मामुपैष्यसि' पदका तात्पर्य है कि भक्त भगवान्से अभिन्न हो जाता है, उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७। १८)। इसीको प्रेमाद्वैत कहा गया है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ २९॥

अहम्	=मैं	**अस्ति**	=है (और)	**भजन्ति**	=भजन करते हैं,
सर्वभूतेषु	=सम्पूर्ण प्राणियोंमें	**न**	=न कोई	**ते**	=वे
समः	=समान हूँ।	**प्रियः**	=प्रिय है।	**मयि**	=मुझमें हैं
न	=(उन प्राणियोंमें) न तो कोई	**तु**	=परन्तु	**च**	=और
		ये	=जो	**अहम्**	=मैं
मे	=मेरा	**भक्त्या**	=प्रेमपूर्वक	**अपि**	=भी
द्वेष्यः	=द्वेषी	**माम्**	=मेरा	**तेषु**	=उनमें हूँ।

विशेष भाव—'समोऽहं सर्वभूतेषु'—जीव भगवान्को अपनी क्रियाएँ और पदार्थ अर्पण करे अथवा न करे, भगवान्में कुछ फर्क नहीं पड़ता। वे तो सदा समान ही रहते हैं। किसी वर्णविशेष, आश्रमविशेष, जातिविशेष, कर्मविशेष, योग्यताविशेष आदिका भी भगवान्पर कोई असर नहीं पड़ता। अतः प्रत्येक वर्ण, आश्रम, जाति आदिका मनुष्य उनके सम्मुख हो सकता है, उनका भक्त हो सकता है, उनको प्राप्त कर सकता है।

'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः'—भगवान्की दृष्टिमें भगवान्के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं, फिर उनके द्वेष और प्रेमका विषय दूसरा कैसे हो सकता है? जीव ही शुभाशुभ कर्म और उनके फलसे राग-द्वेष करके संसारमें बँध जाता है और राग-द्वेषका त्याग करके मुक्त हो जाता है। इसलिये बन्धन और मुक्ति जीवकी ही होती है, भगवान्की नहीं। विषमता जीव करता है, भगवान् नहीं। भगवान् तो ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं।

चौथे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'**, वही बात भगवान्‌ने यहाँ **'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्'** पदोंसे कही है। भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंमें समानरूपसे परिपूर्ण हैं, उनमें विषमता नहीं है। परन्तु जो प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करते हैं, वे भगवान्‌में हैं और भगवान् उनमें हैं अर्थात् भगवान् उनमें विशेषरूपसे प्रकट हैं। तात्पर्य है कि जैसे पृथ्वीमें जल सब जगह रहता है, पर कुएँमें वह विशेष प्रकट (आवरणरहित) होता है, ऐसे ही भगवान् संसारमात्रमें परिपूर्ण होते हुए भी भक्तोंमें विशेष प्रकट होते हैं। भक्तोंमें यह विलक्षणता प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करनेसे भगवत्कृपासे ही आयी है। जैसे गायके शरीरमें रहनेवाला घी गायके काम नहीं आता, प्रत्युत उसके दूधसे निकाला हुआ घी ही उसके काम आता है, ऐसे ही संसारमें परिपूर्ण होनेमात्रसे भगवान्‌के द्वारा लोगोंके पाप नहीं कटते, प्रत्युत जो भगवान्‌के सम्मुख होते हैं, प्रेमपूर्वक उनका भजन करते हैं, उनके ही पाप कटते हैं*। सामान्य प्राणी भगवान्‌के अन्तर्गत होते हुए भी भगवान्‌को नहीं देखते, पर भक्त सब जगह भगवान्‌को देखते हैं†। भक्त भगवान्‌से प्रेम करते हैं और भगवान् भक्तसे प्रेम करते हैं—**'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'** (गीता ७। १७)। इसलिये भक्त भगवान्‌में हैं और भगवान् भक्तोंमें हैं—**'मयि ते तेषु चाप्यहम्'**। तात्पर्य यह निकला कि विषमता भगवान्‌में नहीं है, प्रत्युत प्राणियोंने ही विषमता की है, जो कि भगवान्‌से विमुख हैं।

तत्त्वसे तो भगवान् **'समोऽहं सर्वभूतेषु'** हैं, पर अनुभव करनेमें भगवान् **'मयि ते तेषु चाप्यहम्'** हैं। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें समानरूपसे परिपूर्ण होनेपर भी भगवान्‌का अनुभव भक्त ही करते हैं, अन्य प्राणी नहीं। वास्तवमें अनुभव करनेकी शक्ति भी भगवान्‌से ही प्राप्त होती है। मनुष्यका काम केवल भगवान्‌के सम्मुख होना है।

रामायणमें आया है—

सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥

(मानस, अरण्य० ३६। २)

तात्पर्य है कि भगवान्‌की सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान व्यापकता, प्रियता, कृपा तथा आत्मीयता है, पर भक्तोंमें वे विशेष दीखते हैं। भक्तोंमें यह विशेषता भगवान्‌में प्रेम होनेसे भगवत्कृपासे आती है और भगवान्‌की ही दी हुई होती है। भक्तोंकी भगवान्‌में जैसी तल्लीनता, प्रियता होती है, वैसी दूसरोंकी नहीं होती। इसलिये भगवान्‌की भी भक्तोंमें प्रियता होती है। भक्त और भगवान्‌की परस्पर प्रियताको **'मयि ते तेषु चाप्यहम्'** पदोंसे कहा गया है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ३०॥

चेत्	=अगर (कोई)	**माम्**	=मेरा	**मन्तव्यः**	=मानना चाहिये।
सुदुराचारः	=दुराचारी-से-दुराचारी	**भजते**	=भजन करता है (तो)	**हि**	=कारण कि
		सः	=उसको	**सः**	=उसने
अपि	=भी	**साधुः**	=साधु	**सम्यक्, व्यवसितः**	=निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है।
अनन्यभाक्	=अनन्यभक्त होकर	**एव**	=ही		

* **सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥** (मानस, सुन्दर० ४४। १)

† **यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।**
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

विशेष भाव—ज्ञानयोग और कर्मयोगमें बुद्धिकी प्रधानता रहती है—**'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु'** (गीता २। ३९)। इसलिये ज्ञानयोगी और कर्मयोगीकी बुद्धि व्यवसित होती है—**'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह'** (गीता २। ४१), **'व्यवसायात्मिका बुद्धिः'** (गीता २। ४४)। परन्तु भक्तियोगमें स्वयंकी प्रधानता रहती है, इसलिये भक्त स्वयं व्यवसित होता है—**'सम्यग्व्यवसितो हि सः'।**

मन-बुद्धिमें बैठी हुई बातकी विस्मृति हो सकती है, पर स्वयंमें बैठी हुई बातकी विस्मृति नहीं हो सकती। कारण कि मन-बुद्धि अपने साथ निरन्तर नहीं रहते, सुषुप्तिमें हमें उनके अभावका अनुभव होता है, पर स्वयंके अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। उस स्वयंमें जो बात होती है, वह अखण्ड रहती है। इसलिये 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—यह स्वीकृति स्वयंमें होती है, मन-बुद्धिमें नहीं। एक बार यह स्वीकृति होनेपर फिर कभी अस्वीकृति होती ही नहीं; क्योंकि स्वयं मूलमें भगवान्‌का ही अंश होनेसे भगवान्‌से अभिन्न है। परन्तु भूलसे यह प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है (गीता १५। ७)। अतः वास्तवमें केवल अपनी भूल ही मिटती है। भूल मिटते ही भगवान्‌के नित्य-सम्बन्धकी स्वतः जागृति हो जाती है—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (गीता १८। ७३)। दूसरेके साथ सम्बन्ध माना था, यही भूल थी, मोह था।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ३१॥

क्षिप्रम्	=(वह) तत्काल (उसी क्षण)	**शान्तिम्**	=शान्तिको	**प्रणश्यति, न**	=पतन नहीं होता—
धर्मात्मा	=धर्मात्मा	**निगच्छति**	=प्राप्त हो जाता है।		
भवति	=हो जाता है (और)	**कौन्तेय**	=हे कुन्तीनन्दन!		
शश्वत्	=निरन्तर रहनेवाली	**मे**	=मेरे	**प्रतिजानीहि**	=(ऐसी तुम) प्रतिज्ञा करो।
		भक्तः	=भक्तका		

विशेष भाव—जैसे रोगीका वैद्यके साथ सम्बन्ध हो जाता है, ऐसे ही अपनी निर्बलताका और भगवान्‌की सर्वसमर्थताका विश्वास होनेपर मनुष्यका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध हो जाता है। तात्पर्य है कि जब मनुष्य संसारके दुःखोंसे घबरा जाता है और उनको मिटानेमें अपनी निर्बलताका अनुभव करता है, पर साथ-ही-साथ उसमें यह विश्वास रहता है कि सर्वसमर्थ भगवान्‌की कृपाशक्तिसे मेरी यह निर्बलता दूर हो सकती है, मैं सांसारिक दुःखोंसे बच सकता हूँ, तब वह तत्काल 'भक्त' हो जाता है—**'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'।** भूखे व्यक्तिको अन्न मिल जाय तो क्या भोजन करनेमें देरी लगेगी?

जबतक मनुष्यको अपनेमें कुछ बल, योग्यता, विशेषता दीखती है, तबतक वह 'अनन्यभाक्' नहीं होता। वह 'अनन्यभाक्' तभी होता है, जब उसको दूसरा कोई उसके दुःखोंको मिटानेवाला नहीं दीखता। 'अनन्यभाक्' होते ही वह धर्मात्मा अर्थात् भगवान्‌का भक्त हो जाता है।

भक्तका पतन नहीं होता; क्योंकि वह भगवन्निष्ठ होता है अर्थात् उसके साधन और साध्य भगवान् ही होते हैं; उसका अपना बल नहीं होता, प्रत्युत भगवान्‌का ही बल होता है। यहाँ शंका हो सकती है कि अगर भक्तका पतन नहीं होता तो भगवान्‌ने अठारहवें अध्यायमें अर्जुनको **'अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि'** (१८। ५८) 'यदि तू अहंकारके कारण मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा'—ऐसा क्यों कहा? जबकि भगवान् अर्जुनको अपना भक्त भी मानते हैं—**'भक्तोऽसि मे सखा चेति'** (गीता ४। ३)? इसका समाधान है कि भक्तका पतन तभी हो सकता है, जब वह भगवान्‌का आश्रय छोड़कर अहंकारका आश्रय ले ले—**'अहङ्कारान्न श्रोष्यसि'।** भगवान्‌का आश्रय रहते हुए उसका पतन नहीं हो सकता।

भक्त भगवान्‌के छोटे बालक हैं और ज्ञानी बड़े बालक हैं। जैसे माँको छोटे-बड़े सभी बालक समानरूपसे प्रिय लगते हैं, पर वह सँभाल छोटे बालककी ही करती है, बड़ेकी नहीं। कारण कि छोटा बालक सर्वथा माँके ही आश्रित रहता है; अत: उसके सँभालकी जितनी आवश्यकता है, उतनी बड़ेके लिये आवश्यकता नहीं है। ऐसे ही भगवान् अपने आश्रित भक्तकी पूरी सँभाल करते हैं और स्वयं उसके योगक्षेमका वहन करते हैं (गीता ९। २२)। परन्तु ज्ञानीके योगक्षेमका वहन कौन करे? इसलिये ज्ञानका साधक तो योगभ्रष्ट हो सकता है, पर भक्त योगभ्रष्ट नहीं हो सकता।

ब्रह्मादि देवता भगवान्‌से कहते हैं—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥

(श्रीमद्भा० १०। २। ३२)

'हे कमलनयन! जो लोग आपके चरणोंकी शरण नहीं लेते और आपकी भक्तिसे रहित होनेके कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपनेको मुक्त तो मानते हैं, पर वास्तवमें वे बद्ध ही हैं। वे यदि कष्टपूर्वक साधन करके ऊँचे-से-ऊँचे पदपर भी पहुँच जायँ, तो भी वहाँसे नीचे गिर जाते हैं।'

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥

(श्रीमद्भा० १०। २। ३३)

'परन्तु भगवन्! जो आपके भक्त हैं, जिन्होंने आपके चरणोंमें अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी उन ज्ञानाभिमानियोंकी तरह अपने साधनसे गिरते नहीं। प्रभो! आपके द्वारा सुरक्षित होनेके कारण वे बड़े-बड़े विघ्न डालनेवाली सेनाके सरदारोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय होकर विचरते हैं, कोई भी विघ्न उनके मार्गमें रुकावट नहीं डाल सकता।'

भगवान्‌की स्तुति करते हुए वेद कहते हैं—

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे॥

(मानस, उत्तर० १३। ३)

ज्ञानयोगके साधकमें कुछ कमी रहनेसे पतन हो सकता है, पर भक्तियोगके साधकमें कुछ कमी रहनेपर भी पतन नहीं होता। इसलिये भगवान् कहते हैं—

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १८)

'उद्धवजी! मेरा जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसारके विषय बार-बार उसे बाधा पहुँचाते

रहते हैं, अपनी ओर खींचते रहते हैं तो भी वह प्रतिक्षण बढ़नेवाली मेरी भक्तिके प्रभावसे प्राय: विषयोंसे पराजित नहीं होता।'

न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्।

(महाभारत, अनु० १४९। १३१)

'भगवान्‌के भक्तोंका कहीं कभी भी अशुभ नहीं होता।'

सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥

(मानस, बाल० १२६। ४)

'कौन्तेय प्रतिजानीहि'—भगवान् अर्जुनको प्रतिज्ञा करनेके लिये कहते हैं; क्योंकि भक्तकी प्रतिज्ञा भगवान् भी टाल नहीं सकते। भक्ति भगवान्‌की कमजोरी है। इसलिये भगवान्‌ने दुर्वासासे कहा है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रिय:॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

'हे द्विज! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं। मुझे भक्तजन बहुत प्रिय हैं। उनका मेरे हृदयपर पूर्ण अधिकार है।'

'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति'—इन पदोंसे साधकको यह दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि मेरा पतन हो ही नहीं सकता; क्योंकि मैं भगवान्‌का ही हूँ।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु: पापयोनय:।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३२॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**वैश्या:**	=वैश्य	**व्यपाश्रित्य**	=सर्वथा मेरे शरण होकर
ये	=जो	**तथा**	=और	**हि**	=नि:सन्देह
अपि	=भी	**शूद्रा:**	=शूद्र (हों),	**पराम्**	=परम
पापयोनय:	=पापयोनिवाले	**ते**	=वे	**गतिम्**	=गतिको
स्यु:	=हों (तथा जो भी)	**अपि**	=भी	**यान्ति**	=प्राप्त हो जाते हैं।
स्त्रिय:	=स्त्रियाँ,	**माम्,**			

विशेष भाव—जिसमें दूसरेका आश्रय नहीं है, ऐसे अनन्य आश्रयको यहाँ 'व्यपाश्रय' अर्थात् विशेष आश्रय कहा गया है।

पूर्वजन्मके पापीकी अपेक्षा वर्तमानका पापी विशेष दोषी होता है, इसलिये पहले (९। ३०-३१में) वर्तमान (इस जन्मके) पापीकी बात कहकर अब इस श्लोकमें पूर्वजन्मके पापीकी बात कहते हैं—**'येऽपि स्यु: पापयोनय:'**।

किं पुनर्ब्राह्मणा: पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ ३३॥

पुण्या:	=(जो) पवित्र आचरण करने-वाले	**ब्राह्मणा:**	=ब्राह्मण	**तथा**	=और
				राजर्षय:	=ऋषिस्वरूप क्षत्रिय

भक्ताः	=भगवान्‌के भक्त हों, (वे परमगतिको प्राप्त हो जायँ)		ही क्या है!	**लोकम्**	=शरीरको
		इमम्	=(इसलिये) इस	**प्राप्य**	=प्राप्त करके (तू)
		अनित्यम्	=अनित्य (और)	**माम्**	=मेरा
किम्, पुनः	=इसमें तो कहना	**असुखम्**	=सुखरहित	**भजस्व**	=भजन कर।

विशेष भाव— तीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने भक्तिके तथा भगवत्प्राप्तिके सात अधिकारियोंके नाम लिये हैं—दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रिय। इन सातोंसे बाहर कोई भी प्राणी नहीं है। कैसा ही जन्म हो, कैसी ही जाति हो और पूर्वजन्मके कितने ही पाप हों, पर भगवान् और उनकी भक्तिके मनुष्यमात्र अधिकारी हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंका नाम इन श्लोकोंमें आ गया। कोई चारों वर्णोंमें केवल पुरुष-ही-पुरुष न समझ ले, इसलिये स्त्रियोंका नाम अलगसे आया है। जो चारों वर्णोंसे नीचे हैं, वे यवन, हूण, खस आदि सब पापयोनिमें आ गये। मनुष्योंके सिवाय दूसरे जीव (पशु, पक्षी आदि) भी पापयोनिमें लिये जा सकते हैं; क्योंकि जीवमात्र भगवान्‌का ही अंश होनेसे भगवान्‌की तरफ चलनेमें (भगवान्‌की ओरसे) किसीके लिये भी मनाही नहीं है।

जो वर्तमानमें पाप कर रहा है, वह 'दुराचारी' है और पूर्वजन्मके पापोंके कारण जिसका नीच योनिमें जन्म हुआ है, वह 'पापयोनि' है। तात्पर्य है कि दुराचारी-से-दुराचारी और नीच-से-नीच योनिवाला भी भगवत्प्राप्तिका अधिकारी है। अतः जाति और आचरणको लेकर मनुष्यको भगवत्प्राप्तिसे निराश नहीं होना चाहिये। जाति और आचरण अनित्य तथा बनावटी हैं, पर भगवान्‌के साथ मनुष्यका सम्बन्ध नित्य तथा वास्तविक है। इसलिये भगवान् केवल भक्तिका नाता (सम्बन्ध) ही मानते हैं, जाति-आचरणका नहीं—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

(मानस, अरण्य० ३५। २-३)

संसारमें लोग बाहरके जाति-आचरणको देखते हैं, भीतरके तत्त्व- (वास्तविकता-) को नहीं देखते; परन्तु भगवान् तत्त्वको देखते हैं कि यह सदासे ही मेरा अंश है!

सातवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें भगवान्‌ने भीतरके भावोंको लेकर भक्तोंके अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार भेद बताये हैं और यहाँ बाहरकी मान्यता-(जाति तथा आचरण-) को लेकर लौकिक दृष्टिसे भक्तोंके सात भेद बताये हैं। सातवें अध्यायमें तो उन भक्तोंकी बात है, जो भगवान्‌में लगे हुए हैं और यहाँ उन मनुष्योंकी बात है, जो भगवान्‌में लग सकते हैं। तात्पर्य है कि वर्ण, आश्रम, वेश-भूषा, जाति, सम्प्रदाय आदि अलग-अलग होते हुए भी सभी मनुष्य अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार प्रकारके भक्त बन सकते हैं और भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं। भगवत्प्राप्तिके विषयमें सब एक है, कोई छोटा-बड़ा नहीं है। भगवत्प्राप्तिका अनधिकारी किसी भी योनिमें कोई है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं।

'किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा'—इस श्लोकार्धके बीचमें **'भक्ताः'** पद देनेका तात्पर्य है कि पवित्र आचरणवाले ब्राह्मणोंकी और ऋषिस्वरूप क्षत्रियोंकी महिमा नहीं है, प्रत्युत उनमें जो भक्ति है, उस भक्तिकी महिमा है। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌का न तो दुराचारी तथा पापयोनिके साथ द्वेष है और न पुण्यात्मा ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंके साथ पक्षपात है। वे तो सब प्राणियोंमें समान हैं (गीता ९। २९)। परन्तु जो प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करता है, वह किसी भी देश, वेश, वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो, उसका भगवान्‌से घनिष्ठ सम्बन्ध है—**'मयि ते तेषु चाप्यहम्'** (गीता ९। २९)। अतः दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये सातों भक्तिमें एक हो जाते हैं, इनमें कोई भेद नहीं रहता। इसलिये भगवान् भजन करनेकी आज्ञा देते हैं—**'भजस्व माम्'**। भजन करनेका अर्थ है—

भगवान्‌के सम्मुख होना, भगवान्‌में प्रियता (अपनापन) होना, भगवान्‌की प्राप्तिका उद्देश्य होना। भगवद्बुद्धिसे दूसरोंकी सेवा करना, दूसरोंको देनेका भाव रखना, अभावग्रस्तोंकी सहायता करना—यह भी भजन है।

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्'—अनित्य और सुखरहित इस शरीरको पाकर अर्थात् हम जीते रहें और सुख भोगते रहें—ऐसी कामनाको छोड़कर भगवान्‌का भजन करना चाहिये। कारण कि संसारमें सुख है ही नहीं, केवल सुखका भ्रम है। ऐसे ही जीनेका भी भ्रम है। हम जी नहीं रहे हैं, प्रत्युत प्रतिक्षण मर रहे हैं!

पहले उन्तीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि जो प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मेरेमें हैं और मैं उनमें हूँ। इसलिये यहाँ भगवान् भजन करनेकी आज्ञा देते हैं—**'भजस्व माम्'**।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ३४॥

मद्भक्तः	=(तू) मेरा भक्त	**माम्**	=(और) मुझे	**मत्परायणः**	=मेरे परायण हुआ (तू)
भव	=हो जा,	**नमस्कुरु**	=नमस्कार कर।	**माम्**	=मुझे
मन्मनाः	=मुझमें मनवाला हो जा,	**एवम्**	=इस प्रकार	**एव**	=ही
मद्याजी	=मेरा पूजन करनेवाला हो जा	**आत्मानम्**	=अपने-आपको	**एष्यसि**	=प्राप्त होगा।
		युक्त्वा	=(मेरे साथ) लगाकर		

विशेष भाव—इस श्लोकमें अहंता-परिवर्तनकी बात मुख्य है। भक्त 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इस प्रकार अपनी अहंताको बदलता है और खुदका सम्बन्ध भगवान्‌से जोड़ता है। वह साधननिष्ठ न होकर भगवन्निष्ठ होता है। इसलिये उसको संसारके सम्बन्धका त्याग करना नहीं पड़ता, प्रत्युत वह स्वतः छूट जाता है। कारण कि वर्ण, आश्रम, जाति, योग्यता, अधिकार, कर्म, गुण आदिका भेद होनेपर भी ये सब आगन्तुक हैं, पर स्वयंके साथ भगवान्‌का सम्बन्ध आगन्तुक नहीं है, प्रत्युत अनादि, नित्य और स्वतःसिद्ध है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

॥ श्रीहरि: ॥

नवें अध्यायका सार

भगवान्‌ने सातवें अध्यायसे 'ज्ञान' और 'विज्ञान' का विषय कहना आरम्भ किया है। 'ज्ञान' से संसारसे मुक्ति होती है और 'विज्ञान' से भगवान्‌में प्रेम होता है। बीचमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर आठवें अध्यायमें दूसरा विषय चला। परन्तु नवें अध्यायसे भगवान् पुन: वही विषय कहना आरम्भ करते हैं।

सातवें अध्यायमें भगवान्‌ने संसारकी उत्पत्तिका कारण बताया कि परा और अपरा—इन दोनों मेरी प्रकृतियोंके संयोगसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है (७। ६)। परन्तु नवें अध्यायमें संसारकी स्थिति बताते हैं कि जिनकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है, उन साधकोंके लिये संसार मेरेमें है और मैं संसारमें हूँ (९। ४—६)। इसीको छठे अध्यायमें कहा है—'**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति**' (६। ३०)। परन्तु जिन सिद्ध महापुरुषोंकी दृष्टिमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उनकी दृष्टिमें एक मैं-ही-मैं हूँ—'**वासुदेव: सर्वम्**'।

भगवान् कहते हैं कि यद्यपि सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला तथा धारण करनेवाला मैं ही हूँ, तथापि मैं उन प्राणियोंके आश्रित नहीं हूँ, प्रत्युत वे प्राणी ही मेरे आश्रित हैं (९। ५)। जैसे आकाशमें रहनेवाली वायु आकाशके आश्रित होती है, पर आकाश वायुके आश्रित नहीं होता, ऐसे ही परा और अपरा प्रकृति तो भगवान्‌का स्वभाव होनेसे भगवान्‌के आश्रित (अधीन) है, पर भगवान् परा और अपरा प्रकृतिके आश्रित नहीं हैं। इसलिये जैसे वायु आकाशसे ही उत्पन्न होती है, आकाशमें ही स्थित रहती है और आकाशमें ही लीन होती है, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी महासर्गमें भगवान्‌से ही प्रकट होते हैं, भगवान्‌में ही स्थित रहते हैं और महाप्रलयमें भगवान्‌में ही लीन होते हैं (९। ७)। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण प्राणी प्रकृतिके आश्रित हैं और प्रकृति भगवान्‌के आश्रित है (९। ८)। दूसरे शब्दोंमें, भगवान्‌के एक अंशमें प्रकृति है और प्रकृतिके एक अंशमें प्राणी हैं। इसलिये सृष्टिकी रचना करनेपर भी भगवान् सृष्टि-रचनारूप कर्मसे बँधते नहीं (९। ९); क्योंकि वास्तवमें सृष्टि-रचनाका कार्य भगवान्‌के आश्रित रहनेवाली प्रकृति ही करती है (९। १०)। इस रहस्यको न जाननेके कारण बेसमझ लोग भगवान्‌को भी अपनी तरह शरीर-(अपरा-)के आश्रित मान लेते हैं कि जैसे हम शरीरके बिना नहीं रह सकते, ऐसे ही भगवान् भी शरीरके बिना नहीं रह सकते (९। ११)। ऐसे लोग आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिके आश्रित रहनेवाले होते हैं (९। १२)। वास्तवमें जैसे मनुष्यमें शरीर और शरीरीका भेद रहता है, ऐसे भगवान्‌में शरीर-शरीरीका भेद नहीं है—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (९। १९)। इसलिये जो मनुष्य भगवान्‌को प्रकृतिके आश्रित नहीं समझते, वे दैवी प्रकृतिके आश्रित रहनेवाले होते हैं अर्थात् वे प्रकृतिके आश्रित न होकर भगवान्‌के आश्रित होते हैं (९। १३)। भगवान्‌के आश्रित होनेके कारण वे 'महात्मा' कहलाते हैं।

कर्मयोग 'शरीर'-(अपरा-) की मुख्यतासे चलता है और ज्ञानयोग 'शरीरी'- (परा-) की मुख्यतासे चलता है। एक देश-(शरीर अथवा शरीरी-) को लेकर चलनेसे कर्मयोगी और ज्ञानयोगी एकदेशीय होते हैं। परन्तु भक्तियोग भगवान्‌की मुख्यतासे चलता है। इसलिये भक्तको भगवान्‌ने 'महात्मा' अर्थात् महान् आत्मा कहा है। वे अनन्यमनसे भगवान्‌का भजन करते हैं। कारण कि जब उनकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय अन्यकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं, तो फिर उनका मन भगवान्‌को छोड़कर कहाँ जाय? इसलिये वे भगवान्‌में नित्ययुक्त रहते हैं, कभी भगवान्‌से अलग होते ही नहीं—'**नित्ययुक्ता:**' (९। १४), '**नित्याभियुक्तानाम्**' (९। २२)।

साधक कई प्रकारके होते हैं और अलग-अलग साधनोंसे भिन्न-भिन्न उपास्यदेवोंकी उपासना करते हैं। परन्तु वास्तवमें उन सभी साधकोंके द्वारा एक ही समग्र भगवान्‌की उपासना होती है—'**मामुपासते**' (९। १५), '**त्रैविद्या माम्**' (९। २०), '**तेऽपि मामेव**' (९। २३), '**अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च**' (९। २४)। कारण कि एक ही भगवान् अनेक रूपोंमें प्रकट हुए हैं (९। १६—१९)। इस रहस्यको न समझनेके कारण जो लोग अपने उपास्यदेवको भगवान्‌से अलग मानकर सकामभावसे उनकी उपासना करते हैं, उनकी उपासना वास्तवमें भगवान्‌की होनेपर भी अविधिपूर्वक होती है। इसलिये उनका पतन हो जाता है अर्थात् वे जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं (९। २३-२४)। परन्तु भगवान्‌की उपासना करनेवाले भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं।

जो लोग भगवान्‌को छोड़कर अन्य देवी-देवताओंकी उपासना करते हैं, उनको अनेक नियमों, विधियों आदिकी जरूरत पड़ती है, जिसमें बड़ी कठिनता होती है। परन्तु भगवान्‌की उपासनामें भावकी जरूरत है, क्रियाओं-(नियमों, विधियों आदि-) की जरूरत नहीं है (९। २६-२७)। भगवान् क्रियाग्राही नहीं हैं, प्रत्युत भावग्राही हैं—**'भावग्राही जनार्दनः'।** इसलिये भक्तको सुगमतापूर्वक भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इतना ही नहीं, मनुष्य किसी भी आचरण, वर्ण, आश्रम, जाति आदिका क्यों न हो, वह भगवान्‌का भक्त होकर सुगमतापूर्वक भगवान्‌को प्राप्त हो सकता है (९। ३०—३३)।

नवें अध्यायके अन्तमें भगवान् कहते हैं—**'मन्मना भव०'** (९। ३४)। इसका तात्पर्य है कि जो कुछ भी है, वह मैं ही हूँ, मेरे सिवाय और कुछ है ही नहीं (७। २९-३०)। इस बातको दृढ़तासे स्वीकार करना ही **'मन्मना भव०'** आदि पदोंका तात्पर्य है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

चतुःश्लोकी भागवत

गीताके सातवें-नवें अध्यायोंमें जो विषय (विज्ञानसहित ज्ञान) आया है, वही विषय **'चतुःश्लोकी भागवत'** में भी बड़े सुन्दर ढंगसे आया है। यह साधकोंके लिये बहुत उपयोगी है। इसलिये इसको यहाँ अन्वय और अर्थसहित दिया जा रहा है।

श्रीभगवानुवाच

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया॥

श्रीभगवान् बोले—

मे =(ब्रह्माजी!) मेरा, **यत्** =जो, **परमगुह्यम्** =अत्यन्त गोपनीय, **विज्ञान-समन्वितम्** =विज्ञानसहित, **ज्ञानम्** =ज्ञान है, (वह), **च** =तथा, **सरहस्यम्** =रहस्यसहित, **तदङ्गम्** =उसके अंग, **मया** =मेरे द्वारा, **गदितम्** =कहे गये हैं, **गृहाण** =(उसको) तुम ग्रहण करो अर्थात् धारण करो।

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥

अहम् =मैं, **यावान्** =जितना हूँ, **यथाभावः** =जिन-जिन भावोंवाला हूँ, **यद्रूपगुणकर्मकः**=जिन-जिन रूपों, गुणों और कर्मों-वाला हूँ, **तत्त्वविज्ञानम्**= (उस मेरे समग्र-रूपके) तत्त्वका यथार्थ अनुभव, **ते** =तुम्हें, **मदनुग्रहात्** =मेरी कृपासे, **तथैव** =ज्यों-का-त्यों, **अस्तु** =हो जाय।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

अग्रे =सृष्टिसे पहले
एव =भी
अहम् =मैं
एव =ही
आसम् =विद्यमान था,
अन्यत् =मेरे सिवाय और कुछ भी
न =नहीं था
च =और
यत् =(सृष्टि उत्पन्न होनेके बाद) जो कुछ भी
एतत् =यह संसार दीखता है (वह भी मैं ही हूँ)।
सत् =सत् (चेतन, अविनाशी)
असत् =असत् (जड़, नाशवान्) तथा
परम् =(सत्-असत्से) परे
यत् =जो कुछ कल्पना की जा सकती है (वह भी मैं ही हूँ)।
पश्चात् =सृष्टिके सिवाय भी (जो कुछ है, वह)
अहम् =मैं ही हूँ
यः =(और सृष्टिका नाश होनेपर) जो
अवशिष्येत =शेष रहता है,
सः =वह (भी)
अहम् =मैं ही
अस्मि =हूँ।

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥

यथा =जैसे
यत् =कोई
अर्थम् =वस्तु
ऋते =बिना होते हुए भी
तमः =अज्ञानरूप अन्धकारके कारण
प्रतीयेत =प्रतीत होती है, (ऐसे ही संसार न होते हुए भी)
आत्मनि =मेरेमें (प्रतीत होता है)
च =और
यथा =जैसे
आभासः =ज्ञानरूप प्रकाश (होते हुए भी)
न प्रतीयेत =(उधर दृष्टि न रहनेसे) प्रतीत नहीं होता अर्थात् अनुभवमें नहीं आता, (ऐसे ही मैं होते हुए भी नहीं दीखता)
तत् =ये दोनों (संसारका विद्यमान न होते हुए भी दीखना और मेरा विद्यमान होते हुए भी न दीखना)
आत्मनः =मेरी
मायाम् =माया है—ऐसा
विद्यात् =समझना चाहिये।

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥

यथा =जिस तरह
महान्ति भूतानि =पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश— ये पाँचों महाभूत
उच्चावचेषु भूतेषु = प्राणियोंके छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे सभी शरीरोंमें
अनुप्रविष्टानि =प्रविष्ट होते हुए भी
अप्रविष्टानि =(वास्तवमें) प्रविष्ट नहीं हैं अर्थात् वे-ही-वे हैं,
तथा =उसी तरह
अहम् =मैं
तेषु =उन प्राणियोंमें (प्रविष्ट होते हुए भी)
तेषु =(वास्तवमें) उनमें
न =प्रविष्ट नहीं हूँ अर्थात् मैं-ही-मैं हूँ।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥

आत्मनः =मुझ परमात्माके
तत्त्वजिज्ञासुना = तत्त्वको जाननेकी इच्छावाले साधकको
अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम् = अन्वय और व्यतिरेक-रीतिसे अर्थात् संसारमें मैं हूँ और मेरेमें संसार है—

ऐसे अन्वय-रीतिसे तथा न संसारमें मैं हूँ और न मेरेमें संसार है, प्रत्युत मैं-ही-मैं हूँ—ऐसे व्यतिरेकरीतिसे

एतावत् = इतना
एव = ही
जिज्ञास्यम् = जानना आवश्यक है
यत् = कि

सर्वत्र = सब जगह
सर्वदा = और सब समयमें
स्यात् = (मैं परमात्मा ही) विद्यमान हूँ अर्थात् मेरे सिवाय कुछ भी नहीं है।

एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्॥

भवान् = (ब्रह्माजी!) तुम
एतत् = मेरे इस
मतम् = मतके अनुसार
परमेण = सर्वश्रेष्ठ

समाधिना = समाधि-(सहज समाधि-)में
समातिष्ठ = भलीभाँति स्थित हो जाओ।
कल्पविकल्पेषु = (फिर तुम) कल्प-कल्पान्तरोंमें

कर्हिचित् = कभी भी
न विमुह्यति = मोहको प्राप्त नहीं होओगे।

(श्रीमद्भागवत २। ९। ३०—३६)

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

अथ दशमोऽध्यायः
(दसवाँ अध्याय)

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—

महाबाहो	= हे महाबाहो अर्जुन!	**भूयः**	= फिर	**प्रीयमाणाय**	= मुझमें अत्यन्त प्रेम रखनेवाले
मे	= मेरे	**एव**	= भी	**ते**	= तुम्हारे लिये
परमम्	= परम	**शृणु**	= सुनो,	**हितकाम्यया**	= हितकी कामनासे
वचः	= वचनको (तुम)	**यत्**	= जिसे	**वक्ष्यामि**	= कहूँगा।
		अहम्	= मैं		

विशेष भाव—सातवें अध्यायमें भगवान्‌ने अत्यन्त कृपापूर्वक अपनी तरफसे विज्ञानसहित ज्ञान कहना आरम्भ किया था। बीचमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर आठवाँ अध्याय चला। अर्जुनके प्रश्नोंका उत्तर समाप्त होते ही भगवान्‌ने पुनः वही विज्ञानसहित ज्ञान कहनेके लिये नवाँ अध्याय आरम्भ किया। नवाँ अध्याय कहनेपर भी भगवान्‌को सन्तोष नहीं हुआ और वही विज्ञानसहित ज्ञान पुनः कहनेके लिये वे दसवाँ अध्याय आरम्भ कर देते हैं। यह भगवान्‌की विशेष कृपा है! इस अध्यायमें भगवान्‌ने उस विज्ञानसहित ज्ञानका और ढंगसे वर्णन किया है, जिसमें विभूतिका अर्थात् अपने ऐश्वर्यका वर्णन मुख्य है।

अर्जुन युद्धक्षेत्रमें आकर भी विजयकी कामना न रखकर अपना कल्याण चाहते हैं, इसलिये उनके लिये **'महाबाहो'** सम्बोधन आया है। यह सम्बोधन अर्जुनकी श्रेष्ठताका, उपदेश धारण करनेकी सामर्थ्यका, अधिकारका सूचक है।

'परमं वचः'— जीवमात्रका कल्याण करनेवाले होनेसे भगवान्‌के वचन 'परम' अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। मात्र जीवोंका कल्याण करनेवाली होनेसे ही गीता विश्वमात्रको प्रिय, विश्ववन्द्य है।

'वक्ष्यामि हितकाम्यया'—अर्जुन जीवमात्रके प्रतिनिधि हैं और अपना हित ही चाहते हैं*। अतः भगवान् उनके अर्थात् जीवमात्रके हितके उद्देश्यसे परम वचन कहते हैं। कल्याणके सिवाय जीवका अन्य कोई हित है ही नहीं। भगवान्‌के वचन भी कल्याण करनेवाले हैं और उनका उद्देश्य भी कल्याण करनेका है, इसलिये भगवान्‌की वाणीमें जीवका विशेष कल्याण (परमहित) भरा हुआ है। जीवका जितना हित भगवान् कर सकते हैं, उतना दूसरा कोई कर सकता ही नहीं—

उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥

(मानस, किष्किंधा० १२। १)

दूसरोंकी वाणीमें तो मतभेद रहता है, पर भगवान्‌की वाणी सर्वसम्मत है। भगवान् योगमें स्थित होकर गीता

---

* **'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'** (गीता २। ७)
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ (गीता ३। २)
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ (गीता ५। १)

कह रहे हैं*; अतः उनके वचन विशेष कल्याण करनेवाले हैं। भगवान्‌का योगमें स्थित होना क्या है? भगवान् सामान्य रूपसे मात्र प्राणियोंके परम सुहृद् हैं, पर जब कोई व्याकुल होकर उनकी शरणमें आता है, तब भगवान्‌के हृदयमें उसके हितके विशेष भाव प्रकट होते हैं—यही भगवान्‌का योगमें स्थित होना है†; जैसे—बछड़ेके सामने आते ही गायके शरीरमें रहनेवाला दूध उसके थनोंमें आ जाता है!

'**यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया**' पदोंसे भगवान् कहते हैं कि तुम्हारे भीतर मेरे प्रति प्रेमका भाव है और मेरे भीतर तुम्हारे प्रति हितका भाव है, इसलिये मैं वह विज्ञानसहित ज्ञान पुनः कहूँगा, जो मैंने सातवें और नवें अध्यायमें कहा है। इससे सिद्ध होता है कि सातवाँ, नवाँ और दसवाँ—तीनों अध्यायोंमें भगवान्‌ने प्राणिमात्रके हितकी कामनासे अपने हृदयकी बात कही है!

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

मे	= मेरे	**न**	= न	**देवानाम्**	= देवताओंका
प्रभवम्	= प्रकट होनेको	**महर्षयः**	= महर्षि;	**च**	= और
न	= न	**हि**	= क्योंकि	**महर्षीणाम्**	= महर्षियोंका
सुरगणाः	= देवता	**अहम्**	= मैं		
विदुः	= जानते हैं (और)	**सर्वशः**	= सब प्रकारसे	**आदिः**	= आदि हूँ।

विशेष भाव—सातवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने '**मनुष्याणां सहस्रेषु०**' पदोंसे जो बात कही थी, वह यहाँ '**न मे विदुः०**' पदोंसे कहते हैं। वे भगवान्‌को क्यों नहीं जानते—इसका हेतु बताते हैं कि मैं सब तरहसे देवताओं और महर्षियोंका आदि हूँ। सातवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने कहा है कि भूत, भविष्य और वर्तमानके सब प्राणियोंको मैं जानता हूँ, पर मेरेको कोई नहीं जानता। इसलिये अर्जुनने भी आगे चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंमें कहा है कि आपको न देवता जानते हैं और न दानव ही जानते हैं, प्रत्युत आप स्वयं ही अपने-आपसे अपने-आपको जानते हैं।

इस श्लोकमें भगवान्‌ने 'राजगुह्य' बात कही है। भगवान् विद्या, बुद्धि, योग्यता, सामर्थ्य आदिसे जाननेमें नहीं आते, प्रत्युत जिज्ञासुके श्रद्धा-विश्वाससे एवं भगवत्कृपासे ही जाननेमें आते हैं।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

---

* **न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः॥**
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया।

(महाभारत, आश्व० १६। १२-१३)

'(भगवान् अर्जुनसे बोले—)वह सब-का-सब उसी रूपमें फिर दुहरा देना अब मेरे वशकी बात नहीं है। उस समय योगयुक्त होकर ही मैंने परमात्मतत्त्वका वर्णन किया था।'

† **ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत।**

(श्रीमद्भा० १। १। ८; १०। १३। ३)

'गुरुजन अपने प्रेमी शिष्यको गुप्त-से-गुप्त बात भी बतला दिया करते हैं।'

गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥

(मानस, बाल० ११०। १)

यः	=जो (मनुष्य)	**लोकमहेश्वरम्**	= सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर	**सः**	=वह
माम्	=मुझे			**मर्त्येषु**	=मनुष्योंमें
अजम्	=अजन्मा,	**वेत्ति**	=जानता है अर्थात् दृढ़तासे (सन्देहरहित) स्वीकार कर लेता है,	**असम्मूढः**	=ज्ञानवान् है (और)
अनादिम्	=अनादि			**सर्वपापैः**	=(वह) सम्पूर्ण पापोंसे
च	=और			**प्रमुच्यते**	=मुक्त हो जाता है।

विशेष भाव—नवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें भगवान्ने व्यतिरेकरीतिसे कहा कि जो मेरेको नहीं जानता, उसका पतन हो जाता है और यहाँ अन्वयरीतिसे कहते हैं कि जो मेरेको जानता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है।

यहाँ **'वेत्ति'** का अर्थ है—दृढ़तापूर्वक, सन्देहरहित स्वीकार कर लेना; क्योंकि भगवान्को इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जान नहीं सकते (गीता १०। २)। अत: भगवान् जाननेका विषय नहीं हैं, प्रत्युत मानने और अनुभव करनेका विषय हैं। जाननेका विषय खुद प्रकृति भी नहीं है; फिर प्रकृतिसे अतीत भगवान् जाननेका विषय कैसे हो सकते हैं! अनुभव करनेका तात्पर्य है—अपनेको भगवान्में लीन कर देना, भगवान्से अभिन्न हो जाना। भगवान्से अभिन्न होकर ही भगवान्को जान सकते हैं; क्योंकि वास्तवमें अभिन्न ही हैं। (इसी तरह संसारसे अलग होकर ही संसारको जान सकते हैं; क्योंकि वास्तवमें अलग ही हैं।)

महर्षिगण भगवान्के आदिको तो नहीं जान सकते, पर वे भगवान्को अज-अनादि तो जानते ही हैं। भगवान्का अंश होनेसे जीव भी अज-अनादि है। अत: वह भगवान्को अज-अनादि जानेगा तो अपनेको भी वैसा ही (अज-अनादि) जानेगा; क्योंकि जीव भगवान्से अभिन्न होकर ही भगवान्को जानता है। अपनेको अज-अनादि जाननेपर वह मूढ़तारहित हो जाता है, फिर उसमें पाप कैसे रहेंगे? क्योंकि पाप तो पीछे पैदा हुए हैं, अज-अनादि पहलेसे है। **'सर्वपापैः प्रमुच्यते'** का तात्पर्य है—गुणोंके संगसे रहित होना। गुणोंका संग रहते हुए मनुष्य पापोंसे मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि गुणोंका संग पापोंका मूल कारण है।

आगे चौथेसे छठे श्लोकतक असम्मूढ़ताका ही विवेचन हुआ है, जिसमें भगवान्ने अपनेको सबका 'आदि' बताया है। भगवान् स्वयं 'अनादि' हैं और भावोंके तथा महर्षियोंके 'आदि' हैं।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ ४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ ५॥

बुद्धिः	=बुद्धि,	**भवः**	=उत्पत्ति,	**यशः**	=यश
ज्ञानम्	=ज्ञान,	**अभावः**	=विनाश,	**च**	=और
असम्मोहः	=असम्मोह,	**भयम्**	=भय,	**अयशः**	=अपयश—
क्षमा	=क्षमा,	**अभयम्**	=अभय	**भूतानाम्**	=प्राणियोंके (ये)
सत्यम्	=सत्य,	**च**	=और	**पृथग्विधाः**	=अनेक प्रकारके अलग-अलग
दमः	=दम,	**अहिंसा**	=अहिंसा,		
शमः	=शम,	**समता**	=समता,	**भावाः**	=(बीस) भाव
एव	=तथा	**तुष्टिः**	=सन्तोष,	**मत्तः**	=मुझसे
सुखम्	=सुख,	**तपः**	=तप,	**एव**	=ही
दुःखम्	=दुःख,	**दानम्**	=दान,	**भवन्ति**	=होते हैं।

विशेष भाव—ज्ञानकी दृष्टिसे तो सभी भाव प्रकृतिसे होते हैं, पर भक्तिकी दृष्टिसे सभी भाव भगवान्‌से होते हैं। अगर इन भावोंको जीवका मानें तो जीव भी भगवान्‌की ही परा प्रकृति होनेसे भगवान्‌से अभिन्न है; अतः ये भाव भगवान्‌के ही हुए। भगवान्‌में तो ये भाव निरन्तर रहते हैं, पर जीवमें अपराके संगसे आते-जाते रहते हैं। भगवान्‌से उत्पन्न होनेके कारण सभी भाव भगवत्स्वरूप ही हैं।

'**पृथग्विधाः**' कहनेका तात्पर्य है कि जैसे हाथ एक ही होता है, पर उसमें अँगुलियाँ अलग-अलग होती हैं, ऐसे ही भगवान् एक ही हैं, पर उनसे प्रकट होनेवाले भाव अलग-अलग हैं। एक ही भगवान्‌में अनेक प्रकारके परस्परविरुद्ध भाव एक साथ रहते हैं!

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ ६॥

सप्त	= सात	**मनवः**	= चौदह मनु (—ये सब-के-सब)	**येषाम्**	= जिनकी
महर्षयः	= महर्षि (और)	**मानसाः**	= (मेरे) मनसे	**लोके**	= संसारमें
पूर्वे	= उनसे भी पहले होनेवाले	**जाताः**	= पैदा हुए हैं (और)	**इमाः**	= यह
चत्वारः	= चार सनकादि	**मद्भावाः**	= मुझमें भाव (श्रद्धा-भक्ति) रखनेवाले हैं,	**प्रजाः**	= सम्पूर्ण प्रजा है।
तथा	= तथा				

विशेष भाव—सात महर्षि, चार सनकादि तथा चौदह मनु—ये सब भगवान्‌के मनसे पैदा होनेके कारण भगवान्‌से अभिन्न हैं।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

यः	= जो मनुष्य	**तत्त्वतः**	= तत्त्वसे	**अविकम्पेन**	= अविचल
मम	= मेरी	**वेत्ति**	= जानता है अर्थात् दृढ़तापूर्वक (सन्देह-रहित) स्वीकार कर लेता है,	**योगेन**	= भक्तियोगसे
एताम्	= इस			**युज्यते**	= युक्त हो जाता है;
विभूतिम्	= विभूतिको			**अत्र**	= इसमें (कुछ भी)
च	= और			**संशयः**	= संशय
योगम्	= योग-(सामर्थ्य-)को	**सः**	= वह	**न**	= नहीं है।

विशेष भाव—संसारमें जो कुछ विलक्षणता (विशेषता) देखनेमें आती है, वह सब भगवान्‌का 'योग' अर्थात् विलक्षण प्रभाव, सामर्थ्य है। उस विलक्षण प्रभावसे प्रकट होनेवाली विशेषता 'विभूति' है—इस प्रकार जो मनुष्य भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जान लेता है, उसकी भगवान्‌में दृढ़ भक्ति हो जाती है। एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं—ऐसा सन्देहरहित दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर लेना ही तत्त्वसे जानना है। इस प्रकार तत्त्वसे जाननेवालेको भगवान्‌ने 'ज्ञानवान्' कहा है (गीता ७। १९)।

'अविकम्प (अविचल) योग' कहनेका तात्पर्य है कि वह भक्तियोग खुद भी नहीं हिलता और उसको कोई हिला भी नहीं सकता; क्योंकि इसमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है।

जैसे रुपयोंसे सब वस्तुएँ मिल जाती हैं—ऐसा मानकर साधारण मनुष्य रुपयोंको ही महत्त्व देता है और उसका रुपयोंमें आकर्षण हो जाता है। ऐसे ही जो कुछ प्रभाव, महत्त्व दीखता है, वह सब भगवान्‌का ही है—ऐसा जाननेपर मनुष्यकी भगवान्‌में ही दृढ़ भक्ति हो जाती है।

'नात्र संशयः' कहनेका तात्पर्य है कि जब भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता ही नहीं है तो फिर इसमें संशय कैसे हो? इसमें संशय होनेका अवकाश ही नहीं है; क्योंकि जहाँ दो सत्ता होती है, वहीं संशय होता है। एक भगवान्‌के सिवाय और कोई है ही नहीं तो फिर वृत्ति कहाँ जायगी, क्यों जायगी, किसमें जायगी और कैसे जायगी? इसलिये एक भगवान्‌में ही अविचल भक्ति हो जाती है—इसमें सन्देह नहीं है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥

अहम्	= मैं
सर्वस्य	= संसारमात्रका
प्रभवः	= प्रभव (मूल कारण) हूँ,
मत्तः	= (और) मुझसे ही
सर्वम्	= सारा संसार
प्रवर्तते	= प्रवृत्त हो रहा है अर्थात् चेष्टा कर रहा है—
इति	= ऐसा
मत्वा	= मानकर
भावसमन्विताः	= मुझमें ही श्रद्धा-प्रेम रखते हुए
बुधाः	= बुद्धिमान् भक्त
माम्	= मेरा ही
भजन्ते	= भजन करते हैं—सब प्रकारसे मेरे ही शरण होते हैं।

विशेष भाव—लोग रुपयोंको इसलिये बहुत महत्त्व देते हैं कि उनसे सब वस्तुएँ मिल सकती हैं। रुपयोंसे तो वस्तुएँ मिलती हैं, पैदा नहीं होतीं, पर भगवान्‌से सम्पूर्ण वस्तुएँ पैदा भी होती हैं और मिलती भी हैं! इस प्रकार जो भगवान्‌के महत्त्वको जान लेते हैं, वे तुच्छ रुपयोंके लोभमें न फँसकर भगवान्‌के ही भजनमें लग जाते हैं—**'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत'** (गीता १५। १९)।

भगवान् कहते हैं कि पदार्थ और व्यक्ति भी मेरेसे होते हैं **(अहं सर्वस्य प्रभवः)** और क्रियाएँ भी मेरेसे होती हैं **(मत्तः सर्वं प्रवर्तते)**। परन्तु जीव पदार्थों और क्रियाओंसे सम्बन्ध जोड़कर, उनको अपना मानकर, उनका भोक्ता और कर्ता बनकर बँध जाता है। भोक्ता बननेसे पदार्थ बन्धनकारक हो जाते हैं और कर्ता बननेसे क्रियाएँ बन्धनकारक हो जाती हैं। अगर जीव भोक्ता और कर्ता न बने तो बन्धन है ही नहीं।

संसारमें जो भी प्रभाव देखनेमें आता है, वह सब भगवान्‌का ही है—यह बात भगवान्‌ने गीतामें **'मत्तः'** पदसे कई जगह कही है; जैसे—

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' (७। ७)

'मेरे सिवाय इस संसारका दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी कारण तथा कार्य नहीं है।'

'मत्त एवेति तान्विद्धि' (७। १२)

'ये (सात्त्विक, राजस और तामस) भाव मुझसे ही होते हैं—ऐसा उनको समझो।'

'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः' (१०। ५)

'प्राणियोंके ये (बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह आदि) अनेक प्रकारके अलग-अलग भाव मुझसे ही होते हैं।'

'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' (१५। १५)

'मेरेसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशय आदि दोषोंका नाश) होता है।'

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥

मच्चिताः	= मुझमें चित्तवाले
मद्गतप्राणाः	= मुझमें प्राणोंको अर्पण करनेवाले (भक्तजन)
परस्परम्	= आपसमें
बोधयन्तः	= (मेरे गुण, प्रभाव आदिको) जनाते हुए
च	= और
कथयन्तः	= उनका कथन करते हुए
नित्यम्	= नित्य-निरन्तर

तुष्यन्ति	= सन्तुष्ट रहते हैं	**माम्**	= मुझमें	**रमन्ति**	= प्रेम करते हैं।
च	= और	**च**	= ही		

विशेष भाव— यहाँ भगवान् सातवें श्लोकमें वर्णित अविचल भक्तियोगका वर्णन करते हैं। भगवान्‌के भक्तोंका चित्त एक भगवान्‌को छोड़कर कहीं नहीं जाता। उनकी दृष्टिमें जब एक भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं तो फिर उनका चित्त कहाँ जायगा, कैसे जायगा और क्यों जायगा? वे भक्त भगवान्‌के लिये ही जीते हैं और उनकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ भी भगवान्‌के लिये ही होती हैं। कोई सुननेवाला आ जाय तो वे भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदिकी विलक्षण बातोंका ज्ञान कराते हैं, भगवान्‌की कथा-लीलाका वर्णन करते हैं और कोई सुनानेवाला आ जाय तो प्रेमपूर्वक सुनते हैं। न तो कहनेवाला तृप्त होता है और न सुननेवाला ही तृप्त होता है! तृप्ति नहीं होती— यह वियोग है और नित नया रस मिलता है—यह योग है। इस वियोग और योगके कारण प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है। नारदभक्तिसूत्रमें आया है—

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च॥ ६८॥

'ऐसे अनन्य भक्त कण्ठावरोध, रोमाञ्च और अश्रुयुक्त नेत्रवाले होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको और पृथ्वीको पवित्र कर देते हैं।'

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०॥

तेषाम्	= उन	**भजताम्**	= (मेरा) भजन करनेवाले भक्तोंको	**येन**	= जिससे
सतत-युक्तानाम्	= नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए (और)	**तम्**	= (मैं) वह	**ते**	= उनको
प्रीतिपूर्वकम्	= प्रेमपूर्वक	**बुद्धियोगम्**	= बुद्धियोग	**माम्**	= मेरी
		ददामि	= देता हूँ,	**उपयान्ति**	= प्राप्ति हो जाती है।

विशेष भाव— जबतक राग-द्वेष (विषमता) है, तबतक संसार ही दीखता है, भगवान् नहीं दीखते। भगवान् द्वन्द्वातीत हैं। जबतक राग-द्वेषरूप द्वन्द्व रहता है, तबतक दो चीजें दीखती हैं, एक चीज नहीं दीखती। जब राग-द्वेष मिट जाते हैं, तब एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं दीखता! तात्पर्य है कि राग-द्वेष मिटनेपर अर्थात् समता आनेपर 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—ऐसा अनुभव हो जाता है। इसलिये भगवान् अपने भक्तोंको समता देते हैं। समता ही '**बुद्धियोग**' अर्थात् कर्मयोग है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८)। गीतामें कर्मयोगको '**बुद्धियोग**' नामसे कहा गया है; जैसे—'**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय**' (२। ४९), '**बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव**' (१८। ५७)। बुद्धियोग प्राप्त होनेपर भक्त दूसरेके दुःखसे दुःखी होकर उसको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करता है।

एक चिन्तन 'करते' हैं और एक चिन्तन 'होता' है। जो चिन्तन, भजन करते हैं, वह नकली (कृत्रिम) होता है और जो स्वतः होता है, वह असली होता है। किया जानेवाला चिन्तन निरन्तर नहीं होता, पर होनेवाला चिन्तन श्वासकी तरह निरन्तर होता है, उसमें अन्तर नहीं पड़ता—'**सततयुक्तानाम्**'। शरीरमें प्रियता, आसक्ति होनेसे भगवान्‌का चिन्तन करना पड़ता है और शरीरका चिन्तन स्वतः होता है। परन्तु भगवान्‌में प्रियता (अपनापन) होनेसे भजन करना नहीं पड़ता, प्रत्युत स्वतः होता है और छूटता भी नहीं। इसलिये यहाँ प्रेमपूर्वक भजन करनेकी बात आयी है—'**भजतां प्रीतिपूर्वकम्**'।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ११॥

तेषाम्	= उन भक्तोंपर		(होनेपन-)में रहनेवाला	**भास्वता**	= देदीप्यमान
अनुकम्पार्थम्	= कृपा करनेके लिये	**अहम्**	= मैं (उनके)	**ज्ञानदीपेन**	= ज्ञानरूप दीपकके द्वारा
एव	= ही	**अज्ञानजम्**	= अज्ञानजन्य	**नाशयामि**	= नष्ट कर देता हूँ।
आत्मभावस्थः	= उनके स्वरूप-	**तमः**	= अन्धकारको		

विशेष भाव—यद्यपि कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है, तथापि भगवान् अपने भक्तोंको कर्मयोग भी दे देते हैं—'**ददामि बुद्धियोगं तम्**' और ज्ञानयोग भी दे देते हैं—'**ज्ञानदीपेन भास्वता**'। अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌की ही हैं। इसलिये भगवान् कृपा करके अपने भक्तको अपराकी प्रधानतासे होनेवाला कर्मयोग और पराकी प्रधानतासे होनेवाला ज्ञानयोग—दोनों प्रदान करते हैं। अतः भक्तको कर्मयोगका प्रापणीय तत्त्व 'निष्कामभाव' और ज्ञानयोगका प्रापणीय तत्त्व 'स्वरूपबोध'—दोनों ही सुगमतासे प्राप्त हो जाते हैं। कर्मयोग प्राप्त होनेपर भक्तके द्वारा संसारका उपकार होता है और ज्ञानयोग प्राप्त होनेपर भक्तका देहाभिमान दूर हो जाता है।

भक्त भगवान्‌के चिन्तनमें, प्रेममें ही सन्तुष्ट और मग्न रहता है। उसको न तो अपनेमें कोई कमी दीखती है और न कुछ पानेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। जैसे बालक सर्वथा माँके ही आश्रित रहता है तो उसकी दृष्टि अपनी कमियोंकी तरफ जाती ही नहीं! माँ ही उसका खयाल रखती है, उसको स्नान कराती है, मैले कपड़े उतारकर स्वच्छ कपड़े पहनाती है। ऐसे ही भक्त सर्वथा भगवान्‌के ही आश्रित हो जाता है कि 'मैं जैसा भी हूँ, भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'। वह अपनी तरफ देखता ही नहीं। इसलिये भगवान् ही उसके भीतर स्थित अज्ञानको तत्त्वज्ञानके द्वारा नष्ट कर देते हैं। बालकमें तो मूढ़ता विशेष रहती है, पर भक्तमें विवेक विशेष रहता है।

भक्तका खास कर्तव्य है—भगवान्‌को अपना मानना। भक्त अपने कर्तव्यका पालन करता है तो भगवान् भी अपने कर्तव्यका पालन करते हैं और उसके बिना माँगे, बिना चाहे, अपनी तरफसे कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंकी सामर्थ्य प्रदान कर देते हैं, जिससे उसमें किसी प्रकारकी कमी न रहे।

कर्मयोगमें शान्तरस, ज्ञानयोगमें अखण्डरस और भक्तियोगमें अनन्तरस है। शान्तरस और अखण्डरसमें अनन्तरस नहीं है, पर अनन्तरसमें शान्तरस भी है और अखण्डरस भी है।

कर्मयोग और ज्ञानयोग लौकिक साधन हैं तथा भक्तियोग अलौकिक साधन है। अलौकिककी प्राप्ति होनेपर लौकिककी प्राप्ति भगवत्कृपासे स्वतः हो जाती है, पर लौकिककी प्राप्ति होनेपर अलौकिककी प्राप्ति नहीं होती। कारण कि अलौकिकमें तो लौकिक आ जाता है, पर लौकिकमें अलौकिक नहीं आता।

ज्ञानी तो भक्तिसे रहित हो सकता है, पर भक्त ज्ञानसे रहित नहीं हो सकता*। गोपियोंने श्रुतियोंका अध्ययन भी नहीं किया था, ज्ञानी महापुरुषोंका संग भी नहीं किया था और व्रत, तप आदि भी नहीं किये थे†, फिर भी उनमें विलक्षण ज्ञान था‡! तात्पर्य है कि भक्तको स्वरूपका भी बोध हो जाता है। '**वासुदेवः सर्वम्**' का बोध तो उसको है ही!

---

* **मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥**
(मानस, अरण्य० ३६।५)

† **ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।**
अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः॥ (श्रीमद्भा० ११।१२।७)

'उन्होंने न तो वेदोंका अध्ययन किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना ही की थी। इसी प्रकार उन्होंने कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत और कोई तपस्या भी नहीं की थी। बस, केवल सत्संग-(प्रेम-)के प्रभावसे ही वे मुझे प्राप्त हो गये।'

‡ **न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।**
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥
(श्रीमद्भा० १०।३१।४)

(गोपियाँ कहती हैं—) 'हे सखे! आप निश्चय ही केवल यशोदाके पुत्र ही नहीं हैं, प्रत्युत सम्पूर्ण प्राणियोंकी अन्तरात्माके साक्षी हैं। ब्रह्माजीकी प्रार्थना सुनकर विश्वकी रक्षाके लिये ही आप यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं।'

'आत्मभावस्थः'—जीवमें भगवान् रहते हैं; क्योंकि वह भगवान्‌का ही अंश है। वास्तवमें भगवान् ही जीवरूपसे प्रकट हुए हैं; क्योंकि भगवान्‌की परा प्रकृति होनेसे जीव भगवान्‌से अभिन्न है। उपनिषद्‌में आया है कि शरीरोंकी रचना करके भगवान् आप ही उनमें प्रविष्ट हो गये—**'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** (तैत्तिरीय० २। ६)।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३॥

अर्जुन बोले—

परम्	=परम	**पुरुषम्**	=पुरुष,	**देवलः**	=देवल
ब्रह्म	=ब्रह्म,	**आदिदेवम्**	=आदिदेव,	**तथा**	=तथा
परम्	=परम	**अजम्**	=अजन्मा (और)	**व्यासः**	=व्यास
धाम	=धाम (और)	**विभुम्**	=सर्वव्यापक हैं—	**आहुः**	=कहते हैं
		त्वाम्	=(ऐसा) आपको	**च**	=और
परमम्	=महान्	**सर्वे**	=सब-के-सब		
पवित्रम्	=पवित्र	**ऋषयः**	=ऋषि,	**स्वयम्**	=स्वयं आप
भवान्	=आप ही हैं।	**देवर्षिः**	=देवर्षि,	**एव**	=भी
शाश्वतम्	=(आप) शाश्वत,	**नारदः**	=नारद,	**मे**	=मेरे प्रति
दिव्यम्	=दिव्य	**असितः**	=असित,	**ब्रवीषि**	=कहते हैं।

विशेष भाव—निर्गुण-निराकारके लिये **'परं ब्रह्म'**, सगुण-निराकारके लिये **'परं धाम'** और सगुण-साकारके लिये **'पवित्रं परमं भवान्'** पदोंका प्रयोग करके अर्जुन भगवान्‌से मानो यह कहते हैं कि समग्र परमात्मा आप ही हैं (गीता ७। २९-३०, ८। १—४)।

जो स्वयं भी शुद्ध हो और दूसरोंको भी शुद्ध करे, वह 'परम पवित्र' है। भगवान् परम पवित्र हैं और उनके नाम, रूप आदि सब भी परम पवित्र हैं। चौथे अध्यायके अड़तीसवें श्लोकमें ज्ञानको इस लोकमें सबसे पवित्र बताया गया है—**'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'**। परन्तु वह ज्ञान भी समग्र भगवान्‌के अन्तर्गत है। अतः भगवान् ज्ञानसे भी अधिक पवित्र हैं।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥ १४॥

केशव	=हे केशव!	**एतत्**	=यह	**भगवन्**	=हे भगवन्!
माम्	=मुझसे (आप)	**सर्वम्**	=सब (मैं)	**ते**	=आपके
यत्	=जो कुछ	**ऋतम्**	=सत्य	**व्यक्तिम्**	=प्रकट होनेको
वदसि	=कह रहे हैं,	**मन्ये**	=मानता हूँ।	**न**	=न

हि	=तो	**विदुः**	=जानते हैं (और)	**दानवाः**	=दानव ही जानते हैं।
देवाः	=देवता	**न**	=न		

विशेष भाव—भगवान्‌को अपनी शक्तिसे कोई जान नहीं सकता, प्रत्युत भगवान्‌की कृपासे ही जान सकता है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

(मानस २। १२७। २)

भगवान्‌के यहाँ बुद्धिके चमत्कार, सिद्धियाँ नहीं चल सकतीं। बड़े-बड़े भौतिक आविष्कारोंसे कोई भगवान्‌को नहीं जान सकता।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥

भूतभावन	=हे भूतभावन!	**पुरुषोत्तम**	=हे पुरुषोत्तम!	**आत्मना**	=अपने-आपसे
भूतेश	=हे भूतेश!	**त्वम्**	=आप	**आत्मानम्**	=अपने-आपको
देवदेव	=हे देवदेव!	**स्वयम्**	=स्वयं		
जगत्पते	=हे जगत्पते!	**एव**	=ही	**वेत्थ**	=जानते हैं।

विशेष भाव—आप स्वयं ही अपने-आपसे अपने-आपको जानते हैं—इसका तात्पर्य है कि जाननेवाले भी आप ही हैं, जाननेमें आनेवाले भी आप ही हैं और जानना भी आप ही हैं अर्थात् सब कुछ आप ही हैं। जब आपके सिवाय और कोई है ही नहीं तो फिर कौन किसको जाने?

तत्त्वको जाननेकी चेष्टा करेंगे तो तत्त्वसे दूर हो जायँगे; क्योंकि तत्त्वको ज्ञेय (जाननेका विषय) बनायेंगे, तभी तो उसको जानना चाहेंगे! तत्त्व तो सबका ज्ञाता है, ज्ञेय नहीं। सबके ज्ञाताका कोई और ज्ञाता नहीं हो सकता*। जैसे, आँखसे सबको देखते हैं, पर आँखसे आँखको नहीं देख सकते; क्योंकि आँखकी देखनेकी शक्ति इन्द्रियका विषय नहीं है अर्थात् इन्द्रियाँ खुद अतीन्द्रिय हैं†। अतः वह परमात्मतत्त्व स्वयं ही स्वयंका ज्ञाता है।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६॥

हि	=इसलिये	**लोकान्**	=सम्पूर्ण लोकोंको	**आत्मविभूतयः**	=अपनी दिव्य विभूतियोंका
याभिः	=जिन	**व्याप्य**	=व्याप्त करके		
विभूतिभिः	=विभूतियोंसे	**तिष्ठसि**	=स्थित हैं, (उन सभी)	**अशेषेण**	=सम्पूर्णतासे
त्वम्	=आप			**वक्तुम्**	=वर्णन करनेमें
इमान्	=इन	**दिव्याः,**		**अर्हसि**	=(आप ही) समर्थ हैं।

* '**नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा**' (बृहदारण्यक० ३। ७। २३)

'इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है।'

'**विज्ञातारमरे केन विजानीयात्**' (बृहदारण्यक० २। ४। १४)

'सबके विज्ञाताको किसके द्वारा जाना जाय?'

† इन्द्रियोंको देखनेवाली इन्द्रियाँ नहीं हैं, मन है। मनको देखनेवाला मन नहीं है, बुद्धि है। बुद्धिको देखनेवाली बुद्धि नहीं है, अहम् है। अहम्‌को देखनेवाला अहम् नहीं है। स्वयं है। स्वयंको देखनेवाला स्वयं ही है।

विशेष भाव—अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं कि अपनी सम्पूर्ण विभूतियोंका आप ही वर्णन कर सकते हैं; क्योंकि आप स्वयं ही अपने-आपको जानते हैं (गीता १०। १५)। दूसरा आपको जान ले—यह सम्भव ही नहीं है (गीता १०। २, १४)। अतः आप स्वयं ही अपनी पूरी-की-पूरी विभूतियोंको कह दें, जिससे मेरेको अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति हो जाय।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ १७॥

योगिन्	=हे योगिन्!	**कथम्**	=कैसे	**मया**	=मेरे द्वारा
सदा	=निरन्तर	**विद्याम्**	=जानूँ?	**चिन्त्यः, असि**	=चिन्तन किये जा सकते हैं अर्थात् किन-किन भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ?
परिचिन्तयन्	=साङ्गोपाङ्ग चिन्तन करता हुआ	**च**	=और		
अहम्	=मैं	**भगवन्**	=हे भगवन्!		
त्वाम्	=आपको	**केषु, केषु**	=किन-किन		
		भावेषु	=भावोंमें (आप)		

विशेष भाव—अर्जुनके प्रश्नका तात्पर्य है कि हे भगवन्! आप किन-किन रूपोंमें प्रकट हुए हैं, जिन रूपोंमें मैं आपका चिन्तन कर सकूँ? अर्जुनने यह प्रश्न सुगमतापूर्वक भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे किया है। अर्जुन साधकमात्रके प्रतिनिधि हैं; अतः उनका प्रश्न साधकोंके लिये है।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णको तो जानते थे, पर उनके समग्ररूपको नहीं जानते थे। उनमें भगवान्‌के समग्ररूपको जाननेकी जिज्ञासा थी। इसलिये वे पूछते हैं कि मैं आपके समग्ररूपको कैसे जानूँ? किन रूपोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ? इससे सिद्ध होता है कि विभूतियाँ गौण नहीं हैं, प्रत्युत भगवत्प्राप्तिका माध्यम होनेसे मुख्य हैं। विभूतिरूपसे साक्षात् भगवान् ही हैं। जबतक मनुष्य भगवान्‌को नहीं जानता, तबतक उसमें गौण अथवा मुख्यकी भावना रहती है। भगवान्‌को जाननेपर गौण अथवा मुख्यकी भावना नहीं रहती; क्योंकि भगवान्‌के सिवाय कुछ है ही नहीं, फिर उसमें क्या गौण और क्या मुख्य? तात्पर्य है कि गौण अथवा मुख्य साधककी दृष्टिमें है, भगवान् और सिद्धकी दृष्टिमें नहीं।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

जनार्दन	=हे जनार्दन!	**विस्तरेण**	=विस्तारसे	**शृण्वतः**	=सुनते-सुनते
आत्मनः	=(आप) अपने	**भूयः**	=फिर	**मे**	=मेरी
योगम्	=योग-(सामर्थ्य-) को	**कथय**	=कहिये;	**तृप्तिः**	=तृप्ति
च	=और	**हि**	=क्योंकि	**न**	=नहीं
विभूतिम्	=विभूतियोंको	**अमृतम्**	=(आपके) अमृतमय वचन	**अस्ति**	=हो रही है।

विशेष भाव—जैसे भूखेको अन्न और प्यासेको जल अच्छा लगता है, ऐसे ही जिज्ञासु अर्जुनको भगवान्‌के वचन बहुत विलक्षण लगते हैं। उनको भगवान्‌के वचन ज्यों-ज्यों विलक्षण दीखते हैं, त्यों-ही-त्यों उनका भगवान्‌के प्रति विशेष भाव प्रकट होता जाता है*।

* द्रष्टव्य—'गीता-दर्पण' पुस्तकका बारहवाँ लेख—'गीतामें भगवान्‌का विविध रूपोंमें प्रकट होना'।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ १९॥

श्रीभगवान् बोले—

हन्त	= हाँ, ठीक है।	**प्राधान्यतः**	= प्रधानतासे (संक्षेपसे)	**मे**	= मेरी विभूतियोंके
दिव्याः,		**कथयिष्यामि**	= कहूँगा;	**विस्तरस्य**	= विस्तारका
आत्मविभूतयः	= मैं अपनी दिव्य विभूतियोंको	**हि**	= क्योंकि	**अन्तः**	= अन्त
ते	= तेरे लिये	**कुरुश्रेष्ठ**	= हे कुरुश्रेष्ठ!	**न**	= नहीं
				अस्ति	= है।

विशेष भाव—भगवान् अनन्त हैं; अतः उनकी विभूतियाँ भी अनन्त हैं। इस कारण भगवान्‌की विभूतियोंके विस्तारको न तो कोई कह सकता है और न कोई सुन ही सकता है। अगर कोई कह-सुन ले तो फिर वे अनन्त कैसे रहेंगी? इसलिये भगवान् कहते हैं कि मैं अपनी विभूतियोंको संक्षेपसे कहूँगा।

अर्जुनको '**कुरुश्रेष्ठ**' कहनेमें भगवान्‌का तात्पर्य है कि तेरे मनमें मेरेको जाननेकी इच्छा हो गयी, इसलिये तू श्रेष्ठ है!

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ २०॥

गुडाकेश	= हे नींदको जीतनेवाले अर्जुन!	**च**	= तथा	**सर्वभूताशय-स्थितः**	= सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरण-(हृदय-) में स्थित
भूतानाम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंके	**अन्तः**	= अन्तमें	**आत्मा**	= आत्मा भी
आदिः	= आदि,	**अहम्**	= मैं	**अहम्**	= मैं ही हूँ।
मध्यम्	= मध्य	**एव**	= ही हूँ		
		च	= और		

विशेष भाव—सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें भगवान् ही हैं—इसका तात्पर्य यह है कि एक भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं और आत्मा उनकी विभूति है। आत्मा भगवान्‌की 'परा प्रकृति' है और अन्तःकरण 'अपरा प्रकृति' है (गीता ७। ४-५)। परा और अपरा—दोनों ही भगवान्‌से अभिन्न हैं।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ २१॥

अहम्	= मैं	**अंशुमान्**	= किरणोंवाला	**नक्षत्राणाम्**	= नक्षत्रोंका अधिपति
आदित्यानाम्	= अदितिके पुत्रोंमें	**रविः**	= सूर्य हूँ।		
विष्णुः	= विष्णु (वामन)	**अहम्**	= मैं		
ज्योतिषाम्	= (और) प्रकाशमान वस्तुओंमें	**मरुताम्**	= मरुतोंका	**शशी**	= चन्द्रमा
		मरीचिः	= तेज (और)	**अस्मि**	= हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ २२॥

वेदानाम्	=(मैं) वेदोंमें	**अस्मि**	=हूँ,	**भूतानाम्**	=प्राणियोंकी
सामवेदः	=सामवेद	**इन्द्रियाणाम्**	=इन्द्रियोंमें		
अस्मि	=हूँ,	**मनः**	=मन	**चेतना**	=चेतना
देवानाम्	=देवताओंमें	**अस्मि**	=हूँ		
वासवः	=इन्द्र	**च**	=और	**अस्मि**	=हूँ।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ २३॥

रुद्राणाम्	=रुद्रोंमें	**अस्मि**	=मैं हूँ।	**शिखरिणाम्**	=शिखरवाले पर्वतोंमें
शङ्करः	=शंकर	**वसूनाम्**	=वसुओंमें		
च	=और	**पावकः**	=पवित्र करनेवाली अग्नि	**मेरुः**	=सुमेरु
यक्षरक्षसाम्	=यक्ष-राक्षसोंमें			**अहम्**	=मैं
वित्तेशः	=कुबेर	**च**	=और	**अस्मि**	=हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥ २४॥

पार्थ	=हे पार्थ!	**विद्धि**	=समझो।	**सरसाम्**	=जलाशयोंमें
पुरोधसाम्	=पुरोहितोंमें	**सेनानीनाम्**	=सेनापतियोंमें		
मुख्यम्	=मुख्य			**सागरः**	=समुद्र
बृहस्पतिम्	=बृहस्पतिको	**स्कन्दः**	=कार्तिकेय	**अहम्**	=मैं
माम्	=मेरा स्वरूप	**च**	=और	**अस्मि**	=हूँ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥ २५॥

महर्षीणाम्	=महर्षियोंमें	**अक्षरम्**	=अक्षर अर्थात् प्रणव	**जपयज्ञः**	=जपयज्ञ (और)
भृगुः	=भृगु (और)			**स्थावराणाम्**	=स्थिर रहनेवालोंमें
गिराम्	=वाणियों-(शब्दों-) में	**अहम्**	=मैं		
		अस्मि	=हूँ।	**हिमालयः**	=हिमालय
एकम्	=एक	**यज्ञानाम्**	=सम्पूर्ण यज्ञोंमें	**अस्मि**	=मैं हूँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ २६॥

सर्ववृक्षाणाम् = सम्पूर्ण वृक्षोंमें
अश्वत्थः = पीपल,
देवर्षीणाम् = देवर्षियोंमें
नारदः = नारद,
गन्धर्वाणाम् = गन्धर्वोंमें
चित्ररथः = चित्ररथ
च = और
सिद्धानाम् = सिद्धोंमें
कपिलः = कपिल
मुनिः = मुनि (मैं हूँ)।

~~~

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ २७॥

अश्वानाम् = घोड़ोंमें
अमृतोद्भवम् = अमृतके साथ समुद्रसे प्रकट होनेवाले
उच्चैःश्रवसम् = उच्चैःश्रवा नामक घोड़ेको,
गजेन्द्राणाम् = श्रेष्ठ हाथियोंमें
ऐरावतम् = ऐरावत नामक हाथीको
च = और
नराणाम् = मनुष्योंमें
नराधिपम् = राजाको
माम् = मेरी विभूति
विद्धि = मानो।

~~~

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ २८॥

आयुधानाम् = आयुधोंमें
वज्रम् = वज्र (और)
धेनूनाम् = धेनुओंमें
कामधुक् = कामधेनु
अहम् = मैं
अस्मि = हूँ।
प्रजनः = सन्तान-उत्पत्तिका हेतु
कन्दर्पः = कामदेव
अस्मि = मैं हूँ
च = और
सर्पाणाम् = सर्पोंमें
वासुकिः = वासुकि
अस्मि = मैं हूँ।

~~~

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ २९॥

नागानाम् = नागोंमें
अनन्तः = अनन्त (शेषनाग)
च = और
यादसाम् = जल-जन्तुओंका अधिपति
वरुणः = वरुण
अहम् = मैं
अस्मि = हूँ।
पितॄणाम् = पितरोंमें
अर्यमा = अर्यमा
च = और
संयमताम् = शासन करनेवालोंमें
यमः = यमराज
अहम् = मैं
अस्मि = हूँ।

~~~

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ ३०॥

दैत्यानाम् = दैत्योंमें
प्रह्लादः = प्रह्लाद
च = और
कलयताम् = गणना करनेवालों-(ज्योतिषियों-)में
कालः = काल
अहम् = मैं
अस्मि = हूँ
च = तथा
मृगाणाम् = पशुओंमें
मृगेन्द्रः = सिंह
च = और
पक्षिणाम् = पक्षियोंमें
वैनतेयः = गरुड़
अहम् = मैं हूँ।

~~~
~~~

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ ३१॥

पवताम्	=पवित्र करनेवालोंमें	**अहम्**	=मैं	**अस्मि**	=मैं हूँ
पवनः	=वायु (और)	**अस्मि**	=हूँ।	**च**	=और
		झषाणाम्	=जल-जन्तुओंमें	**स्रोतसाम्**	=नदियोंमें
शस्त्रभृताम्	=शस्त्रधारियोंमें			**जाह्नवी**	=गङ्गाजी
रामः	=राम	**मकरः**	=मगर	**अस्मि**	=मैं हूँ।

~~~

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ ३२॥

अर्जुन	=हे अर्जुन!	**अहम्**	=मैं	**प्रवदताम्**	=परस्पर शास्त्रार्थ करनेवालोंका
सर्गाणाम्	=सम्पूर्ण सृष्टियोंके	**एव**	=ही हूँ।		
आदिः	=आदि,	**विद्यानाम्**	=विद्याओंमें	**वादः**	=(तत्त्व-निर्णयके लिये किया जानेवाला) वाद
मध्यम्	=मध्य	**अध्यात्मविद्या**	=अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या)		
च	=तथा				
अन्तः	=अन्तमें	**च**	=और	**अहम्**	=मैं हूँ।

विशेष भाव—लौकिक विद्याओंमें 'अध्यात्मविद्या' अर्थात् आत्मज्ञान श्रेष्ठ है। इसीको गीताके अध्यायोंकी पुष्पिकामें 'ब्रह्मविद्या' कहा गया है।

अध्यात्मविद्या अर्थात् आत्मज्ञानको अपनी विभूति बतानेका कारण है कि यह सबसे सरल है, सबसे सुगम है और सबके प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। इसको करनेमें, समझनेमें और पानेमें कोई कठिनता है ही नहीं। इसमें करना, समझना और पाना लागू होता ही नहीं। कारण कि यह नित्यप्राप्त है और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सदा ज्यों-का-त्यों मौजूद है। आत्मज्ञान जितना प्रत्यक्ष है, उतना प्रत्यक्ष यह संसार भी नहीं है। तात्पर्य है कि हमारे अनुभवमें आत्मज्ञान जितना स्पष्ट आता है, उतना स्पष्ट संसार नहीं आता। इस बातको इस प्रकार समझना चाहिये। हम अपने बालकपनको देखें और वर्तमान अवस्थाको देखें तो शरीर वही नहीं रहा, आदत वही नहीं रही, भाषा वही नहीं रही, व्यवहार वही नहीं रहा, स्थान वही नहीं रहा, समय वही नहीं रहा, साथी वही नहीं रहे, क्रियाएँ वही नहीं रहीं, विचार वही नहीं रहे; सब कुछ बदल गया, पर सत्तारूपसे हम स्वयं नहीं बदले, तभी हम कहते हैं कि 'मैं तो वही हूँ, जो बालकपनमें था'। तात्पर्य यह हुआ कि जो बदल गया, वह अलग स्वभाववाला है और जो नहीं बदला, वह अलग स्वभाववाला है। जो नहीं बदला, वह हमारा असली स्वरूप अर्थात् शरीरी है और जो बदल गया, वह शरीर है। यह आत्मज्ञान है।

~~~

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ ३३॥

अक्षराणाम्	=अक्षरोंमें	**अहम्**	=मैं	**विश्वतोमुखः**	=सब ओर मुखवाला
अकारः	=अकार	**अस्मि**	=हूँ।		
च	=और	**अक्षयः, कालः**	=अक्षयकाल अर्थात् कालका भी महाकाल (तथा)	**धाता**	=धाता (सबका पालन-पोषण करनेवाला भी)
सामासिकस्य	=समासोंमें				
द्वन्द्वः	=द्वन्द्व समास			**अहम्, एव**	=मैं ही हूँ।

~~~
~~~

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥ ३४॥

सर्वहरः	= सबका हरण करनेवाली	**अहम्**	= मैं हूँ	**स्मृतिः**	= स्मृति,
मृत्युः	= मृत्यु	**च**	= तथा	**मेधा**	= मेधा,
च	= और	**नारीणाम्**	= स्त्री-जातिमें	**धृतिः**	= धृति
भविष्यताम्	= भविष्यमें	**कीर्तिः**	= कीर्ति,	**च**	= और
उद्भवः	= उत्पन्न होनेवाला	**श्रीः**	= श्री,	**क्षमा**	= क्षमा (मैं हूँ)।
		वाक्	= वाक् (वाणी),		

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ३५॥

साम्नाम्	= गायी जानेवाली श्रुतियोंमें	**छन्दसाम्**	= सब छन्दोंमें	**मार्गशीर्षः**	= मार्गशीर्ष (और)
बृहत्साम	= बृहत्साम	**गायत्री**	= गायत्री छन्द	**ऋतूनाम्**	= छः ऋतुओंमें
तथा	= और	**अहम्**	= मैं हूँ।	**कुसुमाकरः**	= वसन्त
		मासानाम्	= बारह महीनोंमें	**अहम्**	= मैं हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥

छलयताम्	= छल करनेवालोंमें	**अस्मि**	= हूँ।	**सत्त्ववताम्**	= (और) सात्त्विक मनुष्योंका
द्यूतम्	= जुआ (और)	**जयः**	= (जीतनेवालोंकी) विजय	**सत्त्वम्**	= सात्त्विक भाव
तेजस्विनाम्	= तेजस्वियोंमें	**अस्मि**	= मैं हूँ।	**अहम्**	= मैं
तेजः	= तेज	**व्यवसायः**	= (निश्चय करने-वालोंका) निश्चय	**अस्मि**	= हूँ।
अहम्	= मैं				

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥

वृष्णीनाम्	= वृष्णिवंशियोंमें	**धनञ्जयः**	= अर्जुन	**कवीनाम्**	= कवियोंमें
वासुदेवः	= वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण (और)	**अस्मि**	= मैं हूँ।	**उशना, कविः**	= कवि शुक्राचार्य
पाण्डवानाम्	= पाण्डवोंमें	**मुनीनाम्**	= मुनियोंमें	**अपि**	= भी
		व्यासः	= वेदव्यास (और)	**अहम्**	= मैं हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ ३८॥

दमयताम्	= दमन करनेवालोंमें	**अस्मि**	= मैं हूँ।	**ज्ञानवताम्**	= ज्ञानवानोंमें
दण्डः	= दण्डनीति (और)	**गुह्यानाम्**	= गोपनीय भावोंमें	**ज्ञानम्**	= ज्ञान
जिगीषताम्	= विजय चाहने-वालोंमें	**मौनम्**	= मौन	**अहम्**	= मैं
		अस्मि	= मैं हूँ	**एव**	= ही
नीतिः	= नीति	**च**	= और	**अस्मि**	= हूँ।

विशेष भाव—यहाँ सामान्य शास्त्रज्ञानसे लेकर तत्त्वज्ञानतक सब-का-सब ज्ञान '**ज्ञानं ज्ञानवतामहम्**' के अन्तर्गत ले सकते हैं।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ ३९॥

च	= और	**अपि**	= भी	**यत्**	= जो
अर्जुन	= हे अर्जुन!	**अहम्**	= मैं ही हूँ; (क्योंकि)	**मया**	= मेरे
सर्वभूतानाम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंका	**तत्**	= वह	**विना**	= बिना
यत्	= जो	**चराचरम्**	= चर-अचर (कोई)		
बीजम्	= बीज (मूल कारण) है,	**भूतम्**	= प्राणी	**स्यात्**	= हो अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ।
		न	= नहीं		
तत्	= वह बीज	**अस्ति**	= है,		

विशेष भाव—सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्तिके चार खानि (स्थान) हैं—**१. जरायुज**—जेरके साथ पैदा होनेवाले मनुष्य, गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि; **२. अण्डज**—अण्डेसे पैदा होनेवाले पक्षी, साँप, गिलहरी, छिपकली आदि; **३. उद्भिज्ज**—पृथ्वीका भेदन करके ऊपरकी तरफ निकलनेवाले वृक्ष, लता, दूब, घास, अनाज आदि; और

४. स्वेदज—पसीनेसे पैदा होनेवाले जूँ, लीख आदि तथा वर्षामें जमीनसे पैदा होनेवाले केंचुए आदि जीव। इन चार स्थानोंसे चौरासी लाख योनियाँ पैदा होती हैं। इन योनियोंमें दो तरहके जीव होते हैं—स्थावर और जंगम। वृक्ष, लता, दूब, घास आदि एक ही जगह रहनेवाले जीव 'स्थावर' हैं और मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चलने-फिरनेवाले जीव 'जंगम' हैं। इन जीवोंमें भी कोई जलमें रहनेवाले हैं, कोई आकाशमें रहनेवाले हैं और कोई भूमिपर रहनेवाले हैं। इन चौरासी लाख योनियोंके सिवाय देवता, पितर, गन्धर्व, भूत, प्रेत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस, पूतना, बालग्रह आदि कई योनियाँ हैं। इन सम्पूर्ण योनियोंके बीज अर्थात् मूल कारण भगवान् हैं। तात्पर्य है कि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त जीव हैं, पर उन सबका बीज एक ही है! इसलिये सब रूपोंमें एक भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

जैसे बीजसे खेती होती है, ऐसे ही एक भगवान्से यह सम्पूर्ण संसार हुआ है। जिस प्रकार बाजरीसे बाजरी ही पैदा होती है, गेहूँसे गेहूँ ही होता है, पशुसे पशु ही होते हैं, मनुष्यसे मनुष्य ही होते हैं, इसी प्रकार भगवान्से भगवान् ही होते हैं अर्थात् संसाररूपसे भगवान् ही प्रकट होते हैं! जैसे सोनेसे बने गहने सोनारूप ही होते हैं, लोहेसे बने औजार लोहारूप ही होते हैं, मिट्टीसे बने बर्तन मिट्टीरूप ही होते हैं, रुईसे बने वस्त्र रुईरूप ही होते हैं, ऐसे ही भगवान्से होनेवाला संसार भी भगवद्रूप ही है!

लौकिक बीजसे तो एक ही प्रकारकी खेती पैदा होती है। जैसे, गेहूँके बीजसे गेहूँ ही पैदा होता है; ऐसा नहीं होता कि एक ही बीजसे गेहूँ भी पैदा हो जाय, बाजरी भी पैदा हो जाय, मोठ भी पैदा हो जाय, मूँग भी पैदा हो जाय। सबके बीज अलग-अलग होते हैं। परन्तु भगवान्‌रूपी बीज इतना विलक्षण बीज है कि उस एक ही बीजसे अनेक प्रकारकी सृष्टि पैदा हो जाती है* और सब प्रकारकी सृष्टि पैदा होनेपर भी उसमें कोई विकृति नहीं आती, वह

---

* **सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।**
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ (गीता १४। ४)

'हे कुन्तीनन्दन! सम्पूर्ण योनियोंमें प्राणियोंके जितने शरीर पैदा होते हैं, उन सबकी मूल प्रकृति तो माता है और मैं बीज-स्थापन करनेवाला पिता हूँ।'

ज्यों-का-त्यों रहता है; क्योंकि वह बीज 'अव्यय' है (गीता ९। १८) और 'सनातन' है (गीता ७। १०)।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ ४०॥

परन्तप	=हे परन्तप अर्जुन!	**अस्ति**	=है।	**एषः**	=यह
मम	=मेरी	**मया**	=मैंने (तुम्हारे सामने अपनी)	**तु**	=तो (केवल)
दिव्यानाम्	=दिव्य				
विभूतीनाम्	=विभूतियोंका	**विभूतेः**	=विभूतियोंका जो		
अन्तः	=अन्त	**विस्तरः**	=विस्तार	**उद्देशतः**	=संक्षेपसे नाममात्र कहा है।
न	=नहीं	**प्रोक्तः**	=कहा है,		

विशेष भाव—गीतामें भगवान्ने कारणरूपसे सत्रह विभूतियाँ (७। ८—१२), कार्य-कारणरूपसे सैंतीस विभूतियाँ (९। १६—१९), भावरूपसे बीस विभूतियाँ (१०। ४-५), व्यक्तिरूपसे पचीस विभूतियाँ (१०। ६), मुख्यरूपसे तथा अधिपतिरूपसे इक्यासी विभूतियाँ (१०। २०—३८), साररूपसे एक विभूति (१०। ३९) और प्रभावरूपसे तेरह विभूतियाँ (१५। १२—१५) बतायी हैं। इन सबका तात्पर्य यही है कि एक भगवान्के सिवाय कुछ नहीं है। सब रूपोंमें एक भगवान्-ही-भगवान् हैं। सब भगवान्का ही समग्ररूप है। असत् परिवर्तनशील है और सत् अपरिवर्तनशील है। ये सत् (परा) और असत् (अपरा)—दोनों ही भगवान्की विभूतियाँ हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। तात्पर्य है कि विभूतिरूपसे साक्षात् भगवान् ही हैं। अतः जिसमें हमारा आकर्षण होता है, वह वास्तवमें भगवान्का ही आकर्षण है। परन्तु भोगबुद्धिके कारण वह आकर्षण भगवत्प्रेममें परिणत न होकर काम, आसक्तिमें परिणत हो जाता है, जो संसारमें बाँधनेवाला है।

गीतामें भगवान्ने ब्रह्मको भी '**माम्**' (अपना स्वरूप) कहा है (८। १३), देवताओंको भी '**माम्**' कहा है (९। २३), इन्द्रको भी '**माम्**' कहा है (९। २०), उत्तम गतिको भी '**माम्**' कहा है (७। १८), क्षेत्रज्ञ-(जीवात्मा-)को भी '**माम्**' कहा है (१३। २), सबके शरीरमें रहनेवाले अन्तर्यामीको भी '**माम्**' कहा है (१६। १८), सम्पूर्ण प्राणियोंके बीजको भी '**माम्**' कहा है (७। १०) आदि। तात्पर्य है कि सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार तथा मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, भूत, प्रेत, पिशाच आदि जो कुछ भी है, वह सब मिलकर भगवान्का ही समग्ररूप है अर्थात् सब भगवान्की ही विभूतियाँ हैं, उनका ही ऐश्वर्य है*। ये सब-की-सब विभूतियाँ अव्यय (अविनाशी) हैं।

यहाँ शंका होती है कि जब सम्पूर्ण संसार ही भगवत्स्वरूप है, तो फिर विभूति-वर्णनका तात्पर्य क्या है? इसका समाधान है कि अर्जुनका प्रश्न ही यही था कि मैं कहाँ-कहाँ आपका चिन्तन करूँ (१०। १७)? वास्तवमें सब कुछ भगवान्का समग्ररूप ही है, पर मनुष्यको जिस वस्तुमें विशेषता दीखती है, उस वस्तुमें भगवान्को देखना, उनका चिन्तन करना सुगम पड़ता है; क्योंकि मनमें उसकी विशेषता अंकित रहनेसे मन स्वतः उसमें जाता है। इसीलिये भगवान्ने अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है। मुख्य-मुख्य विभूतियोंका वर्णन करते हुए भगवान्ने कहा कि सम्पूर्ण प्राणियोंका एवं सृष्टिमात्रका आदि, मध्य तथा अन्त मैं ही हूँ (१०। २०, ३२), सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज मैं ही हूँ, मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है (१०। ३९), और सम्पूर्ण जगत् मेरे एक अंशमें स्थित

***सर्वे च देवा मनवस्समस्तास्सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च।**
इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः॥

(विष्णुपुराण ३। १। ४६)

'समस्त देवता, मनु, सप्तर्षि तथा मनुपुत्र और देवताओंके अधिपति इन्द्रगण तथा इनके सिवाय जो कुछ है—ये सब-की-सब भगवान् विष्णुकी ही विभूतियाँ हैं।'

है (१०। ४२), फिर भगवान्‌के सिवाय बाकी क्या रहा? कुछ भी बाकी नहीं रहा! सब कुछ भगवान् ही हुए—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)।

गीतामें विभूति-वर्णन गौण नहीं है, प्रत्युत यह भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन है, जिसकी सिद्धि **'वासुदेवः सर्वम्'** में होती है। कारण कि संसारमें हमें जहाँ भी कोई विशेषता दिखायी दे, उसको भगवान्‌की ही विशेषता माननेसे हमारा आकर्षण उस वस्तु, व्यक्ति आदिमें न होकर भगवान्‌में ही होगा। जड़ताका आकर्षण, प्रियता ही मनुष्यको बाँधनेवाली है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। अतः विभूति-वर्णनका तात्पर्य संसारकी सत्ता, महत्ता और प्रियताको हटाकर मनुष्यको **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव कराना है, जो कि गीताका खास ध्येय है।

संसारकी सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध ही मनुष्यको बाँधनेवाला है। इसलिये संसारमें जहाँ मनुष्यका ज्यादा आकर्षण होता है, वहाँ उसकी भोगबुद्धि न होकर भगवद्बुद्धि हो जायगी तो उसके अन्तःकरणमें संसारकी सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध न होकर भगवान्‌की सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध हो जायगा*।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ ४१॥

यत्, यत्	= जो-जो	**सत्त्वम्**	= प्राणी तथा पदार्थ है,	**तेजः**	= तेज-(योग अर्थात् सामर्थ्य-)के
विभूतिमत्	= ऐश्वर्ययुक्त,	**तत्, तत्**	= उस-उसको	**अंशसम्भवम्**	= अंशसे उत्पन्न हुई
श्रीमत्	= शोभायुक्त	**त्वम्**	= तुम	**अवगच्छ**	= समझो।
वा	= और	**मम**	= मेरे		
ऊर्जितम्	= बलयुक्त	**एव**	= ही		

विशेष भाव—पहले कही गयी विभूतियोंके सिवाय भी साधकको स्वतः जिस-जिसमें व्यक्तिगत आकर्षण दीखता है, वहाँ-वहाँ भगवान्‌को ही देखना चाहिये अर्थात् वह विशेषता भगवान्‌की ही है—ऐसा दृढ़तासे धारण कर लेना चाहिये। भगवद्बुद्धिकी दृढ़ता होनेसे संसार लुप्त हो जायगा; जैसे—सोनेके गहनोंमें सोनाबुद्धि होनेसे गहने लुप्त हो जाते हैं, खाँड़के खिलौनोंमें खाँड़बुद्धि होनेसे खिलौने लुप्त हो जाते हैं। कारण कि वास्तवमें संसार है नहीं। केवल जीवने ही अपने राग-द्वेषसे संसारको धारण कर रखा है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। सार बात यह है कि किसी भी तरह साधकको अन्तमें **'वासुदेवः सर्वम्'** (सब कुछ भगवान् ही हैं) में ही पहुँचना है। इसीलिये भगवान्‌ने अरुन्धतीन्यायसे **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव करानेके लिये ही विभूतियोंका वर्णन किया है; क्योंकि विभूतियोंमें भगवान्‌को देखनेसे फिर सब जगह भगवान् दीखने लग जायँगे अर्थात् वस्तुरूपसे आकर्षण न रहकर भगवद्रूपसे आकर्षण हो जायगा।

मनुष्यमें जो भी विशेषता, विलक्षणता आती है, वह सब वास्तवमें भगवान्‌से ही आती है। अगर भगवान्‌में विशेषता, विलक्षणता न होती तो वह मनुष्यमें कैसे आती? जो चीज अंशीमें नहीं है, वह अंशमें कैसे आ सकती है? मनुष्यसे यही भूल होती है कि वह उस विशेषताको अपनी विशेषता मानकर अभिमान कर लेता है और जहाँसे वह विशेषता आयी है, उस तरफ ख्याल करता ही नहीं!

सृष्टिकी प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति आदि प्रतिक्षण नाशकी ओर जा रहे हैं। हम जिस वस्तु, व्यक्ति आदिमें सुन्दरता, बलवत्ता आदि विशेषता देखते हैं, वे एक दिन नष्ट हो जाते हैं। अतः सृष्टिकी प्रत्येक वस्तु मानो यह क्रियात्मक

---

* **नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।**
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥ (श्रीमद्भा० ११। २९। १५)

'जब भक्तका सम्पूर्ण स्त्री-पुरुषोंमें निरन्तर मेरा ही भाव हो जाता है अर्थात् उनमें मुझे ही देखता है, तब शीघ्र ही उसके चित्तसे ईर्ष्या, दोषदृष्टि, तिरस्कार आदि दोष अहंकार-सहित सर्वथा दूर हो जाते हैं।'

उपदेश दे रही है कि मेरी तरफ मत देखो, मैं तो रहूँगी नहीं, मेरेको बनानेवाले और बननेवालेकी तरफ देखो। मेरेमें जो सुन्दरता, सामर्थ्य, विलक्षणता आदि दीख रही है, यह मेरी नहीं है, प्रत्युत उसकी है! ऐसा जान लेनेपर फिर वस्तु, व्यक्ति आदिमें हमारा आकर्षण नहीं रहेगा और प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति आदिमें भगवान्‌के ही दर्शन होंगे। ऐसा होनेपर फिर भोग नहीं होगा, प्रत्युत स्वत: योग (भगवान्‌के साथ नित्य-सम्बन्ध) हो जायगा।

परमात्मा सम्पूर्ण शक्तियों, कलाओं, विद्याओं आदिके विलक्षण भण्डार हैं। शक्तियाँ जड़ प्रकृतिमें नहीं रह सकतीं, प्रत्युत चिन्मय परमात्मतत्त्वमें ही रह सकती हैं। जिस ज्ञानसे क्रिया हो रही है, वह ज्ञान जड़में कैसे रह सकता है? अगर ऐसा मानें कि सब शक्तियाँ प्रकृतिमें ही हैं, तो भी यह मानना पड़ेगा कि उन शक्तियोंका प्राकट्य और उपयोग (सृष्टि-रचना आदि) करनेकी योग्यता प्रकृतिमें नहीं है। जैसे, कम्प्यूटर जड़ होते हुए भी अनेक चमत्कारिक कार्य करता है, पर उसका निर्माण और संचालन करनेवाला चेतन (मनुष्य) है। मनुष्यके द्वारा निर्मित, शिक्षित तथा संचालित हुए बिना वह कार्य नहीं कर सकता। कम्प्यूटर स्वत:सिद्ध नहीं है, प्रत्युत कृत्रिम (बनाया हुआ) है, जबकि परमात्मा स्वत:सिद्ध हैं।

अगर परमात्मामें विशेषता न होती तो वह संसारमें कैसे आती? जो विशेषता बीजमें होती है, वही वृक्षमें भी आती है। जो विशेषता बीजमें नहीं है, वह वृक्षमें कैसे आयेगी? उसी परमात्माकी कवित्व-शक्ति कविमें आती है, उसीकी वक्तृत्व-शक्ति वक्तामें आती है, उसीकी लेखन-शक्ति लेखकमें आती है, उसीकी दातृत्व-शक्ति दातामें आती है। मुक्ति, ज्ञान, प्रेम आदि सब उस परमात्माका ही दिया हुआ है। यह प्रकृतिका कार्य नहीं है। अगर 'मैं मुक्तस्वरूप हूँ'—यह बात सच्ची है तो फिर बन्धन कहाँसे आया, कैसे आया, कब आया और क्यों आया? अगर 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ'—यह बात सच्ची है तो फिर अज्ञान कहाँसे आया, कैसे आया, कब आया और क्यों आया? सूर्यमें अमावसकी रात कैसे आ सकती है? वास्तवमें ज्ञान है तो परमात्माका, पर मान लिया अपना, तभी अज्ञान आया है*। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान मेरा है—यह 'मैं' और 'मेरा' (अहंता-ममता) ही अज्ञान है† जिससे मुक्ति, ज्ञान, प्रेम आदि मिले हैं, उसकी तरफ दृष्टि न रहनेसे ही ऐसा दीखता है कि मुक्ति मेरी है, ज्ञान मेरा है, प्रेम मेरा है। यह तो देनेवाले-(परमात्मा-)की विलक्षणता है कि लेनेवालेको वह चीज अपनी ही मालूम देती है! परमात्माकी यह विलक्षणता महान् आदर्श है, जिसका साधकोंको आदर करना चाहिये। मनुष्यसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वह मिली हुई वस्तुको तो अपनी मान लेता है, पर जहाँसे वह मिली है, उस देनेवालेकी तरफ उसकी दृष्टि जाती ही नहीं! वह मिली हुई वस्तुको तो देखता है, पर देनेवालेको देखता ही नहीं! कार्यको तो देखता है, पर जिसकी शक्तिसे कार्य हुआ, उस कारणको देखता ही नहीं! वास्तवमें वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत देनेवाला अपना है।

भगवान्‌की दी हुई सामर्थ्यसे ही मनुष्य कर्मयोगी होता है, उनके दिये हुए ज्ञानसे ही मनुष्य ज्ञानयोगी होता है और उनके दिये हुए प्रेमसे ही मनुष्य भक्तियोगी होता है। मनुष्यमें जो भी विलक्षणता, विशेषता देखनेमें आती है, वह सब-की-सब उन्हींकी दी हुई है। सब कुछ देकर भी वे अपनेको प्रकट नहीं करते—यह उनका स्वभाव है।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ ४२॥

---

* ज्ञान अथवा जाननेकी शक्ति प्रकृतिमें नहीं है। प्रकृति एकरस रहनेवाली नहीं है, प्रत्युत प्रतिक्षण बदलनेवाली है। अगर प्रकृतिमें ज्ञान होगा तो वह ज्ञान भी एकरस न रहकर बदलनेवाला हो जायगा। जो ज्ञान पैदा होगा, वह सदाके लिये नहीं होगा, प्रत्युत अनित्य होगा। अगर कोई माने कि ज्ञान प्रकृतिमें ही है तो उसी प्रकृतिको हम परमात्मा कहते हैं, केवल शब्दोंमें फर्क है। तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञान प्रकृतिमें नहीं है, अगर है तो वही परमात्मा है।

† **मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥**

(मानस, अरण्य० १५। १)

अथवा	= अथवा	**किम्**	= क्या आवश्यकता है, (जबकि)	**कृत्स्नम्**	= सम्पूर्ण
अर्जुन	= हे अर्जुन!			**जगत्**	= जगत्को
तव	= तुम्हें	**अहम्**	= मैं	**विष्टभ्य**	= व्याप्त करके
एतेन	= इस प्रकार	**एकांशेन**	= (अपने किसी) एक अंशसे	**स्थितः**	= स्थित हूँ अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्ड मेरे किसी एक अंशमें हैं।
बहुना	= बहुत-सी बातें				
ज्ञातेन	= जाननेकी	**इदम्**	= इस		

विशेष भाव—इस श्लोकका तात्पर्य है कि भगवान् ही जगत्-रूपसे स्थित हैं; क्योंकि व्याप्य और व्यापक, सूक्ष्म और महान्, सत् और असत्—दोनों भगवान् ही हैं। भगवान् अनन्त हैं, इसीलिये अनन्त ब्रह्माण्ड उनके किसी एक अंशमें स्थित हैं—**'एकांशेन स्थितो जगत्'।**

भगवान्‌के कथनका तात्पर्य अपनी तरफ दृष्टि करानेमें है कि सब कुछ मैं ही तो हूँ! मेरी तरफ देखनेसे फिर कोई भी विभूति बाकी नहीं रहेगी। जब सम्पूर्ण विभूतियोंका आधार, आश्रय, प्रकाशक, बीज (मूल कारण) मैं तेरे सामने बैठा हूँ, तो फिर विभूतियोंका चिन्तन करनेकी क्या जरूरत?

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

॥ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

अथैकादशोऽध्यायः
(ग्यारहवाँ अध्याय)

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ १॥

अर्जुन बोले—

मदनुग्रहाय	= केवल मुझपर कृपा करनेके लिये	**गुह्यम्**	= गोपनीय	**तेन**	= उससे
त्वया	= आपने	**अध्यात्म-सञ्ज्ञितम्**	= अध्यात्म-विषयक	**मम**	= मेरा
यत्	= जो	**वचः**	= वचन	**अयम्**	= यह
परमम्	= परम	**उक्तम्**	= कहे,	**मोहः**	= मोह
				विगतः	= नष्ट हो गया है।

विशेष भाव—अर्जुन कहते हैं कि आपने जो वचन कहे हैं, वे केवल मेरेपर कृपा करके ही कहे हैं, अपनी विद्वत्ता बतानेके लिये नहीं। इसमें केवल कृपाके अलावा और कोई हेतु नहीं है।

सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ (१०। २०), मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज हूँ (१०। ३९), ऐश्वर्य, शोभा और बलसे युक्त प्रत्येक वस्तुको मेरे ही योगके अंशसे उत्पन्न हुई समझो (१०। ४०), मैं अपने एक अंशसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हूँ (१०। ४२)—इन वचनोंको सुननेसे अर्जुनको ऐसा लगा कि मेरा मोह नष्ट हो गया है। परन्तु वास्तवमें उनका आंशिक मोह नष्ट हुआ है, पूरा नहीं।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २॥

हि	= क्योंकि	**मया**	= मैंने	**अव्ययम्**	= अविनाशी
कमलपत्राक्ष	= हे कमलनयन!	**विस्तरशः**	= विस्तारपूर्वक	**माहात्म्यम्**	= माहात्म्य
भूतानाम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंके	**त्वत्तः**	= आपसे ही		
		श्रुतौ	= सुने हैं	**अपि**	= भी (सुना है)।
भवाप्ययौ	= उत्पत्ति तथा विनाश	**च**	= और (आपका)		

विशेष भाव—इस श्लोकमें अर्जुन अपनी दृष्टिसे मोह नष्ट होनेका कारण बताते हैं।

'माहात्म्यमपि चाव्ययम्'—यहाँ **'अपि'** पदसे ऐसा अर्थ निकलता है कि अर्जुनने भगवान्‌का विनाशी माहात्म्य भी सुना है और अविनाशी माहात्म्य भी सुना है। **'भवाप्ययौ हि भूतानाम्'**—यह भगवान्‌का विनाशी अर्थात् परिवर्तनशील माहात्म्य है। मनुष्य भगवान्‌के साथ किसी भी प्रकारसे सम्बन्ध जोड़ ले तो वह कल्याण ही करेगा—यह भगवान्‌का अविनाशी अर्थात् अपरिवर्तनशील माहात्म्य है। तात्पर्य है कि सत्-असत् सब कुछ भगवान् ही हैं—**'सदसच्चाहम्'** (गीता ९। १९)।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ ३॥

पुरुषोत्तम	=हे पुरुषोत्तम!	**एतत्**	=यह (वास्तवमें)	**ऐश्वरम्**	=ईश्वर-सम्बन्धी
त्वम्	=आप	**एवम्**	=ऐसा ही है।	**रूपम्**	=रूपको (मैं)
आत्मानम्	=अपने-आपको	**परमेश्वर**	=हे परमेश्वर!		
यथा	=जैसा			**द्रष्टुम्**	=देखना
आत्थ	=कहते हैं,	**ते**	=आपके	**इच्छामि**	=चाहता हूँ।

विशेष भाव—अर्जुनके कथनका तात्पर्य है कि मैंने आपकी बातोंको सुनकर ठीक समझ लिया है और अब उसमें कोई सन्देह नहीं रहा है। सब कुछ आप ही हैं—यह ठीक ऐसा ही है। अब केवल आपका ईश्वर-सम्बन्धी रूप देखना बाकी रह गया है।

उपदेश दो तरहसे होता है—कहना और करके दिखाना। पहले दसवें अध्यायमें भगवान्‌ने अपने समग्र रूपका वर्णन किया कि मैं अपने एक अंशसे सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त करके स्थित हूँ। अब इस अध्यायमें अर्जुन उसी रूपको प्रत्यक्ष दिखानेकी प्रार्थना करते हैं।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

प्रभो	=हे प्रभो!	**इति**	=—ऐसा	**त्वम्**	=आप
मया	=मेरे द्वारा	**यदि**	=अगर	**आत्मानम्**	=अपने (उस)
तत्	=(आपका) वह ऐश्वर रूप	**मन्यसे**	=(आप) मानते हैं,	**अव्ययम्**	=अविनाशी स्वरूपको
द्रष्टुम्	=देखा	**ततः**	=तो	**मे**	=मुझे
शक्यम्	=जा सकता है	**योगेश्वर**	=हे योगेश्वर!	**दर्शय**	=दिखा दीजिये।

विशेष भाव—भगवान्‌के विश्वरूपको 'अव्यय' (अविनाशी) कहनेसे यह सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण संसार भगवान्‌का ही स्वरूप है। अव्यय होनेसे इसका अत्यन्त अभाव नहीं होता (गीता १५। १)। वास्तवमें परिवर्तनशील (असत्) और अपरिवर्तनशील (सत्)—दोनों ही मिलकर भगवान्‌का समग्ररूप है—'**सदसच्चाहमर्जुन**'। जड़ता केवल अपनी आसक्ति और अज्ञताके कारण ही प्रतीत होती है।

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ ५॥

श्रीभगवान् बोले—

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**च**	=और	**सहस्रशः**	=हजारों
अथ	=अब	**नाना-वर्णाकृतीनि**	=अनेक वर्णों (रंगों) तथा आकृतियोंवाले	**दिव्यानि**	=अलौकिक
मे	=मेरे			**रूपाणि**	=रूपोंको
नानाविधानि	=अनेक तरहके	**शतशः**	=सैकड़ों-	**पश्य**	=(तू) देख।

विशेष भाव—अर्जुनने तो अपनेको असमर्थ मानकर भगवान्‌से अपना एक ऐश्वररूप दिखानेकी प्रार्थना की थी और उसको भगवान्‌की इच्छापर छोड़ दिया था, पर भगवान् उनको सैकड़ों-हजारों रूपोंको देखनेकी बात कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌की इच्छापर छोड़नेसे साधकको जो लाभ होता है, वह अपनी इच्छासे, अपनी बुद्धिसे नहीं होता। कारण कि मनुष्य कितनी ही विद्याएँ, कला-कौशल आदि सीख ले, कितने ही शास्त्र पढ़ ले तो भी उसकी बुद्धि तुच्छ, सीमित ही रहती है। साधकमें जितनी सरलता, निर्बलता, निरभिमानताका भाव होगा, उतना ही वह भगवान्‌को जानेगा। अपना अभिमान करके साधक भगवान्‌को जाननेमें आड़ ही लगाता है। वह जितना समझदार बनता है, उतना ही बेसमझ रहता है। अपनेको समझदार माननेसे वह समझदारीका गुलाम हो जाता है। वह जितना निरभिमान होता है, समझदारीका अभिमान नहीं करता, उतना ही वह समझदार होता है।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ ६॥

भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!	**अश्विनौ**	= दो अश्विनी-कुमारोंको	**अदृष्टपूर्वाणि**	= जिनको तूने पहले कभी देखा नहीं,
आदित्यान्	= बारह आदित्योंको,	**तथा**	= तथा	**बहूनि**	= (ऐसे) बहुत-से
वसून्	= आठ वसुओंको,	**मरुतः**	= उन्चास मरुद्गणोंको	**आश्चर्याणि**	= आश्चर्यजनक रूपोंको (भी)
रुद्रान्	= ग्यारह रुद्रोंको (और)	**पश्य**	= देख।	**पश्य**	= (तू) देख।

विशेष भाव—पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने विराट्‌रूपमें अनेक तरहके और अनेक रंगों तथा आकृतियोंवाले रूपोंको देखनेकी बात कही थी, अब उसी बातको इस श्लोकमें विस्तारसे कहते हैं।

भगवान्‌के कथनका तात्पर्य है कि सभी देवता मेरे स्वरूप हैं अर्थात् उन देवताओंके रूपमें मैं ही हूँ (गीता ९। २३)।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥ ७॥

गुडाकेश	= हे नींदको जीतने-वाले अर्जुन!	**सचराचरम्**	= चराचर-सहित		और
मम	= मेरे	**कृत्स्नम्**	= सम्पूर्ण	**च**	= भी
इह	= इस	**जगत्**	= जगत्‌को	**यत्**	= जो कुछ
देहे	= शरीरके	**अद्य**	= अभी	**द्रष्टुम्**	= देखना
एकस्थम्	= एक देशमें	**पश्य**	= देख ले।	**इच्छसि**	= चाहता है, (वह भी देख ले)
		अन्यत्	= इसके सिवाय (तू)		

विशेष भाव—भगवान् अपने शरीरके एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् देखनेकी आज्ञा देते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं और उनके एक अंशमें सम्पूर्ण संसार है। ***'रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड'*** (मानस, बाल० २०१)—यह भगवान् प्रत्यक्ष दिखा रहे हैं! जब सम्पूर्ण संसार भगवान्‌के किसी एक अंशमें है, तो फिर भगवान्‌के सिवाय क्या बाकी रहा? सब कुछ भगवान् ही हुए! इसलिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तू जो कुछ भी देखना चाहता है, वह सब तू मेरे विराट्‌रूपमें देख सकता है। अर्जुन युद्धका परिणाम देखना चाहते थे, जिसको उन्होंने विराट्‌रूपमें ही देख लिया (गीता ११। २६-२७)।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ८॥

तु	=परन्तु	**एव**	=ही	**ददामि**	=देता हूँ, (जिससे तू)
अनेन	=(तू) इस	**न**	=नहीं	**मे**	=मेरी
स्वचक्षुषा	=अपनी आँख- (चर्मचक्षु-) से	**शक्यसे**	=सकता,	**ऐश्वरम्**	=ईश्वरीय
माम्	=मुझे	**ते**	=(इसलिये मैं) तुझे	**योगम्**	=सामर्थ्यको
द्रष्टुम्	=देख	**दिव्यम्**	=दिव्य	**पश्य**	=देख।
		चक्षुः	=चक्षु		

विशेष भाव—'पश्य' क्रियाके दो अर्थ होते हैं—जानना और देखना। नवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें **'पश्य मे योगमैश्वरम्'** पदोंसे भगवान्‌को जाननेकी बात आयी है और यहाँ **'पश्य मे योगमैश्वरम्'** पदोंसे भगवान्‌के विराट्‌रूपको देखनेकी बात आयी है। तात्पर्य है कि जो जाननेमें आता है, वह भी भगवान् है और जो देखनेमें आता है, वह भी भगवान् है। भगवान्‌के सिवाय कुछ भी नहीं है। इस ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्‌के अलौकिक रूपको देखनेकी विलक्षणता है, विवेचनकी विलक्षणता नहीं है। इसलिये गीताके अन्तमें भी संजयने एक तो 'संवाद' की विलक्षणता कही है और एक 'रूप' की विलक्षणता कही है (१८। ७६-७७)।

भगवान्‌का विराट्‌रूप अलौकिक था, इसलिये उसको देखनेके लिये भगवान्‌ने अर्जुनको अलौकिक चक्षु दिये।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ ९॥

संजय बोले—

राजन्	=हे राजन्!	**महायोगेश्वरः**	=महायोगेश्वर	**परमम्**	=परम
एवम्	=ऐसा	**हरिः**	=भगवान् श्रीकृष्णने	**ऐश्वरम्**	=ऐश्वर
उक्त्वा	=कहकर			**रूपम्**	=विराट्‌रूप
ततः	=फिर	**पार्थाय**	=अर्जुनको	**दर्शयामास**	=दिखाया।

विशेष भाव—भगवान्‌को 'महायोगेश्वर' कहनेका तात्पर्य है कि भगवान् सम्पूर्ण योगोंके ईश्वर हैं। ऐसा कोई भी योग नहीं है, जिसके ईश्वर (मालिक) भगवान् न हों अर्थात् सब योग भगवान्‌के ही अन्तर्गत हैं।

अर्जुनने तो भगवान्‌को 'योगेश्वर' कहा था (११। ४), पर संजय भगवान्‌को 'महायोगेश्वर' कहते हैं। कारण कि संजय भगवान्‌को पहलेसे ही अर्जुनसे ज्यादा जानते थे। संजयसे भी ज्यादा वेदव्यासजी भगवान्‌को जानते थे। वेदव्यासजीकी कृपासे ही संजयने भगवान् और अर्जुनका संवाद सुना—**'व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्'** (गीता १८। ७५)। वेदव्यासजीसे भी ज्यादा भगवान्‌को स्वयं भगवान् ही जानते हैं (गीता १०। २, १५)।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ १०॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥ ११॥

अनेकवक्त्रनयनम्	=	जिनके अनेक मुख और नेत्र हैं,
अनेकाद्भुतदर्शनम्	=	अनेक तरहके अद्भुत दर्शन हैं,
अनेकदिव्याभरणम्	=	अनेक अलौकिक आभूषण हैं,
दिव्यानेकोद्यतायुधम्	=	हाथोंमें उठाये हुए अनेक दिव्य आयुध हैं
दिव्यमाल्याम्बरधरम्	=	(तथा) जिनके गलेमें दिव्य मालाएँ हैं, जो अलौकिक वस्त्र पहने हुए हैं,
दिव्यगन्धानुलेपनम्	=	जिनके ललाट तथा शरीरपर दिव्य चन्दन, कुंकुम आदि लगा हुआ है,
सर्वाश्चर्यमयम्	=	ऐसे सम्पूर्ण आश्चर्यमय,
अनन्तम्	=	अनन्त रूपोंवाले (तथा)
विश्वतोमुखम्	=	सब तरफ मुखोंवाले
देवम्	=	देव-(अपने दिव्य स्वरूप-) को (भगवान्‌ने दिखाया)।

विशेष भाव—दूसरे अध्यायमें तो भगवान्‌के अंश जीवका सब कुछ आश्चर्यमय बताया गया है*, यहाँ भगवान्‌का सब कुछ आश्चर्यमय बताते हैं। भगवान्‌को ज्यों देखें, त्यों-ही विलक्षणता दीखती चली जाती है। भगवान्‌की विलक्षणता अनन्त है।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ १२॥

दिवि	=(अगर) आकाशमें	सा	=उन सबका	भासः	=प्रकाशके
युगपत्	=एक साथ	भाः	=प्रकाश (मिलकर)	सदृशी	=समान
सूर्यसहस्रस्य	=हजारों सूर्योंका	तस्य	=उस	यदि	=शायद ही
उत्थिता	=उदय	महात्मनः	=महात्मा-(विराट्‌रूप परमात्मा-) के	स्यात्	=हो अर्थात् नहीं हो सकता।
भवेत्	=हो जाय, (तो भी)				

विशेष भाव—हजारों सूर्योंका प्रकाश मिलकर भी भगवान्‌के प्रकाशकी बराबरी नहीं कर सकता; क्योंकि सूर्यमें जो तेज है, वह भी भगवान्‌से ही आया है†। अगर हजारों सूर्योंका प्रकाश हो तो भी है तो भौतिक ही, जबकि भगवान्‌का प्रकाश भौतिक नहीं है, प्रत्युत दिव्य है।

---

* **आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।**
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

(गीता २।२९)

'कोई इस शरीरीको आश्चर्यकी तरह देखता है और वैसे ही दूसरा कोई इसका आश्चर्यकी तरह वर्णन करता है तथा अन्य कोई इसको आश्चर्यकी तरह सुनता है; और इसको सुनकर भी कोई नहीं जानता अर्थात् यह दुर्विज्ञेय है।'

† **यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।**
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

(गीता १५।१२)

'सूर्यमें आया हुआ जो तेज सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्रमामें है तथा जो तेज अग्निमें है, उस तेजको मेरा ही जान।'

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ १३॥

तदा	=उस समय	**तत्र**	=उस	**प्रविभक्तम्**	=विभागोंमें विभक्त
पाण्डवः	=अर्जुनने	**शरीरे**	=शरीरमें	**कृत्स्नम्**	=सम्पूर्ण
देवदेवस्य	=देवोंके देव भगवान्के	**एकस्थम्**	=एक जगह स्थित	**जगत्**	=जगत्को
		अनेकधा	=अनेक प्रकारके	**अपश्यत्**	=देखा।

विशेष भाव—अर्जुनने भगवान्के शरीरमें एक जगह स्थित जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज, स्वेदज; स्थावर-जंगम; नभचर-जलचर-थलचर; चौरासी लाख योनियाँ; चौदह भुवन आदि अनेक विभागोंमें विभक्त जगत्को देखा। जगत् भले ही अनन्त हो, पर है वह भगवान्के एक अंशमें ही (गीता १०। ४२)! अर्जुन भगवान्के शरीरमें जहाँ भी दृष्टि डालते हैं, वहीं उनको अनन्त जगत् दीखता है!

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥ १४॥

ततः	=भगवान्के विश्वरूपको देखकर	**विस्मयाविष्टः**	=बहुत चकित हुए (और)	**कृताञ्जलिः**	=(वे) हाथ जोड़कर
		हृष्टरोमाः	=आश्चर्यके कारण उनका शरीर रोमाञ्चित हो गया।	**देवम्**	=विश्वरूप देवको
सः	=वे			**शिरसा**	=मस्तकसे
धनञ्जयः	=अर्जुन			**प्रणम्य**	=प्रणाम करके
				अभाषत	=बोले।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥

अर्जुन बोले—

देव	=हे देव! (मैं)	**भूतविशेषसङ्घान्**	=प्राणियोंके विशेष-विशेष समुदायोंको	**ईशम्**	=शंकरजीको,
तव	=आपके	**च**	=और	**सर्वान्**	=सम्पूर्ण
देहे	=शरीरमें	**कमलासनस्थम्**	=कमलासन-पर बैठे हुए	**ऋषीन्**	=ऋषियोंको
सर्वान्	=सम्पूर्ण	**ब्रह्माणम्**	=ब्रह्माजीको,	**च**	=और
देवान्	=देवताओंको			**दिव्यान्**	=दिव्य
तथा	=तथा			**उरगान्**	=सर्पोंको
				पश्यामि	=देख रहा हूँ।

विशेष भाव—अर्जुन भगवान्के विराट्‌रूपमें देवता, प्राणी, ब्रह्माजी, विष्णु, शंकरजी, ऋषि, नाग—इन सबका समूह देखते हैं। तात्पर्य है कि अर्जुन मृत्युलोकमें बैठे हुए ही देवलोक, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ, कैलास, नागलोक

आदि लोक देख रहे हैं। अतः जो कुछ भी कहने-सुननेमें आता है, वह सब-का-सब भगवान्‌के एक अंशमें स्थित है। भगवान् साकार हों या निराकार हों, बड़े-से-बड़े हों या छोटे-से-छोटे हों, उनका अनन्तपना नहीं मिटता। सम्पूर्ण सृष्टि उनसे ही उत्पन्न होती है, उनमें ही रहती है और उनमें ही लीन हो जाती है, पर वे वैसे-के-वैसे ही रहते हैं!

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं-
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं-
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ १६॥

विश्वरूप	= हे विश्वरूप!	**सर्वतः**	= सब ओरसे	**न**	= न
विश्वेश्वर	= हे विश्वेश्वर!	**अनन्तरूपम्**	= अनन्त रूपोंवाला	**मध्यम्**	= मध्यको
त्वाम्	= आपको (मैं)	**पश्यामि**	= देख रहा हूँ।	**पुनः**	= और
अनेकबाहूदर-वक्त्रनेत्रम्	= अनेक हाथों, पेटों, मुखों और नेत्रोंवाला (तथा)	**तव**	= (मैं) आपके	**न**	= न
		न	= न	**अन्तम्**	= अन्तको ही
		आदिम्	= आदिको,	**पश्यामि**	= देख रहा हूँ।

विशेष भाव—यहाँ भगवान्‌के विराट्‌रूपकी अनन्तताका वर्णन हुआ है। भगवान्‌के एक अंशमें भी अनन्तता है। जैसे स्याहीमें किस जगह कौन-सी लिपि नहीं है? सोनेमें किस जगह कौन-सा गहना नहीं है? ऐसे ही भगवान्‌में क्या नहीं है? अर्थात् भगवान्‌में स्वाभाविक ही सब कुछ है।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ १७॥

त्वाम्	= (मैं) आपको	**तेजोराशिम्**	= तेजकी राशि,	**दुर्निरीक्ष्यम्**	= नेत्रोंके द्वारा कठिनतासे देखे जानेयोग्य
किरीटिनम्	= किरीट (मुकुट),				
गदिनम्	= गदा,	**सर्वतः**	= सब ओर		
चक्रिणम्	= चक्र (तथा शंख और पद्म) धारण किये हुए	**दीप्तिमन्तम्**	= प्रकाशवाले,	**च**	= और
				समन्तात्	= सब तरफसे
		दीप्तानलार्कद्युतिम्	= देदीप्यमान अग्नि तथा सूर्यके समान कान्तिवाले,		
पश्यामि	= देख रहा हूँ। (आपको)			**अप्रमेयम्**	= अप्रमेयस्वरूप (देख रहा हूँ)।

विशेष भाव—'अप्रमेयम्'—परमात्माके सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सभी रूप अप्रमेय (अपरिमित) हैं और उनका अंश जीवात्मा भी अप्रमेय है—**'अनाशिनोऽप्रमेयस्य'** (गीता २। १८)। वे परमात्मा ज्ञानका विषय नहीं हैं; क्योंकि वे ज्ञानके भी ज्ञाता हैं—**'वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्'** (गीता १५। १५)।

'दुर्निरीक्ष्यम्'—भगवान्‌के द्वारा प्रदत्त दिव्यदृष्टिसे भी अर्जुन भगवान्‌के विराट्‌रूपको देखनेमें पूरे समर्थ नहीं

हो रहे हैं! इससे सिद्ध होता है कि भगवान‍्की दी हुई शक्तिसे भी भगवान‍्को पूरा नहीं जान सकते। भगवान् भी अपनेको पूरा नहीं जानते, यदि जान जायँ तो वे अनन्त कैसे रहेंगे?

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं-
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ १८॥

त्वम्	= आप (ही)	**विश्वस्य**	= सम्पूर्ण विश्वके	**अव्ययः**	= अविनाशी
वेदितव्यम्	= जाननेयोग्य	**परम्**	= परम	**सनातनः**	= सनातन
परमम्	= परम	**निधानम्**	= आश्रय हैं,	**पुरुषः**	= पुरुष हैं (—ऐसा)
अक्षरम्	= अक्षर (अक्षरब्रह्म) हैं,	**त्वम्**	= आप (ही)		
त्वम्	= आप (ही)	**शाश्वतधर्मगोप्ता**	= सनातनधर्मके रक्षक हैं	**मे**	= मैं
अस्य	= इस	**त्वम्**	= (और) आप (ही)	**मतः**	= मानता हूँ।

विशेष भाव—यहाँ **'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्'** पदोंसे निर्गुण-निराकारकी बात आयी है, **'त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्'** पदोंसे सगुण-निराकारकी बात आयी है और **'त्वं शाश्वतधर्मगोप्ता'** पदोंसे सगुण-साकारकी बात आयी है। तात्पर्य है कि निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार—ये सब मिलकर भगवान‍्का समग्ररूप है, जिसको जाननेपर फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता (गीता ७। २); क्योंकि उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं-
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ १९॥

त्वाम्	= आपको (मैं)	**अनन्तबाहुम्**	= अनन्त भुजाओंवाले,		वाले (और)
अनादिमध्यान्तम्	= आदि, मध्य और अन्तसे रहित,	**शशिसूर्यनेत्रम्**	= चन्द्र और सूर्य-रूप नेत्रोंवाले,	**स्वतेजसा**	= अपने तेजसे
				इदम्	= इस
				विश्वम्	= संसारको
अनन्तवीर्यम्	= अनन्त प्रभाव-शाली,	**दीप्तहुताशवक्त्रम्**	= प्रज्वलित अग्निरूप मुखों-	**तपन्तम्**	= तपाते हुए
				पश्यामि	= देख रहा हूँ।

विशेष भाव—इस श्लोकका तात्पर्य है कि भगवान् सब तरहसे अनन्त हैं। उनके तेजसे तपनेवाला विश्व भगवान‍्से अलग नहीं है। अतः तपानेवाला और तपनेवाला—दोनों ही भगवान‍्का स्वरूप हैं।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं-
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ २०॥

महात्मन्	= हे महात्मन्!	**दिशः**	= दिशाएँ	**अद्भुतम्**	= अद्भुत (और)
इदम्	= यह	**एकेन**	= एक	**उग्रम्**	= उग्र
द्यावापृथिव्योः	= स्वर्ग और पृथ्वीके	**त्वया**	= आपसे	**रूपम्**	= रूपको
		हि	= ही	**दृष्ट्वा**	= देखकर
अन्तरम्	= बीचका अन्तराल	**व्याप्तम्**	= परिपूर्ण हैं।	**लोकत्रयम्**	= तीनों लोक
च	= और	**तव**	= आपके	**प्रव्यथितम्**	= व्यथित (व्याकुल) हो रहे हैं।
सर्वाः	= सम्पूर्ण	**इदम्**	= इस		

विशेष भाव—इस श्लोकमें आये '**त्वयैकेन**' पदका तात्पर्य है कि असंख्य रूपोंमें एक आप ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'। आपके अनेक रूपोंकी कोई गणना नहीं कर सकता, पर उनमें हैं आप एक ही।

भगवान्‌में अनेक तरहकी अद्भुतता है। वे देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, रूप, ज्ञान, योग आदि सब दृष्टियोंसे अनन्त हैं। जिसको हमने देखा नहीं, सुना नहीं, जाना नहीं, समझा नहीं और जो हमारी कल्पनामें आया ही नहीं, वह सब विराट्‌रूपके अन्तर्गत है।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ २१॥

अमी	= वे	**प्राञ्जलयः**	= हाथ जोड़े हुए (आपके नामों और गुणोंका)	**स्वस्ति**	= 'कल्याण हो! मंगल हो!'
हि	= ही			**इति**	= ऐसा
सुरसङ्घाः	= देवताओंके समुदाय			**उक्त्वा**	= कहकर
त्वाम्	= आपमें	**गृणन्ति**	= कीर्तन कर रहे हैं।	**पुष्कलाभिः**	= उत्तम-उत्तम
विशन्ति	= प्रविष्ट हो रहे हैं।	**महर्षि-**		**स्तुतिभिः**	= स्तोत्रोंके द्वारा
केचित्	= (उनमेंसे) कई तो	**सिद्धसङ्घाः**	= महर्षियों और सिद्धोंके समुदाय	**त्वाम्**	= आपकी
भीताः	= भयभीत होकर			**स्तुवन्ति**	= स्तुति कर रहे हैं।

विशेष भाव—देवता, महर्षि, सिद्ध आदि सब भगवान्‌के ही विराट्‌रूपके अंग हैं। अतः प्रविष्ट होनेवाले, भयभीत होनेवाले, भगवान्‌के नामों और गुणोंका कीर्तन करनेवाले तथा स्तुति करनेवाले भी भगवान् हैं और जिनमें प्रविष्ट हो रहे हैं, जिनसे भयभीत हो रहे हैं, जिनके नामों और गुणोंका कीर्तन कर रहे हैं और जिनकी स्तुति कर रहे हैं, वे भी भगवान् हैं। यह भगवान्‌के सगुण रूपकी विलक्षणता है!

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या-
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा-
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ २२॥

ये = जो
रुद्रादित्याः = ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य,
वसवः = आठ वसु,
साध्याः = बारह साध्यगण,
विश्वे = दस विश्वेदेव
च = और
अश्विनौ = दो अश्विनीकुमार,
च = तथा
मरुतः = उन्चास मरुद्गण
च = और
ऊष्मपाः = गरम-गरम भोजन करनेवाले (सात पितृगण)
च = तथा
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घाः = गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके समुदाय हैं,
सर्वे, एव = (वे) सभी
विस्मिताः = चकित होकर
त्वाम् = आपको
वीक्षन्ते = देख रहे हैं।

विशेष भाव—रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव आदि सब-के-सब एक भगवान्के समग्ररूपके ही अंग हैं। अतः देखनेवाले और दीखनेवाले सभी एक परमात्मा ही हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं-
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं-
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ २३॥

महाबाहो = हे महाबाहो!
ते = आपके
बहुवक्त्रनेत्रम् = बहुत मुखों और नेत्रोंवाले,
बहुबाहूरुपादम् = बहुत भुजाओं, जंघाओं और चरणोंवाले,
बहूदरम् = बहुत उदरोंवाले (और)
बहुदंष्ट्राकरालम् = बहुत विकराल दाढ़ोंवाले
महत् = महान्
रूपम् = रूपको
दृष्ट्वा = देखकर
लोकाः = सब प्राणी
प्रव्यथिताः = व्यथित हो रहे हैं
तथा = तथा
अहम् = मैं भी (व्यथित हो रहा हूँ)।

विशेष भाव—दीखनेवाले और देखनेवाले, व्यथित करनेवाले और व्यथित होनेवाले सब प्राणी और स्वयं अर्जुन भी भगवान्के विराट्‌रूपके अन्तर्गत ही हैं।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं-
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ २४॥

हि	= क्योंकि	**व्यात्ताननम्**	= आपका मुख फैला हुआ है,	**प्रव्यथितान्तरात्मा**	= भयभीत अन्तःकरणवाला (मैं)
विष्णो	= हे विष्णो! (आपके)	**दीप्तविशाल-नेत्रम्**	= आपके नेत्र प्रदीप्त और विशाल हैं।	**धृतिम्**	= धैर्य
दीप्तम्	= देदीप्यमान	**त्वाम्**	= (ऐसे) आपको	**च**	= और
अनेकवर्णम्	= अनेक वर्ण हैं,	**दृष्ट्वा**	= देखकर	**शमम्**	= शान्तिको
नभःस्पृशम्	= आप आकाशको स्पर्श कर रहे हैं अर्थात् सब तरफसे बहुत बड़े हैं,			**न, विन्दामि**	= प्राप्त नहीं हो रहा हूँ।

विशेष भाव—यहाँ आया **'नभःस्पृशम्'** पद विराट्‌रूपकी अनन्तताका द्योतक है। अर्जुनकी दृष्टि जहाँतक जाती है, वहाँतक उनको विराट्‌रूप ही दीखता है—**'सा काष्ठा सा परा गतिः'** (कठ० १। ३। ११) अर्थात् वह परमात्मा सबकी परम अवधि और परम गति है।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ २५॥

ते	= आपके	**मुखानि**	= मुखोंको	**शर्म**	= शान्ति
कालानल-सन्निभानि	= प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित	**दृष्ट्वा**	= देखकर (मुझे)	**एव**	= ही
च	= और	**न**	= न तो	**लभे**	= मिल रही है। (इसलिये)
दंष्ट्राकरालानि	= दाढ़ोंके कारण विकराल (भयानक)	**दिशः**	= दिशाओंका	**देवेश**	= हे देवेश!
		जाने	= ज्ञान हो रहा है	**जगन्निवास**	= हे जगन्निवास!
		च	= और	**प्रसीद**	= (आप) प्रसन्न होइये।
		न	= न		

विशेष भाव—भगवान् तो प्रसन्न होकर ही अर्जुनको अपना विराट्‌रूप दिखा रहे हैं (गीता ११। ४७), पर उनके रूपकी उग्रताको देखकर अर्जुनको यह वहम हो रहा है कि भगवान् अप्रसन्न हैं। इसलिये वे भगवान्‌से प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करते हैं।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।

केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

अस्मदीयैः = हमारे पक्षके
योधमुख्यैः = मुख्य-मुख्य योद्धाओंके
सह = सहित
भीष्मः = भीष्म,
द्रोणः = द्रोण
तथा = और
असौ = वह
सूतपुत्रः = कर्ण
अपि = भी
त्वाम् = आपमें
विशन्ति = प्रविष्ट हो रहे हैं।
अवनिपाल-
सङ्घैः = राजाओंके समुदायोंके
सह = सहित
धृतराष्ट्रस्य = धृतराष्ट्रके
अमी = वे
एव = ही
सर्वे = सब-के-सब
पुत्राः = पुत्र
ते = आपके
दंष्ट्राकरालानि = विकराल दाढ़ोंके कारण
भयानकानि = भयंकर
वक्त्राणि = मुखोंमें
त्वरमाणाः = बड़ी तेजीसे
विशन्ति = प्रविष्ट हो रहे हैं।
केचित् = (उनमेंसे) कई-एक तो
चूर्णितैः = चूर्ण हुए
उत्तमाङ्गैः = सिरोंसहित
दशनान्तरेषु = (आपके) दाँतोंके बीचमें
विलग्नाः = फँसे हुए
सन्दृश्यन्ते = दीख रहे हैं।

विशेष भाव—अर्जुन भगवान्‌के विराट्‌रूपमें आसन्न भविष्यको देख रहे हैं। कालातीत होनेसे भगवान्‌में भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों काल वर्तमान ही हैं (गीता ७। २६)।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा-
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

यथा = जैसे
नदीनाम् = नदियोंके
बहवः = बहुत-से
अम्बुवेगाः = जलके प्रवाह
एव = (स्वाभाविक) ही
समुद्रम् = समुद्रके
अभिमुखाः = सम्मुख
द्रवन्ति = दौड़ते हैं,
तथा = ऐसे ही
अमी = वे
नरलोकवीराः = संसारके महान् शूरवीर
तव = आपके
अभिविज्वलन्ति = सब तरफसे देदीप्यमान
वक्त्राणि = मुखोंमें
विशन्ति = प्रवेश कर रहे हैं।

~~~

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा-
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

यथा = जैसे
पतङ्गाः = पतंगे (मोहवश)
नाशाय = (अपना) नाश करनेके लिये
समृद्धवेगाः = बड़े वेगसे दौड़ते हुए
प्रदीप्तम् = प्रज्वलित
ज्वलनम् = अग्निमें
विशन्ति = प्रविष्ट होते हैं,
~~~

तथा	=ऐसे	**नाशाय**	=(अपना) नाश करनेके लिये	**तव**	=आपके
एव	=ही			**वक्त्राणि**	=मुखोंमें
लोकाः	=ये सब लोग	**समृद्धवेगाः**	=बड़े वेगसे दौड़ते हुए	**विशन्ति**	=प्रविष्ट हो रहे हैं।
अपि	=भी (मोहवश)				

विशेष भाव—पिछले श्लोकमें नदियोंका और इस श्लोकमें पतंगोंका दृष्टान्त दिया गया है। पतंगे तो मोहवश लेनेकी इच्छासे खुद अग्निमें जाते हैं, पर नदियाँ अपने-आपको देनेके लिये समुद्रमें जाती हैं। अतः जो मनुष्य 'लेने' की इच्छा रखते हैं, वे पतंगोंके समान हैं और जो मनुष्य 'देने' की इच्छा रखते हैं, वे नदियोंके समान हैं। लेनेका भाव जड़ता है और देनेका भाव चेतनता है। लेनेकी भावनासे अशुभ कर्म और देनेकी भावनासे शुभ कर्म होते हैं। लेनेकी इच्छावालोंके लिये स्वर्ग है और देनेकी इच्छावालोंके लिये मोक्ष है। कारण कि लेनेका भाव बाँधनेवाला और देनेका भाव मुक्त करनेवाला होता है।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं-
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

ज्वलद्भिः	=(आप अपने) प्रज्वलित	**समन्तात्**	=सब ओरसे	**तेजोभिः**	=अपने तेजसे
		लेलिह्यसे	=बार-बार चाट रहे हैं;	**समग्रम्**	=सम्पूर्ण
वदनैः	=मुखोंद्वारा			**जगत्**	=जगत्‌को
समग्रान्	=सम्पूर्ण	**विष्णो**	=(और) हे विष्णो!	**आपूर्य**	=परिपूर्ण करके
लोकान्	=लोकोंका	**तव**	=आपका		
ग्रसमानः	=ग्रसन करते हुए (उन्हें)	**उग्राः**	=उग्र	**प्रतपन्ति**	=(सबको) तपा रहा है।
		भासः	=प्रकाश		

विशेष भाव—यहाँ **'लोकान्समग्रान्'** (लोकमात्र) तथा **'जगत्समग्रम्'** (जड़-चेतन, स्थावर-जंगमरूप जगन्मात्र) कहनेका तात्पर्य है कि यह सब कुछ भगवान्‌के ही समग्ररूपके अन्तर्गत है।

गीतामें भगवान्‌को भी समग्र कहा है—**'असंशयं समग्रं माम्'** (७। १), कर्मोंको भी समग्र कहा है—**'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रम्'** (४। २३) और संसारको भी समग्र कहा है (११। ३०)। इसका तात्पर्य है कि सब भगवान्‌के ही रूप हैं।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो-
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं-
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ ३१ ॥

मे	=मुझे यह	**भवान्**	=आप	**ते**	=आपको
आख्याहि	=बताइये कि	**कः**	=कौन हैं?	**नमः**	=नमस्कार
उग्ररूपः	=उग्र रूपवाले	**देववर**	=हे देवताओंमें श्रेष्ठ!	**अस्तु**	=हो।

प्रसीद	=(आप) प्रसन्न होइये।	**विज्ञातुम्**	=तत्त्वसे जानना	**तव**	=आपकी
आद्यम्	=आदिरूप	**इच्छामि**	=चाहता हूँ;	**प्रवृत्तिम्**	=प्रवृत्तिको
भवन्तम्	=आपको (मैं)	**हि**	=क्योंकि (मैं)	**न, प्रजानामि**	=भलीभाँति नहीं जानता।

विशेष भाव—भगवान्‌के ऐश्वर्ययुक्त उग्ररूपको देखकर अर्जुन इतने घबरा जाते हैं कि अपने ही सखा श्रीकृष्णसे पूछ बैठते हैं कि आप कौन हैं!

~~***~~

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो-
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ ३२॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ ३३॥

श्रीभगवान् बोले—

लोकक्षयकृत्	=(मैं) सम्पूर्ण लोकोंका नाश करनेवाला	**सर्वे**	=(वे) सब	**राज्यम्**	=राज्यको
प्रवृद्धः	=बढ़ा हुआ	**त्वाम्**	=तुम्हारे	**भुङ्क्ष्व**	=भोगो।
कालः	=काल	**ऋते**	=(युद्ध किये) बिना	**एते, एव**	=ये सभी
अस्मि	=हूँ (और)	**अपि**	=भी	**मया**	=मेरे द्वारा
इह	=इस समय (मैं)	**न**	=नहीं	**पूर्वम्**	=पहलेसे
लोकान्	=(इन सब) लोगोंका	**भविष्यन्ति**	=रहेंगे।	**एव**	=ही
समाहर्तुम्	=संहार करनेके लिये	**तस्मात्**	=इसलिये	**निहताः**	=मारे हुए हैं।
प्रवृत्तः	=(यहाँ) आया हूँ।	**त्वम्**	=तुम (युद्धके लिये)	**सव्यसाचिन्**	=हे सव्यसाचिन् अर्थात् दोनों हाथोंसे बाण चलानेवाले अर्जुन! (तुम इनको मारनेमें)
प्रत्यनीकेषु	=(तुम्हारे) प्रतिपक्षमें	**उत्तिष्ठ**	=खड़े हो जाओ (और)		
ये	=जो	**यशः**	=यशको		
योधाः	=योद्धालोग	**लभस्व**	=प्राप्त करो (तथा)		
अवस्थिताः	=खड़े हैं,	**शत्रून्**	=शत्रुओंको		
		जित्वा	=जीतकर	**निमित्तमात्रम्**	=निमित्तमात्र
		समृद्धम्	=धन-धान्यसे सम्पन्न	**भव**	=बन जाओ।

विशेष भाव—यहाँ कालरूपसे सबका संहार करना भगवान्‌की लीला है। इस लीलाको दिखाकर भगवान् अर्जुनसे मानो यह कहना चाहते हैं कि अगर तू युद्ध नहीं करेगा, तो भी तुम्हारे प्रतिपक्षी योद्धाओंका विनाश अवश्यम्भावी है।

'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'—निमित्तमात्र बननेका तात्पर्य यह नहीं है कि नाममात्रके लिये कर्म करो, प्रत्युत इसका तात्पर्य है कि अपनी पूरी-की-पूरी शक्ति लगाओ, पर अपनेको कारण मत मानो अर्थात् अपने उद्योगमें कमी भी मत रखो और अपनेमें अभिमान भी मत करो। भगवान्ने जो कुछ बल, विद्या, योग्यता आदि दी है, वह सब लगानेके लिये दी है; परन्तु अपना पूरा बल आदि लगाकर हम उनको प्राप्त नहीं कर सकते। प्राप्ति तो उनकी कृपासे ही होगी।

भगवान्ने अपनी ओरसे हमारेपर कृपा करनेमें कोई कमी नहीं रखी है। जैसे बछड़ा एक थनसे ही दूध पीता है, पर भगवान्ने गायको चार थन दिये हैं! ऐसे ही भगवान् चारों तरफसे हमारेपर कृपा कर रहे हैं! हमें तो निमित्तमात्र बनना है। अर्जुनके सामने तो युद्ध था, इसलिये भगवान् उनसे कहते हैं कि तुम निमित्तमात्र बनकर युद्ध करो, तुम्हारी विजय होगी। इसी तरह हमारे सामने संसार है; अतः हम भी निमित्तमात्र बनकर साधन करें तो संसारपर हमारी विजय हो जायगी।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा-
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ ३४॥

द्रोणम्	= द्रोण	**तथा**	= तथा	**जहि**	= मारो।
च	= और	**अन्यान्,**		**मा, व्यथिष्ठाः**	= तुम व्यथा मत करो
भीष्मम्	= भीष्म	**अपि**	= अन्य सभी	**युध्यस्व**	= (और) युद्ध करो।
च	= तथा	**मया**	= मेरे द्वारा	**रणे**	= युद्धमें (तुम निःसन्देह)
जयद्रथम्	= जयद्रथ	**हतान्**	= मारे हुए		
च	= और	**योधवीरान्**	= शूरवीरोंको	**सपत्नान्**	= वैरियोंको
कर्णम्	= कर्ण	**त्वम्**	= तुम	**जेतासि**	= जीतोगे।

विशेष भाव—भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि ये सभी शूरवीर मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। इससे यह समझना चाहिये कि साधकके राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि भी पहलेसे ही मारे हुए हैं अर्थात् सत्तारहित हैं। इनको हमने ही सत्ता और महत्ता देकर अपनेमें स्वीकार किया है। वास्तवमें इनकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २। १६)।

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं-
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ ३५॥

संजय बोले—

केशवस्य	= भगवान् केशवका	**वचनम्**	= वचन	**वेपमानः**	= (भयसे) काँपते हुए
एतत्	= यह	**श्रुत्वा**	= सुनकर	**किरीटी**	= किरीटधारी अर्जुन

कृताञ्जलिः	= हाथ जोड़कर	**एव**	= भी	**सगद्गदम्**	= गद्गद वाणीसे
नमस्कृत्वा	= नमस्कार करके (और)	**भूयः**	= फिर	**कृष्णम्**	= भगवान् कृष्णसे
भीतभीतः	= भयभीत होते हुए	**प्रणम्य**	= प्रणाम करके	**आह**	= बोले।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥ ३६॥

अर्जुन बोले—

हृषीकेश	= हे अन्तर्यामी भगवन्!	**अनुरज्यते**	= अनुराग (प्रेम) को प्राप्त हो रहा है।	**च**	= और
तव	= आपके	**भीतानि**	= (आपके नाम, गुण आदिके कीर्तनसे) भयभीत होकर	**सर्वे**	= सम्पूर्ण
प्रकीर्त्या	= (नाम, गुण, लीला–का) कीर्तन करनेसे			**सिद्धसङ्घाः**	= सिद्धगण
				नमस्यन्ति	= आपको नमस्कार कर रहे हैं।
जगत्	= यह सम्पूर्ण जगत्	**रक्षांसि**	= राक्षसलोग	**स्थाने**	= यह सब होना उचित ही है।
प्रहृष्यति	= हर्षित हो रहा है	**दिशः**	= दसों दिशाओंमें		
च	= और	**द्रवन्ति**	= भागते हुए जा रहे हैं		

विशेष भाव—यहाँ **'स्थाने'** पद पीछे और आगे—दोनों जगह आये श्लोकोंके लिये समझना चाहिये। भगवान्ने बत्तीसवें, तैंतीसवें और चौंतीसवें श्लोकोंमें जो बात कही थी और जो बात इस श्लोकमें कही है, उसके लिये अर्जुन कहते हैं कि 'प्रतिपक्षके सभी योद्धा मेरे द्वारा मारे हुए हैं, तू केवल निमित्त बन जा' आदि जो कुछ आपने कहा है, वह आपका कथन उचित ही है। 'आपके नाम, गुण आदिका कीर्तन करनेसे जगत् हर्षित हो रहा है और राक्षसलोग भयभीत होकर भाग रहे हैं' आदि जो हो रहा है, वह भी ठीक ही हो रहा है। आपके द्वारा ही यह सब लीला हो रही है, मेरे द्वारा नहीं।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ ३७॥

महात्मन्	= हे महात्मन्!	**आदिकर्त्रे**	= आदिकर्ता	**अनन्त**	= (क्योंकि) हे अनन्त!
गरीयसे	= गुरुओंके भी गुरु	**ते**	= आपके लिये (वे सिद्धगण)	**देवेश**	= हे देवेश!
च	= और	**कस्मात्,**		**जगन्निवास**	= हे जगन्निवास!
ब्रह्मणः	= ब्रह्माके	**न, नमेरन्**	= नमस्कार क्यों नहीं करें?	**त्वम्**	= आप
अपि	= भी			**अक्षरम्**	= अक्षरस्वरूप हैं;

सत्	=(आप) सत् भी हैं,	**तत्परम्**	=उनसे (सत्-असत्से) पर भी	**यत्**	=जो कुछ है, (वह भी आप ही हैं।)
असत्	=असत् भी हैं (और)				

विशेष भाव—नवें अध्यायमें आये **'सदसच्चाहम्'** (९। १९) पदसे और यहाँ आये **'सदसत्तत्परं यत्'** पदोंसे परमात्माके सगुण रूपकी अनन्तता, समग्रता सिद्ध होती है।

सत् और असत्—दोनों सापेक्ष होनेसे लौकिक हैं और जो इनसे परे है, वह निरपेक्ष होनेसे अलौकिक है। लौकिक और अलौकिक—दोनों ही समग्र परमात्माके रूप हैं। परमात्माकी परा और अपरा प्रकृति सत्-असत्से परे नहीं है, पर परमात्मा सत्-असत्से परे भी हैं—**'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय'** (गीता ७। ७)।

सगुण (समग्र) के अन्तर्गत तो निर्गुण आ सकता है, पर निर्गुणके अन्तर्गत सगुण नहीं आ सकता। कारण कि सगुणमें निर्गुणका निषेध नहीं है, जबकि निर्गुणमें गुणोंका निषेध है। अतः निर्गुण एकदेशीय होता है अर्थात् उसके अन्तर्गत सब कुछ नहीं आता। परन्तु सगुण (समग्र) के अन्तर्गत सब कुछ आ जाता है, कुछ भी बाकी नहीं रहता। इसलिये अर्जुन **'सदसत्तत्परं यत्'** पदोंसे मानो यह कहते हैं कि सत् भी आप हैं, असत् भी आप हैं और सत्-असत्के सिवाय जो भी हमारी कल्पनामें आ सकता है, वह भी आप ही हैं। ज्ञानकी दृष्टिसे जो न सत् कहा जा सकता है और न असत् कहा जा सकता है, वह अनिर्वचनीय तत्त्व भी आप ही हैं—**'न सत्तन्नासदुच्यते'** (गीता १३। १२)। तात्पर्य है कि आपके सिवाय न तो कोई हुआ है, न कोई है, न कोई होगा और न कोई हो ही सकता है अर्थात् केवल आप-ही-आप हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ ३८॥

त्वम्	=आप (ही)	**विश्वस्य**	=संसारके	**परम्**	=परम
आदिदेवः	=आदिदेव	**परम्**	=परम	**धाम**	=धाम
च	=और	**निधानम्**	=आश्रय हैं।	**असि**	=हैं।
पुराणः	=पुराण	**वेत्ता**	=(आप ही) सबको जाननेवाले,	**अनन्तरूप**	=हे अनन्तरूप!
पुरुषः	=पुरुष हैं (तथा)			**त्वया**	=आपसे (ही)
त्वम्	=आप (ही)	**वेद्यम्**	=जाननेयोग्य	**विश्वम्**	=सम्पूर्ण संसार
अस्य	=इस	**च**	=और	**ततम्**	=व्याप्त है।

विशेष भाव—अर्जुन भगवान्‌की कही बातको ही कह रहे हैं—**'आदिदेवः'**—इसको भगवान्‌ने **'अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः'** (१०। २) पदोंसे कहा था। यद्यपि प्रकृति भी अनादि है—**'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि'** (१३। १९), तथापि अनादि होते हुए भी प्रकृति परमात्माके अधीन, आश्रित है। कारण कि प्रकृति परमात्माकी परिवर्तनशील शक्ति है, पर परमात्मा किसीकी शक्ति नहीं हैं, प्रत्युत शक्तिमान् हैं।

'पुराणः'—इसको भगवान्‌ने **'पुराणम्'** (८। ९) पदसे कहा था। भगवान्‌से पुराना कोई नहीं है; क्योंकि वे कालातीत हैं।

'परं निधानम्'—इसको भगवान्‌ने **'निधानम्'** (९। १८) पदसे कहा था। सृष्टि अनन्त है, पर वह भी भगवान्‌के एक देशमें रहती है।

'वेत्ता'—इसको भगवान्‌ने **'वेदाहं समतीतानि०'** (७। २६) आदि पदोंसे कहा था।

'वेद्यम्'—इसको भगवान्‌ने **'वेद्यम्'** (९। १७) पदसे कहा था।

'**परं धाम**'—इसको भगवान्ने '**यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम**' (८। २१) पदोंसे कहा था।

'**त्वया ततं विश्वम्**'—इसको भगवान्ने '**येन सर्वमिदं ततम्**' (८। २२) और '**मया ततमिदं सर्वम्**' (९। ४) पदोंसे कहा था।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ ३९॥

त्वम्	= आप ही	**प्रपितामहः**	= प्रपितामह (ब्रह्मा-जीके भी पिता) हैं।	**च**	= और
वायुः	= वायु,	**ते**	= आपको	**पुनः**	= फिर
यमः	= यमराज,	**सहस्रकृत्वः**	= हजारों बार	**अपि**	= भी
अग्निः	= अग्नि,	**नमः**	= नमस्कार	**ते**	= आपको
वरुणः	= वरुण,	**अस्तु**	= हो!	**भूयः**	= बार-बार
शशाङ्कः	= चन्द्रमा,	**नमः**	= नमस्कार हो!	**नमः**	= नमस्कार हो!
प्रजापतिः	= दक्ष आदि प्रजापति			**नमः**	= नमस्कार हो!
च	= और				

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं-
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥ ४०॥

सर्व	= हे सर्वस्वरूप!	**सर्वतः**	= सब ओरसे (दसों दिशाओंसे)	**त्वम्**	= आपने
ते	= आपको	**एव**	= ही	**सर्वम्**	= सबको (एक देशमें)
पुरस्तात्	= आगेसे (भी)	**नमः**	= नमस्कार	**समाप्नोषि**	= समेट रखा है;
नमः	= नमस्कार हो	**अस्तु**	= हो।	**ततः**	= अतः
अथ	= और	**अनन्तवीर्य**	= हे अनन्तवीर्य!	**सर्वः**	= सब कुछ
पृष्ठतः	= पीछेसे (भी नमस्कार हो!)	**अमित-विक्रमः**	= असीम पराक्रमवाले	**असि**	= (आप ही) हैं।
ते	= आपको				

विशेष भाव—भगवान्के दिव्य विराट्रूपको देखकर अर्जुनने कहा कि आप अपने तेजसे संसारको संतप्त कर रहे हैं—'**स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्**' (११। १९) तो संतप्त करनेवाले और संतप्त होनेवाले—दोनों एक ही विराट्रूपके अंग हैं। भगवान्के उग्र रूपको देखकर तीनों लोक व्यथित (व्याकुल) हो रहे हैं—'**लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्**' (११। २०) तो व्यथित होनेवाली त्रिलोकी भी भगवान्के विराट्रूपका ही अंग है। भगवान्को देखकर देवता भयभीत होकर उनका गुणगान कर रहे हैं—'**केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति**' (११। २१) और राक्षसलोग भयभीत होकर दसों दिशाओंमें भाग रहे हैं—'**रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति**' (११। ३६) तो भयभीत होनेवाले

देवता और राक्षस भी भगवान्‌के विराट्‌रूपके ही अंग हैं। कारण कि ये देवता, राक्षस आदि कुरुक्षेत्रमें नहीं थे, प्रत्युत भगवान्‌के विराट्‌रूपमें ही अर्जुनको दीख रहे थे।

ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितृगण, सर्प, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, असुर, ऋषि-महर्षि, सिद्धगण, वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, सूर्य आदि और इनके सिवाय भीष्म, द्रोण, कर्ण, जयद्रथ आदि समस्त राजालोग—ये सब-के-सब दिव्य विराट्‌रूपके ही अंग हैं। इतना ही नहीं, अर्जुन, संजय, धृतराष्ट्र तथा कौरव और पाण्डवसेना भी उसी विराट्‌रूपके ही अंग हैं—'**सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः**'।

तात्पर्य है कि जड़-चेतन, स्थावर-जंगमरूपसे जो कुछ देखने, सुनने, सोचनेमें आ रहा है, वह सब अविनाशी भगवान् ही हैं। इसका अनुभव करनेके लिये साधकको दृढ़तासे यह मान लेना चाहिये कि चाहे मेरी समझमें आये या न आये, अनुभवमें आये या न आये, स्वीकार हो या न हो, पर बात यही सच्ची है। जैसे जलके एक कणमें और समुद्रमें एक ही जल-तत्त्व परिपूर्ण है, ऐसे ही छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक वस्तुमें एक ही परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है—ऐसा मानकर वह हर समय मन-ही-मन सबको नमस्कार करता रहे। उसको वृक्ष, नदी, पहाड़, पत्थर, दीवार आदि जो कुछ भी दीखे, उसमें अपने इष्ट भगवान्‌को देखकर वह प्रार्थना करे कि 'हे नाथ! मुझे अपना प्रेम प्रदान करो; हे प्रभो! आपको मेरा नमस्कार हो'। ऐसा करनेसे उसको सब जगह भगवान् दीखने लग जायँगे; क्योंकि वास्तवमें सब कुछ भगवान् ही हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं-
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं-
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥ ४१॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं-
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ ४२॥

तव	= आपकी	**प्रणयेन**	= प्रेमसे	**च**	= और
इदम्	= इस	**अपि**	= भी	**अच्युत**	= हे अच्युत!
महिमानम्	= महिमाको	**प्रसभम्**	= हठपूर्वक (बिना सोचे-समझे)	**अवहासार्थम्**	= हँसी-दिल्लगीमें,
अजानता	= न जानते हुए				
सखा	= 'मेरे सखा हैं'	**हे, कृष्ण**	= 'हे कृष्ण!	**विहारशय्यासन-**	
इति	= ऐसा	**हे, यादव**	= हे यादव!	**भोजनेषु**	= चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते समय
मत्वा	= मानकर	**हे, सखे**	= हे सखे!'		
मया	= मैंने	**इति**	= इस प्रकार		
प्रमादात्	= प्रमादसे	**यत्**	= जो कुछ		
वा	= अथवा	**उक्तम्**	= कहा है;	**एकः**	= अकेले

अथवा	= अथवा	**असत्कृतः**	= तिरस्कार (अपमान) किया गया	**तत्**	= वह सब
तत्समक्षम्	= उन (सखाओं, कुटुम्बियों आदि)के सामने	**असि**	= है;	**त्वाम्**	= आपसे
यत्	= (मेरे द्वारा आपका) जो कुछ	**अप्रमेयम्**	= हे अप्रमेयस्वरूप!	**अहम्**	= मैं
				क्षामये	= क्षमा करवाता हूँ अर्थात् आपसे क्षमा माँगता हूँ।

विशेष भाव—अर्जुनका भगवान्‌के साथ सखा भाव था, पर भगवान्‌के ऐश्वर्यको देखनेसे वे अपना सखा भाव भूल जाते हैं और भगवान्‌को देखकर आश्चर्य करते हैं, भयभीत होते हैं! उनके मनमें यह सम्भावना ही नहीं थी कि भगवान् ऐसे हैं!

~~~

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो-
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

त्वम्	= आप (ही)	**च**	= और	**त्वत्समः**	= आपके समान
अस्य	= इस	**गरीयान्**	= (आप ही) गुरुओंके	**अपि**	= भी
चराचरस्य	= चराचर	**गुरुः**	= महान् गुरु हैं।	**अन्यः**	= दूसरा कोई
लोकस्य	= संसारके	**अप्रतिम-प्रभाव**	= हे अनन्त प्रभावशाली भगवन्!	**न**	= नहीं
पिता	= पिता	**लोकत्रये**	= इस त्रिलोकीमें	**अस्ति**	= है, (फिर आपसे)
असि	= हैं,			**अभ्यधिकः**	= अधिक तो
पूज्यः	= (आप ही) पूजनीय हैं			**कुतः**	= हो ही कैसे सकता है!

विशेष भाव—अर्जुन लौकिक दृष्टिसे, संसारकी सत्ताको लेकर कहते हैं कि इस त्रिलोकीमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक कैसे हो सकता है! परन्तु वास्तविक दृष्टिसे जब भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं, तो फिर उसमें समान और अधिक कहना बनता ही नहीं।

~~~

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं-
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ ४४ ॥

तस्मात्	=इसलिये	**प्रसादये**	=प्रसन्न करना चाहता हूँ।	**प्रियः**	=पति (जैसे)
ईड्यम्	=स्तुति करनेयोग्य	**पिता**	=पिता	**प्रियाय**	=पत्नीके (अपमान सह लेता है),
त्वाम्	=आप	**इव**	=जैसे	**देव**	=(ऐसे ही) हे देव! (आप मेरे द्वारा किया गया अपमान)
ईशम्	=ईश्वरको	**पुत्रस्य**	=पुत्रके,	**सोढुम्**	=सहनेमें अर्थात् क्षमा करनेमें
अहम्	=मैं	**सखा**	=मित्र	**अर्हसि**	=समर्थ हैं।
कायम्	=शरीरसे	**इव**	=जैसे		
प्रणिधाय	=लम्बा पड़कर,	**सख्युः**	=मित्रके (और)		
प्रणम्य	=प्रणाम करके				

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं-
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ ४५॥

अदृष्टपूर्वम्	=जिसको पहले कभी नहीं देखा, उस रूपको	**भयेन**	=भयसे	**देवरूपम्**	=देवरूप (शान्त विष्णुरूप) को
दृष्ट्वा	=देखकर (मैं)	**मे**	=मेरा	**दर्शय**	=दिखाइये।
हृषितः	=हर्षित	**मनः**	=मन	**देवेश**	=हे देवेश!
अस्मि	=हो रहा हूँ	**प्रव्यथितम्**	=अत्यन्त व्यथित हो रहा है। (अतः आप)	**जगन्निवास**	=हे जगन्निवास!
च	=और (साथ-ही-साथ)	**मे**	=मुझे (अपने)	**प्रसीद**	=(आप) प्रसन्न होइये।
		तत्, एव	=उसी		

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ ४६॥

अहम्	=मैं	**किरीटिनम्**	=किरीट-(मुकुट) धारी,		हुए अर्थात् चतुर्भुज-रूपसे
त्वाम्	=आपको	**गदिनम्**	=गदाधारी (और)	**द्रष्टुम्**	=देखना
तथा	=वैसे	**चक्रहस्तम्**	=हाथमें चक्र लिये	**इच्छामि**	=चाहता हूँ।
एव	=ही				

	(इसलिये)	**तेन, एव**	=उसी		पद्मसहित)
सहस्रबाहो	=हे सहस्रबाहो!	**चतुर्भुजेन, रूपेण**	=चतुर्भुज-रूपसे	**भव**	=हो
विश्वमूर्ते	=हे विश्वमूर्ते! (आप)		(शंख-चक्र-गदा-		जाइये।

विशेष भाव—यद्यपि मूल श्लोकमें भगवान्‌को गदा और चक्र धारण किये हुए बताया गया है, तथापि '**चतुर्भुजेन**' पद आनेसे यहाँ चारों भुजाओंमें गदा और चक्रके साथ-साथ शंख और पद्म भी समझ लेने चाहिये।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं-
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं-
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ ४७॥

श्रीभगवान् बोले—

अर्जुन	=हे अर्जुन!	**परम्**	=अत्यन्त श्रेष्ठ,	**तव**	=तुझे
मया	=मैंने	**तेजोमयम्**	=तेजस्वरूप,	**दर्शितम्**	=दिखाया है,
प्रसन्नेन	=प्रसन्न होकर	**आद्यम्**	=सबका आदि (और)	**यत्**	=जिसको
आत्मयोगात्	=अपनी सामर्थ्यसे	**अनन्तम्**	=अनन्त	**त्वदन्येन**	=तुम्हारे सिवाय
मे	=मेरा	**विश्वम्**	=विश्व-	**न, दृष्टपूर्वम्**	=पहले किसीने नहीं
इदम्	=यह	**रूपम्**	=रूप		देखा है।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ ४८॥

कुरुप्रवीर	=हे कुरुश्रेष्ठ!	**न, वेदयज्ञाध्ययनैः**	= न वेदोंके पाठसे,	**दानैः**	=दानसे,
नृलोके	=मनुष्यलोकमें		न यज्ञोंके अनुष्ठान-	**न**	=न
एवंरूपः	=इस प्रकारके		से, न शास्त्रोंके	**उग्रैः**	=उग्र
	विश्वरूपवाला		अध्ययनसे,*	**तपोभिः**	=तपोंसे
अहम्	=मैं	**न**	=न	**च**	=और

* अगर 'वेदयज्ञाध्ययनैः' पदका अर्थ 'वेदोंका अध्ययन और यज्ञोंका अनुष्ठान' लिया जाय तो वेदोंके अध्ययनके अन्तर्गत शास्त्रोंका अध्ययन भी आ जाता है; क्योंकि सभी शास्त्र वेदोंका ही अनुगमन करते हैं। परन्तु खुलासा करनेके लिये यहाँ शास्त्रोंका अध्ययन अलगसे लिया गया है।

न	=न	**त्वदन्येन**	=तेरे (कृपापात्रके) सिवाय और किसीके द्वारा	**द्रष्टुम्**	=देखा जा
क्रियाभिः	=मात्र क्रियाओंसे			**शक्यः**	=सकता हूँ।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो-
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं-
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ ४९॥

इदम्	=यह	**मा**	=नहीं होनी चाहिये	**त्वम्**	=तू
मम	=मेरा	**च**	=और	**पुनः**	=फिर
ईदृङ्	=इस प्रकारका	**विमूढभावः**	=विमूढभाव (भी)	**तत्, एव**	=उसी
घोरम्	=उग्र	**मा**	=नहीं होना चाहिये। (अब)	**मे**	=मेरे
रूपम्	=रूप			**इदम्**	=इस (चतुर्भुज)
दृष्ट्वा	=देखकर	**व्यपेतभीः**	=निर्भय (और)	**रूपम्**	=रूपको
ते	=तुझे	**प्रीतमनाः**	=प्रसन्न मनवाला होकर	**प्रपश्य**	=अच्छी तरह देख ले।
व्यथा	=व्यथा				

विशेष भाव—अर्जुनने घबराकर भगवान्‌से कहा—**'तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्'** (११। ४२) तो भगवान् यहाँ कहते हैं कि मैं चाहे शान्त अथवा उग्र किसी भी रूपमें दिखायी दूँ, हूँ तो मैं तुम्हारा सखा ही! तुम डर गये तो यह तुम्हारी मूढ़ता है, मित्रतामें ढिलाई है! जो कुछ दीख रहा है, वह सब मेरी ही लीला है। इसमें घबरानेकी क्या बात है? मित्रतामें कौन बड़ा और कौन छोटा?

भगवान् ही जगत्-रूपसे प्रकट हुए हैं, इसलिये यह जगत् भगवान्‌का आदि अवतार कहा जाता है—**'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य'** (श्रीमद्भा० २। ६। ४१)। जैसे भगवान्‌ने राम, कृष्ण आदि रूपोंसे अवतार लिया है, ऐसे ही जगत्-रूपसे भी अवतार लिया है। इसको अवतार इसलिये कहा है कि इसमें भगवान् दृश्यरूपसे दीखनेमें आ जाते हैं। अवतारके समय लौकिक दृष्टिसे दीखनेपर भी भगवान् सदा अलौकिक ही रहते हैं*। परन्तु राग-द्वेषके कारण अज्ञानियोंको भगवान् लौकिक दीखते हैं (गीता ७। २४-२५, ९। ११)।

भगवान् शान्त अथवा उग्र किसी भी रूपमें आयें, उनकी मरजी है। सुन्दर दृश्य हो, पुष्प खिले हों, सुगन्ध आ रही हो तो वह भी भगवान्‌का रूप है और मांस, हड्डियाँ, मैला पड़ा हो, दुर्गन्ध आ रही हो तो वह भी भगवान्‌का रूप है। भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है। भगवान्‌ने राम, कृष्ण आदि रूप भी धारण किये और मत्स्य, कच्छप,

---

* **अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।**
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(गीता ४। ६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

वराह आदि रूप भी धारण किये। वे कोई भी रूप धारण करें, हैं तो भगवान् ही! रूप तो भगवान्का है और क्रिया उनकी लीला है। कोई पाप, अन्याय करता हुआ दीखे तो समझे कि भगवान् कलियुगकी लीला कर रहे हैं। वे जैसा रूप धारण करते हैं, वैसी ही लीला (क्रिया) करते हैं*। मूर्तिका रूप (अर्चावतार) धारण करके वे मूर्तिकी तरह ही अचल रहनेकी लीला करते हैं। मूर्तिरूप धारण करके क्रिया करनेमें शोभा नहीं है, प्रत्युत क्रिया न करनेमें ही शोभा है, अन्यथा वह अर्चावतार कैसे रहेगा? वराह (सूअर) का रूप धारण करके वे वराहकी तरह क्रिया करते हैं और मनुष्यका रूप धारण करके वे मनुष्यकी तरह क्रिया करते हैं†। वे कोई भी रूप धारण करके कैसी ही क्रिया करें, उससे भक्तोंके हृदयमें कोई विकार नहीं होता; क्योंकि उनकी दृष्टिमें एक भगवान्के सिवाय और कुछ है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं।

हमें जो संसार दीखता है, यह भगवान्का विराट्रूप नहीं है; क्योंकि विराट्रूप तो दिव्य और अव्यय है, पर दीखनेवाला संसार भौतिक और नाशवान् है। जैसे हमें भौतिक वृन्दावन तो दीखता है, पर उसके भीतरका दिव्य वृन्दावन नहीं दीखता, ऐसे ही हमें भौतिक विश्व तो दीखता है, पर उसके भीतरका दिव्य विश्व (विराट्रूप) नहीं दीखता, ऐसा दीखनेमें कारण है—सुखभोगकी इच्छा। भोगेच्छाके कारण ही जड़ता, भौतिकता, मलिनता आयी है। अगर भोगेच्छाको लेकर संसारमें आकर्षण न हो तो सब कुछ चिन्मय विराट्रूप ही है।

तत्त्वबोध होनेपर ज्ञानीको तो संसार चिन्मयरूपसे दीखता है, पर प्रेमी भक्तको वह माधुर्यरूपसे दीखता है। माधुर्यरूपसे दीखनेपर जैसे अपने शरीरमें सबकी स्वाभाविक प्रियता होती है, ऐसे ही भक्तकी मात्र प्राणियोंके साथ स्वाभाविक प्रियता होती है। परन्तु अर्जुनने ऐश्वर्यरूपसे भगवान्का विराट्रूप देखा था; क्योंकि वे वही रूप देखना चाहते थे—**'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम'** (११। ३)। माधुर्यमें प्रियता विशेष होती है और ऐश्वर्यमें प्रभाव विशेष होता है। तात्पर्य है कि दिव्य विराट्रूप एक होनेपर भी भावनाके अनुसार अनेक रूपोंमें दीखता है और अनेकरूपसे दीखनेपर भी एक ही रहता है। एकतामें अनेकता और अनेकतामें एकता भगवान्की विलक्षणता, अलौकिकता, विचित्रता है।

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं-
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥ ५०॥

संजय बोले—

वासुदेवः	= वासुदेव भगवान्ने	**भूयः**	= फिर	**दर्शयामास**	= दिखाया
अर्जुनम्	= अर्जुनसे	**तथा**	= उसी प्रकारसे	**च**	= और
इति	= ऐसा	**स्वकम्**	= अपना	**महात्मा**	= महात्मा श्रीकृष्णने
उक्त्वा	= कहकर	**रूपम्**	= रूप (देवरूप)	**पुनः**	= पुनः

* **जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।**
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥ (मानस, उत्तर० ७२ ख)

† देखें, गीता ४/९ की परिशिष्ट-व्याख्या

सौम्यवपुः	=सौम्यरूप (द्विभुज मानुषरूप)	**एनम्**	=इस	**आश्वासयामास**	=आश्वासन दिया।
भूत्वा	=होकर	**भीतम्**	=भयभीत अर्जुनको		

~~~

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥ ५१॥

अर्जुन बोले—

जनार्दन	=हे जनार्दन!	**रूपम्**	=रूपको	**अस्मि**	=हूँ (और)
तव	=आपके	**दृष्ट्वा**	=देखकर (मैं)	**प्रकृतिम्**	=अपनी स्वाभाविक स्थितिको
इदम्	=इस	**इदानीम्**	=इस समय		
सौम्यम्	=सौम्य	**सचेताः**	=स्थिरचित्त	**गतः**	=प्राप्त हो गया हूँ।
मानुषम्	=मनुष्य-	**संवृत्तः**	=हो गया		

विशेष भाव— भगवान्का सौम्यरूप द्विभुज होनेके कारण अर्जुनने उसको मनुष्यरूप कहा है। भगवान् श्रीकृष्ण द्विभुज थे। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें आया है—

त्वमेव भगवानाद्यो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
अर्द्धाङ्गो द्विभुजः कृष्णोऽप्यर्द्धाङ्गेन चतुर्भुजः॥

(प्रकृति० १२। १५)

'आप सबके आदि, निर्गुण और प्रकृतिसे अतीत भगवान् ही अपने आधे अंगसे द्विभुज कृष्ण और आधे अंगसे चतुर्भुज विष्णुके रूपमें प्रकट हुए हैं।'

द्विभुजो राधिकाकान्तो लक्ष्मीकान्तश्चतुर्भुजः।
गोलोके द्विभुजस्तस्थौ गोपैर्गोपीभिरावृतः॥
चतुर्भुजश्च वैकुण्ठं प्रययौ पद्मया सह।
सर्वांशेन समौ तौ द्वौ कृष्णनारायणौ परौ॥

(प्रकृति० ३५। १४-१५)

'द्विभुज कृष्ण राधिकापति हैं और चतुर्भुज विष्णु लक्ष्मीपति हैं। कृष्ण गोप-गोपियोंसे आवृत होकर गोलोकमें और विष्णु लक्ष्मीके साथ (पार्षदोंसहित) वैकुण्ठमें स्थित हैं। वे कृष्ण और विष्णु—दोनों सब प्रकारसे समान अर्थात् एक ही हैं।'

तात्पर्य है कि द्विभुजरूप (कृष्ण), चतुर्भुजरूप (विष्णु) और सहस्रभुजरूप (विराट्रूप)—तीनों एक ही समग्र भगवान्के रूप हैं।

~~~

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥ ५२॥

श्रीभगवान् बोले—

मम	=मेरा	**सुदुर्दर्शम्**	=इसके दर्शन अत्यन्त ही दुर्लभ हैं।	**रूपस्य**	=रूपको
इदम्	=यह				
यत्	=जो			**नित्यम्,**	
रूपम्	=(चतुर्भुज) रूप	**देवाः**	=देवता	**दर्शनकाङ्क्षिणः**	=देखनेके लिये नित्य लालायित रहते हैं।
दृष्टवान्,		**अपि**	=भी		
असि	=(तुमने) देखा है,	**अस्य**	=इस		

विशेष भाव—यद्यपि देवताओंका शरीर दिव्य होता है, पर भगवान्का शरीर उससे भी विलक्षण होता है। देवताओंका शरीर भौतिक तेजोमय और भगवान्का शरीर चिन्मय होता है। भगवान्का शरीर सत्-चित्-आनन्दमय, नित्य, अलौकिक और अत्यन्त दिव्य होता है*। अतः देवता भी भगवान्को देखनेके लिये लालायित रहते हैं। जैसे साधारण लोगोंमें नये-नये स्थान देखनेका शौक रहता है, ऐसे ही देवताओंमें भगवान्को देखनेका शौक है, प्रेम नहीं। तात्पर्य है कि जैसे भक्त प्रेमपूर्वक भगवान्को देखना चाहते हैं, ऐसे देवता नहीं देखना चाहते। इसलिये भगवान् प्रेमी भक्तोंके तो अधीन हैं, पर देवताओंके अधीन नहीं हैं।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ ५३॥

यथा	=जिस प्रकार (तुमने)	**अहम्**	=(चतुर्भुज रूपवाला) मैं	**दानेन**	=दानसे
		न	=न तो	**च**	=और
माम्	=मुझे	**वेदैः**	=वेदोंसे,	**न**	=न
दृष्टवान्	=देखा	**न**	=न	**इज्यया**	=यज्ञसे ही
असि	=है,	**तपसा**	=तपसे,	**द्रष्टुम्**	=देखा
एवंविधः	=इस प्रकारका	**न**	=न	**शक्यः**	=जा सकता हूँ।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ ५४॥

* **चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥**
(मानस, अयोध्या० १२७। ३)

तु	= परन्तु	**अनन्यया,**		**द्रष्टुम्**	= (साकाररूपसे) देखनेमें
परन्तप	= हे शत्रुतापन	**भक्त्या**	= (केवल) अनन्य-भक्तिसे ही		
अर्जुन	= अर्जुन!			**च**	= तथा
एवंविधः	= इस प्रकार	**तत्त्वेन**	= तत्त्वसे	**प्रवेष्टुम्**	= प्रवेश (प्राप्त) करनेमें
अहम्	= (चतुर्भुजरूपवाला) मैं	**ज्ञातुम्**	= जाननेमें		
		च	= और	**शक्यः**	= शक्य हूँ।

विशेष भाव—जहाँ भगवान्‌ने ज्ञानकी परानिष्ठा बतायी है, वहाँ ज्ञानसे केवल जानना और प्रवेश करना—ये दो ही बताये हैं—**'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'** (गीता १८। ५५) परन्तु यहाँ भक्तिसे जानना, देखना और प्रवेश करना—ये तीनों बताये हैं। भक्तिसे भगवान्‌के दर्शन भी हो सकते हैं—यह भक्तिकी विशेषता है, जबकि ज्ञानकी परानिष्ठा होनेपर भी भगवान्‌के दर्शन नहीं होते। अतः भक्तिकी विशेष महिमा है। भक्तिमें समग्रकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मकी प्राप्तिमें जानना और प्रवेश करना—ये दो बातें हो सकती हैं, पर समग्रकी प्राप्तिमें जानना, प्रवेश करना और देखना—ये तीनों बातें होती हैं। कारण कि एकदेशीयमें एकदेशीयता होती है और समग्रमें समग्रता होती है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ ५५॥

पाण्डव	= हे पाण्डव!		(और)	**सर्वभूतेषु**	= प्राणिमात्रके साथ
यः	= जो	**मद्भक्तः**	= मेरा ही प्रेमी भक्त है (तथा)	**निर्वैरः**	= वैरभावसे रहित है,
मत्कर्मकृत्	= मेरे लिये ही कर्म करनेवाला,			**सः**	= वह भक्त
		सङ्गवर्जितः	= सर्वथा आसक्ति-रहित (और)	**माम्**	= मुझे
मत्परमः	= मेरे ही परायण			**एति**	= प्राप्त होता है।

विशेष भाव—जिस भक्तिसे भगवान् चतुर्भुजरूपसे देखे जा सकते हैं, उस भक्तिका स्वरूप बताते हैं कि मनुष्य संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके सर्वथा मेरे परायण हो जाय। **'मत्कर्मकृत्'**—यह स्थूलशरीरसे भगवान्‌के परायण होना है, **'मत्परमः'**—यह सूक्ष्म तथा कारणशरीरसे भगवान्‌के परायण होना है, और **'मद्भक्तः'**—यह स्वयंसे भगवान्‌के परायण होना है; क्योंकि 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—यह स्वयंकी स्वीकृति है।

'स मामेति' पदोंसे समग्रकी प्राप्ति बतायी गयी है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

(बारहवाँ अध्याय)

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

अर्जुन बोले—

ये	=जो	**त्वाम्**	=आप (सगुण-साकार)की	**अव्यक्तम्**	=निर्गुण-निराकारकी
भक्ताः	=भक्त	**पर्युपासते**	=उपासना करते हैं	**अपि**	=ही (उपासना करते हैं),
एवम्	=इस प्रकार (ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकके अनुसार)	**च**	=और	**तेषाम्**	=उन दोनोंमेंसे
सततयुक्ताः	= निरन्तर आपमें लगे रहकर	**ये**	=जो	**योगवित्तमाः**	=उत्तम योगवेत्ता
		अक्षरम्	=अविनाशी	**के**	=कौन हैं?

विशेष भाव—'योगशास्त्र' होनेसे गीतामें 'योग' मुख्य है। अतः असली योगवेत्ता कौन है?—यह अर्जुनका प्रश्न है। योगवेत्ताओंकी तीन श्रेणियाँ हैं—(१) योगवित् अर्थात् योगी (२) योगवित्तर अर्थात् दो योगियोंमें श्रेष्ठ योगी और (३) योगवित्तम अर्थात् सम्पूर्ण योगियोंमें श्रेष्ठ योगी। अर्जुनको 'योगवित्' और 'योगवित्तर' के विषयमें सन्देह नहीं है, प्रत्युत 'योगवित्तम' के विषयमें सन्देह है।

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—

मयि	=मुझमें	**परया**	=परम	**ते**	=वे
मनः	=मनको	**श्रद्धया**	=श्रद्धासे	**मे**	=मेरे
आवेश्य	=लगाकर	**उपेताः**	=युक्त होकर	**मताः**	=मतमें
नित्ययुक्ताः	=नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए	**माम्**	=मेरी (सगुण-साकार की)	**युक्ततमाः**	=सर्वश्रेष्ठ योगी हैं।
ये	=जो भक्त	**उपासते**	=उपासना करते हैं,		

विशेष भाव—'स योगी परमो मतः' (गीता ६। ३२), **'स मे युक्ततमो मतः'** (गीता ६। ४७), **'ते मे युक्ततमा मताः'** (गीता १२। २)—इस प्रकार भगवान्ने जो श्रेष्ठताकी बात कही है, इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि किसी भी मार्गसे चले, वास्तवमें श्रेष्ठ वही है, जिसको भक्ति प्राप्त हो गयी है। कर्मयोगी और ज्ञानयोगीको तो अन्तमें भक्ति प्राप्त होती है, पर भक्तियोगी आरम्भसे ही भक्तिमें लगा है (जो कि

कर्मयोग तथा ज्ञानयोगका फल है), इसलिये वह सबसे श्रेष्ठ है।

ज्ञान और भक्ति—दोनों ही संसारका दु:ख दूर करनेमें समान हैं; परन्तु दोनोंमें ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी महिमा अधिक है। ज्ञानमें तो अखण्डरसकी प्राप्ति होती है, पर भक्तिमें अनन्तरसकी प्राप्ति होती है। अनन्तरसमें प्रतिक्षण बढ़नेवाला, लहरोंवाला, उछालवाला एक बहुत विलक्षण आनन्द है। जैसे संसारमें किसी वस्तुका ज्ञान होता है कि 'ये रुपये हैं; यह घड़ी है' आदि, तो यह ज्ञान केवल अज्ञान (अनजानपने) को मिटाता है, ऐसे ही तत्त्वज्ञान केवल अज्ञानको मिटाता है। अज्ञान मिटनेसे दु:ख, भय, जन्म-मरणरूप बन्धन—ये सब मिट जाते हैं। परन्तु प्रेम (भक्ति) ज्ञानसे भी विलक्षण है। ज्ञान भगवान्‌तक नहीं पहुँचता, पर प्रेम भगवान्‌तक पहुँचता है। ज्ञानका अनुभव करनेवाला तो स्वयं होता है, पर प्रेमका अनुभव करनेवाले और ज्ञाता भगवान् होते हैं! भगवान् ज्ञानके भूखे नहीं हैं, प्रत्युत प्रेमके भूखे हैं। मुक्त होनेपर तो ज्ञानयोगी सन्तुष्ट, तृप्त हो जाता है (गीता ३। १७), पर प्रेम प्राप्त होनेपर भक्त सन्तुष्ट नहीं होता, प्रत्युत उसका आनन्द उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। अत: आखिरी तत्त्व प्रेम है, मुक्ति नहीं।

जैसे 'ये रुपये हैं'—ऐसा ज्ञान हो गया तो अनजानपना मिट गया; परन्तु उनको पानेका लोभ हो जाय कि 'और मिले, और मिले' तो उसमें एक विशेष रस आता है। ऐसे ही भक्तिमें एक विशेष रस आता है। तात्पर्य है कि संसारमें जैसे रुपयोंमें आकर्षित करनेकी शक्ति लोभमें ही है, ऐसे ही भगवान्‌में आकर्षित करनेकी शक्ति प्रेममें ही है, ज्ञानमें नहीं। धनका लोभ तो अधिक पतन करता है, पर प्रेम ज्ञानसे भी अधिक उन्नत करता है। वस्तुके आकर्षणमें जो रस है, वह रस वस्तुमें और वस्तुके ज्ञानमें नहीं है।

विवेकमार्ग (ज्ञानयोग) में सत् और असत्—दोनोंकी मान्यता साथ-साथ रहनेसे असत्‌की अति सूक्ष्म सत्ता अर्थात् अति सूक्ष्म अहम् दूरतक साथ रहता है। यह सूक्ष्म अहम् अथवा अहम्‌का संस्कार मुक्त होनेपर भी रहता है। यह सूक्ष्म अहम् जन्म-मरण देनेवाला तो नहीं होता, पर यह ईश्वरसे अभिन्न होनेमें बाधक होता है। इसलिये विवेकमार्गमें ज्ञानियोंकी अथवा दार्शनिकोंकी मुक्ति तो हो सकती है, पर ईश्वरके साथ अभिन्नता अर्थात् प्रेम हो जाय—यह नियम नहीं है। इस सूक्ष्म अहम्‌के कारण ही दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें परस्पर मतभेद रहता है। परन्तु विश्वासमार्ग (भक्तियोग) में आरम्भसे ही भक्त एक ईश्वरके सिवाय और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता। इसलिये वह ईश्वरके साथ अभिन्न हो जाता है। ईश्वरके साथ अभिन्न होनेपर अर्थात् प्रेमका उदय होनेपर सूक्ष्म अहम् तथा उससे पैदा होनेवाले सम्पूर्ण दार्शनिक मतभेद सर्वथा मिट जाते हैं* अर्थात् द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि जितने भी मतभेद हैं, वे सब वासुदेवरूप हो जाते हैं, जो कि वास्तवमें है। इसलिये '**वासुदेव: सर्वम्**' का अनुभव करनेवाले प्रेमी भक्तके हृदयमें किसी एक मतका आग्रह नहीं रहता, प्रत्युत सबका समान आदर रहता है। किसी एक मतका आग्रह न होनेसे उसके द्वारा किसीका भी कभी अनादर नहीं होता। तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञानकी एकतासे प्रेमकी एकता श्रेष्ठ है। ज्ञानमें परमात्मासे दूरी और भेद तो मिट जाते हैं, पर अभिन्नता (मिलन) नहीं होती। परन्तु प्रेममें दूरी, भेद और भिन्नता—तीनों ही मिट जाते हैं। इसलिये वास्तविक अद्वैत प्रेममें ही है। प्रेममें इतनी शक्ति है कि इसमें भक्त भगवान्‌का भी इष्ट हो जाता है! ज्ञानमार्गवाले मुक्तिको सबसे ऊँची चीज मानते हैं, फिर वे मुक्तिसे भी आगेकी चीज प्रेम (प्रेमाभक्ति या पराभक्ति) को कैसे समझें? मुक्तिमें तो अखण्ड रस है, पर प्रेममें अनन्त (प्रतिक्षण वर्धमान) रस है। प्रेम मुक्ति, तत्त्वज्ञान, स्वरूप-बोध, आत्मसाक्षात्कार, कैवल्यसे भी आगेकी चीज है†!

कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों लौकिक निष्ठाएँ हैं‡; परन्तु भक्तियोग लौकिक निष्ठा अर्थात् प्राणीकी

---

* **प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥**
(मानस, उत्तर० ४९। ३)

† **द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते मनीषया।**
भक्त्यर्थं कल्पितं (स्वीकृतं) द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥ (बोधसार, भक्ति० ४२)

'बोधसे पहलेका द्वैत मोहमें डालता है, पर बोध हो जानेपर भक्तिके लिये स्वीकृत द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

‡ **लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।**
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (गीता ३। ३)

निष्ठा नहीं है। जो भगवान्‌में लग जाता है, वह भगवन्निष्ठ होता है अर्थात् उसकी निष्ठा अलौकिक होती है। उसके साधन और साध्य—दोनों भगवान् ही होते हैं। इसलिये भक्तियोग साधन भी है और साध्य भी, तभी कहा है—'**भक्त्या सञ्जातया भक्त्या**' (श्रीमद्भा० ११। ३। ३१) अर्थात् भक्तिसे भक्ति पैदा होती है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यह नौ प्रकारकी 'साधन भक्ति' है* और इससे आगे प्रेमलक्षणा भक्ति 'साध्य भक्ति' है, जो कर्मयोग और ज्ञानयोग सबकी साध्य है।† यह साध्य भक्ति ही सर्वोपरि प्रापणीय तत्त्व है।

ज्ञानयोगमें साधक सत्-असत्‌के विवेकको महत्त्व देकर असत्‌का त्याग करता है। असत्‌का त्याग करनेसे त्यागीकी और त्याज्य वस्तुकी सत्ता भावरूपसे बहुत दूरतक साथ रहती है, इसलिये ज्ञानयोगमें असत्‌का सर्वथा त्याग बहुत देरीसे होता है। कर्मयोगमें साधक असत् वस्तुओंको त्याज्य न मानकर सेवा-सामग्री मानता है। त्याग करनेमें निकृष्ट वस्तु तो सुगमतासे छूटती है, पर अच्छी वस्तुको छोड़ना कठिन होता है। अतः अच्छी वस्तुका त्याग करनेकी अपेक्षा उसको दूसरेकी सेवामें लगाना सुगम पड़ता है। निष्कामभावपूर्वक दूसरोंकी सेवामें लगानेसे असत्‌का त्याग सुगमतासे और जल्दी हो जाता है। भक्तियोगमें जगत्‌को भगवान्‌का अथवा भगवत्स्वरूप माननेसे जगत् (असत्) बहुत शीघ्र लुप्त हो जाता है और भगवान् रह जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगमें असत् (जड़ता)-का शीघ्र त्याग होता है और कर्मयोगकी अपेक्षा भक्तियोगमें असत्‌का शीघ्र त्याग होता है; क्योंकि भक्तिमें असत् रहता ही नहीं—'**सदसच्चाहम्**' (गीता ९। १९)। अतः ज्ञानयोगसे कर्मयोग श्रेष्ठ है—'**तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते**' (गीता ५। २) और कर्मयोगसे भक्तियोग श्रेष्ठ है—'**योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥**' (गीता ६। ४७)।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ४॥

तु	= और	**कूटस्थम्**	= निर्विकार,	**सर्वभूतहिते**	= प्राणिमात्रके हितमें
ये	= जो (अपने)	**अचलम्**	= अचल,	**रताः**	= प्रीति रखनेवाले (और)
इन्द्रियग्रामम्	= इन्द्रिय-समूहको	**ध्रुवम्**	= ध्रुव,	**सर्वत्र**	= सब जगह
सन्नियम्य	= भलीभाँति वशमें करके	**अक्षरम्**	= अक्षर	**समबुद्धयः**	= समबुद्धिवाले मनुष्य
अचिन्त्यम्	= चिन्तनमें न आनेवाले,	**च**	= और	**माम्**	= मुझे
सर्वत्रगम्	= सब जगह परिपूर्ण,	**अव्यक्तम्**	= अव्यक्तकी	**एव**	= ही
अनिर्देश्यम्	= देखनेमें न आनेवाले,	**पर्युपासते**	= तत्परतासे उपासना करते हैं,	**प्राप्नुवन्ति**	= प्राप्त होते हैं।
		ते	= वे		

विशेष भाव—भगवान्‌ने यहाँ ब्रह्मके जो लक्षण (अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, अक्षर, अव्यक्त आदि) बताये हैं, वे ही लक्षण जीवात्माके भी बताये हैं; जैसे—'अचिन्त्य' (२। २५), 'कूटस्थ' (१५। १६), 'अचल' (२। २४),

* **श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।**
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ (श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

† **ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।**
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ (गीता १८। ५४)

'अक्षर' (५। १६, १८), 'अव्यक्त' (२। २५) आदि। दोनोंके समान लक्षण बतानेका तात्पर्य है कि जीव और ब्रह्म— दोनों स्वरूपसे एक ही हैं। देहके साथ सम्बन्ध होनेसे (अनेक रूपसे) जो 'जीव' है, वही देहके साथ सम्बन्ध न होनेसे (एक रूपसे) 'ब्रह्म' है अर्थात् जीव केवल शरीरकी उपाधिसे, देहाभिमानके कारण ही अलग है, अन्यथा वह ब्रह्म ही है। इसलिये ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर उपासकको उपास्यसे सधर्मता प्राप्त हो जाती है—**'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः'** (गीता १४। २)।

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'—सगुण (गुणसहित) और निर्गुण (गुणरहित)—दोनों विशेषणोंमें विशेष्य (तत्त्व) तो एक ही हुआ, इसलिये भगवान्ने निर्गुणके उपासकोंको भी अपनी ही प्राप्ति बतायी है। भगवान्के कथनका तात्पर्य है कि निर्गुण-निराकार रूप भी मेरा ही है, मेरे समग्ररूपसे अलग नहीं है।

'सर्वभूतहिते रताः'—जगत्, जीव और परमात्मा—तीनों ही दृष्टियोंसे हम सब एक हैं। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण शरीर अपरा प्रकृतिके अन्तर्गत होनेसे एक हैं और सम्पूर्ण जीव परा प्रकृतिके अन्तर्गत होनेसे एक हैं। इसलिये जब साधककी सम्पूर्ण प्राणियोंमें समबुद्धि हो जाती है—**'सर्वत्र समबुद्धयः'** और वह अपने शरीरकी तरह ही सम्पूर्ण प्राणियोंको अपना मानने लगता है—**'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन'** (गीता ६। ३२), तब उसकी सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें प्रीति हो जाती है। कारण कि सम्पूर्ण प्राणियोंको अपना ही शरीर माननेसे वह किसीको भी बुरा नहीं समझता, किसीका भी बुरा नहीं चाहता और किसीका भी बुरा नहीं करता। इस प्रकार बुराईका त्याग होनेपर उसके द्वारा स्वतः दूसरोंका हित होता है। इतना ही नहीं, जैसे अपने दाँतोंसे अपनी जीभ कट जाय तो दाँतोंपर क्रोध करके उनको कोई नहीं तोड़ता, ऐसे ही जो सब प्राणियोंको अपना मानता है, उसका कोई बुरा भी करता है, तो भी उसके मनमें उसका बुरा करनेका भाव नहीं आता—***'उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥'*** (मानस, सुन्दर० ४१। ४)।

बुराईका त्याग होनेपर दूसरोंकी जो सेवा होती है, वह बड़े-से-बड़े दान-पुण्यसे भी नहीं हो सकती। इसलिये बुराईका त्याग भलाईका मूल है। जिसने बुराईका त्याग कर दिया है, वही **'सर्वभूतहिते रताः'** हो सकता है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ५॥

अव्यक्तासक्त-चेतसाम्	= अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाले	**क्लेशः**	= कष्ट	**अव्यक्ता**	= अव्यक्त-विषयक
तेषाम्	= उन साधकोंको (अपने साधनमें)	**अधिकतरः**	= अधिक होता है;	**गतिः**	= गति
		हि	= क्योंकि	**दुःखम्**	= कठिनतासे
		देहवद्भिः	= देहाभिमानियोंके द्वारा	**अवाप्यते**	= प्राप्त की जाती है।

विशेष भाव—निर्गुणोपासनामें जो देहसहित है, वह **'उपासक'** (जीव) है और जो देहरहित है, वह **'उपास्य'** (ब्रह्म) है। देहके साथ माना हुआ सम्बन्ध ही जीव और ब्रह्मकी एकतामें खास बाधक है। इसलिये देहाभिमानीके लिये निर्गुणोपासनाकी सिद्धि कठिनतासे तथा देरीसे होती है। परन्तु सगुणोपासनामें भगवान्की विमुखता बाधक है, देहाभिमान बाधक नहीं है। इसलिये सगुणोपासक संसारसे विमुख होकर भगवान्के सम्मुख हो जाता है, साधनके आश्रित न होकर भगवान्के आश्रित हो जाता है। अतः भगवान् कृपा करके उसका शीघ्र ही उद्धार कर देते हैं (गीता १२। ७, ८। १४)। यह सगुणोपासनाकी विलक्षणता है!

सगुणोपासनामें भक्त जगत्को मिथ्या मानकर उसके त्यागपर जोर नहीं देता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें जड़-चेतन, सत्-असत् सब कुछ भगवान् ही हैं—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)। इसलिये सगुणकी उपासना समग्रकी उपासना है। गीताने सगुणको समग्र माना है और ब्रह्म, जीव, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ— इन सबको समग्र भगवान्के ही अन्तर्गत माना है (गीता ७। २९-३०)। इसलिये गीताको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता

है कि निर्गुणोपासना (ब्रह्मकी उपासना) समग्र भगवान्‌के एक अंगकी उपासना है और सगुणोपासना स्वयं समग्र भगवान्‌की उपासना है—**'त्वां पर्युपासते'** (गीता १२। १), **'मां ध्यायन्त उपासते'** (१२। ६)।

जो समग्र भगवान्‌के एक अंगकी उपासना करता है, उसको भी अन्तमें समग्रकी प्राप्ति होती है—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'** (गीता १२। ४), **'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'** (१८। ५५)। अत: जिसको निर्गुण अच्छा लगता हो, वह निर्गुणकी उपासना करे, पर उसको निर्गुणका आग्रह रखकर सगुणका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। सगुणका तिरस्कार, निन्दा, खण्डन करना निर्गुणोपासकके लिये बहुत घातक है अर्थात् उसकी साधनाके सिद्ध होनेमें बहुत बाधक है। कारण कि अपरा प्रकृति भगवान्‌की है; अत: उसकी निन्दा करनेसे वह भगवान्‌की निन्दा होती है। गुणोंका खण्डन करनेसे गुणोंकी सत्ता आ जाती है, जो बाधक होती है; क्योंकि सत्ता माने बिना साधक निराकरण किसका करेगा? अत: साधक यदि दूसरेकी निन्दा, तिरस्कार न करके तत्परतापूर्वक अपने साधनमें लगा रहे तो आगे चलकर सभी साधक एक हो जाते हैं; क्योंकि तत्त्व एक ही है*। सगुणकी उपेक्षा करनेसे साधक मुक्त तो हो सकता है, पर मतभेद नहीं मिट सकता। परन्तु सगुणकी उपेक्षा न रहनेसे मतभेद भी नहीं रहता और साधकको समग्रकी प्राप्ति हो जाती है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

तु	=परन्तु	**माम्**	=मेरा	**तेषाम्**	=उन भक्तोंका
ये	=जो	**एव**	=ही	**अहम्**	=मैं
सर्वाणि	=सम्पूर्ण	**ध्यायन्तः**	=ध्यान करते हुए	**मृत्युसंसार-**	
कर्माणि	=कर्मोंको	**उपासते**	=(मेरी) उपासना करते हैं;	**सागरात्**	=मृत्युरूप संसार-समुद्रसे
मयि	=मेरे				
सन्न्यस्य	=अर्पण करके (और)	**पार्थ**	=हे पार्थ!	**नचिरात्**	=शीघ्र ही
मत्पराः	=मेरे परायण होकर	**मयि**	=मुझमें	**समुद्धर्ता**	=उद्धार करनेवाला
अनन्येन	=अनन्य-	**आवेशित-**			
योगेन	=योग-(सम्बन्ध-) से	**चेतसाम्**	=आविष्ट चित्तवाले	**भवामि**	=बन जाता हूँ।

विशेष भाव—छठे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने सब तरहके सामान्य साधकोंके लिये अपने द्वारा अपना उद्धार करनेकी बात कही थी—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** और यहाँ कहते हैं कि भक्तोंका उद्धार मैं करता हूँ—**'तेषामहं समुद्धर्ता'**। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक साधक आरम्भमें स्वयं ही साधनमें लगता है। साधनमें लगनेवालोंमें भी जो साधक भगवान्‌के आश्रित होता है, उसका उद्धार भगवान् करते हैं; क्योंकि उसका भगवान्‌पर ही भरोसा होता है कि मेरा उद्धार वे ही करेंगे। वह अपने उद्धारकी चिन्ता न करके केवल भगवान्‌के भजनमें ही लगा रहता है। उसके साधन और साध्य भगवान् ही होते हैं। परन्तु ज्ञानमार्गमें चलनेवाला अपना उद्धार स्वयं करता है।

स्वरूप-बोध होनेपर भक्ति प्राप्त हो जाय—यह नियम नहीं है, पर भक्ति प्राप्त होनेपर स्वरूप-बोध भी हो

---

* **वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।**
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(श्रीमद्भा० १। २। ११)

'तत्त्वज्ञ महापुरुष उस ज्ञानस्वरूप एवं अद्वितीय तत्त्वको ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन नामोंसे कहते हैं।'

जाता है, इसलिये भगवान्‌ने कहा है—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

(मानस, अरण्य० ३६। ५)

भगवान् अपने भक्तोंको कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों दे देते हैं (गीता १०। १०-११); क्योंकि भगवान्‌का स्वरूप समग्र है।

देहाभिमानके कारण ज्ञानमार्गके साधकका चित्त अव्यक्तमें 'आसक्त' होता है—**'अव्यक्तासक्तचेतसाम्'** (गीता १२। ५), पर भक्तका चित्त भगवान्‌में 'आविष्ट' होता है— **'मय्यावेशितचेतसाम्'**। ज्ञानमें विवेक मुख्य है, भक्तिमें विश्वास मुख्य है। ज्ञानमें अपरा प्रकृति त्याज्य होती है, भक्तिमें वह भगवत्स्वरूप होती है।

'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'—इस प्रकार केवल भगवान्‌से ही सम्बन्ध मानना 'अनन्ययोग' है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ ८॥

मयि	=(तू) मुझमें	**एव**	=ही	**मयि**	=मुझमें
मनः	=मनको	**बुद्धिम्**	=बुद्धिको	**एव**	=ही
आधत्स्व	=स्थापन कर (और)	**निवेशय**	=प्रविष्ट कर;	**निवसिष्यसि**	=निवास करेगा—
		अतः	=इसके	**संशयः, न**	=(इसमें) संशय नहीं है।
मयि	=मुझमें	**ऊर्ध्वम्**	=बाद (तू)		

विशेष भाव—मन-बुद्धि भगवान्‌की अपरा प्रकृति है (गीता ७। ४-५)। भगवान्‌की प्रकृति अर्थात् स्वभाव होते हुए भी अपरा प्रकृति भगवान्‌से भिन्न स्वभाववाली (जड़ एवं परिवर्तनशील) है। परन्तु परा प्रकृति (जीवात्मा) भगवान्‌से भिन्न स्वभाववाली नहीं है। इसलिये भगवान्‌के साथ साधर्म्य प्रकृतिका नहीं है, प्रत्युत जीव- (स्वयं-)का है—**'मम साधर्म्यमागताः'** (गीता १४। २)। मन-बुद्धि प्रकृतिकी जातिके हैं अर्थात् वे प्रकृतिके अंश हैं, पर हम स्वयं भगवान्‌के अंश हैं। अतः स्वयं और मन-बुद्धिमें जातीय भिन्नता है। आकर्षण एवं मिलन सजातीयतामें ही होता है, विजातीयतामें नहीं—यह नियम है। इसलिये मन-बुद्धि भगवान्‌में नहीं लग सकते, प्रत्युत स्वयं ही भगवान्‌में लग सकता है। मन-बुद्धिकी स्वतन्त्र सत्ता मान लेनेसे साधकसे यह भूल होती है कि वह स्वयं अलग रहकर मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगानेका उद्योग करता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि भगवान्‌में स्वयं ही लगता है, मन-बुद्धि नहीं लगते। जब स्वयं भगवान्‌में लगता है, तब मन-बुद्धि अपने-आप छूट जाते हैं अर्थात् उनकी सत्ता रहती ही नहीं, प्रत्युत एक भगवान् ही रह जाते हैं। कारण कि वास्तवमें मन-बुद्धिकी सत्ता थी ही नहीं, जीवने ही उनको सत्ता दी थी—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५), **'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति'** (गीता १५। ७)। इसलिये गीतामें **'मय्यासक्तमनाः'** (७। १), **'मन्मना भव'** (९। ३४, १८। ६५), **'मय्यावेश्य मनो ये माम्'** (१२। २), **'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय'** (१२। ८), **'मच्चित्तः सततं भव'** (१८। ५७) आदि पदोंमें जो मन लगानेकी बात आयी है, वह वास्तवमें स्वयंको भगवान्‌में लगानेका ही उपाय है। भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेसे मन-बुद्धि तो नहीं लगते, पर स्वयं लग जाता है—**'निवसिष्यसि मय्येव'**। कारण कि जीवका स्वभाव है कि वह वहीं लगता है, जहाँ उसके मन-बुद्धि लगते हैं। जैसे सुई जहाँ जाती है, धागा वहीं जाता है, ऐसे ही मन-बुद्धि जहाँ जाते हैं, स्वयं वहीं जाता है। संसारको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे मन-बुद्धि संसारमें लग गये और संसारमें मन-बुद्धि लगनेसे जीव स्वयं संसारमें लग गया, इसलिये जीवको संसारसे हटानेके लिये भगवान् मन-बुद्धिको अपनेमें लगानेकी आज्ञा देते हैं। जैसे सुनार सोनेको शुद्ध करनेके लिये उसको अग्निमें तपाता है तो सोनेमें मिला हुआ विजातीय पदार्थ (खोट) अलग हो जाता है और शुद्ध सोना रह जाता है, ऐसे ही भगवान्‌में लगानेसे मन-बुद्धि अलग हो जाते हैं और स्वयं भगवान्‌में मिल जाता है अर्थात्

केवल भगवान् रह जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

(११। १४। २७)

'विषयोंका चिन्तन करनेसे मन विषयोंमें फँस जाता है और मेरा स्मरण करनेसे मन मेरेमें विलीन हो जाता है अर्थात् मनकी सत्ता रहती ही नहीं।'

तात्पर्य है कि भगवान्‌में लगानेसे मन-बुद्धि भगवान्‌में लगते नहीं, प्रत्युत लीन हो जाते हैं; क्योंकि मूलमें अपरा प्रकृति भगवान्‌का ही स्वभाव है। भगवान्‌में लीन होनेपर मन-बुद्धिकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं रहती, प्रत्युत केवल भगवान् ही रहते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'। दूसरे शब्दोंमें, मन-बुद्धि संसारसे तो हट गये, पर भगवान्‌को पकड़ सके नहीं, इसलिये उनकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं, केवल भगवान् रह जाते हैं।

ज्ञानमें स्वरूप मुख्य है और भक्तिमें भगवान् मुख्य हैं। इसलिये ज्ञानी स्वरूपमें स्थित होता है—'**समदुःखसुखः स्वस्थः**' (गीता १४। २४) और भक्त भगवान्‌में स्थित होता है—'**निवसिष्यसि मय्येव**'। स्वरूपमें स्थित होनेपर अखण्डरसका अनुभव होता है और भगवान्‌में स्थित होनेपर प्रतिक्षण वर्धमान अनन्तरसका अनुभव होता है। भगवान्‌में स्थित होनेपर फिर भक्त सब जगह भगवान्‌को ही देखता है*; क्योंकि उसका पहलेसे ही यह भाव है कि भगवान् सर्वव्यापी हैं।

इस श्लोकमें यह क्रम बताया गया है कि भगवान्‌में पहले साधकका मन लगता है, फिर बुद्धि लगती है, फिर स्वयं लगता है। स्वयं लगनेसे अहम् मिट जाता है।

प्रेममें मन लगता है और श्रद्धामें बुद्धि लगती है। भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेका तात्पर्य है—भगवान्‌में प्रेम और श्रद्धा होना अर्थात् संसारकी प्रियता और महत्ता न रहकर केवल भगवान्‌में ही प्रियता और महत्ता हो जाना।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥ ९॥

अथ	= अगर (तू)		करनेमें	**अभ्यासयोगेन**	= अभ्यासयोगके द्वारा (तू)
चित्तम्	= मनको	**न, शक्नोषि**	= अपनेको समर्थ नहीं मानता,	**माम्**	= मेरी
मयि	= मुझमें	**ततः**	= तो	**आप्तुम्**	= प्राप्तिकी
स्थिरम्	= अचलभावसे	**धनञ्जय**	= हे धनञ्जय!	**इच्छ**	= इच्छा कर।
समाधातुम्	= स्थिर (अर्पण)				

विशेष भाव—छठे अध्यायमें तो केवल '**अभ्यास**' की बात आयी थी (६। २६); परन्तु यहाँ '**अभ्यासयोग**' की बात आयी है, जिससे कल्याण हो जाता है। केवल अभ्यास हो, योग न हो तो एक स्थिति (अवस्था) बनेगी, पर कल्याण नहीं होगा।

मनका निरोध करना अथवा मनको बार-बार भगवान्‌में लगाना अभ्यास है। अभ्यासयोगमें मनका निरोध नहीं है, प्रत्युत मनसे सम्बन्ध-विच्छेद है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८)।

* **यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।**
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥ १०॥

अभ्यासे	=(अगर तू) अभ्यास-(योग-) में	**असि**	=है, (तो)	**कर्माणि**	=कर्मोंको
अपि	=भी (अपनेको)	**मत्कर्मपरमः**	=मेरे लिये कर्म करनेके परायण	**कुर्वन्**	=करता हुआ
असमर्थः	=असमर्थ (पाता)	**भव**	=हो जा।	**अपि**	=भी (तू)
		मदर्थम्	=मेरे लिये	**सिद्धिम्**	=सिद्धिको
				अवाप्स्यसि	=प्राप्त हो जायगा।

विशेष भाव—अभ्यासकी अपेक्षा क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण करना सुगम है। कारण कि अभ्यास तो नया काम है, जो करना पड़ता है, पर कर्म स्वतः होते हैं; क्योंकि कर्म करनेका स्वभाव पड़ा हुआ है। अपने लिये कर्म करनेसे मनुष्य बँधता है—'**कर्मणा बध्यते जन्तुः**'। इसलिये कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करनेसे मनुष्य सुगमतापूर्वक भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है (गीता ९। २७-२८)।

'**मदर्थमपि**' पदका तात्पर्य है कि आरम्भसे भगवान्‌के लिये ही कर्म किये जायँ।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ ११॥

अथ	=अगर	**अपि**	=भी	**यतात्मवान्**	=मन-इन्द्रियोंको वशमें करके
मद्योगम्	= मेरे योग-(समता-) के	**कर्तुम्**	=करनेमें (अपनेको)	**सर्वकर्मफल-त्यागम्**	=सम्पूर्ण कर्मोंके फल-की इच्छाका त्याग
आश्रितः	=आश्रित हुआ (तू)	**अशक्तः**	=असमर्थ (पाता)	**कुरु**	=कर।
एतत्	=इस-(पूर्वश्लोकमें कहे गये साधन-) को	**असि**	=है,		
		ततः	=तो		

विशेष भाव—अगर साधक सर्वथा भगवान्‌के लिये कर्म न कर सके तो उसको फलेच्छाका त्याग करके कर्म करना चाहिये; क्योंकि फलेच्छा ही बाँधनेवाली है—'**फले सक्तो निबध्यते**' (गीता ५। १२)।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ १२॥

अभ्यासात्	=अभ्याससे	**ज्ञानात्**	=शास्त्रज्ञानसे	**विशिष्यते**	=श्रेष्ठ है (और)
ज्ञानम्	=शास्त्रज्ञान	**ध्यानम्**	=ध्यान	**ध्यानात्**	=ध्यानसे (भी)
श्रेयः	=श्रेष्ठ है,				

कर्मफल-त्यागः	= सब कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग (श्रेष्ठ है);
हि	= क्योंकि
त्यागात्	= त्यागसे
अनन्तरम्	= तत्काल ही
शान्तिः	= परमशान्ति प्राप्त हो जाती है।

विशेष भाव—अभ्यास, शास्त्रज्ञान और ध्यान—ये तीनों तो करणसापेक्ष हैं, पर कर्मफलत्याग करणनिरपेक्ष है। कर्मफलत्यागको श्रेष्ठ बतानेका कारण यह है कि लोगोंकी इस साधनमें निकृष्टबुद्धि है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कर्मफलत्याग पहलेके तीनों साधनोंसे श्रेष्ठ है। वास्तवमें ये चारों ही साधन श्रेष्ठ हैं और उन साधकोंके लिये हैं, जिनका उद्देश्य त्यागका है।

इस श्लोकमें आये चार साधनोंके अन्तर्गत दसवें श्लोकमें आये '**मदर्थमपि कर्माणि**' (भगवान्‌के लिये कर्म करना) को नहीं लिया गया है। इसका कारण यह है कि '**मदर्थमपि कर्माणि**' अर्थात् भक्तिमें ही साधनकी पूर्णता हो जाती है। अतः भक्ति और त्याग—दोनों ही साधन श्रेष्ठ हैं।

कर्मफलत्यागसे कर्मफलकी इच्छाका त्याग समझना चाहिये। इच्छा भीतर होती है और फलत्याग बाहर होता है। फलत्याग करनेपर भी भीतरमें उसकी इच्छा रह सकती है। अतः साधकका उद्देश्य कर्मफलकी इच्छाके त्यागका रहना चाहिये। इच्छाका त्याग होनेपर जन्म-मरणका कारण ही नहीं रहता। मुक्ति वस्तुके त्यागसे नहीं होती, प्रत्युत इच्छाके त्यागसे होती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥ १३॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥

सर्वभूतानाम्	= सब प्राणियोंमें
अद्वेष्टा	= द्वेषभावसे रहित
च	= और
मैत्रः	= मित्रभाववाला (तथा)
करुणः	= दयालु
एव	= भी (और)
निर्ममः	= ममतारहित,
निरहङ्कारः	= अहंकाररहित,
समदुःखसुखः	= सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सम,
क्षमी	= क्षमाशील,
सततम्	= निरन्तर
सन्तुष्टः	= सन्तुष्ट,
योगी	= योगी,
यतात्मा	= शरीरको वशमें किये हुए,
दृढनिश्चयः	= दृढ़ निश्चयवाला,
मयि	= मुझमें
अर्पित-मनोबुद्धिः	= अर्पित मन-बुद्धिवाला
यः	= जो
मद्भक्तः	= मेरा भक्त है,
सः	= वह
मे	= मुझे
प्रियः	= प्रिय है।

विशेष भाव—गीतामें कर्मयोगीके लक्षण भी आये हैं (२। ५५—७२, ६। ७—९), ज्ञानयोगीके लक्षण भी आये हैं (१४। २२—२५) और भक्तके लक्षण भी आये हैं (१२। १३—१९)। परन्तु केवल भक्तके लक्षणोंमें ही भगवान्‌ने कहा है—'**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च**'। यह लक्षण (मित्रता और करुणा) न कर्मयोगीके लक्षणोंमें आया है, न ज्ञानयोगीके लक्षणोंमें, प्रत्युत केवल भक्तके लक्षणोंमें आया है। कर्मयोगी और ज्ञानयोगीमें

समता तो होती है, पर मित्रता और करुणा नहीं होती। परन्तु भक्तमें आरम्भसे ही मित्रता और करुणा होती है।

भक्तकी दृष्टिमें सम्पूर्ण प्राणी समग्र भगवान्‌का अंग होनेसे अपने प्रभु ही हैं, फिर कौन वैर करे, किससे करे और क्यों करे?—***'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'*** (मानस, उत्तर० ११२ ख)। उदाहरणके लिये, किसीको राम प्रिय हैं, किसीको कृष्ण प्रिय हैं, किसीको शंकर प्रिय हैं तो इष्ट अलग-अलग होनेपर भी वे सब भक्त परस्पर एक हो सकते हैं, पर सब ज्ञानयोगी परस्पर एक नहीं हो सकते। अगर भक्त और ज्ञानयोगी परस्पर मिलें तो भक्त ज्ञानयोगीका जितना आदर करेगा, उतना ज्ञानयोगी भक्तका नहीं कर सकेगा। इसलिये भक्तोंका लक्षण बताया है—***'सबहि मानप्रद आपु अमानी'*** (मानस, उत्तर० ३८। २)।

श्रीरामचरितमानसके आरम्भमें गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज सज्जनोंके साथ-साथ दुष्टोंकी भी वन्दना करते हैं और सच्चे भावसे करते हैं—***'बहुरि बंदि खल गन सतिभाएँ'*** (मानस, बाल० ४। १)। ऐसा भक्त ही कर सकता है, ज्ञानयोगी नहीं! यद्यपि ज्ञानयोगीका किसीसे कभी किंचिन्मात्र भी वैर नहीं होता, तथापि उसमें स्वाभविक उदासीनता, तटस्थता रहती है। विवेकमार्ग-(ज्ञान-)में वैराग्यकी मुख्यता रहती है और वैराग्य रूखा होता है। इसलिये ज्ञानयोगीमें भीतरसे कठोरता न होनेपर भी वैराग्य, उदासीनताके कारण बाहरसे कठोरता प्रतीत होती है।

सुख लेनेमें कठोरता रहती है और सुख देनेमें कोमलता रहती है। ज्ञानयोगी मोक्षका भी सुख लेता है तो उसमें कठोरता रहती है। परन्तु दूसरेको सुख देनेका भाव होनेसे भक्तमें आरम्भसे ही कोमलता रहती है। भक्तके मनमें वैरीसे भी द्वेष नहीं होता। ज्ञानयोगी पिताकी तरह होता है और भक्त माँकी तरह, इसलिये भक्तमें करुणा ज्यादा होती है।

'एव' पद देनेका तात्पर्य है कि भक्त द्वेषभावसे रहित होता है—इतनी ही बात नहीं है, वह मित्रभाववाला और दयालु भी होता है।

'निर्ममो निरहङ्कारः'—प्रत्येक साधकके लिये निर्मम और निरहंकार होना बहुत आवश्यक है, इसलिये गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगमार्गोंमें निर्मम और निरहंकार होनेकी बात कही है—कर्मयोगमें **'निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति'** (२। ७१), ज्ञानयोगमें **'अहङ्कारं..................विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते'** (१८। ५३) और भक्तियोगमें **'निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी'** (१२। १३)। इस विषयमें एक विशेष ध्यान देनेकी बात है कि वास्तवमें हमारा स्वरूप अहंता-ममतासे रहित है। अहंता (मैंपन) और ममता (मेरापन)—दोनों अपने स्वरूपमें मानी हुई हैं, वास्तविक नहीं हैं। अगर ये वास्तविक होतीं तो हम कभी निर्मम और निरहंकार नहीं हो सकते और भगवान् भी सबके लिये निर्मम और निरहंकार होनेकी बात नहीं कहते। परन्तु हम निर्मम और निरहंकार हो सकते हैं, तभी भगवान् ऐसा कहते हैं।

कर्मयोगमें पहले 'कामना'का त्याग होता है, फिर कर्मयोगी स्वत: निर्मम-निरहंकार हो जाता है (गीता २। ७१)। ज्ञानयोगमें पहले 'अहंकार'का त्याग होता है, फिर ज्ञानयोगी स्वत: निर्मम हो जाता है (गीता १८। ५३)। भक्तियोगमें भक्त अपने-आपको भगवान्‌के अर्पित कर देता है तो भगवत्कृपासे वह स्वत: निर्मम-निरहंकार हो जाता है।

'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः'—यहाँ **'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'** पद उस मनुष्यका वाचक है, जिसने स्वयंको (अपने-आपको) भगवान्‌के अर्पित कर दिया है। स्वयं अर्पित होनेसे मन-बुद्धि भी स्वत: भगवान्‌के अर्पित हो जाते हैं। स्वयं अर्पित होनेसे फिर कुछ बाकी रहता ही नहीं। कारण कि स्वयं पहले है, शरीर-मन-बुद्धि आदि पीछे हैं। भक्त पहले है, मनुष्य पीछे है। भगवान्‌में अर्पित होनेसे मन-बुद्धिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, प्रत्युत केवल भगवान् ही रहते हैं।

भगवान्‌का परा और अपरा दोनों प्रकृतियोंके साथ समान सम्बन्ध है, पर जीव-(परा-) का सम्बन्ध अपराके

साथ नहीं है। कारण कि जीव अपरा प्रकृतिसे उत्कृष्ट है और भगवान्‌का अंश है। इसलिये जीवका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ है। '**मय्यर्पितमनोबुद्धिः**' का तात्पर्य है कि जीव अपरा प्रकृति-(मन-बुद्धि-) को अपना न माने, प्रत्युत भगवान्‌को ही अपना माने*।

भगवान् ज्ञानस्वरूप और नित्य परिपूर्ण हैं। अतः उनमें ज्ञानकी भूख (जिज्ञासा) तो नहीं है, पर प्रेमकी भूख (प्रेम-पिपासा) अवश्य है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि मेरेमें अर्पित मन-बुद्धिवाला जो मेरा भक्त है, वह मेरेको प्रिय है। ऐसे भक्तके सिवाय भगवान्‌को प्यारा और कोई हो ही नहीं सकता।

जैसे किसी राजाका बेटा दूसरोंसे भीख माँगने लगे तो वह राजाको नहीं सुहाता, ऐसे ही सत्-चित्-आनन्दरूप भगवान्‌का अंश जीव जब असत्-जड़-दुःखरूप संसारसे कुछ आशा रखता है, तब वह भगवान्‌को नहीं सुहाता, प्यारा नहीं लगता; क्योंकि इसमें जीवका महान् अहित है। भगवान्‌को वही प्यारा लगता है, जो अन्यसे आशा नहीं रखता तथा जिसमें जीवका परम हित होता है—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(मानस, अरण्य० १०। ४)

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥

यस्मात्	= जिससे	**न, उद्विजते**	= उद्विग्न नहीं होता	**मुक्तः**	= रहित है,
लोकः	= कोई भी प्राणी	**च**	= तथा		
न, उद्विजते	= उद्विग्न (क्षुब्ध) नहीं होता	**यः**	= जो	**सः**	= वह
च	= और	**हर्षामर्ष-भयोद्वेगैः**	= हर्ष, अमर्ष (ईर्ष्या), भय और उद्वेग-(हलचल-) से	**मे**	= मुझे
यः	= जो स्वयं भी				
लोकात्	= किसी प्राणीसे			**प्रियः**	= प्रिय है।

विशेष भाव—दूसरेको सत्ता देनेसे ही उद्वेग, ईर्ष्या, भय आदि होते हैं। भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं, फिर वह किससे उद्वेग, ईर्ष्या, भय आदि करे और क्यों करे?—***'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'*** (मानस, उत्तर० ११२ ख)।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १६॥

यः	= जो		रहित,	**दक्षः**	= चतुर,
अनपेक्षः	= अपेक्षा-(आवश्यकता-) से	**शुचिः**	= (बाहर-भीतरसे) पवित्र,	**उदासीनः**	= उदासीन,
				गतव्यथः	= व्यथासे रहित (और)

* यहाँ 'मन'के अन्तर्गत चित्तको और बुद्धिके अन्तर्गत अहम्‌को भी लेना चाहिये।

सर्वारम्भ-परित्यागी	=सभी आरम्भोंका अर्थात् नये-नये कर्मोंके आरम्भका		सर्वथा त्यागी है,		भक्त
		सः	=वह	**मे**	=मुझे
		मद्भक्तः	=मेरा	**प्रियः**	=प्रिय है।

विशेष भाव—'अनपेक्षः'—अमुक वस्तु आदि न हो तो काम कैसे चलेगा—यह अपेक्षा भक्तमें नहीं होती। भक्तकी दृष्टिमें सब कुछ भगवान्-ही-भगवान् हैं, फिर वह किसकी अपेक्षा रखे? **'शुचिः'**—भक्तका दर्शन, स्पर्श, भाषण दूसरोंको शुद्ध करनेवाला होता है। उसके शरीरका स्पर्श करनेवाली हवा भी शुद्ध होती है! यद्यपि ऐसी शुद्धि ज्ञानयोगी महापुरुषमें भी होती है, तथापि भक्तमें शुरूसे ही सबकी हितैषिता (**मैत्रःकरुण एव च**) विशेषरूपसे रहनेके कारण उसमें विशेष शुद्धि होती है। **'दक्षः'**—भक्तने करनेयोग्य काम कर लिया अर्थात् वह कृत्कृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो गया, इसलिये वह 'दक्ष' है।

'सर्वारम्भपरित्यागी'—यह पद चौदहवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें गुणातीत महापुरुषके लिये भी आया है—**'सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते'**। गुणातीत महापुरुषमें कर्तृत्व न होनेसे वह सर्वारम्भपरित्यागी होता है और भक्तमें स्वार्थ तथा अभिमान न होनेसे वह सर्वारम्भपरित्यागी होता है। भक्तको अपने लिये कुछ करना शेष है ही नहीं, फिर वह आरम्भ क्या करे? उसके द्वारा आरम्भ तो हो सकता है, पर उसमें उसका कोई लगाव, आसक्ति, प्रयोजन, आग्रह नहीं रहता, आरम्भ हो जाय तो ठीक, न हो तो ठीक! वह दोनोंमें सम रहता है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ १७॥

यः	=जो	**न**	=न		राग-द्वेषरहित है,
न	=न (कभी)	**काङ्क्षति**	=कामना करता है (और)	**सः**	=वह
हृष्यति	=हर्षित होता है,				
न	=न	**यः**	=जो	**भक्तिमान्**	=भक्तिमान् मनुष्य
द्वेष्टि	=द्वेष करता है,	**शुभाशुभ-परित्यागी**	=शुभ-अशुभ कर्मोंसे ऊँचा उठा हुआ	**मे**	=मुझे
न	=न				
शोचति	=शोक करता है,			**प्रियः**	=प्रिय है।

विशेष भाव—हर्ष (**हृष्यति**) और शोक (**शोचति**), राग (**काङ्क्षति**) और द्वेष (**द्वेष्टि**)—ये द्वन्द्व हैं। भक्तमें कोई द्वन्द्व नहीं रहता, वह निर्द्वन्द्व हो जाता है। नारदभक्तिसूत्रमें भी आया है—

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥ ५॥

'जिस भक्तिके प्राप्त होनेपर भक्त न तो किसी वस्तुकी इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तुमें आसक्त होता है और न उसे किसी वस्तुकी प्राप्तिमें उत्साह (हर्ष) होता है।'

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ १८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ १९॥

शत्रौ	=(जो) शत्रु		प्रतिकूलता-) में		(शरीरका निर्वाह होने-न-होनेमें)
च	=और	**समः**	=सम है		
मित्रे	=मित्रमें	**च**	=एवं	**सन्तुष्टः**	=सन्तुष्ट,
तथा	=तथा	**सङ्गविवर्जितः**	=आसक्तिरहित है (और)	**अनिकेतः**	=रहनेके स्थान तथा शरीरमें ममता-आसक्तिसे रहित (और)
मानापमानयोः	=मान-अपमानमें				
समः	=सम है (और)	**तुल्यनिन्दा-**			
शीतोष्ण-		**स्तुतिः**	=जो निन्दा-स्तुतिको समान समझने-वाला,		
सुखदुःखेषु	=शीत-उष्ण (शरीर-की अनुकूलता-प्रतिकूलता) तथा सुख-दुःख-(मन-बुद्धिकी अनुकूलता-			**स्थिरमतिः**	=स्थिर बुद्धिवाला है,
				भक्तिमान्	=(वह) भक्तिमान्
		मौनी	=मननशील,	**नरः**	=मनुष्य
		येन	=जिस	**मे**	=मुझे
		केनचित्	=किसी प्रकारसे भी	**प्रियः**	=प्रिय है।

विशेष भाव—इन दो श्लोकोंमें भगवान्‌ने वे ही स्थल दिये हैं, जहाँ समता होनेमें कठिनता आती है। अगर इनमें समता हो जाय तो अन्य जगह समता होनेमें कठिनता नहीं आयेगी। अपनेपर कोई असर न पड़ना 'समता' है।

यद्यपि भक्तकी दृष्टिमें भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं, तथापि दूसरे लोगोंकी दृष्टिमें वह शत्रु और मित्रमें सम दीखता है। शत्रुता-मित्रताका ज्ञान होनेपर भी वह सम रहता है।

'**शीतोष्णसुखदुःखेषु**'—भक्त शरीरकी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें भी सम रहता है और मन-बुद्धिकी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें भी सम रहता है। तात्पर्य है कि भक्त शरीरकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, इन्द्रियोंकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, मनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, बुद्धिकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, सिद्धान्तकी अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि सब तरहकी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें सम रहता है। उसका न तो अनुकूलतामें राग होता है और न प्रतिकूलतामें द्वेष होता है।

'**यो मद्भक्तः स मे प्रियः**', '**भक्तिमान्मे प्रियो नरः**' आदि पदोंका तात्पर्य है कि वे भक्तिके कारण भगवान्‌को प्रिय हैं, गुणों-(लक्षणों-) के कारण नहीं। गुण मुख्य नहीं हैं, प्रत्युत भक्ति मुख्य है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ २०॥

तु	=परन्तु	**इदम्**	=इस	**ते**	=वे
ये	=जो (मुझमें)	**धर्म्यामृतम्**	=धर्ममय अमृतका		
श्रद्दधानाः	=श्रद्धा रखनेवाले (और)	**यथा, उक्तम्**	=जैसा कहा है, (वैसा ही)	**मे**	=मुझे
				अतीव	=अत्यन्त
मत्परमाः	=मेरे परायण हुए	**पर्युपासते**	=भलीभाँति सेवन करते हैं,		
भक्ताः	=भक्त			**प्रियाः**	=प्रिय हैं।

विशेष भाव—कर्तव्यको 'धर्म' कहते हैं। जो धर्मसे विचलित, इधर-उधर नहीं होता, उसको 'धर्म्य' कहते हैं। सब कुछ भगवान् ही हैं—इसके समान दूसरा कोई सिद्धान्त है ही नहीं, इसलिये यह 'धर्म्य' है (गीता ९। २)।

श्रद्धा साधकमें होती है। सिद्धमें श्रद्धा नहीं होती, प्रत्युत अनुभव होता है; क्योंकि उसके अनुभवमें एक परमात्माके सिवाय और कुछ है ही नहीं, सब कुछ परमात्मा ही हैं, फिर वह श्रद्धा क्या करे! साधककी दृष्टिमें दूसरी सत्ता रहती है, इसलिये वह उपासना करता है **(पर्युपासते)** अर्थात् अपना जीवन वैसा बनाता है; परन्तु उसका भाव यह रहता है कि भगवान्‌के सिवाय अगर कुछ है तो वह भी भगवान्‌की ही लीला है।

दूसरी सत्ताकी मान्यता होते हुए भी साधक भगवान्‌के परायण रहता है और भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई उसका प्रेमास्पद नहीं होता, इसलिये वह भगवान्‌को अत्यन्त प्यारा होता है। जबतक उसको 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव नहीं होता, तबतक भगवान् उसके ऋणी रहते हैं!

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥

(११। २९। १७)

'जबतक सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरा भाव अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—ऐसा वास्तविक भाव न होने लगे, तबतक इस प्रकार मन, वाणी और शरीरकी सभी वृत्तियों-(बर्ताव-) से मेरी उपासना करता रहे।'

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(११। २९। १८)

'पूर्वोक्त साधन करनेवाले भक्तका 'सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है'—ऐसा निश्चय हो जाता है। फिर वह इस अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही है'—यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा ही दीखने लगें।'

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

विज्ञानसहित ज्ञान

जितने भी शास्त्र (दर्शन) हैं, उनके दो विभाग हैं— ईश्वरको माननेवाले और ईश्वरको न माननेवाले। ईश्वरको माननेवाले शास्त्रोंमें गीता मुख्य है। गीताका खास सिद्धान्त है—**'वासुदेवः सर्वम्'** अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही हैं। जिन दार्शनिकोंने अपने दर्शन-(अनुभव-) में, अपने मतमें पूर्ण सन्तोष कर लिया, वे तो वहीं रुक गये, पर जिन्होंने अपने दर्शनमें सन्तोष नहीं किया, उन्होंने **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव कर लिया। **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव होनेपर सम्पूर्ण दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें परस्पर मतभेद सर्वथा मिट जाता है और वे सब एक हो जाते हैं।

शास्त्रोंमें जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंका ही विवेचन आता है; क्योंकि इन तीनोंके सिवाय चौथी कोई वस्तु है ही नहीं। इन तीनोंको गीताने अनेक नामोंसे कहा है; जैसे—'जगत्'को अपरा, क्षेत्र, क्षर आदि, 'जीव'को परा, क्षेत्रज्ञ, अक्षर आदि और 'परमात्मा' को ब्रह्म, पुरुषोत्तम आदि नामोंसे कहा है। भगवान्ने गीतामें अपरा (जगत्) और परा (जीव)—दोनोंको ही अपनी प्रकृति (स्वभाव या शक्ति) बताया है (७। ४-५)। जैसे शक्तिमान्के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, ऐसे ही परमात्माके बिना जगत् और जीवकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। परमात्माके ही एक अंशमें जीव है और जीवके ही एक अंशमें जगत् है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। इसलिये गीतामें जगत्, जीव और परमात्माके वर्णनका तात्पर्य उनको अलग-अलग बतानेमें नहीं है, प्रत्युत सबको एक और अभिन्न बतानेमें ही है*।

परा और अपरा—दोनों प्रकृतियोंके साथ परमात्माका समान सम्बन्ध है। परन्तु परा प्रकृतिका सम्बन्ध अपरा प्रकृतिके साथ नहीं है। कारण कि परा और अपरा—दोनोंका स्वभाव अलग-अलग है। परा नित्य अपरिवर्तनशील तथा अविनाशी है और अपरा (शरीर-संसार) निरन्तर परिवर्तनशील तथा विनाशी है। परा प्रकृति परमात्माका अंश होनेसे परमात्माके ही स्वभाववाली है अर्थात् जैसे परमात्मा नित्य अपरिवर्तनशील तथा अविनाशी स्वभाववाले हैं, ऐसे ही उनका अंश परा प्रकृति भी है। तात्पर्य यह हुआ कि जीव परमात्माका अविभाज्य अंश है और शरीर संसारका अविभाज्य अंश है।

जीव तथा परमात्मा 'प्राप्त' हैं और स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर तथा संसार 'प्रतीति' हैं। 'प्राप्त' सत्-रूप है और 'प्रतीति' असत्-रूप है। असत्की तो सत्ता विद्यमान नहीं है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। तात्पर्य है कि

---

* **एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।**
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥

(श्वेताश्वतर० १। १२)

'अपने ही भीतर स्थित इस ब्रह्मको ही सर्वदा जानना चाहिये; क्योंकि इससे बढ़कर जाननेयोग्य तत्त्व दूसरा कुछ भी नहीं है। भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (जगत्) और उनके प्रेरक परमेश्वरको जानकर मनुष्य सब कुछ जान लेता है। इस प्रकार यह तीन भेदोंमें बताया हुआ ब्रह्म ही है अर्थात् जीव, जगत् और परमात्मा—तीनों समग्र ब्रह्मके ही रूप हैं।'

'प्राप्त' दीखता नहीं है, पर उसकी सत्ता मौजूद है और 'प्रतीति' दीखती तो है, पर उसकी सत्ता मौजूद है ही नहीं। मैं अमुक वर्ण, आश्रम आदिका हूँ—यह 'प्रतीति' को लेकर है और मैं साधक (योगी, मुमुक्षु, भक्त आदि) हूँ—यह 'प्राप्त' को लेकर है। जब मनुष्यमें 'प्रतीति'की मुख्यता होती है, तब वह संसारी होता है और जब उसमें 'प्राप्त'की मुख्यता होती है, तब वह साधक होता है। इसलिये साधकमें 'प्राप्त'की मुख्यता होनी चाहिये। प्रतीतिकी मुख्यता होनेसे साधनकी सिद्धिमें बहुत कठिनता होती है। मुक्ति अथवा भक्तिकी प्राप्ति प्रतीतिको नहीं होती, प्रत्युत 'प्राप्त' (स्वयं-) को ही होती है। इसलिये भगवान्ने सातवें अध्यायमें अपने भक्तोंके चार प्रकार (अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी) बताकर नवें अध्यायमें कहा कि दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय—ये सभी व्यक्ति चार प्रकारके भक्त बन सकते हैं (७। १६; ९। ३०—३३)। इसी बातको दूसरे शब्दोंमें कहें तो भगवान्की प्राप्ति दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण तथा क्षत्रियको नहीं होती, प्रत्युत 'भक्त' (स्वयं-)को होती है!* (गीता ९। ३३)। इसलिये शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिकी मुख्यता रखनेवाला कोई भी मनुष्य भोगी तो बन सकता है, पर योगी नहीं बन सकता।

जो 'प्राप्त' है, वह 'परा प्रकृति' है और जो 'प्रतीति' है, वह 'अपरा प्रकृति' है। परा और अपरा—दोनों ही प्रकृतियाँ भगवान्की होनेसे भगवत्स्वरूप हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। परन्तु जीव-(परा-) ने जगत्-(अपरा-) को धारण कर लिया अर्थात् उसको स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता देकर अपना मान लिया—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' (गीता १५। ७)। यही जीवकी मूल भूल है, जिसके कारण वह जगत् बन गया (गीता ७। १३) अर्थात् जगत्की तरह परिवर्तनशील, जन्मने-मरनेवाला बन गया। इस भूलको मिटानेके लिये साधकको चाहिये कि वह 'परा'को अर्थात् अपने-आपको भगवान्के अर्पित कर दे और 'अपरा'को अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिको संसारके अर्पित कर दे, संसारकी सेवामें लगा दे। 'मैं भगवान्का और भगवान्के लिये ही हूँ'—ऐसा स्वीकार कर लेना अपने-आपको भगवान्के अर्पित करना है और 'शरीर संसारका और संसारके लिये ही है'—ऐसा अनुभव कर लेना शरीरको संसारके अर्पित करना है। इस प्रकार भगवान्की चीज भगवान्को दे दी—यह 'भक्तियोग' हो गया, संसारकी चीज संसारको दे दी—यह 'कर्मयोग' हो गया और न तो भगवान्से तथा न संसारसे ही कुछ चाहनेसे स्वयं असंग हो गया—यह 'ज्ञानयोग' हो गया। इस प्रकार कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों सिद्ध होनेसे परा और अपराकी स्वतन्त्र सत्ताकी मान्यता मिट जाती है और '**वासुदेवः सर्वम्**'का अनुभव हो जाता है।

जो अपना कल्याण चाहता है, वह अगर अपरा-(जगत्-)को सच्चा मानता है तो उसके लिये 'कर्मयोग' (भौतिक साधना) है, अगर परा-(जीव अर्थात् चेतन-) को सच्चा मानता है तो उसके

---

* **नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो**
नो वा वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥

'मैं न तो ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य हूँ, न शूद्र हूँ; न ब्रह्मचारी हूँ, न गृहस्थ हूँ और न संन्यासी ही हूँ; किन्तु सम्पूर्ण परमानन्दमय अमृतके उमड़ते हुए महासागररूप गोपीकान्त श्यामसुन्दरके चरणकमलोंके दासोंका दासानुदास हूँ।'

लिये 'ज्ञानयोग' (आध्यात्मिक साधना) है और अगर परमात्माको सच्चा मानता है तो उसके लिये 'भक्तियोग' (आस्तिक साधना) है। अगर वह किसीको भी सच्चा नहीं मानता तो भी उसका कल्याण हो जायगा! कारण कि किसीको भी न माननेसे उसपर संसार आदिका प्रभाव नहीं पड़ेगा और वह स्वतः निर्विकल्प हो जायगा। मनुष्यपर उसी वस्तुका असर पड़ता है, जिसको वह सच्चा मानता है।

हमने संसारकी चीज संसारको दे दी तो अब हम संसारसे कुछ चाहनेके अधिकारी ही नहीं रहे। इसी तरह भगवान्‌की चीज भगवान्‌को दे दी तो हमें स्वतः प्रेमकी प्राप्ति हो जायगी (गीता ७। १७)। प्रेमसे बढ़कर कोई चीज है ही नहीं, जिसकी चाहना हम भगवान्‌से करें। संसारकी चीज संसारको देना 'योग' है और संसारसे कुछ चाहना 'भोग' है। भगवान्‌की चीज भगवान्‌को देना 'योग' है और भगवान्‌से कुछ माँगना 'भोग' है।

वास्तवमें मनुष्यशरीर कर्मयोनि अथवा भोगयोनि नहीं है, प्रत्युत साधनयोनि अथवा प्रेमयोनि है; क्योंकि भगवान्‌ने मनुष्यको प्रेमके लिये ही बनाया है—**'एकाकी न रमते'**। इसलिये प्रेमकी प्राप्ति मनुष्यजन्ममें ही हो सकती है। सम्पूर्ण योनियोंमें एक मनुष्य ही ऐसा है, जो भगवान्‌को अपना मान सकता है, भगवान्‌से कह सकता है कि मैं तेरा हूँ, तू मेरा है अथवा केवल तू-ही-तू है। कारण कि भगवान्‌ने संसारको जीवोंके लिये बनाया है और मनुष्यको अपने लिये बनाया है। मनुष्यमें संसारको अपना न माननेकी और भगवान्‌को अपना माननेकी जो योग्यता और सामर्थ्य है, वह भी वास्तवमें भगवान्‌की ही दी हुई है। भगवान्‌की दी हुई योग्यता और सामर्थ्यसे ही मनुष्य भगवान्‌से प्रेम करता है।

संसार निरन्तर बदलनेवाला (अप्राप्त) है तथा अपना नहीं है, फिर भी वह हमारेको प्रिय लगता है और परमात्मा सब देश, काल आदिमें ज्यों-के-त्यों विद्यमान (नित्यप्राप्त) हैं तथा अपने हैं, फिर भी वे हमारेको प्रिय नहीं लगते! इसका कारण यह है कि हम संसारकी निन्दा तो करते हैं, पर उसकी सत्ता और महत्ता नहीं है तथा वह अपना नहीं है—यह अनुभव नहीं करते। इसी तरह हम परमात्माकी महिमा तो गाते हैं, पर उनको सत्ता और महत्ता देकर अपना स्वीकार नहीं करते। इसलिये साधकका खास काम है—विवेकपूर्वक संसारको अपना न मानना और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्‌को अपना मानना, जो कि वास्तविकता है।

जब मनुष्य संसारको अपना और अपने लिये मान लेता है, तब उसको अपनी और संसारकी (परा और अपराकी) स्वतन्त्र सत्ता प्रतीत होने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि जीव जगत्‌के अधीन (पराधीन) हो जाता है और जन्म-मरणमें पड़कर दुःख पाता है (गीता ८। १९, ९। ८)। इस पराधीनतासे छूटनेके लिये साधकके लिये तीन खास बातें हैं—(१) मेरा कुछ नहीं है। (२) मेरेको कुछ नहीं चाहिये। (३) मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है।

(१) हमारा स्वरूप (स्वयं) सत्तामात्र है। इस स्वरूपके साथ कुछ भी नहीं है। संसारकी कोई भी वस्तु और क्रिया स्वरूपतक नहीं पहुँचती। तात्पर्य यह हुआ कि अपने पास अपने सिवाय कुछ भी नहीं है। 'मैं' कहलानेवाला स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर भी अपने साथ नहीं है और हम उसके साथ नहीं हैं। अगर शरीर हमारे साथ रहता तो हमारे अनेक जन्म कैसे होते? हम अनेक शरीर कैसे धारण करते? अगर हम शरीरके साथ रहते तो मुक्ति कभी होती ही नहीं। प्रत्येक

देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, परिस्थिति, अवस्था आदिमें निरन्तर परिवर्तन होता है, उत्पत्ति-विनाश होता है, पर अपनेमें (स्वरूपमें) कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन, उत्पत्ति-विनाश नहीं होता। इन देश, काल आदि सबके अभावका अनुभव हमें होता है, पर अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। परिवर्तनशील एवं नाशवान् वस्तु (शरीर-संसार) अपरिवर्तनशील एवं अविनाशी तत्त्वके साथ कैसे रह सकती है और उसके क्या काम आ सकती है? अमावस्याकी रात सूर्यके साथ कैसे रह सकती है और सूर्यके क्या काम आ सकती है? सांसारिक शरीर, बल, बुद्धि, विद्या, योग्यता, सुन्दरता आदि संसारके ही काम आते हैं, हमारे काम किंचिन्मात्र भी नहीं आते। तात्पर्य है कि अपरा प्रकृति और उसके कार्य शरीर-संसारके द्वारा हमें कुछ भी नहीं मिलता, हमारी किंचिन्मात्र भी पुष्टि नहीं होती, हित नहीं होता, हो सकता भी नहीं। अनन्त ब्रह्माण्ड मिलकर भी हमारी पूर्ति, सन्तुष्टि नहीं कर सकते। इसलिये अनन्त सृष्टियों, अनन्त ब्रह्माण्डोंमें एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो हमारी हो और हमारे लिये हो!

जीव और परमात्मा—दोनों ही अकिंचन हैं। जीव इसलिये अकिंचन है कि उसके लिये संसारमें 'मेरा कुछ नहीं है' अर्थात् उसका भगवान्‌के सिवाय और किसीसे सम्बन्ध नहीं है, और परमात्मा इसलिये अकिंचन हैं कि उनके सिवाय दूसरी कोई सत्ता नहीं है—**'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'** (गीता ७। ७), **'सदसच्चाहम्'** (गीता ९। १९)। जबतक जीवकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है, तबतक उसके पास कुछ नहीं है और जब उसकी दृष्टिमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, तब भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है—**'वासुदेवः सर्वम्'**। उसकी भगवान्‌के साथ आत्मीयता हो जाती है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७। १८), **'मयि ते तेषु चाप्यहम्'** (गीता ९। २९)। इसलिये भगवान्‌ने रुक्मिणीजीसे कहा है कि 'हम सदाके अकिंचन हैं और अकिंचन भक्तोंसे ही हम प्रेम करते हैं और वे हमारेसे प्रेम करते हैं—

निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः।

(श्रीमद्भा० १०। ६०। १४)

भगवान् दर्शन भी अकिंचन भक्तोंको ही देते हैं— **'त्वामकिञ्चनगोचरम्'** (श्रीमद्भा० १। ८। २६)। इसलिये कोई भी वस्तु अपनी और अपने लिये नहीं है—ऐसा स्वीकार करके अनुभव करते ही हम अकिंचन हो जाते हैं, भगवान्‌के प्रेमी हो जाते हैं—**'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'** (गीता ७। १७)।

(२) इच्छा अभावसे पैदा होती है। सत्तामात्र अपने स्वरूपमें कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। इसलिये अपनेमें कोई इच्छा नहीं होती। जब अनन्त सृष्टिमें कोई वस्तु हमारी और हमारे लिये है ही नहीं और कोई वस्तु स्वयंतक पहुँच सकती ही नहीं, हमें प्राप्त हो सकती ही नहीं तो फिर किसकी इच्छा करें और क्यों करें? जिस शरीरको हम 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे लिये' मानते हैं, वह शरीर भी हमें आजतक प्राप्त हुआ नहीं, प्राप्त है नहीं, प्राप्त होगा नहीं, प्राप्त होना सम्भव ही नहीं। कारण कि वह निरन्तर बदलता है और हम निरन्तर रहते हैं। तात्पर्य है कि शरीरका स्वयंसे कभी संयोग हुआ ही नहीं; क्योंकि ये दोनों ही परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं। इसलिये न तो हमें संसारसे कुछ चाहिये और न भगवान्‌से ही कुछ चाहिये। संसारसे इसलिये कुछ नहीं चाहिये कि उसके पास

ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो वह हमें दे सके। भगवान्‌से भी शान्ति, मुक्ति, सद्‌गति, दर्शन आदि कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि इनको देना भगवान्‌का कर्तव्य है, जो उनके अधीन है। हमारा काम भगवान्‌को उनका कर्तव्य बताना नहीं है, प्रत्युत अपने कर्तव्यका पालन करना है। हमारा कर्तव्य यह है कि हम भगवान्‌के सिवाय किसीको भी अपना न मानकर अपनेको सर्वथा अर्पण कर दें और भगवान्‌से कुछ भी न माँगें; क्योंकि वास्तवमें भगवान्‌के सिवाय अपना कोई है ही नहीं।

एक मार्मिक बात है कि भगवान्‌के सिवाय दूसरी वस्तुको अपना माननेसे भगवान्‌से सम्बन्ध-विच्छेद अर्थात् विमुखता होती है। इसी तरह भगवान्‌से कोई वस्तु माँगनेसे उस वस्तुके साथ सम्बन्ध होता है और देनेवाले-(भगवान्-)से सम्बन्ध-विच्छेद होता है। मनुष्यसे यही भूल होती है कि वह मिली हुई वस्तुओंको तो अपना मानता है, पर उनको देनेवालेको अपना नहीं मानता! मिली हुई वस्तुएँ तो बिछुड़ जायँगी, पर भगवान् नहीं बिछुड़ेंगे।

(३) सत्तामात्र हमारे स्वरूपमें कोई क्रिया नहीं है। क्रियामात्र प्रकृतिमें ही होती है। स्वयं किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं करता—**'नैव किञ्चित्करोमीति'** (गीता ५।८), **'नैव किञ्चित्करोति सः'** (गीता ४।२०)। मनुष्य जो कुछ करता है, कुछ-न-कुछ पानेके लिये ही करता है। जब सृष्टिमात्रमें कोई भी वस्तु हमारी और हमारे लिये है ही नहीं तो फिर किसको पानेके लिये कर्म किया जाय? इसलिये हमें अपने लिये कुछ करना है ही नहीं।

अगर हम शरीर आदि किसी भी वस्तुको अपना मानें तो कभी सर्वथा निष्काम हो सकते ही नहीं; क्योंकि शरीरको रोटी-कपड़ा आदि सब कुछ चाहिये। सर्वथा निष्काम हुए बिना क्रियाका त्याग भी नहीं हो सकता; क्योंकि कामना-पूर्तिके लिये क्रिया करनी ही पड़ेगी। इसलिये 'मेरा कुछ नहीं है'—यह अनुभव होनेपर 'मेरेको कुछ नहीं चाहिये'—ऐसा अनुभव करनेकी सामर्थ्य आ जाती है, और 'मेरेको कुछ नहीं चाहिये'—यह अनुभव होनेपर 'मेरेको कुछ नहीं करना है'—ऐसा अनुभव करनेकी सामर्थ्य आ जाती है।

'मेरा कुछ नहीं है'—ऐसा माननेसे मनुष्य ममतारहित हो जाता है, 'मेरेको कुछ नहीं चाहिये'—ऐसा माननेसे कामनारहित हो जाता है और 'मेरेको (अपने लिये) कुछ नहीं करना है'—ऐसा माननेसे कर्तृत्व-रहित हो जाता है। ममतारहित, कामनारहित और कर्तृत्वरहित होनेसे मनुष्य 'स्व'में स्थित अर्थात् 'मुक्त' हो जाता है*। अगर साधक अपनी सत्ताको परमात्माकी सत्ताके अर्पित कर देता है अर्थात् 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—ऐसी आत्मीयता (अभिन्नता) स्वीकार कर लेता है तो वह 'स्वकीय'में स्थित अर्थात् 'भक्त' हो जाता है।

अगर कोई साधक ज्ञानमार्ग-(निर्गुणोपासना-) का आग्रह रखकर भक्तिमार्ग-(सगुणोपासना-)की उपेक्षा, अनादर, खण्डन, निन्दा अथवा तिरस्कार करता है तो उसको मुक्त होनेके बाद भी भक्तिकी प्राप्ति नहीं होगी। अगर साधक अपने साधनका आग्रह न रखे, भक्तिकी उपेक्षा, तिरस्कार न करे, प्रत्युत उसका

---

* **विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।**
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः....................................।
(गीता २।७१-७२)

आदर करे तो उसको मुक्त होनेके बाद भक्तिकी प्राप्ति स्वतः-स्वाभाविक हो जायगी। इसलिये गीतामें भगवान्‌ने **'येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि'** (४। ३५) पदोंसे कहा है कि 'तत्त्वज्ञान होनेपर सम्पूर्ण प्राणियोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें देखेगा' **(द्रक्ष्यसि आत्मनि)**—यह मुक्तिकी प्राप्ति है, और 'उसके बाद मेरेमें देखेगा' **(अथो मयि)**—यह भक्तिकी प्राप्ति है। वास्तवमें हम शरीरके साथ कभी मिल सकते ही नहीं और परमात्मासे कभी अलग हो सकते ही नहीं। अतः मुक्त होना और भक्त होना वास्तविकता है।

मुक्तिमें तो सूक्ष्म अहम्‌की गंध रह जाती है, जिससे द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि मतभेद पैदा होते हैं, पर प्रेमकी प्राप्तिमें अहम्‌का सर्वथा अभाव हो जाता है*, जिससे सम्पूर्ण मतभेद मिटकर **'वासुदेवः सर्वम्'**का अर्थात् परा-अपराके सहित भगवान्‌के समग्ररूपका अनुभव हो जाता है। यही 'विज्ञानसहित ज्ञान' है, जिसको जाननेके बाद फिर कुछ जाननेयोग्य शेष रहता ही नहीं—**'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते'** (गीता ७। २) और जिसको जानकर साधक जन्ममरणरूप संसारसे मुक्त हो जाता है—**'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'** (गीता ९। १)। इसी विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन भगवान्‌ने सातवें, नवें, दसवें और ग्यारहवें अध्यायमें किया है। फिर बारहवें अध्यायमें इसका निर्णय किया है कि केवल ज्ञानकी अपेक्षा विज्ञानसहित ज्ञान श्रेष्ठ है। कारण कि 'ज्ञान'में निर्गुणकी उपासना है और 'विज्ञान'में सगुण-(समग्र-) की उपासना है। सगुणकी उपासना समग्रकी उपासना है। परन्तु निर्गुणकी उपासना समग्रके एक अंगकी उपासना है; क्योंकि निर्गुणमें गुणोंका निषेध होनेसे उसके अन्तर्गत सगुण (समग्र) नहीं आ सकता, जबकि सगुण-(समग्र-)में किसीका भी निषेध न होनेसे निर्गुण भी उसके अन्तर्गत आ जाता है। इसलिये सगुणका उपासक विज्ञानसहित ज्ञानको अर्थात् सगुण-निर्गुण, साकार-निराकारके सहित भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है (गीता ७। २९-३०)।

'ज्ञान'से मुक्ति प्राप्त होती है और 'विज्ञान'से भक्ति प्राप्त होती है। मुक्तिमें परमात्मासे सधर्मता होती है—**'मम साधर्म्यमागताः'** (गीता १४। २) और भक्तिमें परमात्मासे आत्मीयता (अभिन्नता) होती है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७। १८)। अन्तिम प्रापणीय तत्त्व भक्ति ही है; अतः इसीकी प्राप्तिमें मानवजीवनकी पूर्णता है।

---

* **प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥**

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः
(तेरहवाँ अध्याय)

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—

कौन्तेय	=हे कुन्तीपुत्र अर्जुन!	**अभिधीयते**	=नामसे कहते हैं (और)	**तद्विदः**	=ज्ञानीलोग
इदम्	=‘यह’-रूपसे कहे जानेवाले	**एतत्**	=इस क्षेत्रको	**क्षेत्रज्ञः**	=‘क्षेत्रज्ञ’—
शरीरम्	=शरीरको	**यः**	=जो	**इति**	=इस नामसे
क्षेत्रम्	=‘क्षेत्र’—	**वेत्ति**	=जानता है,		
इति	=इस	**तम्**	=उसको	**प्राहुः**	=कहते हैं।

विशेष भाव—‘इदम्’ (क्षेत्र)के अन्तर्गत अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें जितने भी शरीर हैं, उनमें ‘परा’ (जीव) क्षेत्रज्ञ है और ‘अपरा’ (जगत्) क्षेत्र है। जीव जगत्को जाननेवाला और परमात्माको माननेवाला है। जाननेवाला व्यापक होता है। अतः क्षेत्रज्ञके एक अंशमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं—**‘येन सर्वमिदं ततम्’** (गीता २। १७)। साधकको जानना चाहिये कि मैं क्षेत्र नहीं हूँ, प्रत्युत क्षेत्रको जाननेवाला क्षेत्रज्ञ हूँ।

दृश्य द्रष्टाके किसी अंशमें होता है। जैसे, आँखसे सब कुछ देखनेपर भी आँख नहीं भरती। अतः वास्तवमें आँख दृश्यसे भी बड़ी हुई। बुद्धिसे कितनी ही बातें जान लें, पर बुद्धि कभी भरती नहीं, खाली ही रहती है। ज्यों भरते हैं, त्यों खाली होती है। अतः बुद्धि बड़ी हुई। ब्रह्माजीकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी हमारी बुद्धिके जाननेके अन्तर्गत हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण सम्पूर्ण शरीर दृश्य हैं। ऐसे ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण सम्पूर्ण सृष्टि भी दृश्य है। यह सम्पूर्ण दृश्य द्रष्टा (क्षेत्रज्ञ) के किसी अंशमें है।

जैसे धनके सम्बन्धसे मनुष्य ‘धनवान्’ कहलाता है; किन्तु धनका सम्बन्ध न रहनेपर धनवान् (व्यक्ति) तो रहता है, पर उसकी ‘धनवान्’ संज्ञा नहीं रहती। ऐसे ही क्षेत्रके सम्बन्धसे स्वयं ‘क्षेत्रज्ञ’ कहलाता है; किन्तु क्षेत्रका सम्बन्ध न रहनेपर क्षेत्रज्ञ (स्वयं) तो रहता है, पर उसकी ‘क्षेत्रज्ञ’ संज्ञा नहीं रहती। तात्पर्य है कि एक ही चिन्मय तत्त्व (समझनेकी दृष्टिसे) क्षेत्रके सम्बन्धसे क्षेत्रज्ञ, क्षरके सम्बन्धसे अक्षर, शरीरके सम्बन्धसे शरीरी, दृश्यके सम्बन्धसे द्रष्टा, साक्ष्यके सम्बन्धसे साक्षी और करणके सम्बन्धसे कर्ता कहा जाता है। वास्तवमें उस तत्त्वका कोई नाम नहीं है। वह केवल अनुभवरूप है।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

भारत	=हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! (तू)	**क्षेत्रज्ञम्**	=क्षेत्रज्ञ	**विद्धि**	=समझ
		माम्	=मुझे	**च**	=और
सर्वक्षेत्रेषु	=सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें	**अपि**	=ही	**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः**	=क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका

यत्	= जो	**तत्**	= वही	**मतम्**	= मतमें
ज्ञानम्	= ज्ञान है,	**मम**	= मेरे	**ज्ञानम्**	= ज्ञान है।

विशेष भाव— क्षेत्रज्ञ (जीव) और ब्रह्म एक ही हैं। एक क्षेत्रके सम्बन्धसे वह 'क्षेत्रज्ञ' है और सम्पूर्ण क्षेत्रोंके सम्बन्धसे रहित होनेपर वह 'ब्रह्म' है।

'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रम्' पदोंसे यह सिद्ध हुआ कि शरीर (क्षेत्र)की अनन्त ब्रह्माण्डों (सृष्टिमात्र)के साथ एकता है और **'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'** पदोंसे यह सिद्ध हुआ कि स्वयं (क्षेत्रज्ञ) की अनन्त-अपार-असीम परमात्माके साथ एकता है। अतः हमारेसे दूर-से-दूर कोई वस्तु है तो वह शरीर है और नजदीक-से-नजदीक कोई वस्तु है तो वह परमात्मा है। तात्पर्य है कि शरीर और संसार एक हैं तथा स्वयं और परमात्मा एक हैं (गीता १५। ७)। यही ज्ञान है।

ब्रह्मके लिये **'माम्'** कहनेका तात्पर्य है कि ब्रह्म और ईश्वर दो नहीं हैं, प्रत्युत एक ही हैं—**'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना'** (गीता ९। ४) 'यह सब संसार मेरे निराकार स्वरूपसे व्याप्त है'। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें जो निर्लिप्तरूपसे सर्वत्र परिपूर्ण चेतन है, वह ब्रह्म है और जो अनन्त ब्रह्माण्डोंका मालिक है, वह ईश्वर है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ ३॥

तत्	= वह	**च**	= और	**च**	= और
क्षेत्रम्	= क्षेत्र	**यतः**	= जिससे	**यत्प्रभावः**	= जिस प्रभाववाला है,
यत्	= जो है	**यत्**	= जो (पैदा हुआ है)	**तत्**	= वह सब
च	= और	**च**	= तथा	**समासेन**	= संक्षेपमें
यादृक्	= जैसा है	**सः**	= वह क्षेत्रज्ञ (भी)	**मे**	= मुझसे
च	= तथा	**यः**	= जो है	**शृणु**	= सुन।
यद्विकारि	= जिन विकारोंवाला है				

विशेष भाव— भगवान्‌के द्वारा **'तत्समासेन मे शृणु'** कहनेका तात्पर्य है कि साधकके लिये ज्यादा जाननेकी जरूरत नहीं है। ज्यादा जाननेमें समय तो ज्यादा खर्च होगा, पर साधन कम होगा।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ ४॥

यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका तत्त्व—

ऋषिभिः	= ऋषियोंके द्वारा	**विविधैः**	= बहुत प्रकारसे	**हेतुमद्भिः**	= युक्तियुक्त (एवं)
बहुधा	= बहुत विस्तारसे	**पृथक्**	= विभागपूर्वक (कहा गया है)	**विनिश्चितैः**	= निश्चित किये हुए
गीतम्	= कहा गया है (तथा)			**ब्रह्मसूत्रपदैः**	= ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा
छन्दोभिः	= वेदोंकी ऋचाओंद्वारा	**च**	= और	**एव**	= भी (कहा गया है)।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ ५॥

अव्यक्तम्	=मूल प्रकृति	**महाभूतानि**	=पाँच महाभूत	**च**	=तथा
च	=और	**च**	=और	**पञ्च**	=पाँचों
बुद्धिः	=समष्टि बुद्धि (महत्तत्त्व),	**दश**	=दस	**इन्द्रियगोचराः**	=इन्द्रियोंके पाँच विषय—
		इन्द्रियाणि	=इन्द्रियाँ,	**एव**	=यही (चौबीस तत्त्वों-वाला क्षेत्र है।)
अहङ्कारः	=समष्टि अहंकार,	**एकम्**	=एक मन		

~~~

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ ६॥

इच्छा	=इच्छा,	**चेतना**	=चेतना (प्राणशक्ति) (और)	**क्षेत्रम्**	=क्षेत्र
द्वेषः	=द्वेष,				
सुखम्	=सुख,	**धृतिः**	=धृति—	**समासेन**	=संक्षेपसे
दुःखम्	=दुःख,	**सविकारम्**	=इन विकारोंसहित		
सङ्घातः	=संघात (शरीर)	**एतत्**	=यह	**उदाहृतम्**	=कहा गया है।

विशेष भाव—क्षेत्रके साथ सम्बन्ध रखनेसे ही इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि विकार क्षेत्रज्ञमें होते हैं—'**पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते**' (१३। २०)। इच्छा-द्वेषादि सभी विकार तादात्म्य (जड़-चेतनकी ग्रन्थि) में हैं। तादात्म्यमें भी ये विकार जड़-अंशमें रहते हैं।

यहाँ भगवान्‌ने चौबीस तत्त्वोंवाले शरीरको तथा उसके सात विकारोंको '**एतत्**' (यह) कहा है—'**एतत्क्षेत्रम्**'। इसका तात्पर्य है कि स्वयं क्षेत्रसे मिला हुआ नहीं है, प्रत्युत सर्वथा अलग है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों ही शरीर '**एतत्**' पदके अन्तर्गत होनेसे हमारा स्वरूप नहीं है। यहाँ विशेष ध्यान देनेकी बात है कि जब अहंकारका कारण 'महत्तत्त्व' और 'मूल प्रकृति' को भी '**एतत्**' शब्दसे कह दिया तो फिर अहंकारके '**एतत्**' होनेमें कहना ही क्या है! अहम्‌से नजदीक महत्तत्त्व है और महत्तत्त्वसे नजदीक प्रकृति है, वह प्रकृति भी '**एतत् क्षेत्रम्**' में है। तात्पर्य है कि अहम् हमारा स्वरूप है ही नहीं। जो मनुष्य स्वयंको और अहम् (क्षेत्र) को अलग-अलग जान लेता है, उसका फिर कभी जन्म नहीं होता और वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता १३। २३)।

~~~

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ ७॥

अमानित्वम्	=अपनेमें श्रेष्ठताका भाव न होना,	**क्षान्तिः**	=क्षमा,	**स्थैर्यम्**	=स्थिरता (और)
		आर्जवम्	=सरलता,	**आत्म-विनिग्रहः**	=मनका वशमें होना।
अदम्भित्वम्	=दिखावटीपन न होना,	**आचार्योपासनम्**	=गुरुकी सेवा,		
अहिंसा	=अहिंसा,	**शौचम्**	=बाहर-भीतरकी शुद्धि,		

विशेष भाव—भगवान् क्षेत्रके साथ माने हुए सम्बन्ध (तादात्म्य) को तोड़नेके लिये ज्ञानके साधन बताते हैं। ये साधन तादात्म्यको तोड़नेमें सहायक हैं।

~~~

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८॥
~~~

इन्द्रियार्थेषु	=इन्द्रियोंके विषयोंमें		होना		वृद्धावस्था तथा
वैराग्यम्	=वैराग्यका होना,	**च**	=और		व्याधियोंमें दु:ख-
अनहङ्कारः,		**जन्ममृत्युजराव्याधिदु:खदोषानु-**			रूप दोषोंको बार-
एव	=अहंकारका भी न	**दर्शनम्**	=जन्म, मृत्यु,		बार देखना।

विशेष भाव—एक 'दु:खका भोग' होता है और एक 'दु:खका प्रभाव' होता है। दु:खसे दु:खी होना और सुखकी इच्छा करना 'दु:खका भोग' है। दु:खके कारणकी खोज करके उसको मिटाना 'दु:खका प्रभाव' है। यहाँ दु:खके प्रभावको '**दु:खदोषानुदर्शनम्**' पदसे कहा गया है।

दु:खका भोग करनेसे अर्थात् दु:खी होनेसे विवेक लुप्त हो जाता है। परन्तु दु:खका प्रभाव होनेसे विवेक लुप्त नहीं होता, प्रत्युत मनुष्य विवेकदृष्टिसे दु:खके कारणकी खोज करता है और खोज करके उसको मिटाता है। सुखकी इच्छा ही सम्पूर्ण दु:खोंका कारण है। कारणके मिटनेपर कार्य अपने-आप मिट जाता है; अतः सुखकी इच्छा मिटनेपर सम्पूर्ण दु:खोंका नाश हो जाता है।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ ९॥

असक्तिः	=आसक्तिरहित होना,	**अनभिष्वङ्गः**	=एकात्मता (घनिष्ठ सम्बन्ध) न होना	**पत्तिषु**	=अनुकूलता-प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें
पुत्रदार-		**च**	=और	**नित्यम्, समचित्तत्वम्**	= चित्तका नित्य सम रहना।
गृहादिषु	=पुत्र, स्त्री, घर आदिमें	**इष्टानिष्टोप-**			

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १०॥

मयि	=मुझमें	**भक्तिः**	=भक्तिका होना,	**च**	=और
अनन्ययोगेन	=अनन्ययोगके द्वारा	**विविक्त-**		**जनसंसदि**	=जन-समुदायमें
अव्यभि-		**देशसेवित्वम्**	=एकान्त स्थानमें रहनेका स्वभाव होना	**अरतिः**	=प्रीतिका न होना।
चारिणी	=अव्यभिचारिणी				

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ ११॥

अध्यात्मज्ञान-			देखना	**अतः**	=इसके
नित्यत्वम्	=अध्यात्मज्ञानमें नित्य-निरन्तर रहना,	**एतत्**	=—यह (पूर्वोक्त बीस साधन-समुदाय) तो	**अन्यथा**	=विपरीत है,
				अज्ञानम्	=वह अज्ञान है—
तत्त्वज्ञानार्थ-				**इति**	=ऐसा
दर्शनम्	=तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सब जगह	**ज्ञानम्**	=ज्ञान है (और)	**प्रोक्तम्**	=कहा गया है।
		यत्	=जो		

विशेष भाव—क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागका ज्ञान करानेमें हेतु होनेसे इन बीस साधनोंको '**ज्ञान**' नामसे कहा गया है। इससे जो विपरीत है, वह अज्ञान है। साधन न करनेसे मनुष्य ज्ञानकी बातें तो सीख लेता है, पर अनुभव नहीं कर सकता। अतः साधन न करनेसे अज्ञान (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको एक देखना) रहता है और अज्ञानके रहते हुए अगर कोई सीखकर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका विवेचन करता है तो वह वास्तवमें देहाभिमानको ही पुष्ट करता है। परन्तु जो ये साधन करता है, उसमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विभाग करनेकी योग्यता आ जाती है।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १२॥

यत्	=जो	**ज्ञात्वा**	=जानकर (मनुष्य)	**तत्**	=उसको
ज्ञेयम्	=ज्ञेय (पूर्वोक्त ज्ञानसे जाननेयोग्य) है,	**अमृतम्**	=अमरताका	**न**	=न
तत्	=उस (परमात्मतत्त्व) को	**अश्नुते**	=अनुभव कर लेता है।	**सत्**	=सत्
प्रवक्ष्यामि	=मैं अच्छी तरहसे कहूँगा,	**अनादिमत्**	=(वह ज्ञेय-तत्त्व) अनादिवाला	**उच्यते**	=कहा जा सकता है (और)
यत्	=जिसको	**परम्**	=(और) परम	**न, असत्**	=न असत् ही (कहा जा सकता है)।
		ब्रह्म	=ब्रह्म है।		

विशेष भाव—परमात्मतत्त्वको '**ज्ञेय**' कहनेका तात्पर्य है कि वह तत्त्व जाननेयोग्य है, उसको जानना चाहिये और वह जाननेमें शक्य है अर्थात् जाना जा सकता है। वास्तवमें वह तत्त्व जाननेमें आता नहीं है; क्योंकि प्रकृतिसे अतीत होनेके कारण वह प्रकृतिकी पकड़में नहीं आता। परन्तु वह स्वयंसे प्राप्त किया जा सकता है।

प्रकृति और पुरुष—दोनोंको अनादि कहा गया है (गीता १३। १९); अतः दोनोंका मालिक होनेसे परमात्माको यहाँ '**अनादिमत्**' अर्थात् अनादिवाला कहा गया है*। सातवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपरा प्रकृतिको '**इतीयं मे**' कहकर और परा प्रकृति (जीवात्मा)को '**मे पराम्**' कहकर दोनोंको अपने अधीन बताया है; अतः दोनोंके मालिक भगवान् ही हुए। उपनिषद्में भी आया है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।

(श्वेताश्वतर० १। १०)

'प्रकृति तो क्षर (परिवर्तनशील) है और इसको भोगनेवाला पुरुष (जीवात्मा) अमृतस्वरूप अक्षर (अपरिवर्तनशील) है। इन दोनों (प्रकृति और पुरुष) को एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है।'

गीतामें एक ही समग्र परमात्माका तीन प्रकारसे वर्णन आया है—

(१) परमात्मा सत् भी हैं और असत् भी हैं—'**सदसच्चाहम्**' (९। १९)।

(२) परमात्मा सत् भी हैं, असत् भी हैं और सत्-असत्से पर भी हैं—'**सदसत्तत्परं यत्**' (११। ३७)।

(३) परमात्मा न सत् हैं और न असत् ही हैं—'**न सत्तन्नासदुच्यते**' (१३। १२)

—इसका तात्पर्य है कि वास्तवमें एक परमात्माके सिवाय कुछ भी नहीं है। वह मन, बुद्धि और वाणीसे सर्वथा अतीत है, इसलिये उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, पर उसको प्राप्त किया जा सकता है।

वास्तवमें परमात्मतत्त्वका वर्णन शब्दोंसे नहीं कर सकते। उसको असत्की अपेक्षासे सत्, विकारकी अपेक्षासे निर्विकार, एकदेशीयकी अपेक्षासे सर्वदेशीय कह देते हैं, पर वास्तवमें उस तत्त्वमें सत्, निर्विकार आदि शब्द लागू होते ही नहीं। कारण कि सभी शब्दोंका प्रयोग सापेक्षतासे और प्रकृतिके सम्बन्धसे होता है, पर तत्त्व निरपेक्ष

* '**अनादिमत्परं ब्रह्म**' पदोंका ऐसा अर्थ भी ले सकते हैं—'अनादि, मत्परं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म मेरे परायण (आश्रित) है—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' (गीता १३। २७)।

और प्रकृतिसे अतीत है। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, गुण आदिको लेकर ही संज्ञा बनती है। परमात्मामें ये देश, काल आदि हैं ही नहीं, फिर उनकी संज्ञा कैसे? इसलिये यहाँ आया है कि उस तत्त्वको न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है।

परमात्मतत्त्वका आदि (आरम्भ) नहीं है। जो सदासे है, उसका आदि कैसे? सब अपर हैं, वह पर है। वह न सत् है, न असत्। आदि-अनादि, पर-अपर और सत्-असत्का भेद प्रकृतिके सम्बन्धसे है। वह तत्त्व तो आदि-अनादि, पर-अपर और सत्-असत्से विलक्षण है। इस प्रकार भगवान्ने ज्ञेय-तत्त्वका वर्णन करनेकी जो बात कही है, वह वास्तवमें वर्णन नहीं है, प्रत्युत लक्षक अर्थात् लक्ष्यकी तरफ दृष्टि करानेवाला है। इसका तात्पर्य ज्ञेय-तत्त्वका लक्ष्य करानेमें है, कोरा वर्णन करनेमें नहीं। इसलिये साधकको भी लक्षककी दृष्टिसे ही विचार करना चाहिये, केवल सीखनेकी दृष्टिसे नहीं।

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥

तत्	=वे (परमात्मा)	**शिरोमुखम्**	=सब जगह नेत्रों, सिरों और मुखोंवाले (तथा)	**लोके**	=(वे) संसारमें
सर्वतःपाणिपादम्	=सब जगह हाथों और पैरोंवाले,			**सर्वम्**	=सबको
सर्वतोऽक्षि-		**सर्वतःश्रुतिमत्**	=सब जगह कानोंवाले हैं।	**आवृत्य**	=व्याप्त करके
				तिष्ठति	=स्थित हैं।

विशेष भाव—परमात्मामें सब जगह सब कुछ है। जैसे, कलम और स्याहीमें किस जगह कौन-सी लिपि नहीं है? जानकार आदमी उस एक ही कलम और स्याहीसे अनेक लिपियाँ लिख देता है। सोनेकी डलीमें किस जगह कौन-सा गहना नहीं है? सुनार उस एक डलीमेंसे कड़ा, कण्ठी, हार, नथ आदि अनेक गहने निकाल लेता है। इसी तरह लोहेमें किस जगह कौन-सा औजार अथवा अस्त्र-शस्त्र नहीं है? मिट्टी और पत्थरमें किस जगह कौन-सी मूर्ति नहीं है? ऐसे ही परमात्मामें किस जगह क्या नहीं है? परमात्मासे ही यह सब सृष्टि पैदा हुई है, उसीमें स्थित रहती है और अन्तमें उसीमें लीन हो जाती है। पहले भी वही है, पीछे भी वही है, फिर बीचमें दूसरी चीज कैसे आये? कहाँसे आये? इस बातको साधक दृढ़तासे स्वीकार कर ले तो फिर परमात्मा दीखने लग जायगा; क्योंकि वास्तवमें हैं ही वही, दूसरी चीज है ही नहीं! भगवान् कहते हैं—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० २। ९। ३२)

'सृष्टिसे पहले भी मैं ही विद्यमान था, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं था और सृष्टि उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह संसार दीखता है, वह भी मैं ही हूँ। सत्, असत् तथा सत्-असत्से परे जो कुछ कल्पना की जा सकती है, वह भी मैं ही हूँ। सृष्टिके सिवाय भी जो कुछ है, वह मैं ही हूँ और सृष्टिका नाश होनेपर जो शेष रहता है, वह भी मैं ही हूँ।'

तात्पर्य है कि सत्ता एक ही है। द्वन्द्वोंमें उलझे रहनेके कारण उसका अनुभव नहीं होता।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ १४॥

सर्वेन्द्रियविवर्जितम्	=वे (परमात्मा) सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित हैं (और)
सर्वेन्द्रियगुणाभासम्	= सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाशित करनेवाले हैं;
असक्तम्	=आसक्तिरहित हैं
च	=और
सर्वभृत्	=सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण करनेवाले हैं
च, एव	=तथा
निर्गुणम्	=गुणोंसे रहित हैं (और)
गुणभोक्तृ	=सम्पूर्ण गुणोंके भोक्ता हैं।

विशेष भाव—इस प्रकरणमें ब्रह्मकी मुख्यता होनेपर भी प्रस्तुत श्लोकमें 'समग्र' परमात्माका वर्णन हुआ है। यह समग्र ही ज्ञेय-तत्त्व है। अत: समग्रकी मुख्यता ज्ञान और भक्ति—दोनोंमें है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९), **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छान्दोग्य० ३। १४। १)।

इस श्लोकका तात्पर्य है कि एक परमात्माके सिवाय और किसीकी भी सत्ता नहीं है। हम जो कुछ भी कहेंगे, वह परमात्मासे अलग नहीं है। सबसे रहित भी वही है और सबके सहित भी वही है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ १५॥

तत्	=वे (परमात्मा)
भूतानाम्	=सम्पूर्ण प्राणियोंके
बहिः, अन्तः	=बाहर-भीतर (परिपूर्ण हैं)
च	=और
चरम्, अचरम्	= चर-अचर (प्राणियोंके रूपमें)
एव	=भी (वे ही हैं)
च	=एवं
दूरस्थम्	=दूर-से-दूर
च	=तथा
अन्तिके	=नजदीक-से-नजदीक भी (वे ही हैं)
च	=और
तत्	=वे
सूक्ष्मत्वात्	=अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे
अविज्ञेयम्	=जाननेमें नहीं आते।

विशेष भाव—परमात्माको बारहवें श्लोकमें 'ज्ञेय' कहा गया है। परन्तु इस श्लोकमें उनको 'अविज्ञेय' कहनेका तात्पर्य है कि परमात्मा ज्ञेय होनेपर भी संसारकी तरह ज्ञेय नहीं हैं। जैसे संसार इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जाना जाता है, ऐसे परमात्मा इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे नहीं जाने जाते। इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि प्रकृतिके कार्य हैं और परमात्मा प्रकृतिसे अतीत हैं। प्रकृतिका कार्य प्रकृतिको भी पूरा नहीं जान सकता, फिर प्रकृतिसे अतीत परमात्माको जान ही कैसे सकता है? परमात्माको तो मानकर स्वीकार करना पड़ता है; क्योंकि स्वीकृति स्वयंमें होती है, करण (मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ)में नहीं।* स्वयंकी परमात्माके साथ एकता है, इसलिये परमात्माकी प्राप्ति भी स्वीकृतिसे होती है, चिन्तन-मनन-वर्णन करनेसे नहीं। शरीर-संसारके साथ स्वयंकी एकता कभी हुई नहीं, है नहीं, होगी नहीं और हो सकती भी नहीं। परमात्मासे स्वयं कभी अलग हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ १६॥

तत्	=वे (परमात्मा)
अविभक्तम्	=(स्वयं) विभागरहित होते हुए
च	=भी
भूतेषु	=सम्पूर्ण प्राणियोंमें
विभक्तम्	=विभक्तकी

* स्वीकृति स्वयंमें होती है, इसलिये स्वीकृतिवाली बात भूली नहीं जाती; जैसे—'मैं ब्राह्मण हूँ'; 'मैं विवाहित हूँ' आदि। परन्तु मन-बुद्धिमें होनेवाली बात भूली जाती है। स्वीकृतिवाली बातमें कोई सन्देह भी नहीं होता और विपरीत भावना भी नहीं होती।

इव	=तरह		(परमात्मा ही)	**प्रभविष्णु**	=उनका भरण-पोषण करनेवाले
स्थितम्	=स्थित हैं	**भूतभर्तृ**	=सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले	**च**	=और
च	= और	**च**	=तथा	**ग्रसिष्णु**	=संहार करनेवाले हैं।
ज्ञेयम्	=(वे) जाननेयोग्य				

विशेष भाव—इस श्लोकमें परमात्माके समग्ररूपका वर्णन हुआ है। जैसे संसार भौतिक दृष्टिसे एक है, ऐसे ही वास्तविक तत्त्व (परमात्मा) भी एक है, अविभक्त है। परन्तु जैसे संसार पाञ्चभौतिक दृष्टिसे एक होते हुए भी अनेक वस्तुओं, व्यक्तियों (जड़-चेतन, स्थावर-जंगम) आदिके रूपमें दीखता है, ऐसे ही परमात्मा एक होते हुए भी अनेक रूपोंमें दीखते हैं। तात्पर्य है कि परमात्मा एक होते हुए भी अनेक हैं और अनेक होते हुए भी एक हैं। वास्तविक सत्ता कभी दो हो सकती ही नहीं; क्योंकि दो होनेसे असत् आ जाता है।

उत्पन्न करनेवाले भी परमात्मा हैं और उत्पन्न होनेवाले भी परमात्मा हैं। भरण-पोषण करनेवाले भी परमात्मा हैं और जिनका भरण-पोषण होता है, वे भी परमात्मा हैं। संहार करनेवाले भी परमात्मा हैं और जिनका संहार होता है, वे भी परमात्मा हैं।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ १७॥

तत्	=वे (परमात्मा)	**परम्**	=अत्यन्त परे	**ज्ञानगम्यम्**	=ज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य (और)
ज्योतिषाम्	=सम्पूर्ण ज्योतियोंके	**उच्यते**	=कहे गये हैं।	**सर्वस्य**	=सबके
अपि	=भी	**ज्ञानम्**	=(वे) ज्ञानस्वरूप,	**हृदि**	=हृदयमें
ज्योतिः	=ज्योति (और)	**ज्ञेयम्**	=जाननेयोग्य,	**विष्ठितम्**	=विराजमान हैं।
तमसः	=अज्ञानसे				

विशेष भाव—बारहवेंसे सत्रहवें श्लोकतक जिस ज्ञेय-तत्त्वका वर्णन हुआ है, वह भगवान्‌का समग्ररूप (**'वासुदेवः सर्वम्'**) ही है। कारण कि इसमें निर्गुण-निराकार (१३। १२), सगुण-निराकार (१३। १३) और सगुण-साकार (१३। १६)—तीनों ही रूपोंका वर्णन हुआ है।

'ज्ञानगम्यम्'—परमात्मा तत्त्वज्ञानसे ही जाने जाते हैं, क्रिया, वस्तु आदिसे नहीं। तत्त्वज्ञानके सिवाय उनको जाननेका दूसरा कोई साधन नहीं है। मनुष्य कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि जिस साधनसे परमात्माको जानेगा, वास्तवमें तत्त्वज्ञानसे ही जानेगा। श्रद्धा-भक्ति, विश्वास, भगवत्कृपा आदिसे भी जानेगा तो तत्त्वज्ञानसे ही जानेगा। कारण कि जानना ज्ञानसे ही होता है।

यहाँ **'ज्ञानगम्यम्'** पदका अर्थ 'साधन-समुदायसे प्राप्त होनेयोग्य' भी लिया जा सकता है, जिसका वर्णन इसी अध्यायके सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक हुआ है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ १८॥

इति	=इस प्रकार	**ज्ञेयम्**	=ज्ञेयको	**विज्ञाय**	=तत्त्वसे जानकर
क्षेत्रम्	=क्षेत्र	**समासतः**	=संक्षेपसे	**मद्भावाय**	=मेरे भावको
तथा	=तथा	**उक्तम्**	=कहा गया है।	**उपपद्यते**	=प्राप्त हो जाता है।
ज्ञानम्	=ज्ञान	**मद्भक्तः**	=मेरा भक्त		
च	=और	**एतत्**	=इसको		

विशेष भाव—यहाँ '**मद्भक्त एतद्विज्ञाय**' पदोंका तात्पर्य है कि समग्र परमात्माका ज्ञान भक्तिसे ही हो सकता है*। अतः साधकको भक्त होना चाहिये।

इस श्लोकमें आये '**मद्भावायोपपद्यते**' पदको गीतामें कई प्रकारसे कहा गया है; जैसे—'**मद्भावमागताः**' (४। १०), '**मम साधर्म्यमागताः**' (१४। २), '**मद्भावं सोऽधिगच्छति**' (१४। १९)। 'मद्भाव' का अर्थ है—मुझ परमात्माकी सत्ता। यह सिद्धान्त है कि सत्ता एक ही होती है, दो नहीं होती। भगवान्‌ने गीतामें ज्ञान और भक्ति—दोनोंमें ही अपने भावकी प्राप्ति बतायी है। 'ज्ञान' में इसका तात्पर्य है—ब्रह्मसे साधर्म्य होना अर्थात् जैसे ब्रह्म सत्-चित्-आनन्दरूप है, ऐसे ही ज्ञानी महापुरुषका भी सत्-चित्-आनन्दरूप होना। 'भक्ति' में इसका तात्पर्य है—भक्तकी भगवान्‌के साथ आत्मीयता अर्थात् अभिन्नता होना।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ १९॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ २०॥

प्रकृतिम्	= प्रकृति	**गुणान्**	= गुणोंको	**हेतुः**	= हेतु
च	= और	**अपि**	= भी	**उच्यते**	= कही जाती है (और)
पुरुषम्	= पुरुष	**प्रकृतिसम्भवान्, एव**	= प्रकृतिसे ही उत्पन्न	**सुखदुःखानाम्**	= सुख-दुःखोंके
उभौ	= दोनोंको	**विद्धि**	= समझो।	**भोक्तृत्वे**	= भोक्तापनमें
एव	= ही (तुम)	**कार्यकरणकर्तृत्वे**	= कार्य और करणके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको उत्पन्न करनेमें	**पुरुषः**	= पुरुष
अनादी	= अनादि	**प्रकृतिः**	= प्रकृति	**हेतुः**	= हेतु
विद्धि	= समझो			**उच्यते**	= कहा जाता है।
च	= और				
विकारान्	= विकारोंको				
च	= तथा				

विशेष भाव—भगवान् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका ही प्रकृति और पुरुषके नामसे पुनः वर्णन करते हैं। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ व्यष्टि हैं और प्रकृति-पुरुष समष्टि हैं।

एक प्रकृति-विभाग है और एक पुरुष-विभाग है। शरीर तथा संसार प्रकृति-विभागमें हैं और आत्मा तथा परमात्मा पुरुष-विभागमें हैं। जैसे प्रकृति और पुरुष अनादि हैं, ऐसे ही इन दोनोंके भेदका ज्ञान अर्थात् विवेक भी अनादि है। अतः विवेक-दृष्टिसे देखें तो ये दोनों विभाग एक-दूसरेसे बिलकुल असम्बद्ध हैं अर्थात् दोनोंमें किंचिन्मात्र भी कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रकृति तो असत्, जड़ तथा दुःखरूप है और पुरुष सत्, चित् तथा आनन्दरूप है। प्रकृति नाशवान्, विकारी तथा क्रियाशील है और पुरुष अविनाशी, निर्विकार तथा अक्रिय है। प्रकृतिकी नित्यनिवृत्ति है और पुरुषकी नित्यप्राप्ति है। गीताके आरम्भमें भी भगवान्‌ने इसी विभागका वर्णन शरीर और शरीरी, देह और देही, सत् और असत् आदि नामोंसे किया है†। अतः इस विभागको ठीक-ठीक समझना प्रत्येक साधकके लिये बहुत आवश्यक तथा शीघ्र बोध करानेवाला है। कारण कि शरीर और शरीरीको एक मानना ही बन्धन है और इन दोनोंको बिलकुल अलग-अलग अनुभव करना ही मुक्ति है।

* प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥
(मानस, उत्तर० ४९। ३)

† पुरुष ही अहम्‌को स्वीकार करनेसे जीव, क्षेत्रज्ञ, शरीरी, देही आदि नामोंसे कहा जाता है।

भगवान् शक्तिमान् हैं और प्रकृति उनकी शक्ति है।* ज्ञानकी दृष्टिसे शक्ति और शक्तिमान्—दोनों अलग-अलग हैं; क्योंकि शक्तिमें तो परिवर्तन (घटना-बढ़ना) होता है, पर शक्तिमान् ज्यों-का-त्यों रहता है। परन्तु भक्तिकी दृष्टिसे शक्ति और शक्तिमान्—दोनों अभिन्न हैं; क्योंकि शक्तिको शक्तिमान्से अलग नहीं कर सकते अर्थात् शक्तिमान्के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ज्ञान और भक्ति—दोनोंकी बात रखनेके लिये ही भगवान्ने प्रकृतिको न अनन्त कहा है और न सान्त कहा है, प्रत्युत 'अनादि' कहा है। कारण कि अगर प्रकृतिको अनन्त (नित्य) कहें तो ज्ञानका खण्डन हो जायगा; क्योंकि ज्ञानकी दृष्टिसे प्रकृतिकी सत्ता ही नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६)। अगर प्रकृतिको सान्त (अनित्य) कहें तो भक्तिका खण्डन हो जायगा; क्योंकि भक्तिकी दृष्टिसे प्रकृति भगवान्की शक्ति होनेसे भगवान्से अभिन्न है—'**सदसच्चाहम्**' (गीता ९। १९)। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो प्रकृति और पुरुषका स्वभाव अलग-अलग होते हुए भी दोनों परस्पर अभिन्न ही हैं।

वास्तवमें परमात्माका स्वरूप 'समग्र' है। परमात्मामें कोई शक्ति न हो—ऐसा सम्भव नहीं है। अगर परमात्माको सर्वथा शक्तिरहित मानें तो परमात्मा एकदेशीय ही सिद्ध होंगे। उनमें शक्तिका परिवर्तन अथवा अदर्शन तो हो सकता है, पर शक्तिका अभाव नहीं हो सकता। शक्ति कारणरूपसे उनमें रहती ही है, अन्यथा परमात्माके सिवाय शक्ति (प्रकृति)के रहनेका स्थान कहाँ होगा? इसलिये यहाँ प्रकृति और पुरुष दोनोंको 'अनादि' कहा गया है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ २१॥

प्रकृतिस्थः	= प्रकृतिमें स्थित	**भुङ्क्ते**	= भोक्ता बनता है (और)	**सदसद्योनिजन्मसु**	= ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका
पुरुषः	= पुरुष (जीव)				
हि	= ही	**गुणसङ्गः**	= गुणोंका संग (ही)		
प्रकृतिजान्	= प्रकृतिजन्य				
गुणान्	= गुणोंका	**अस्य**	= इसके	**कारणम्**	= कारण बनता है।

विशेष भाव—भगवान्ने उन्नीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें एवं बीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें 'प्रकृति' का वर्णन किया है और बीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें और यहाँ इक्कीसवें श्लोकमें 'पुरुष' का वर्णन किया है।

वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके साथ सम्बन्ध ही 'गुणसंग' है, जो जन्म-मरणका कारण है। गुणोंका संग अनित्य है और गुणोंसे असंगता नित्य है। असंगता हमारा स्वरूप है—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदा० ४। ३। १५)। अगर हम अनित्य (गुणोंके संग) को न पकड़ें तो जन्म-मरण हो ही नहीं सकता।

'मैं' जड़ (प्रकृति) है और 'हूँ' चेतन (पुरुष) है तथा 'मैं हूँ'—यह जड़-चेतनका तादात्म्य है। इस 'मैं हूँ' में ही कर्तापन और भोक्तापन रहता है। अगर 'मैं' न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' रहेगा। जैसे लोहे और अग्निमें तादात्म्य न रहनेसे लोहा पृथ्वीपर ही रह जाता है और अग्नि निराकार अग्नि-तत्त्वमें लीन हो जाती है, ऐसे ही अहम् तो प्रकृतिमें ही रह जाता है और 'हूँ' ('है' का स्वरूप होनेसे) 'है' में ही विलीन हो जाता है। 'है' में कर्तापन और भोक्तापन नहीं है। तात्पर्य है कि भोगोंमें 'हूँ' खिंचता है, 'है' नहीं खिंचता। 'हूँ' ही कर्ता-भोक्ता बनता है, 'है' कर्ता-भोक्ता नहीं बनता। अतः साधक 'हूँ' को न मानकर 'है' को ही माने अर्थात् अनुभव करे।

सुख-दुःखके आने-जानेका और स्वयंके रहनेका अनुभव सबको है। पापी-से-पापी मनुष्यको भी इसका अनुभव है। ऐसा अनुभव होनेपर भी मनुष्य आगन्तुक सुख-दुःखके साथ मिलकर सुखी-दुःखी हो जाता है। इसका कारण यह है कि सुखकी आसक्ति और दुःखका भय रहनेसे 'मैं अलग हूँ और सुख-दुःख अलग हैं'—यह विवेक

* '**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्**' (श्वेताश्वतर० ४। १०)

काम नहीं करता। वास्तवमें स्वयं सुखी-दुःखी नहीं होता, प्रत्युत शरीरके साथ मिलकर अपनेको सुखी-दुःखी मान लेता है। तात्पर्य है कि सुख-दुःख केवल अविवेकपूर्वक की गयी मान्यतापर टिके हुए हैं।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ २२॥

यह पुरुष—

उपद्रष्टा	=(शरीरके साथ	**भोक्ता**	=(उसके संगसे सुख-	**परमात्मा**	='परमात्मा'—
	सम्बन्ध रखनेसे)		दुःख भोगनेसे)	**इति**	=इस नामसे
	'उपद्रष्टा',		'भोक्ता'	**उक्तः**	=कहा जाता है।
अनुमन्ता	=(उसके साथ	**च**	=और		(यह)
	मिलकर सम्मति,	**महेश्वरः**	=(अपनेको उसका	**अस्मिन्**	=इस
	अनुमति देनेसे)		स्वामी माननेसे)	**देहे, अपि**	=देहमें रहता हुआ
	'अनुमन्ता',		'महेश्वर' (बन जाता		भी (देहसे)
भर्ता	=(अपनेको उसका		है)।		
	भरण-पोषण	**च**	=परन्तु	**परः**	=पर (सर्वथा
	करनेवाला माननेसे)	**पुरुषः**	=(स्वरूपसे यह)		सम्बन्ध-रहित)
	'भर्ता',		पुरुष		ही है।

विशेष भाव—वास्तवमें पुरुष 'पर' ही है, पर अन्यके सम्बन्धसे वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता आदि बन जाता है। जैसे, मनुष्य पुत्रके सम्बन्धसे 'पिता', पिताके सम्बन्धसे 'पुत्र', पत्नीके सम्बन्धसे 'पति', बहनके सम्बन्धसे 'भाई' आदि बन जाता है। ये सम्बन्ध अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये ही हैं, ममता करनेके लिये नहीं। वास्तविक स्वरूप तो 'पर' अर्थात् सर्वथा सम्बन्धरहित ही है।

यहाँ उपद्रष्टा, अनुमन्ता आदि अनेक उपाधियोंका तात्पर्य एकतामें है कि चेतन तत्त्व वास्तवमें एक ही है। ज्ञानके प्रकरणमें प्रकृति और पुरुष दोका ही वर्णन मुख्य है। अतः यहाँ आये उपद्रष्टा, अनुमन्ता, ईश्वर आदि सब शब्द 'पुरुष' के वाचक समझने चाहिये।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ २३॥

एवम्	=इस प्रकार	**प्रकृतिम्**	=प्रकृतिको	**सर्वथा**	=सब तरहका
पुरुषम्	=पुरुषको	**यः**	=जो मनुष्य	**वर्तमानः**	=बर्ताव करता हुआ
च	=और	**वेत्ति**	=(अलग-अलग)	**अपि**	=भी
गुणैः	=गुणोंके		जानता है,	**भूयः**	=फिर
सह	=सहित	**सः**	=वह	**न, अभिजायते**	= जन्म नहीं लेता।

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें आये '**देहेऽस्मिन् पुरुषः परः**' की व्याख्या इस श्लोकमें करते हैं। जिसका विवेक जाग्रत् हो गया है अर्थात् '**देहेऽस्मिन् पुरुषः परः**'—यह अनुभवमें आ गया है, वह अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार सब कर्म करते हुए भी निर्लेप रहता है। वास्तवमें मनुष्यमात्रका स्वरूप निर्लिप्त ही है, पर गुणोंके संगसे वह लिप्त हो जाता है और बार-बार जन्मता-मरता है (गीता १३। २१)। गुणोंका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ है, पुरुषके साथ

नहीं (गीता १३। १९-२०)।

'सर्वथा वर्तमानोऽपि' पदोंमें आये **'अपि'** का तात्पर्य है कि वह आसक्त मनुष्यकी तरह सब बर्ताव करता हुआ भी निर्विकार रहता है*।

'न स भूयोऽभिजायते'—जैसे छाछसे निकला हुआ मक्खन पुनः छाछमें मिलकर दही नहीं बनता, ऐसे ही प्रकृतिजन्य गुणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर मनुष्य पुनः गुणोंसे नहीं बँधता। उसकी ब्रह्मसे सधर्मता हो जाती है अर्थात् जैसे ब्रह्मका जन्म-मरण नहीं होता, ऐसे ही उसका भी जन्म-मरण नहीं होता।

छठे अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें आया है—**'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते'** और यहाँ आया है—**'सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते'।** छठे अध्यायमें आये **'स योगी मयि वर्तते'** पदोंमें प्रेमकी प्राप्ति है और यहाँ आये **'न स भूयोऽभिजायते'** पदोंमें बोधकी प्राप्ति है। प्रेम और बोध—दोनोंमें ही गुणोंका संग नहीं रहता। दोनोंमें अन्तर यह है कि बोधमें तो जन्म-मरणसे मुक्ति होती है, पर प्रेममें मुक्तिके साथ-साथ भगवान्‌से अभिन्नता होती है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २४॥

केचित्	= कई मनुष्य	**योगेन**	= सांख्ययोगके द्वारा	**आत्मना**	= अपने-आपसे
ध्यानेन	= ध्यानयोगके द्वारा,	**च**	= और	**आत्मनि**	= अपने-आपमें
अन्ये	= कई	**अपरे**	= कई	**आत्मानम्**	= परमात्मतत्त्वका
साङ्ख्येन,		**कर्मयोगेन**	= कर्मयोगके द्वारा	**पश्यन्ति**	= अनुभव करते हैं।

विशेष भाव—जैसे पूर्वश्लोकमें विवेकके महत्त्वको मुक्तिका उपाय बताया, ऐसे ही यहाँ ध्यानयोग आदि अन्य उपाय बताते हैं। गीतामें ध्यानयोगसे परमात्मप्राप्तिकी बात छठे अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें कही है, सांख्ययोगसे परमात्मप्राप्तिकी बात दूसरे अध्यायके पन्द्रहवें श्लोकमें कही है और कर्मयोगसे परमात्मप्राप्तिकी बात दूसरे अध्यायके इकहत्तरवें श्लोकमें कही है। ये सभी परमात्मप्राप्तिके स्वतन्त्र साधन हैं।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ २५॥

---

* **सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।**
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् ॥ (गीता ३। २५)

'हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।'

अन्ये	=दूसरे मनुष्य	**अन्येभ्यः**	=दूसरोंसे (जीवन्मुक्त महापुरुषोंसे)	**श्रुतिपरायणाः**	=सुननेके अनुसार आचरण करनेवाले मनुष्य
एवम्	=इस प्रकार (ध्यान-योग, सांख्ययोग, कर्मयोग आदि साधनोंको)	**श्रुत्वा**	=सुनकर	**अपि**	=भी
		एव	=ही	**मृत्युम्**	=मृत्युको
अजानतः	=नहीं जानते,	**उपासते**	=उपासना करते हैं,	**अतितरन्ति**	=तर जाते हैं।
तु	=पर	**च, ते**	=ऐसे वे		

विशेष भाव—जिन मनुष्योंमें शास्त्रोंको समझनेकी योग्यता नहीं है, जिनका विवेक कमजोर है, पर जिनके भीतर मृत्युसे तरनेकी उत्कट अभिलाषा है, ऐसे मनुष्य भी जीवन्मुक्त सन्त-महात्माओंकी आज्ञाका पालन करके मृत्युको तर जाते हैं।

उपनिषद्में एक कथा आती है। जबालाका पुत्र सत्यकाम गौतम ऋषिके पास उपदेश लेने गया। ऋषिने उसको चार सौ कृश तथा निर्बल गायें देकर कहा कि तू इनके पीछे-पीछे जा। सत्यकामने उत्साहपूर्वक कहा कि इनकी संख्या एक हजार होनेपर ही मैं वापिस आऊँगा। ऐसा कहकर वह उन गायोंको वनमें ले गया और वहाँ उनका पालन-पोषण करने लगा। बहुत वर्ष बीतनेपर जब उनकी संख्या एक हजार हो गयी, तब एक साँड़ने उससे कहा कि हमारी संख्या एक हजार हो गयी है, अब तू हमारेको आचार्यके पास पहुँचा दे, ऐसा कहकर उस साँड़ने सत्यकामको ब्रह्मके प्रथम पादका उपदेश दिया। दूसरे ही दिन सत्यकाम गायोंको लेकर गुरुकुलकी ओर रवाना हो गया। रास्तेमें उसको अग्निने ब्रह्मके दूसरे पादका, हंसने ब्रह्मके तीसरे पादका और मद्गु [एक जलचर पक्षी] ने ब्रह्मके चौथे पादका उपदेश दिया। इस प्रकार रास्तेमें ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके वह गौतम ऋषिके पास पहुँचा। गुरुके पूछनेपर उसने सारी बात बतायी और उनसे अपने श्रीमुखसे उपदेश देनेकी प्रार्थना की। तब गौतम ऋषिने उसको उपदेश दिया (छान्दोग्य० ४। ४—९)। इस तरह केवल तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त महापुरुषकी आज्ञा माननेसे ही सत्यकामको तत्त्वज्ञान हो गया।

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ २६ ॥

भरतर्षभ	=हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**यावत्, किञ्चित्**	= जितने भी	**क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्**	= क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे (उत्पन्न हुए)
स्थावरजङ्गमम्	= स्थावर और जंगम	**सत्त्वम्**	=प्राणी		
		सञ्जायते	=पैदा होते हैं,		
		तत्	=उनको (तुम)	**विद्धि**	=समझो।

विशेष भाव—यहाँ '**यावत्सञ्जायते**' के अन्तर्गत जरायुज-अण्डज-उद्भिज्ज-स्वेदज, जलचर-नभचर-थलचर, मनुष्य, देवता, पितर, भूत, प्रेत, पिशाच आदि सम्पूर्ण प्राणी लेने चाहिये। सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें भी '**एतद्योनीनि भूतानि**' पदोंसे यही बात कही गयी है।

भक्तिके प्रकरणमें भगवान्ने परा और अपरा—दोनोंको अपनी प्रकृति बताकर कहा कि 'इन दोनों प्रकृतियोंके संयोगसे ही सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं और मैं ही सम्पूर्ण जगत्का प्रभव तथा प्रलय हूँ' (गीता ७। ६)। परन्तु यहाँ ज्ञानके प्रकरणमें भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण प्राणी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य है कि भक्तिके प्रकरणमें भगवान् अपनी तरफ दृष्टि कराते हैं; क्योंकि भक्तका भगवान्पर ही दृढ़ विश्वास होता है। उसके साधन और साध्य—दोनों भगवान् ही होते हैं। परन्तु ज्ञानमें भगवान् क्षेत्रज्ञ (स्वरूप) की ओर दृष्टि कराते हैं कि क्षेत्रके साथ तादात्म्य करनेके कारण ही वह जन्म-मृत्युरूप बन्धनमें पड़ा है। यहाँ प्रश्न होता है कि आकर्षण एवं मिलन (संयोग) सजातीयतामें ही होता है, फिर विजातीय क्षेत्र (जड़) के साथ क्षेत्रज्ञ (चेतन)का संयोग

कैसे हुआ? इसका उत्तर है कि जैसे रात और दिनका संयोग नहीं हो सकता, ऐसे ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भी संयोग नहीं हो सकता। परन्तु परमात्माका अंश होनेके कारण क्षेत्रज्ञमें यह शक्ति है कि वह विजातीय वस्तुको भी पकड़ सकता है, उसके साथ अपना सम्बन्ध मान सकता है। उसको यह स्वतन्त्रता भगवान्ने ही दी है। परन्तु उसने इस स्वतन्त्रताका दुरुपयोग किया अर्थात् भगवान्के साथ सम्बन्ध न मानकर संसारके साथ सम्बन्ध मान लिया और जन्म-मरणके चक्रमें पड़ गया (गीता १३। २१)।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ २७॥

यः	= जो	**परमेश्वरम्**	= परमेश्वरको	**पश्यति**	= देखता है,
विनश्यत्सु	= नष्ट होते हुए	**अविनश्यन्तम्**	= नाशरहित (और)	**सः**	= वही
सर्वेषु	= सम्पूर्ण	**समम्**	= समरूपसे	**पश्यति**	= (वास्तवमें सही) देखता है।
भूतेषु	= प्राणियोंमें	**तिष्ठन्तम्**	= स्थित		

विशेष भाव—जैसे आकाशमें कभी सूर्यका प्रकाश फैल जाता है, कभी अँधेरा छा जाता है, कभी धुआँ छा जाता है, कभी काले-काले बादल छा जाते हैं, कभी बिजली चमकती है, कभी वर्षा होती है, कभी ओले गिरते हैं, कभी तरह-तरहके शब्द होते हैं, गर्जना होती है; परन्तु आकाशमें कोई फर्क नहीं पड़ता। वह ज्यों-का-त्यों निर्लिप्त-निर्विकार रहता है। ऐसे ही सर्वत्र परिपूर्ण सत्तामें कभी महासर्ग और महाप्रलय होता है, कभी सर्ग और प्रलय होता है, कभी जन्म और मृत्यु होती है, कभी अकाल पड़ता है, कभी बाढ़ आती है, कभी भूचाल आता है, कभी घमासान युद्ध होता है; परन्तु सत्तामें कोई फर्क नहीं पड़ता। कितनी ही उथल-पुथल हो जाय, पर सत्ता ज्यों-की-त्यों निर्लिप्त-निर्विकार रहती है। यह निर्विकारता स्वाभाविक है, जबकि विकार (संग) कृत्रिम है, माना हुआ है। बद्ध हो या मुक्त, पापी हो या धर्मात्मा, यह निर्विकार सत्ता दोनोंमें समानरूपसे स्थित है।

जैसे, गंगाजी निरन्तर बहती रहती हैं, पर जिसके ऊपर बहती हैं, वह आधारशिला ज्यों-की-त्यों स्थिर रहती है। गंगाजीका जल कभी स्वच्छ होता है, कभी मटमैला होता है। कभी जल कम हो जाता है, कभी बाढ़ आ जाती है। कभी तपे पहाड़पर वर्षा होनेसे जल गरम हो जाता है, कभी ठण्डा हो जाता है। कभी तेज प्रवाहके कारण जल आवाज करने लगता है, कभी शान्त हो जाता है। परन्तु आधारशिला ज्यों-की-त्यों रहती है, उसमें कभी कोई फर्क नहीं पड़ता। इसी तरह कभी जलमें मछलियाँ आ जाती हैं, कभी साँप आदि जन्तु आ जाते हैं, कभी लकड़ीके सिलपट तैरते हुए आ जाते हैं, कभी पुष्प बहते हुए आ जाते हैं, कभी कूड़ा-कचरा आ जाता है, कभी मैला आ जाता है, कभी गोबर आ जाता है, कभी कोई मुर्दा बहता हुआ आ जाता है, कभी कोई जीवित व्यक्ति तैरता हुआ आ जाता है। ये सब तो आकर चले जाते हैं, पर आधारशिला ज्यों-की-त्यों अचल-निर्विकार रहती है। ऐसे ही सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदि निरन्तर बह रही है, पर स्वयं (चिन्मय सत्ता) ज्यों-का-त्यों अचल रहता है। परिवर्तन और विनाश देश, काल आदिमें होता है, स्वयंमें नहीं।

'यः पश्यति स पश्यति'—ये पद पाँचवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें साधनके विषयमें आये हैं और प्रस्तुत श्लोकमें सिद्धिके विषयमें आये हैं। इसीको आगे अठारहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें व्यतिरेकरीतिसे कहा गया है कि जो आत्माको कर्ता देखता है, वह दुर्मति ठीक नहीं देखता—**'न स पश्यति दुर्मतिः'**।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ २८॥

हि	= क्योंकि	**पश्यन्**	= देखनेवाला मनुष्य	**ततः**	= इसलिये (वह)
सर्वत्र	= सब जगह	**आत्मना**	= अपने-आपसे	**पराम्**	= परम
समवस्थितम्	= समरूपसे स्थित	**आत्मानम्**	= अपनी	**गतिम्**	= गतिको
ईश्वरम्	= ईश्वरको	**न, हिनस्ति**	= हिंसा नहीं करता,	**याति**	= प्राप्त हो जाता है।
समम्	= समरूपसे				

विशेष भाव—सत्ताईसवें-अट्ठाईसवें श्लोकोंमें आत्माके लिये 'परमेश्वर' और 'ईश्वर' नाम आये हैं; क्योंकि आत्माका परमात्मासे साधर्म्य है (गीता १३। २२)।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ २९॥

यः	= जो	**क्रियमाणानि**	= की जाती हुई	**पश्यति**	= देखता (अनुभव करता) है,
कर्माणि	= सम्पूर्ण क्रियाओंको	**पश्यति**	= देखता है		
सर्वशः	= सब प्रकारसे	**तथा**	= और		
प्रकृत्या	= प्रकृतिके द्वारा	**आत्मानम्**	= अपने-आपको	**सः, च**	= वही (यथार्थ देखता है)।
एव	= ही	**अकर्तारम्**	= अकर्ता		

विशेष भाव—जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, वे सब-की-सब प्रकृति-विभागमें ही होती हैं। इसमें जीवका हाथ नहीं है। प्रकृतिके द्वारा होनेवाली क्रियाओंको ही गीतामें कहीं 'गुणोंसे होनेवाली क्रियाएँ' और कहीं 'इन्द्रियोंसे होनेवाली क्रियाएँ' कहा गया है; जैसे—सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं—'**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः**' (३। २७); गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—'**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' (३। २८); गुणोंके सिवाय अन्य कोई कर्ता है ही नहीं—'**नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति**' (१४। १९); इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं—'**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते**' (५। ९) आदि। तात्पर्य है कि क्रियामात्र प्रकृतिजन्य ही है। अतः प्रकृति कभी किंचिन्मात्र भी अक्रिय नहीं होती और पुरुषमें कभी किंचिन्मात्र भी क्रिया नहीं होती। इसलिये गीतामें आया है कि तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी 'मैं (स्वयं) लेशमात्र भी कुछ नहीं करता हूँ'—ऐसा अनुभव करता है—'**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' (५। ८); स्वयं न करता है, न करवाता है—'**नैव कुर्वन्न कारयन्**' (५। १३); यह पुरुष शरीरमें रहता हुआ भी न करता है, न लिप्त होता है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (१३। ३१); जो आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है—'**तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं**........' (१८। १६) आदि।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३०॥

यदा	= जिस कालमें (साधक)	**एकस्थम्**	= एक प्रकृतिमें ही स्थित	**एव**	= ही (उन सबका)
				विस्तारम्	= विस्तार (देखता है),
भूतपृथग्भावम्	= प्राणियोंके अलग-अलग भावोंको	**अनुपश्यति**	= देखता है	**तदा**	= उस कालमें (वह)
		च	= और	**ब्रह्म**	= ब्रह्मको
		ततः	= उस प्रकृतिसे	**सम्पद्यते**	= प्राप्त हो जाता है।

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें व्यक्तिकी बात और प्रस्तुत श्लोकमें कालकी बात आयी है।

भक्तिके प्रकरणमें भगवान्‌ने सम्पूर्ण भावोंको अपनेमें बताया है—**'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः'** (१०।५), पर यहाँ ज्ञानके प्रकरणमें सम्पूर्ण भावोंको प्रकृतिमें बताया है। तात्पर्य है कि जहाँ सत्-असत्‌का विभाग किया है, वहाँ सब भाव असत्‌में कहे हैं और जहाँ समग्रकी बात कही है, वहाँ सब भाव अपनेमें कहे हैं। समग्रमें सत्-असत् सब कुछ परमात्मा ही हैं—**'सदसच्चाहम्'** (९।१९)।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ ३१ ॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीनन्दन!	**अव्ययः**	=अविनाशी	**अपि**	=भी
अयम्	=यह (पुरुष स्वयं)	**परमात्मा**	= परमात्मस्वरूप ही है।	**न**	=न
अनादित्वात्	=अनादि होनेसे (और)	**शरीरस्थः**	=यह शरीरमें रहता हुआ	**करोति**	=करता है (और)
निर्गुणत्वात्	=गुणोंसे रहित होनेसे			**न**	=न
				लिप्यते	=लिप्त होता है।

विशेष भाव—पुरुष अनादि है, पर शरीर आदिवाला है। पुरुष निर्गुण है, पर शरीर गुणमय है। पुरुष परमात्मा है, पर शरीर अनात्मा है। पुरुष अव्यय है, पर शरीर नाशवान् है। इसलिये अज्ञानी मनुष्यके द्वारा पुरुष (आत्मा)को शरीरमें स्थित माननेपर भी वास्तवमें वह शरीरमें स्थित नहीं है अर्थात् शरीरसे सर्वथा असम्बद्ध है—**'न करोति न लिप्यते'**। कारण कि शरीरका सम्बन्ध तो संसारके साथ है, पर पुरुषका सम्बन्ध परमात्माके साथ है। अतः वास्तवमें पुरुष कभी शरीरस्थ हो सकता ही नहीं। परन्तु इस वास्तविकताकी तरफ ध्यान न देनेके कारण मनुष्य उसको शरीरस्थ मान लेता है।

'निर्गुणत्वात्'—पुरुष स्वयं निर्गुण होते हुए भी गुणोंका संग करके बँध जाता है (गीता १३।२१)। दीखता तो ऐसा ही कि बन्धन स्वतः-स्वाभाविक है और मुक्ति कृतिसाध्य है, पर वास्तवमें मुक्ति स्वतः-स्वाभाविक है और बन्धन कृतिसाध्य है। गुणोंका सम्बन्ध पुरुषके साथ नहीं है, प्रत्युत प्रकृतिके साथ है (गीता १३।२३)। इसलिये 'अनादि, निर्गुण, परमात्मा, अव्यय' और **'न करोति न लिप्यते'**—ये स्वतः-स्वाभाविक हैं। साधकको इस स्वाभाविकताका अनुभव करना है।

जैसे मकानमें रहते हुए भी हम मकानसे अलग हैं, ऐसे ही शरीरमें रहते हुए माननेपर भी हम शरीरसे अलग हैं।

'न करोति न लिप्यते'—यह साधनजन्य नहीं है, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक है। तात्पर्य है कि स्वरूपमें लेशमात्र भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है—यह स्वतःसिद्ध बात है। इसमें कोई पुरुषार्थ नहीं है अर्थात् इसके लिये कुछ करना नहीं है। तात्पर्य है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्वको मिटाना नहीं है, प्रत्युत इनको अपनेमें स्वीकार नहीं करना है, इनके अभावका अनुभव करना है; क्योंकि वास्तवमें ये अपनेमें हैं ही नहीं! इसलिये साधकको अपनेमें निरन्तर अकर्तृत्व और अभोक्तृत्वका अनुभव करना चाहिये। अपनेमें निरन्तर अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व (निष्कामता-निर्ममता) का अनुभव होना ही जीवन्मुक्ति है। इसीको गीताने स्मृति प्राप्त होना कहा है—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (१८।७३)।

अगर स्वरूप कर्ता और भोक्ता नहीं है तो फिर कर्ता और भोक्ता कौन है? यह विचार किया जाता है। पहले यह विचार करें कि कर्ता कौन है? शरीर कर्ता नहीं है; क्योंकि यह प्रतिक्षण अभावमें जा रहा है। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार—ये चार करण हैं, जिनको 'अन्तःकरण' कहते हैं। यह अन्तःकरण भी कर्ता नहीं है; क्योंकि करण कर्ताके अधीन होता है। परन्तु कर्ता स्वतन्त्र होता है—**'स्वतन्त्रः कर्ता'** (पाणि० अ० १।४।५४)। करण तो क्रियाकी सिद्धिमें अत्यन्त सहायक होता है—**'साधकतमं करणम्'** (पाणि० अ० १।४।४२), इसलिये करणके बिना किसी क्रियाकी सिद्धि होती ही नहीं। जैसे, कलम स्वतन्त्रतासे नहीं लिखती, प्रत्युत वह तो लिखनेका एक साधन

(करण) है, जो लेखक (कर्ता)के अधीन होता है। अतः करण कर्ता नहीं होता और कर्ता करण नहीं होता। दूसरी बात, यदि करणमें कर्तापन है तो फिर सुखी-दु:खी स्वयं क्यों होता है? यदि करण सुखी-दु:खी होता है तो हमें क्या नुकसान है? सत्-स्वरूप भी कर्ता नहीं है; क्योंकि मैंपन तो प्रकृतिका कार्य है, वह प्रकृतिसे अतीतमें कैसे सम्भव है? यदि स्वरूपमें कर्तापन होता तो वह कभी मिटता नहीं; क्योंकि स्वरूप अविनाशी है। इसलिये भगवान्‌ने यहाँ स्वरूपमें कर्तापनका निषेध किया है—**'न करोति'**। आगे अठारहवें अध्यायमें भी भगवान्‌ने कहा है कि जो आत्माको कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है (गीता १८। १६)। वास्तवमें जो भोक्ता (सुखी-दु:खी) होता है, वही कर्ता होता है।

अब यह विचार करें कि भोक्ता कौन है? भोक्ता न सत् है, न असत् है। सत् भोक्ता नहीं हो सकता; क्योंकि सत्‌में कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'**, जबकि भोक्तापनका अभाव होता है—**'न लिप्यते'**। असत् भी भोक्ता नहीं हो सकता; क्योंकि असत्‌की सत्ता ही नहीं है—**'नासतो विद्यते भावः'**। असत्‌में चेतनता भी नहीं है। अतः उसमें भोक्तापनकी कल्पना ही नहीं हो सकती। तात्पर्य यह हुआ कि कर्तापन और भोक्तापन न तो सत्‌में है और न असत्‌में ही है। सत्-असत्‌के संयोगमें भी कर्तापन और भोक्तापन नहीं है; क्योंकि जैसे दिन और रातका संयोग असम्भव है, ऐसे ही सत् और असत्‌का संयोग भी असम्भव है। अतः कर्तापन-भोक्तापन केवल माने हुए हैं—**'कर्ताहमिति मन्यते'** (३। २७)। जब साधक विवेकपूर्वक शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है अर्थात् मैं-मेरापनको मिटा देता है (जो कि वास्तवमें है नहीं), तब न कर्ता रहता है, न भोक्ता रहता है, प्रत्युत एक चिन्मय सत्ता रहती है। इस प्रकार अपनेमें कर्तापन और भोक्तापनके अभावका अनुभव होनेपर साधक मुक्त हो जाता है अर्थात् कर्ता-भोक्ता नहीं रहता, प्रत्युत शुद्ध स्वरूप (चिन्मय सत्ता) रह जाता है।

'न करोति न लिप्यते' पदोंका विवेचन भगवान्‌ने आगे बत्तीसवें-तैंतीसवें श्लोकोंमें किया है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ ३२॥

यथा	= जैसे	**न, उपलिप्यते**	= (कहीं भी) लिप्त नहीं होता,	**अवस्थितः**	= परिपूर्ण
सर्वगतम्	= सब जगह व्याप्त			**आत्मा**	= आत्मा
आकाशम्	= आकाश	**तथा**	= ऐसे ही	**देहे**	= (किसी भी) देहमें
सौक्ष्म्यात्	= अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे	**सर्वत्र**	= सब जगह	**न, उपलिप्यते**	= लिप्त नहीं होता।

विशेष भाव—चिन्मय सत्ता एक ही है, पर अहंताके कारण वह अलग-अलग दीखती है। अपरा प्रकृतिके अंश **'अहम्'** को पकड़नेके कारण ही यह जीव 'अंश' कहलाता है—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** (गीता १५। ७)। अगर यह अहम्‌को न पकड़े तो एक सत्ता-ही-सत्ता है। सत्ता (होनेपन)के सिवाय सब कल्पना है। वह चिन्मय सत्ता सब कल्पनाओंका आधार, अधिष्ठान, प्रकाशक और आश्रय है। उस सत्तामें एकदेशीयपना नहीं है। वह चिन्मय सत्ता सर्वव्यापक है। सम्पूर्ण सृष्टि (क्रियाएँ और पदार्थ) उस सत्ताके अन्तर्गत है। सृष्टि तो उत्पन्न और नष्ट होती रहती है, पर सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। तात्पर्य है कि चिन्मय सत्ता न शरीरस्थ है और न प्रकृतिस्थ है, प्रत्युत आकाशकी तरह सर्वत्र स्थित है अर्थात् वह सम्पूर्ण शरीरोंके, सृष्टिमात्रके बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है। वह सर्वव्यापी सत्ता ही हमारा स्वरूप है और वही परमात्मतत्त्व है। तात्पर्य है कि सर्वदेशीय सत्ता एक ही है। वही योगियोंका योग है, वही ज्ञानियोंका ज्ञान है और वही भक्तोंका भगवान् है। साधकका लक्ष्य निरन्तर उस सत्ताकी तरफ ही रहना चाहिये।

सत्तामें एकदेशीयता अहम्‌के कारण दीखती है। वह अहम् सुखलोलुपतापर टिका हुआ है। साधन करते हुए भी साधक जहाँ है, वहीं सुख भोगने लग जाता है—**'सुखसङ्गेन बध्नाति'** (गीता १४। ६)। यह सुखलोलुपता गुणातीत होनेतक रहती है। अतः इसमें साधकको बहुत विशेष सावधान रहना चाहिये और सावधानीपूर्वक सुखलोलुपतासे बचना चाहिये।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ ३३॥

भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!	**इमम्**	= इस	**क्षेत्री**	= क्षेत्रज्ञ (आत्मा)
यथा	= जैसे	**कृत्स्नम्**	= सम्पूर्ण	**कृत्स्नम्**	= सम्पूर्ण
एकः	= एक ही	**लोकम्**	= संसारको	**क्षेत्रम्**	= क्षेत्रको
रविः	= सूर्य	**प्रकाशयति**	= प्रकाशित करता है,	**प्रकाशयति**	= प्रकाशित करता है।
		तथा	= ऐसे ही		

विशेष भाव—जैसे सूर्य सम्पूर्ण जगत् (दृश्यमात्र)को प्रकाशित करता है और उसके प्रकाशमें सम्पूर्ण शुभ-अशुभ क्रियाएँ होती हैं, पर सूर्य उन क्रियाओंका न तो कर्ता बनता है और न भोक्ता ही बनता है। ऐसे ही स्वयं सम्पूर्ण लोकोंके सब शरीरोंको प्रकाशित करता है अर्थात् उनको सत्ता-स्फूर्ति देता है, पर वास्तवमें स्वयं न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है अर्थात् उसमें न कर्तृत्व आता है, न भोक्तृत्व। तात्पर्य है कि स्वयंमें प्रकाशकत्वका अभिमान नहीं है।

करनेकी जिम्मेवारी उसीपर होती है, जो कुछ कर सकता है। जैसे, कितना ही चतुर चित्रकार हो, बिना सामग्री (रंग, ब्रश आदि) के वह चित्र नहीं बना सकता, ऐसे ही पुरुष (चेतन) बिना प्रकृतिकी सहायताके कुछ नहीं कर सकता। अतः पुरुषपर कुछ करनेकी जिम्मेवारी हो ही नहीं सकती। यह सबका अनुभव है कि शरीरके बिना हम कुछ कर सकते ही नहीं। इसलिये कुछ-न-कुछ करनेमें ही शरीरका उपयोग है। अगर हम कुछ भी न करना चाहें तो शरीरका क्या उपयोग है? कुछ भी उपयोग नहीं है। अगर हम कुछ भी देखना न चाहें तो आँख हमारे क्या काम आयी? कुछ भी सुनना न चाहें तो कान हमारे क्या काम आया? स्थूल क्रिया करनेमें स्थूलशरीर काम आता है। चिन्तन, ध्यान करनेमें सूक्ष्मशरीर काम आता है। स्थिरता, समाधिमें कारणशरीर काम आता है।* अगर कुछ न करें तो तीनों शरीर हमारे क्या काम आये? शरीर और उसके द्वारा होनेवाली क्रियाएँ संसारके ही काम आती हैं। हमारा स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है; अतः उसके लिये शरीर और उसकी क्रियाएँ कुछ काम नहीं आतीं। चिन्मय सत्तामात्रमें कोई कमी नहीं आती, वह सर्वथा पूर्ण है; अतः हमारेको अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। चिन्मय सत्ताके सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं; क्योंकि सत्ता एक ही हो सकती है, दो हो सकती ही नहीं। अतः हमारेको किसी साथीकी जरूरत नहीं है। इस प्रकार न तो क्रियाके साथ सम्बन्ध (कर्तृत्व) हो, न अप्राप्त वस्तुके साथ सम्बन्ध (कामना) हो और न प्राप्त वस्तुके साथ सम्बन्ध (ममता) हो तो प्रकृतिके साथ तादात्म्य नहीं रहेगा। प्रकृतिसे तादात्म्य न रहनेपर प्रकृतिमें क्रिया तो रहेगी, पर कर्ता और भोक्ता कोई नहीं रहेगा (गीता १३। २९)।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ ३४॥

एवम्	= इस प्रकार	**च**	= तथा	**विदुः**	= जानते हैं,
ये	= जो			**ते**	= वे
ज्ञानचक्षुषा	= ज्ञानरूपी नेत्रोंसे	**भूतप्रकृतिमोक्षम्**	= कार्य-कारण-सहित प्रकृतिसे स्वयंको अलग	**परम्**	= परमात्माको
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः	= क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके			**यान्ति**	= प्राप्त हो जाते हैं।
अन्तरम्	= विभागको				

* समाधि और व्युत्थान—दोनों कारणशरीरमें होते हैं। कारणशरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर 'सहज समाधि' अथवा

विशेष भाव—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागका ज्ञान 'विवेक' कहलाता है। जो साधक इस विवेकको महत्त्व देकर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागको ठीक-ठीक जान लेते हैं तथा प्रकृति और उसके कार्य (शरीर)को स्वयंसे सर्वथा अलग अनुभव कर लेते हैं, वे चिन्मय परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं। उनकी दृष्टिमें एक चिन्मय तत्त्वके सिवाय कुछ नहीं रहता।

भगवान्‌ने '**मद्भावायोपपद्यते**' (१३। १८) पदसे सगुणकी प्राप्ति बतायी है और यहाँ '**ये विदुर्यान्ति ते परम्**' पदोंसे निर्गुणकी प्राप्ति बतायी है। वास्तवमें '**मद्भाव**' और '**परम्**' की प्राप्ति एक ही है (गीता ८। २१, १४। २७)।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

(चौदहवाँ अध्याय)

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—

ज्ञानानाम्	=सम्पूर्ण ज्ञानोंमें	**प्रवक्ष्यामि**	=कहूँगा,	**इतः**	=इस संसारसे (मुक्त होकर)
उत्तमम्	=उत्तम (और)	**यत्**	=जिसको	**पराम्**	=परम
परम्	=श्रेष्ठ	**ज्ञात्वा**	=जानकर	**सिद्धिम्**	=सिद्धिको
ज्ञानम्	=ज्ञानको (मैं)	**सर्वे**	=सब-के-सब	**गताः**	=प्राप्त हो गये हैं।
भूयः	=फिर	**मुनयः**	=मुनिलोग		

विशेष भाव—(यह चौदहवाँ अध्याय तेरहवें अध्यायका ही परिशिष्ट है।) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विभागका ज्ञान सम्पूर्ण लौकिक-पारलौकिक ज्ञानोंसे उत्तम तथा सर्वोत्कृष्ट है। यह ज्ञान परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका रामबाण उपाय है, इसलिये इस ज्ञानको प्राप्त करनेवाले सब-के-सब साधक परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाते अर्थात् मुक्त हो जाते हैं।

'**ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्**' पदोंका तात्पर्य है—सात्त्विक, राजस और तामस ज्ञानसे तथा लौकिक-पारलौकिक ज्ञानसे भी उत्तम, आखिरी ज्ञान। इस ज्ञानके सिवाय दूसरा कोई ज्ञान परमसिद्धि प्राप्त नहीं करा सकता। एक परमात्मतत्त्वके सिवाय कुछ भी नहीं है—ऐसा अनुभव हो जाना ही परमसिद्धिकी प्राप्ति है। तात्पर्य है कि परमसिद्धि प्राप्त होनेपर क्रिया तथा पदार्थका अत्यन्त अभाव हो जाता है और एक चिन्मय सत्ताके सिवाय कोई जड़ वस्तु रहती ही नहीं, जो कि वास्तवमें है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इदम्	=इस	**साधर्म्यम्**	=सधर्मताको	**न, उपजायन्ते**	= पैदा नहीं होते
ज्ञानम्	=ज्ञानका	**आगताः**	=प्राप्त हो गये हैं,	**च**	=और
उपाश्रित्य	=आश्रय लेकर	**सर्गे**	=(वे) महासर्गमें	**प्रलये**	=महाप्रलयमें भी
मम	=(जो मनुष्य) मेरी	**अपि**	=भी	**न, व्यथन्ति**	=व्यथित नहीं होते।

विशेष भाव—कारणशरीरके सम्बन्धसे 'निर्विकल्प स्थिति' होती है और कारणशरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर (स्वयंमें) 'निर्विकल्प बोध' होता है। निर्विकल्प स्थिति तो सविकल्पमें बदल जाती है, पर निर्विकल्प बोध सविकल्पमें नहीं बदलता। तात्पर्य है कि निर्विकल्प स्थितिमें परिवर्तन होता है, पर निर्विकल्प बोधमें कभी परिवर्तन नहीं होता, वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। इस बातको यहाँ '**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च**' पदोंसे कहा गया है।

महासर्ग और महाप्रलय प्रकृतिमें होते हैं। प्रकृतिसे अतीत तत्त्व (परमात्मा) की प्राप्ति होनेपर महासर्ग और महाप्रलयका कोई असर नहीं पड़ता; क्योंकि प्रकृतिसे सम्बन्ध ही नहीं रहता। प्रकृतिसे सम्बन्ध न रहनेको 'आत्यन्तिक

प्रलय' भी कहा गया है। तात्पर्य है कि प्रकृतिके कार्य शरीरको पकड़नेसे मनुष्य परतन्त्र हो जाता है*, जन्म-मरणमें पड़ जाता है; परन्तु प्रकृतिके कार्यसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर वह स्वतन्त्र हो जाता है, निरपेक्ष जीवन हो जाता है, जन्म-मरणसे सदाके लिये छूट जाता है।

'**मम साधर्म्यमागताः**' पदोंका तात्पर्य है कि जैसे परमात्मा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हैं, ऐसे ही उनको प्राप्त होनेवाले ज्ञानी महापुरुष भी सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हो जाते हैं।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥

भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!	**योनिः**	= उत्पत्ति-स्थान है (और)	**दधामि**	= स्थापन करता हूँ।
मम	= मेरी	**अहम्**	= मैं	**ततः**	= उससे
महत्, ब्रह्म	= मूल प्रकृति तो	**तस्मिन्**	= उसमें	**सर्वभूतानाम्**	= सम्पूर्ण प्राणियोंकी
		गर्भम्	= जीवरूप गर्भका	**सम्भवः**	= उत्पत्ति
				भवति	= होती है।

विशेष भाव—भगवान्‌के कथनका तात्पर्य है कि जन्म-मरणमें पड़ा हुआ होनेपर भी जीव मेरा ही अंश है। उसकी सधर्मता, एकता मेरे साथ है, शरीरके साथ नहीं।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४॥

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!	**सम्भवन्ति**	= पैदा होते हैं,	**अहम्**	= मैं
सर्वयोनिषु	= सम्पूर्ण योनियोंमें	**तासाम्**	= उन सबकी	**बीजप्रदः**	= बीज-स्थापन करनेवाला
याः	= (प्राणियोंके) जितने	**महत्, ब्रह्म**	= मूल प्रकृति तो	**पिता**	= पिता हूँ।
मूर्तयः	= शरीर	**योनिः**	= माता है (और)		

विशेष भाव—चौरासी लाख योनियाँ, देवता, पितर, गन्धर्व, भूत-प्रेत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस, बालग्रह, स्थावर-जंगम, जलचर-थलचर-नभचर, जरायुज-अण्डज-उद्भिज्ज-स्वेदज आदि सभी '**सर्वयोनिषु**' पदके अन्तर्गत लेने चाहिये। इसी बातको सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें '**एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय**' पदोंसे और तेरहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें '**यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्**' पदोंसे कहा गया है।

यहाँ 'मूर्ति' शब्दका अर्थ है—शरीर। इसके अन्तर्गत मूर्त-अमूर्त, व्यक्त-अव्यक्त दोनों शरीर लेने चाहिये। पृथ्वी, जल और अग्नि मूर्त हैं। वायु और आकाश अमूर्त हैं। वायुप्रधान शरीर होनेसे भूत-प्रेत-पिशाच भी अमूर्त हैं।

भगवान्‌ने पहले-दूसरे श्लोकोंमें बताया कि प्रकृतिका सम्बन्ध न रहे तो जन्म-मरण नहीं होता और तीसरे-चौथे श्लोकोंमें बताया कि प्रकृतिका सम्बन्ध रहनेसे जन्म-मरण होता है। इसी (तीसरे-चौथे श्लोकोंकी) बातको आगे पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक विस्तारसे कहा है।

* '**कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः**' (३।५)
'**अवशं प्रकृतेर्वशात्**' (९।८)
'**रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे**' (८।१९)

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥

महाबाहो	=हे महाबाहो!	**रजः**	=रज (और)	**अव्ययम्**	=अविनाशी
प्रकृतिसम्भवाः	= प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले	**तमः**	=तम	**देहिनम्**	=देही (जीवात्मा)को
		इति	=—ये (तीनों)	**देहे**	=देहमें
सत्त्वम्	=सत्त्व,	**गुणाः**	=गुण	**निबध्नन्ति**	=बाँध देते हैं।

विशेष भाव—प्रकृतिसे पैदा होनेके कारण सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृति-विभागमें ही हैं। परन्तु प्रकृतिके कार्य शरीरसे अपना सम्बन्ध ('मैं' और 'मेरा') मान लेनेके कारण ये गुण अविनाशी चेतनको नाशवान् जड़ शरीरमें बाँध देते हैं अर्थात् 'मैं शरीर हूँ और शरीर मेरा है'—ऐसा देहाभिमान पैदा कर देते हैं। तात्पर्य है कि सभी विकार प्रकृतिके सम्बन्धसे पैदा होते हैं। सत्तामात्र स्वरूपमें कोई भी विकार नहीं है—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदारण्यक० ४। ३। १५), '**देहेऽस्मिन्पुरुषः परः**' (गीता १३। २२)। विकारोंके कारण ही जन्म-मरण होता है।

वास्तवमें गुण जीवको नहीं बाँधते, प्रत्युत जीव ही उनका संग करके बँध जाता है (गीता १३। २१)। अगर गुण बाँधनेवाले होते तो गुणोंके रहते हुए कोई उनसे छूट सकता ही नहीं, जीवन्मुक्त हो सकता ही नहीं!

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ ६॥

अनघ	=हे पापरहित अर्जुन!		होनेके कारण		आसक्तिसे
तत्र	=उन गुणोंमें	**प्रकाशकम्**	=प्रकाशक (और)	**च**	=और
सत्त्वम्	=सत्त्वगुण	**अनामयम्**	=निर्विकार है।	**ज्ञानसङ्गेन**	=ज्ञानकी आसक्तिसे
निर्मलत्वात्	=निर्मल (स्वच्छ)	**सुखसङ्गेन**	=(वह) सुखकी	**बध्नाति**	=(देहीको) बाँधता है।

विशेष भाव—यहाँ भगवान्‌ने सत्त्वगुणको अनामय (निर्विकार) बताया है—यह सत्त्वगुणकी विलक्षणता है। कारण कि सत्त्वगुण गुणातीत होनेके बहुत नजदीक है। यद्यपि सत्त्वगुण निर्विकार है, पर संगके कारण वह विकारी हो जाता है—'**सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ**'; क्योंकि संग रजोगुणका स्वरूप है—'**रजो रागात्मकं विद्धि**' (गीता १४। ७)। सुख और ज्ञान बाधक नहीं हैं, प्रत्युत उनका संग बाधक है। संग है—उनको अपना मान लेना। वास्तवमें सत्त्वगुण अपना है ही नहीं, वह तो प्रकृतिका है।

मनुष्यमें रजोगुणकी मुख्यता रहती है—'**रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते**' (१४। १५), '**मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः**' (१४। १८)। अतः जबतक संग रहता है, तबतक मुक्ति नहीं होती; क्योंकि स्वरूप असंग है।

भगवान्‌ने सत्त्वगुणको भी अनामय कहा है और परमपदको भी अनामय कहा है—'**पदं गच्छन्त्यनामयम्**' (२। ५१)। इससे यह समझना चाहिये कि सत्त्वगुण तो सापेक्ष अनामय है और परमपद निरपेक्ष अनामय है।

तीनों गुण प्रकृतिजन्य होते हुए भी रजोगुण तृष्णा तथा आसक्तिसे पैदा होनेवाला और तमोगुण अज्ञानसे पैदा होनेवाला है (१४। ७-८); परन्तु सत्त्वगुण केवल प्रकृतिजन्य है। तात्पर्य है कि सत्त्वगुण प्रकृतिजन्य तो है, पर

किसी विकारसे जन्य नहीं है। इसलिये इसको 'अनामय' कहा गया है।

सात्त्विक सुख और सात्त्विक ज्ञान भी स्वयंके नहीं हैं, प्रत्युत प्रकृतिजन्य होनेसे 'पर' के हैं अर्थात् पराधीन हैं। इनमें पराधीनताका सुख है, अपने स्वरूपका सुख नहीं है।

सात्त्विक ज्ञान और तत्त्वज्ञानमें अन्तर—सात्त्विक ज्ञानमें तो 'मैं ज्ञानी हूँ' यह संग है, पर तत्त्वज्ञान सर्वथा असंग है अर्थात् तत्त्वज्ञान होनेपर ज्ञान रहता है, पर 'मैं ज्ञानी हूँ'—यह (ज्ञानी) नहीं रहता। सात्त्विक ज्ञानमें द्रष्टा रहता है और अपनेमें विशेषताका भान होता है; परन्तु तत्त्वज्ञानमें कोई द्रष्टा नहीं रहता और अपनेमें कोई कमी भी नहीं रहती तथा विशेषताका भान भी नहीं होता; क्योंकि व्यक्तित्व नहीं रहता। अपनेमें विशेषताका अनुभव होना ही संग है। विशेषताका अनुभव 'मैं ज्ञानी हूँ'—ऐसा स्वीकार करनेसे होता है। तत्त्वज्ञान होनेपर निजानन्दका अनुभव होता है। तेरहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें सात्त्विक ज्ञानका और अट्ठाईसवें श्लोकमें तत्त्वज्ञानका वर्णन हुआ है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥

कौन्तेय =हे कुन्तीनन्दन!
तृष्णासङ्गसमुद्भवम्= तृष्णा और आसक्तिको पैदा करनेवाले
रजः =रजोगुणको (तुम)
रागात्मकम् =रागस्वरूप
विद्धि =समझो।
तत् =वह
कर्मसङ्गेन =कर्मोंकी आसक्तिसे
देहिनम् =देही (जीवात्मा) को
निबध्नाति =बाँधता है।

विशेष भाव—रजोगुण कर्मोंके संगसे मनुष्यको बाँधता है। अत: सात्त्विक कर्म भी संग होनेसे बाँधनेवाले हो जाते हैं। अगर संग न हो तो कर्म बन्धनकारक नहीं होते (गीता १८। १७)। इसलिये कर्मयोगसे मुक्ति हो जाती है; क्योंकि कर्मोंका और उनके फलका संग न होनेसे ही कर्मयोग होता है (गीता ६। ४)।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ ८॥

तु =और
भारत =हे भरतवंशी अर्जुन!
सर्वदेहिनाम् = सम्पूर्ण देहधारियोंको
मोहनम् =मोहित करनेवाले
तमः =तमोगुणको (तुम)
अज्ञानजम् =अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला
विद्धि =समझो।
तत् =वह
प्रमादालस्यनिद्राभिः=प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा
निबध्नाति =(देहके साथ अपना सम्बन्ध माननेवालों-को) बाँधता है।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥ ९॥

भारत	=हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!	**कर्मणि**	=कर्ममें लगाकर (मनुष्यपर)	**आवृत्य**	=ढककर
सत्त्वम्	=सत्त्वगुण	**सञ्जयति**	=विजय करता है।	**उत**	=एवं
सुखे	=सुखमें (और)	**तु**	=परन्तु	**प्रमादे**	=प्रमादमें लगाकर (मनुष्यपर)
रजः	=रजोगुण	**तमः**	=तमोगुण	**सञ्जयति**	=विजय करता है।
		ज्ञानम्	=ज्ञानको		

विशेष भाव—सत्त्वगुण केवल सुख होनेपर विजय नहीं करता, प्रत्युत सुखका संग होनेपर विजय करता है—'**सुखसङ्गेन बध्नाति**' (गीता १४। ६)। इसी तरह रजोगुण भी कर्मका संग होनेपर विजय करता है—'**तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्**' (१४। ७)। परन्तु तमोगुण स्वरूपसे ही विजय करता है। इसलिये तमोगुणमें 'संग' शब्द नहीं आया है।

'मैं सुखी हूँ'—यह सुखका संग है और 'मैं अच्छे कर्म करनेवाला हूँ, मेरे कर्म बड़े अच्छे हैं'—यह कर्मका संग है। संग करनेसे अर्थात् अपना सम्बन्ध जोड़नेसे ही मनुष्य बँधता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ १०॥

भारत	=हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!	**सत्त्वम्**	=सत्त्वगुण	**रजः**	=रजोगुण (बढ़ता है)
		भवति	=बढ़ता है,	**तथा, एव**	=वैसे ही
रजः	=रजोगुण	**सत्त्वम्**	=सत्त्वगुण	**सत्त्वम्**	=सत्त्वगुण (और)
च	=और	**च**	=और	**रजः**	=रजोगुणको (दबाकर)
तमः	=तमोगुणको	**तमः**	=तमोगुणको (दबाकर)	**तमः**	=तमोगुण (बढ़ता है)।
अभिभूय	=दबाकर				

विशेष भाव—जो गुण बढ़ता है, उसकी मुख्यता हो जाती है और दूसरे गुणोंकी गौणता हो जाती है। यह गुणोंका स्वभाव है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ ११॥

यदा	=जब	**प्रकाशः**	=प्रकाश (स्वच्छता)	**इति**	=यह
अस्मिन्	=इस	**उत**	=और	**विद्यात्**	=जानना चाहिये (कि)
देहे	=मनुष्य-शरीरमें	**ज्ञानम्**	=विवेक		
सर्वद्वारेषु	=सब द्वारों (इन्द्रियों और अन्तःकरण)में	**उपजायते**	=प्रकट हो जाता है,	**सत्त्वम्**	=सत्त्वगुण
		तदा	=तब	**विवृद्धम्**	=बढ़ा हुआ है।

विशेष भाव—'प्रकाश' और 'ज्ञान' दोनोंमें भेद है। 'प्रकाश' का अर्थ है—इन्द्रियों और अन्तःकरणमें जागृति अर्थात् रजोगुणसे होनेवाले मनोराज्यका तथा तमोगुणसे होनेवाले निद्रा, आलस्य और प्रमादका न होकर स्वच्छता होना।

'ज्ञान' का अर्थ है—विवेक अर्थात् सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य, नित्य-अनित्य, ग्राह्य-त्याज्य आदिका ज्ञान होना।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ १२॥

भरतर्षभ	=हे भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**लोभः**	=लोभ,	**अशमः**	=अशान्ति (और)
रजसि	=रजोगुणके	**प्रवृत्तिः**	=प्रवृत्ति,	**स्पृहा**	=स्पृहा—
विवृद्धे	=बढ़नेपर	**कर्मणाम्**	=कर्मोंका	**एतानि**	=ये वृत्तियाँ
		आरम्भः	=आरम्भ,	**जायन्ते**	=पैदा होती हैं।

विशेष भाव—रजोगुणके बढ़नेपर सत्त्वगुणके प्रकाश और ज्ञान दब जाते हैं। रजोगुण असंगताका विरोधी है—'**रजो रागात्मकं विद्धि**' (गीता १४।७)। क्रिया और पदार्थका संग करनेके कारण यह मनुष्यको योगारूढ़ नहीं होने देता। कारण कि मनुष्य क्रिया और पदार्थसे असंग होनेपर ही योगारूढ़ होता है*।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ १३॥

कुरुनन्दन	=हे कुरुनन्दन!	**अप्रवृत्तिः**	=अप्रवृत्ति,	**मोहः**	=मोह
तमसि	=तमोगुणके	**च**	=तथा	**एतानि**	=—ये वृत्तियाँ
विवृद्धे	=बढ़नेपर	**प्रमादः**	=प्रमाद	**एव**	=भी
अप्रकाशः	=अप्रकाश,	**च**	=और	**जायन्ते**	=पैदा होती हैं।

विशेष भाव—अप्रकाश और अप्रवृत्ति तो सत्त्वगुण और रजोगुणके विरोधी हैं तथा प्रमाद और मोह तमोगुणके अपने हैं।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते॥ १४॥

यदा	=जिस समय	**तु**	=यदि	**उत्तमविदाम्**	=उत्तमवेत्ताओंके
सत्त्वे	=सत्त्वगुण	**देहभृत्**	=देहधारी मनुष्य	**अमलान्**	=निर्मल
प्रवृद्धे	=बढ़ा हो,	**प्रलयम्, याति**	= मर जाता है (तो वह)	**लोकान्**	=लोकोंमें
तदा	=उस समय			**प्रतिपद्यते**	=जाता है।

* **यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।**
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ (गीता ६।४)

विशेष भाव—'तदोत्तमविदां लोकानमलान्'—विवेकवान् पुरुष उत्तमवेत्ता हैं। यदि सत्त्वगुणको अपना मानकर उसमें रमण न करे और भगवान्‌की सम्मुखता रहे तो सात्त्विक मनुष्य सत्त्वगुणसे भी असंग (गुणातीत) होकर भगवान्‌के परमधामको चला जायगा, अन्यथा सत्त्वगुणका सम्बन्ध रहनेपर वह ब्रह्मलोकतकके ऊँचे लोकोंको चला जायगा।

'अमलान्'—ब्रह्मलोकतकके लोकोंमें तो सापेक्ष निर्मलता है, पर भगवान्‌के परमधाममें निरपेक्ष निर्मलता है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ १५॥

रजसि	= रजोगुणके बढ़नेपर	**जायते**	= जन्म लेता है	**प्रलीनः**	= मरनेवाला
प्रलयम्, गत्वा	= मरनेवाला प्राणी	**तथा**	= तथा	**मूढयोनिषु**	= मूढ़ योनियोंमें
कर्मसङ्गिषु	= कर्मसंगी मनुष्ययोनिमें	**तमसि**	= तमोगुणके बढ़नेपर	**जायते**	= जन्म लेता है।

विशेष भाव—रजोगुणमें '**राग**'-अंश ही बाँधनेवाला, जन्म-मरण देनेवाला है, 'क्रिया'-अंश नहीं। राग होनेके कारण ही '**कर्मसङ्गिषु जायते**' कहा है। क्रियारूपसे रजोगुण तो गुणातीतमें भी होता है—'**प्रकाशं च प्रवृत्तिं च**' (गीता १४। २२)। पदार्थ, क्रिया अथवा व्यक्ति—किसीमें भी राग हो जायगा तो वह कर्मसंगी मनुष्ययोनिमें जन्म लेगा। मनुष्य स्वाभाविक कर्मसंगी है; क्योंकि कर्म करनेका अधिकार मनुष्ययोनिमें ही है—'**कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके**' (गीता १५। २)।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ १६॥

विवेकी पुरुषोंने—

सुकृतस्य	= शुभ	**फलम्**	= फल	**तमसः**	= तामस कर्मका
कर्मणः	= कर्मका	**आहुः**	= कहा है,		
तु	= तो	**रजसः**	= राजस कर्मका	**फलम्**	= फल
सात्त्विकम्	= सात्त्विक	**फलम्**	= फल	**अज्ञानम्**	= अज्ञान (मूढ़ता) (कहा है)।
निर्मलम्	= निर्मल	**दुःखम्**	= दुःख (कहा है और)		

विशेष भाव—रजोगुणका स्वरूप राग है और उस रागके कारण ही दुःख होता है—'**रजसस्तु फलं दुःखम्**'। संसारके सभी दुःख और पाप रागके कारण ही होते हैं। रागके कारण ही काम पैदा होता है—'**काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः**' (गीता ३। ३७)।

'अज्ञानं तमसः फलम्'—तमोगुण ज्ञान, प्रकाश, विवेक नहीं होने देता; क्योंकि तमोगुण अज्ञानको उत्पन्न करनेवाला और अज्ञानसे ही उत्पन्न होनेवाला है (गीता १४। ८, १७)।

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ १७॥

सत्त्वात्	= सत्त्वगुणसे	**एव**	= ही	**अज्ञानम्**	= अज्ञान
ज्ञानम्	= ज्ञान	**सञ्जायते**	= उत्पन्न होते हैं।	**एव**	= भी
च	= और	**तमसः**	= तमोगुणसे		
रजसः	= रजोगुणसे	**प्रमादमोहौ**	= प्रमाद, मोह	**भवतः**	= उत्पन्न होते हैं।
लोभः	= लोभ (आदि)	**च**	= एवं		

विशेष भाव—ज्ञान (विवेक) सत्त्वगुणसे प्रकट होता है और संग न करनेपर बढ़ते-बढ़ते तत्त्वबोधतक चला जाता है अर्थात् तत्त्वबोधमें परिणत हो जाता है। परन्तु लोभ, प्रमाद, मोह, अज्ञान बढ़ते हैं तो कोई नुकसान बाकी नहीं रहता, कोई दुःख बाकी नहीं रहता, कोई मूढ़योनि बाकी नहीं रहती, कोई नरक बाकी नहीं रहता।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ १८॥

सत्त्वस्थाः	= सत्त्वगुणमें स्थित मनुष्य	**मध्ये**	= मृत्युलोकमें	**तामसाः**	= तामस मनुष्य
ऊर्ध्वम्	= ऊर्ध्वलोकोंमें	**तिष्ठन्ति**	= जन्म लेते हैं (और)		
गच्छन्ति	= जाते हैं,	**जघन्यगुण-वृत्तिस्थाः**	= निन्दनीय तमोगुण-की वृत्तिमें स्थित	**अधः**	= अधोगतिमें
राजसाः	= रजोगुणमें स्थित मनुष्य			**गच्छन्ति**	= जाते हैं।

विशेष भाव—तमोगुण थोड़ा बढ़नेपर मनुष्य मूढ़ योनियोंमें जाता है और ज्यादा बढ़नेपर नरकोंमें जाता है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ १९॥

यदा	= जब	**कर्तारम्**	= कर्ता	**वेत्ति**	= अनुभव करता है, (तब)
द्रष्टा	= विवेकी (विचार-कुशल) मनुष्य	**न**	= नहीं		
		अनुपश्यति	= देखता	**सः**	= वह
गुणेभ्यः	= तीनों गुणोंके (सिवाय)	**च**	= और (अपनेको)	**मद्भावम्**	= मेरे सत्स्वरूपको
		गुणेभ्यः	= गुणोंसे	**अधिगच्छति**	= प्राप्त हो जाता है।
अन्यम्	= अन्य किसीको	**परम्**	= पर		

विशेष भाव—**'गुणेभ्यश्च परं वेत्ति'** का तात्पर्य है कि जिससे गुण प्रकाशित होते हैं, उस प्रकाशकमें अपनी स्थितिका अनुभव करना (गीता १३। ३१)।

'**मद्भावं सोऽधिगच्छति**' पदोंका अर्थ है कि वह मेरे भावको अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। इसी बातको दूसरे श्लोकमें '**मम साधर्म्यमागताः**' पदोंसे कहा गया है।

विवेकी साधक गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और अपनेको गुणोंसे अर्थात् क्रिया और पदार्थसे असंग अनुभव करता है। क्रिया और पदार्थसे असंग अनुभव करनेपर वह योगारूढ़ हो जाता है— '**यदा हि नेन्द्रियार्थेषु**......' (गीता ६। ४)। योगारूढ़ होनेसे शान्तिकी प्राप्ति होती है और उस शान्तिमें न अटकनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

देही	=देहधारी (विवेकी मनुष्य)	**त्रीन्**	=तीनों		दुःखोंसे
देहसमुद्भवान्	=देहको उत्पन्न करनेवाले	**गुणान्**	=गुणोंका	**विमुक्तः**	=रहित हुआ
एतान्	=इन	**अतीत्य**	=अतिक्रमण करके	**अमृतम्**	=अमरताका
		जन्ममृत्युजरादुःखैः	= जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थारूप	**अश्नुते**	=अनुभव करता है।

विशेष भाव—मनुष्यमात्रके भीतर यह भाव रहता है कि मैं बना रहूँ, कभी मरूँ नहीं। वह अमर रहना चाहता है। अमरताकी इस इच्छासे सिद्ध होता है कि वास्तवमें वह अमर है। अगर वह अमर न होता तो उसमें अमरताकी इच्छा भी नहीं होती। उदाहरणार्थ, भूख और प्यास लगती है तो इससे सिद्ध होता है कि ऐसी वस्तु (अन्न और जल) है, जिससे वह भूख-प्यास बुझ जाय। अगर अन्न-जल न होता तो भूख-प्यास भी नहीं लगती। अतः अमरता स्वतःसिद्ध है—'**भूतग्रामः स एवाय**......' (गीता ८। १९)। परन्तु स्वरूपसे अमर होते हुए भी जब मनुष्य अपने विवेकका तिरस्कार करके मरणधर्मा शरीरके साथ तादात्म्य मान लेता है अर्थात् 'मैं शरीर हूँ' ऐसा मान लेता है, तब उसमें मृत्युका भय और अमरताकी इच्छा पैदा हो जाती है। जब वह अपने विवेकको महत्त्व देता है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ; शरीर तो निरन्तर मृत्युमें रहता है और मैं स्वयं निरन्तर अमरतामें रहता हूँ', तब उसको अपनी स्वतःसिद्ध अमरताका अनुभव हो जाता है। शरीरके विकारोंका, परिवर्तनका अनुभव स्वयं सदा एक रहते हुए ही करता है। अतः साधकको चाहिये कि वह विकारोंको, परिवर्तनको मुख्यता न देकर अपने होनेपनको, अपनी अमरताको मुख्यता दे।

यह श्लोक चौदहवें अध्यायका सार, निचोड़ है।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

अर्जुन बोले—

प्रभो	=हे प्रभो!	**गुणान्**	=गुणोंसे	**लिङ्गैः**	=लक्षणोंसे (युक्त)
एतान्	=इन	**अतीतः**	=अतीत हुआ मनुष्य		
त्रीन्	=तीनों	**कैः**	=किन	**भवति**	=होता है?

किमाचारः	=उसके आचरण कैसे होते हैं?	**एतान्**	=इन	**कथम्,**	
च	=और	**त्रीन्**	=तीनों	**अतिवर्तते**	=अतिक्रमण कैसे किया जा सकता है?
		गुणान्	=गुणोंका		

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ २२॥

श्रीभगवान् बोले—

पाण्डव	=हे पाण्डव!	**मोहम्**	=मोह—	**न, द्वेष्टि**	=इनसे द्वेष नहीं करता
प्रकाशम्	=प्रकाश	**सम्प्रवृत्तानि**	=(ये सभी) अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ	**च**	=और
च	=और	**एव**	=तो भी (गुणातीत मनुष्य)	**निवृत्तानि**	=(ये सभी) निवृत्त हो जायँ तो (इनकी)
प्रवृत्तिम्	=प्रवृत्ति			**न, काङ्क्षति**	= इच्छा नहीं करता।
च	=तथा				

विशेष भाव—गुणातीत मनुष्यमें 'अनुकूलता बनी रहे, प्रतिकूलता चली जाय' ऐसी इच्छा नहीं होती। निर्विकारताका अनुभव होनेपर उसको अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान तो होता है, पर स्वयंपर उनका असर नहीं पड़ता। अन्तःकरणमें वृत्तियाँ बदलती हैं, पर स्वयं उनसे निर्लिप्त रहता है। साधकपर भी वृत्तियोंका असर नहीं पड़ना चाहिये; क्योंकि गुणातीत मनुष्य साधकका आदर्श होता है, साधक उसका अनुयायी होता है।

साधकमात्रके लिये यह आवश्यक है कि वह देहका धर्म अपनेमें न माने। वृत्तियाँ अन्तःकरणमें हैं, अपनेमें नहीं हैं। अतः साधक वृत्तियोंको न अच्छा माने, न बुरा माने और न अपनेमें माने। कारण कि वृत्तियाँ तो आने-जानेवाली हैं, पर स्वयं निरन्तर रहनेवाला है। अगर वृत्तियाँ हमारेमें होतीं तो जबतक हम रहते, तबतक वृत्तियाँ भी रहतीं। परन्तु यह सबका अनुभव है कि हम तो निरन्तर रहते हैं, पर वृत्तियाँ आती-जाती रहती हैं। वृत्तियोंका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ है और हमारा (स्वयंका) सम्बन्ध परमात्माके साथ है। इसलिये वृत्तियोंके परिवर्तनका अनुभव करनेवाला स्वयं एक ही रहता है।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ २३॥

यः	=जो		(तथा)	**यः**	=जो (अपने स्वरूपमें ही)
उदासीनवत्	=उदासीनकी तरह	**गुणाः**	=गुण		
आसीनः	=स्थित है (और)	**एव**	=ही (गुणोंमें)	**अवतिष्ठति**	=स्थित रहता है (और स्वयं कोई भी)
गुणैः	=(जो) गुणोंके द्वारा				
न, विचाल्यते	=विचलित नहीं किया जा सकता	**वर्तन्ते**	=बरत रहे हैं—	**न, इङ्गते**	=चेष्टा नहीं करता।
		इति	=इस भावसे		

विशेष भाव—'न विचाल्यते', 'अवतिष्ठति' और **'नेङ्गते'**—ये तीनों पद वास्तवमें एक ही अर्थ रखते हैं। फिर भी ये तीनों पद देनेका तात्पर्य है कि गुणातीत महापुरुष स्वतः-स्वाभाविक अचल (स्थिरतामें) रहता है।

वह न तो स्वयं विचलित होता है और न किसीसे विचलित किया जा सकता है।

'करना', 'होना' और 'है'—ये तीन विभाग हैं। 'करना' होनेमें और 'होना' 'है' में बदल जाय तो अहंकार सर्वथा नष्ट हो जाता है। जिसके अन्त:करणमें क्रिया और पदार्थका महत्त्व है, ऐसा असाधक (संसारी मनुष्य) मानता है कि 'मैं क्रिया कर रहा हूँ'—'**अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७)। जो कर्ता बनता है, उसको भोक्ता बनना ही पड़ता है। जिसमें विवेककी प्रधानता है, ऐसा साधक अनुभव करता है कि 'क्रिया हो रही है'—'**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' (गीता ३। २८) अर्थात् 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ'—'**नैव किञ्चित्करोमीति**' (गीता ५। ८)। परन्तु जिसको तत्त्वज्ञान हो गया है, ऐसा सिद्ध महापुरुष केवल सत्ता तथा ज्ञप्तिमात्र ('है') का ही अनुभव करता है—'**योऽवतिष्ठति नेङ्गते**'। वह चिन्मय सत्ता सम्पूर्ण क्रियाओंमें ज्यों-की-त्यों परिपूर्ण है। क्रियाओंका तो अन्त हो जाता है, पर चिन्मय सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। महापुरुषकी दृष्टि क्रियाओंपर न रहकर स्वत: एकमात्र चिन्मय सत्ता ('है') पर ही रहती है।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ २४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ २५॥

धीरः	=जो धीर मनुष्य
समदुःखसुखः	=दुःख-सुखमें सम (तथा)
स्वस्थः	=अपने स्वरूपमें स्थित रहता है;
समलोष्टाश्मकाञ्चनः	=जो मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेमें सम रहता है;
तुल्यप्रियाप्रियः	=जो प्रिय-अप्रियमें सम रहता है,
तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः	=जो अपनी निन्दा-स्तुतिमें सम रहता है;
मानापमानयोः	=जो मान-अपमानमें
तुल्यः	=सम रहता है;
मित्रारिपक्षयोः	=जो मित्र-शत्रुके पक्षमें
तुल्यः	=सम रहता है (और)
सर्वारम्भपरित्यागी	= जो सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भका त्यागी है,
सः	=वह मनुष्य
गुणातीतः	=गुणातीत
उच्यते	=कहा जाता है।

विशेष भाव—राग-द्वेषादि विकार न जड़में रहते हैं, न चेतनमें रहते हैं और न ये अन्त:करणके धर्म हैं, प्रत्युत ये देहाभिमानमें रहते हैं। देहाभिमान भी वास्तवमें है नहीं, प्रत्युत अविवेक-अविचारपूर्वक माना हुआ है। तात्पर्य है कि वास्तवमें विकार अपनेमें नहीं हैं, पर मनुष्य अविवेकके कारण अपनेमें मान लेता है। वह विकारोंके भाव और अभावका तथा स्वयंके भावका अनुभव तो करता है, पर इस अनुभवको महत्त्व नहीं देता। अगर वह विवेक-विचारपूर्वक अपनेमें विकारोंके अभावका अनुभव कर ले तो वह उनका भोक्ता (सुखी-दुःखी) नहीं बनेगा।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ २६॥

च	=और
यः	=जो मनुष्य
अव्यभिचारेण	=अव्यभिचारी
भक्तियोगेन	=भक्तियोगके द्वारा
माम्	=मेरा
सेवते	=सेवन करता है,
सः	=वह
एतान्	=इन
गुणान्	=गुणोंका
समतीत्य	=अतिक्रमण करके
ब्रह्मभूयाय	=ब्रह्मप्राप्तिका
कल्पते	=पात्र हो जाता है।

विशेष भाव— भक्तिसे साधक जो भी चाहता है, उसीकी प्राप्ति हो जाती है। जो साधक मुख्यरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति अर्थात् मुक्ति, तत्त्वज्ञान चाहता है, उसको भक्ति करनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि ब्रह्मकी प्रतिष्ठा भगवान् ही हैं (गीता १४। २७), ब्रह्म समग्र भगवान्का ही एक अंग है, स्वरूप है (गीता ७। २९-३०)। तेरहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भी भक्तिको ज्ञानप्राप्तिका साधन बताया गया है।

श्रीमद्भागवतमें सगुणकी उपासनाको निर्गुण (गुणोंसे अतीत) बताया है; जैसे—**'मन्निकेतं तु निर्गुणम्'** (११। २५। २५), **'मत्सेवायां तु निर्गुणा'** (११। २५। २७) आदि। इसलिये सगुणकी उपासना करनेवाला तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है। सगुण भगवान् भी गुणोंके आश्रित नहीं हैं, प्रत्युत गुण उनके आश्रित हैं। जो सत्त्व-रज-तम गुणोंके वशमें है, उसका नाम 'सगुण' नहीं है, प्रत्युत जिसमें असीम ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि अनन्त दिव्य गुण नित्य विद्यमान रहते हैं, उसका नाम 'सगुण' है। भगवान्के द्वारा सात्त्विक, राजस अथवा तामस क्रियाएँ हो सकती हैं, पर वे उन गुणोंके वशमें नहीं होते।

भगवान्की तरफ चलनेसे भक्त स्वतः और सुगमतासे गुणातीत हो जाता है। इतना ही नहीं, उसको भगवान्के समग्र रूपका भी ज्ञान हो जाता है।

~~~~

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ २७॥

हि	= क्योंकि	**च**	= तथा	**सुखस्य**	= सुखका
ब्रह्मणः	= ब्रह्मका	**शाश्वतस्य**	= शाश्वत	**प्रतिष्ठा**	= आश्रय
च	= और	**धर्मस्य**	= धर्मका		
अव्ययस्य	= अविनाशी	**च**	= और	**अहम्**	= मैं
अमृतस्य	= अमृतका	**ऐकान्तिकस्य**	= ऐकान्तिक		(ही हूँ)।

विशेष भाव—'ब्रह्म तथा अविनाशी अमृतका आश्रय मैं हूँ'—यह निर्गुण-निराकारकी तथा ज्ञानयोगकी बात है, 'शाश्वतधर्मका आश्रय मैं हूँ'—यह सगुण-साकारकी तथा कर्मयोगकी बात है और 'ऐकान्तिक सुखका आश्रय मैं हूँ'—यह सगुण-निराकारकी तथा ध्यानयोगकी बात है। तात्पर्य यह हुआ कि मेरी (सगुण-साकारकी) उपासना करनेसे, मेरा आश्रय लेनेसे ज्ञानयोग, कर्मयोग और ध्यानयोग—तीनों सिद्ध हो जाते हैं। तीनोंसे एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है, जिसको 'समग्र' कहते हैं।

जितनी भी विभूतियाँ हैं, वे सब भगवान्के ऐश्वर्य हैं। ब्रह्म भी भगवान्की एक विभूति है, ऐश्वर्य है। इसलिये यहाँ भगवान्ने कहा है—**'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'**। पद्मपुराणमें आया है कि भगवान् श्रीकृष्णके ही नखकी एक किरण 'ब्रह्म' है—

यन्नखेन्दुरुचिर्ब्रह्म ध्येयं ब्रह्मादिभिः सुरैः।
गुणत्रयमतीतं तं वन्दे वृन्दावनेश्वरम्॥

(पाताल० ७७। ६०)

'(भगवान् शंकर कहते हैं—) जिनके नखचन्द्रकी कान्तिरूप ब्रह्मका देवतागण ध्यान करते हैं, उन त्रिगुणातीत वृन्दावनेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।'

~~~~

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

~~~~
~~~~

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः
(पन्द्रहवाँ अध्याय)

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—

ऊर्ध्वमूलम्	= ऊपरकी ओर मूलवाले (तथा)	**अव्ययम्**	= (प्रवाहरूपसे) अव्यय	**तम्**	= उस संसार-वृक्षको
अधःशाखम्	= नीचेकी ओर शाखावाले	**प्राहुः**	= कहते हैं (और)	**यः**	= जो
अश्वत्थम्	= (जिस) संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षको	**छन्दांसि**	= वेद	**वेद**	= जानता है,
		यस्य	= जिसके	**सः**	= वह
		पर्णानि	= पत्ते हैं,	**वेदवित्**	= सम्पूर्ण वेदोंको जाननेवाला है।

विशेष भाव—जगत्, जीव और परमात्मा—तीनों वासुदेवरूप ही हैं—‘**वासुदेवः सर्वम्।**’ इसीका यहाँ वृक्षरूपसे वर्णन किया गया है।

परिवर्तनशील होनेपर भी संसारको ‘अव्यय’ कहनेका तात्पर्य है कि संसारमें निरन्तर परिवर्तन होनेपर भी कुछ व्यय (खर्चा) नहीं होता अर्थात् अन्त नहीं होता। जैसे समुद्रके ऊपर कितनी लहरें उठती दीखती हैं, ज्वार-भाटा आता है, पर उसका जल उतना ही रहता है, घटता-बढ़ता नहीं। ऐसे ही निरन्तर परिवर्तन दीखनेपर भी संसार अव्यय ही रहता है। कारण कि परिवर्तनरूप संसार भी परमात्माकी शक्ति ‘अपरा प्रकृति’ का कार्य होनेसे परमात्माका ही स्वरूप है—‘**सदसच्चाहमर्जुन**’ (गीता ९। १९)। परिवर्तनरूप अपरा प्रकृति भी परमात्माका स्वरूप है और अपरिवर्तनरूप परा प्रकृति भी परमात्माका स्वरूप है। यह संसार उस परमात्माकी ही लहरें हैं। जैसे ऊपरसे लहरें दीखनेपर भी समुद्रके भीतर कोई लहर नहीं है, एक सम, शान्त समुद्र है, ऐसे ही ऊपरसे परिवर्तनशील संसार दीखते हुए भी भीतरसे एक सम, शान्त परमात्मा है! (गीता १३। २७) तात्पर्य है कि संसार संसाररूपसे अव्यय नहीं है, प्रत्युत भगवद्रूपसे अव्यय है। संसाररूपसे भगवान्‌की ही झलक दीखती है। साधककी दृष्टि उस झलककी ओर न होकर भगवान्‌की ओर ही होनी चाहिये। झलककी ओर दृष्टि होना अर्थात् उसीको स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ना ही बन्धन है।

संसारको ‘अव्यय’ कहनेका एक आशय यह भी है कि जो इस संसारके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ेगा, उसका वह सम्बन्ध अर्थात् जन्म-मरण भी अव्यय हो जायगा, कभी मिटेगा नहीं, उसका कभी अन्त आयेगा नहीं। लम्बे रास्तेका तो अन्त आ सकता है, पर गोल रास्तेका अन्त कैसे आये? कोल्हूके बैलकी तरह जन्मनेके बाद मरना और मरनेके बाद जन्मना—यह गोल रास्ता है।

संसार ‘अव्यय’ है; क्योंकि संसारका बीज भी ‘अव्यय’ है—‘**बीजमव्ययम्**’ (गीता ९। १८)।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ २॥

तस्य	=उस संसार-वृक्षकी	**शाखाः**	=शाखाएँ	**कर्मानुबन्धीनि**	= कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाले
गुणप्रवृद्धाः	=गुणों (सत्त्व, रज और तम) के द्वारा बढ़ी हुई (तथा)	**अधः**	=नीचे,	**मूलानि**	=मूल (भी)
		च	=(मध्यमें) और	**अधः**	=नीचे
		ऊर्ध्वम्	=ऊपर (सब जगह)	**च**	=और (ऊपर)
विषयप्रवालाः	= विषयरूप कोंपलोंवाली	**प्रसृताः**	=फैली हुई हैं।	**अनुसन्ततानि**	= (सभी लोकोंमें) व्याप्त हो रहे हैं।
		मनुष्यलोके	=मनुष्यलोकमें		

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ ३॥

अस्य	=इस संसार-वृक्षका (जैसा)	**न**	=न तो	**सुविरूढमूलम्**	= दृढ़ मूलोंवाले
		आदिः	=आदि है,		
रूपम्	=रूप (देखनेमें आता है),	**न**	=न	**अश्वत्थम्**	=संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षको
		अन्तः	=अन्त है		
तथा	=वैसा	**च**	=और	**दृढेन**	=दृढ़
इह	=यहाँ (विचार करनेपर)	**न**	=न	**असङ्गशस्त्रेण**	=असंगतारूप शस्त्रके द्वारा
		सम्प्रतिष्ठा	=स्थिति ही है।		
न, उपलभ्यते	= मिलता नहीं; (क्योंकि इसका)	**च**	=इसलिये		
		एनम्	=इस	**छित्त्वा**	=काटकर—

विशेष भाव—भगवान्ने अपने विषयमें कहा है—'**अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च**' (गीता १०। २०), '**सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन**' (गीता १०। ३२) और यहाँ संसारके विषयमें कहते हैं—'**नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।**' तात्पर्य है कि भगवान् आदिमें भी हैं, अन्तमें भी हैं और मध्यमें भी हैं; परन्तु संसार न आदिमें है, न अन्तमें है और न मध्यमें ही है अर्थात् संसार है ही नहीं—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६)। अतः एक भगवान्के सिवाय कुछ भी नहीं है।

'**असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा**'—इन पदोंमें आये '**छित्त्वा**' शब्दका अर्थ काटना अथवा नाश (अभाव) करना नहीं है, प्रत्युत सम्बन्ध-विच्छेद करना है। कारण कि यह संसार-वृक्ष भगवान्की अपरा प्रकृति होनेसे अव्यय है। स्वरूप असंग है—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदा० ४। ३। १५)। स्वरूपमें गुणसंग नहीं है। गुणसंगसे ही जन्म-मरण होता है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। अतः स्वरूपकी असंगताका, निर्लिप्तताका, अजरता-अमरताका अनुभव करके उसमें स्थित होना ही संसार-वृक्षका छेदन करना है।

संसार रागके कारण ही दीखता है। जिस वस्तुमें राग होता है, उसी वस्तुकी सत्ता और महत्ता दीखती है। अगर राग न रहे तो संसारकी सत्ता दीखते हुए भी महत्ता नहीं रहती। अतः '**असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा**' पदोंका तात्पर्य है—संसारके रागको सर्वथा मिटा देना अर्थात् अपने अन्तःकरणमें परमात्माके सिवाय अन्य किसीसे

सम्बन्ध न मानना, सृष्टिमात्रकी किसी भी वस्तुको अपनी और अपने लिये न मानना। वास्तवमें संसारकी सत्ता बन्धनकारक नहीं है, प्रत्युत उससे रागपूर्वक माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धनकारक है। सत्ता बाधक नहीं है, राग बाधक है। इसलिये अन्य दार्शनिक तो संसारको असत्, सत् आदि अनेक प्रकारसे कहते हैं, पर भगवान् संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी बात कहते हैं। सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे संसारका संसाररूपसे अभाव हो जाता है और वह भगवद्रूपसे दीखने लगता है—'**वासुदेवः सर्वम्**'।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ ४॥

ततः	=उसके बाद	**भूयः**	=फिर	**प्रसृता**	=विस्तारको प्राप्त हुई है,
तत्	=उस	**न, निवर्तन्ति**	=लौटकर संसारमें नहीं आते	**तम्**	=उस
पदम्	=परमपद (परमात्मा) की	**च**	=और	**आद्यम्**	=आदि
परिमार्गितव्यम्	=खोज करनी चाहिये।	**यतः**	=जिससे	**पुरुषम्**	=पुरुष परमात्माके
यस्मिन्	=जिसको	**पुराणी**	=अनादिकालसे चली आनेवाली	**एव**	=ही
गताः	=प्राप्त हुए मनुष्य	**प्रवृत्तिः**	=(यह) सृष्टि	**प्रपद्ये**	=मैं शरण हूँ।

विशेष भाव—संसार नित्यनिवृत्त है, इसलिये उसका त्याग होता है—'**असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा**' और परमात्मा नित्यप्राप्त हैं, इसलिये उनकी खोज होती है—'**ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्**'। निर्माण और खोज—दोनोंमें बहुत अन्तर है। निर्माण उस वस्तुका होता है, जिसका पहलेसे अभाव होता है और खोज उस वस्तुकी होती है, जो पहलेसे ही विद्यमान होती है। परमात्मा नित्यप्राप्त और स्वतःसिद्ध हैं, इसलिये उनकी खोज होती है, निर्माण नहीं होता। जब साधक परमात्माकी सत्ताको स्वीकार करता है, तब खोज होती है। खोज करनेके दो प्रकार हैं—एक तो कण्ठी कहीं रखकर भूल जायँ तो हम जगह-जगह उसकी खोज करते हैं और दूसरा, कण्ठी गलेमें ही हो, पर वहम हो जाय कि कण्ठी खो गयी तो हम जगह-जगह उसकी खोज करते हैं। परमात्माकी खोज गलेमें पड़ी कण्ठीकी खोजके समान है। वास्तवमें परमात्मा खोया नहीं है। संसारमें अपने रागके कारण परमात्माकी तरफ दृष्टि नहीं जाती। उधर दृष्टि न जाना ही उसका खोना है। तात्पर्य है कि जिस परमात्माको हम चाहते हैं और जिसकी हम खोज करते हैं, वह परमात्मा नित्य-निरन्तर अपनेमें ही मौजूद है! परन्तु संसार अपनेमें नहीं है। जो अपनेमें है, उसकी खोज करनेसे परिणाममें वह मिल जाता है। परन्तु जो अपनेमें नहीं है, उसकी खोज करनेसे परिणाममें वह मिलता नहीं; क्योंकि वास्तवमें उसकी सत्ता ही नहीं है।

परमात्मा कभी अप्राप्त हुए ही नहीं, अप्राप्त हैं ही नहीं, अप्राप्त होना सम्भव ही नहीं। उनकी अप्राप्ति नहीं हुई है, प्रत्युत विस्मृति हुई है। यह विस्मृति अनादि और सान्त (अन्त होनेवाली) है। जैसे दो व्यक्ति आपसमें एक-दूसरेको पहचानते नहीं तो यह अपरिचय कबसे है—इसको कोई बता नहीं सकता। हम संस्कृत भाषाको नहीं जानते तो यह अनजानपना कबसे है—इसको हम बता नहीं सकते। तात्पर्य है कि व्यक्तियोंकी सत्ता, हमारी सत्ता, संस्कृत भाषाकी सत्ता तो पहलेसे ही है, पर उनका परिचय पहलेसे नहीं है। ऐसे ही विस्मृतिके समय भी परमात्माकी सत्ता ज्यों-की-त्यों है। परमात्मा तो नित्यप्राप्त हैं, पर उनकी विस्मृति है अर्थात् उधर दृष्टि नहीं है, उनसे विमुखता है, उनसे अपरिचय है, उनकी अप्राप्तिका वहम है! परमात्माकी खोज करनेपर यह विस्मृति मिट जाती है और उनकी प्राप्ति हो जाती है। परमात्माकी खोज करनेका उपाय है—जो मौजूद नहीं है, उसको छोड़ते

जाना— '**असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।**' छोड़नेका तात्पर्य है—उसकी सत्ता और महत्ता न मानकर उससे सम्बन्ध न जोड़ना, उसको अस्वीकार करना। अत: संसारके त्यागमें ही परमात्माकी खोज निहित है। श्रीमद्भागवतमें आया है—'**अतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः**' (१०। १४। २८)।

'**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये**'—संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर भावरूप स्वरूपमें स्थिति हो जाती है और साधक मुक्त हो जाता है। मुक्त होनेपर संसारकी कामना तो मिट जाती है, पर प्रेमकी भूख नहीं मिटती। ब्रह्मसूत्रमें आया है—'**मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्**' (१। ३। २) 'उस प्रेमस्वरूप भगवान्‌को मुक्त पुरुषोंके लिये भी प्राप्तव्य बताया गया है।' तात्पर्य है कि स्वरूप जिसका अंश है, उस अंशी (परमात्मा) के प्रेमकी प्राप्तिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता है। स्वरूपमें निजानन्द (अखण्ड आनन्द) है और अंशीमें परमानन्द (अनन्त आनन्द) है। जो मुक्तिमें नहीं अटकता, उसमें सन्तोष नहीं करता, उसको प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति होती है—'**मद्भक्तिं लभते पराम्**' (गीता १८। ५४)। इसीलिये भगवान्‌ने संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करने अर्थात् मुक्त होनेके बाद परमात्माकी खोज करके उनकी शरण ग्रहण करनेकी बात कही है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ ५॥

निर्मानमोहाः	=जो मान और मोहसे रहित हो गये हैं,	**विनिवृत्तकामाः**	=जो (अपनी दृष्टिसे) सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो गये हैं,	**अमूढाः**	=(ऊँची स्थितिवाले) मोहरहित साधक भक्त
जितसङ्गदोषाः	= जिन्होंने आसक्तिसे होनेवाले दोषोंको जीत लिया है,	**सुखदुःखसञ्ज्ञैः**	= जो सुख-दुःख नामवाले	**तत्**	=उस
				अव्ययम्	=अविनाशी
अध्यात्मनित्याः	= जो नित्य-निरन्तर परमात्मामें ही लगे हुए हैं,	**द्वन्द्वैः**	=द्वन्द्वोंसे	**पदम्**	=परमपद (परमात्मा) को
		विमुक्ताः	=मुक्त हो गये हैं, (ऐसे)	**गच्छन्ति**	=प्राप्त होते हैं।

विशेष भाव—ज्ञानयोग और कर्मयोगके अन्तर्गत भक्ति नहीं आती, पर भक्तिके अन्तर्गत ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों आ जाते हैं (गीता १०। १०-११)। इसलिये यहाँ '**अध्यात्मनित्याः**' पदसे ज्ञानयोग और '**विनिवृत्तकामाः**' पदसे कर्मयोग ले सकते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ ६॥

तत्	=उस (परमपद) को	**पावकः**	=अग्नि ही	**न, निवर्तन्ते**	=लौटकर (संसारमें) नहीं आते,
न	=न	**भासयते**	=प्रकाशित कर सकती है (और)		
सूर्यः	=सूर्य,			**तत्**	=वही
न	=न	**यत्**	=जिसको	**मम**	=मेरा
शशाङ्कः	=चन्द्र (और)	**गत्वा**	=प्राप्त होकर (जीव)	**परमम्**	=परम
न	=न			**धाम**	=धाम है।

विशेष भाव—हम भगवान्‌के अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। इसलिये भगवान्‌का जो धाम है, वही हमारा धाम है। इसी कारण उस धामकी प्राप्ति होनेपर फिर लौटकर संसारमें नहीं आना पड़ता। जबतक हम अपने उस धाममें नहीं जायँगे, तबतक हम मुसाफिरकी तरह अनेक योनियोंमें और अनेक लोकोंमें घूमते ही रहेंगे, कहीं भी ठहर नहीं सकेंगे। अगर हम ऊँचे-से-ऊँचे ब्रह्मलोकमें भी चले जायँ तो वहाँसे भी लौटकर आना पड़ेगा— '**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**' (गीता ८। १६)। कारण कि यह सम्पूर्ण संसार (मात्र ब्रह्माण्ड) परदेश है, स्वदेश नहीं। यह पराया घर है, अपना घर नहीं। विभिन्न योनियोंमें और लोकोंमें हमारा घूमना, भटकना तभी बन्द होगा, जब हम अपने असली घरमें पहुँच जायँगे।

परमपदको प्राप्त होकर फिर लौटकर संसारमें न आनेकी बात गीतामें तीन जगह कही गयी है—

१-**यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥** (८। २१)

२-**ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिगता न निवर्तन्ति भूयः।** (१५। ४)

३-**यद्‌गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥** (१५। ६)

भगवान्‌ने ज्ञानमार्गमें तो अपुनरावृत्तिकी प्राप्ति बतायी है— '**गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः**' (गीता ५। १७), पर भक्तिमार्गमें अपने धामकी प्राप्ति बतायी है—यह भक्तिकी विशेषता है! भगवान्‌के धाममें प्रेमका विशेष आस्वादन होता है।

परमपदको न तो आधिभौतिक प्रकाश (सूर्य, चन्द्र आदि) प्रकाशित कर सकता है और न आधिदैविक प्रकाश (नेत्र, मन, बुद्धि, वाणी आदि) ही प्रकाशित कर सकता है। कारण कि यह स्वयंप्रकाश है। इसमें प्रकाश्य-प्रकाशकका भेद नहीं है।

'**गत्वा**' में गति है, प्रवृत्ति नहीं; क्योंकि अंशकी अंशीकी ओर गति होती है, प्रवृत्ति नहीं। प्रवृत्ति तो परतः होती है, पर गति स्वतः होती है।

गति और प्रवृत्ति—गति स्वतः-स्वाभाविक होती है और उसमें परिश्रम (प्रयत्न), उद्योग तथा कर्तृत्व नहीं होता। परन्तु प्रवृत्ति अस्वाभाविक और श्रमसाध्य, उद्योगसाध्य तथा कर्तृत्वसहित होती है। प्रवृत्ति तो अहंकारयुक्त होनेपर होती है, पर गति अहंकाररहित होनेपर होती है। इसलिये गति 'स्व' की तरफ होती है और प्रवृत्ति 'पर' की तरफ होती है। गति परमात्माकी तरफ होती है और प्रवृत्ति संसारकी तरफ होती है। गति चिन्मयताकी तरफ होती है और प्रवृत्ति जड़ताकी तरफ होती है। गति असीमकी तरफ ले जाती है और प्रवृत्ति सीमितकी तरफ ले जाती है। गति स्वाधीन करती है और प्रवृत्ति पराधीन करती है। भोग तथा संग्रहका सुख चाहनेपर प्रवृत्ति होती है और दूसरेको सुख देनेपर गति होती है।

गतिका उद्गम-स्थान 'सत्' है और प्रवृत्तिका उद्गम-स्थान 'असत्' है। जैसे, गंगाका उद्गम-स्थान गंगोत्री है। अगर गंगाको रोककर एक ऐसा बाँध बना दिया जाय, जो गंगोत्रीसे भी ऊँचा हो तो गंगाका जल स्वतः अपने उद्गम-स्थान गंगोत्रीकी तरफ जायगा। इस प्रकार गंगाका अपने उद्गम-स्थानकी ओर जाना 'गति' है। अतः गति दो तरहसे होती है—संसार (भोग और संग्रह) की तरफ जाना बन्द करनेसे अर्थात् उससे विमुख होनेसे अथवा अपने उद्देश्य परमात्माकी तरफ जानेसे अर्थात् उनके सम्मुख होनेसे। नित्यप्राप्त परमात्माकी जो अप्राप्ति मानी है, उसका मिटना ही परमात्माकी तरफ गति होना है। गतिमें परमात्मासे मानी हुई दूरी मिटती है और वास्तविक एकता प्रकट होती है।

साधकको ऐसा अनुभव होता है कि कई वर्ष पहले जैसे भाव तथा आचरण थे, वैसे अब नहीं रहे, प्रत्युत पहलेसे अधिक श्रेष्ठ हो गये तो यह साधककी गति हुई है। साधनावस्थामें जो गति होती है, उसमें अहम्‌का सूक्ष्म संस्कार रह सकता है, पर मुक्त होनेके बाद प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी तरफ जो गति होती है, उसमें अहम्‌का सूक्ष्म संस्कार भी नहीं रहता अर्थात् अहम्‌का अत्यन्त अभाव हो जाता है। इसका कारण यह है कि जीव परमात्मासे जितना दूर होता है, उतना ही उसमें अहंकार रहता है। स्वरूपमें स्थित होनेपर भी सूक्ष्म अहंकार रहता है, जो मुक्तिमें तो बाधक नहीं होता, पर अन्य दार्शनिकोंसे मतभेद करनेवाला होता है। परमात्मासे अभिन्नता होनेपर अहंकार सर्वथा मिट जाता है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७॥

जीवलोके	=इस संसारमें	**एव**	=ही	**मनःषष्ठानि**	=मन और पाँचों
जीवभूतः	=जीव बना हुआ आत्मा (स्वयं)	**सनातनः**	=सनातन	**इन्द्रियाणि**	=इन्द्रियोंको
		अंशः	=अंश है; (परन्तु वह)	**कर्षति**	=आकर्षित करता है (अपना मान लेता है)।
मम	=मेरा	**प्रकृतिस्थानि**	= प्रकृतिमें स्थित		

विशेष भाव—यहाँ भगवान्‌ने जिसको अपना अंश कहा है, उसीको सातवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें अपनी 'परा प्रकृति' कहा है*। इसलिये दोनों ही जगह 'जीवभूत' (जीव बना हुआ) शब्द आया है—**'जीवभूतः'**, **'जीवभूताम्'**। परा और अपरा— दोनों भगवान्‌की शक्तियाँ हैं (गीता ७। ४-५)। जबसे पराकी दृष्टि भगवान्‌से हटकर अपराकी तरफ चली गयी, तबसे परा जन्म-मरणके चक्रमें पड़ गयी। इसी बातको सातवें अध्यायमें **'ययेदं धार्यते जगत्'** पदोंसे और यहाँ **'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति'** पदोंसे कहा गया है।

यद्यपि अपरा भी भगवान्‌की है, तथापि उसका स्वभाव अलग (परिवर्तनशील) है। इसलिये भगवान्‌ने अपनेको अपरासे अतीत बताया है—**'यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्'** (गीता १५। १८)। परन्तु परा और भगवान् एक स्वभाववाले (अपरिवर्तनशील) हैं। इसलिये **'ममैवांशः'** पदमें **'एव'** कहनेका तात्पर्य है कि जीव केवल मेरा (भगवान्‌का) अंश है, इसमें प्रकृतिका अंश किंचिन्मात्र भी नहीं है। जैसे शरीरमें माता और पिता—दोनोंके अंशका मिश्रण होता है, ऐसे जीवमें मेरा और प्रकृतिके अंशका मिश्रण (संयोग) नहीं है, प्रत्युत यह केवल मेरा अंश है। अतः इसका सम्बन्ध केवल मेरे साथ है, प्रकृतिके साथ नहीं। प्रकृतिके साथ सम्बन्ध तो यह खुद जोड़ता है—**'मनः-षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥'**

अपरा प्रकृति परमात्माकी है, पर जीवने उसको अपना मान लिया और उससे सुख लेने लग गया, तभी वह बन्धनमें पड़ा है। अपनी न होनेके कारण ही न वस्तुएँ ठहरती हैं, न सुख ठहरता है।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही अनर्थका कारण है। जीव शरीरको अपनी तरफ खींचता है **(कर्षति)** अर्थात् अपना मानता है, पर जो वास्तवमें अपना है, उस परमात्माको अपना मानता ही नहीं। यही जीवकी मूल भूल है।

जीव ब्रह्म (निर्गुण) का अंश नहीं है, प्रत्युत ईश्वर (सगुण) का अंश है—***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'*** (मानस ७। ११७। १)। कारण कि ब्रह्म चिन्मय सत्तामात्र है; अतः उसमें अंश-अंशीभाव हो सकता ही नहीं। जीवकी ब्रह्मसे एकता (साधर्म्य) है अर्थात् अनेक रूपसे जो जीव है, वही एक रूपसे ब्रह्म है। शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे वह जीव है और शरीरके साथ सम्बन्ध न होनेसे वह ब्रह्म है। अतः वास्तवमें जीव और ब्रह्म—दोनों ही समग्र भगवान्‌के अंश हैं। इसलिये भगवान्‌ने अपनेको ब्रह्मकी प्रतिष्ठा (आधार) बताया है—**'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** (१४। २७) और ब्रह्मको अपने ही समग्र रूपका एक अंग बताया है—**'ते ब्रह्म तद्विदुः……'** (७। २९-३०)।

मन और इन्द्रियाँ जिसके अंश हैं, उसीमें रहते हैं—**'प्रकृतिस्थानि'**। इससे जीवको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि मैं भी जिसका अंश हूँ, उसीमें निरन्तर रहना चाहिये, उसीके साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहिये। यह सम्बन्ध स्वयंको ही जोड़ना पड़ेगा, दूसरा नहीं जोड़ेगा। कारण कि स्वयंने ही जगत्‌से सम्बन्ध जोड़ा है और स्वयं ही परमात्मासे विमुख हुआ है। जगत्‌के सम्मुख होने (सम्बन्ध जोड़ने) में जगत् कारण नहीं है और परमात्मासे विमुख होनेमें परमात्मा कारण नहीं हैं, प्रत्युत दोनोंमें स्वयं ही कारण है। परमात्माका अंश होनेसे जीव स्वतन्त्र है और इसी स्वतन्त्रताका उसने दुरुपयोग किया है। इसलिये इसका सदुपयोग स्वयंको ही करना पड़ेगा—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** (गीता ६। ५)।

प्रकृतिके साथ मन और इन्द्रियोंका नित्य और वास्तविक सम्बन्ध है, पर मन और इन्द्रियोंके साथ स्वयं (आत्मा) का अनित्य और माना हुआ सम्बन्ध है। अनित्य सम्बन्ध कभी स्थायी नहीं रहता, प्रत्युत बदलता और मिटता

---

* **अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।**
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ (गीता ७। ५)

'अपरा प्रकृतिसे भिन्न जीवरूप बनी हुई मेरी परा प्रकृतिको जान, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है।'

रहता है। स्वयंका नित्य सम्बन्ध परमात्माके साथ है, जो कभी बदलता और मिटता नहीं। परन्तु अनित्य सम्बन्धको स्वीकार कर लेनेसे उस नित्य सम्बन्धसे विमुखता हो जाती है, जिससे उसका अनुभव नहीं होता।

'ममैवांशो जीवलोके' पदोंसे यह भाव निकलता है कि हम तो प्रभुको अपना मानते हैं, पर प्रभु हमें अपना जानते हैं! जब जीव भगवान्‌के शरण हो जाता है, तब वह भी प्रभुको अपना जान लेता है—**'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'** (गीता ७। १४)।

जीव भगवान्‌का सनातन अंश है; अतः भगवान्‌के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना अर्थात् उनको अपना मानना ही इसका वास्तविक पुरुषार्थ है। शरीरसे होनेवाले पुरुषार्थमें तो क्रिया मुख्य है, जो केवल संसारके लिये ही होती है; क्योंकि शरीर संसारका अंश है। परन्तु स्वयंसे होनेवाले पुरुषार्थमें भाव मुख्य है। इसलिये बुराई-रहित होना, असंग होना, भगवान्‌को अपना मानना—ये स्वयंके पुरुषार्थ हैं। बुराई-रहित होनेसे मनुष्य संसारके लिये उपयोगी हो जाता है। शरीर-संसारसे असंग होनेसे अपने लिये उपयोगी हो जाता है। भगवान्‌को अपना माननेसे भगवान्‌के लिये उपयोगी हो जाता है। बुराई-रहित हुए बिना मनुष्य संसारके लिये उपयोगी नहीं हो सकता। शरीर-संसारसे असंग हुए बिना मनुष्य अपने लिये उपयोगी नहीं हो सकता। भगवान्‌के साथ अपनेपनका सम्बन्ध जोड़े बिना मनुष्य भगवान्‌के लिये उपयोगी नहीं हो सकता।

मैं बुराई-रहित हो जाऊँ, मैं असंग हो जाऊँ, मैं भगवत्प्रेमी हो जाऊँ—ऐसी आवश्यकताका अनुभव करना भी पुरुषार्थ है। परन्तु सबसे पहले साधकको यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि मैं बुराई-रहित हो सकता हूँ, असंग हो सकता हूँ, प्रेमी हो सकता हूँ। इसके लिये साधकको यह जानना चाहिये कि संसारके नाते भी हम सब एक हैं, आत्माके नाते भी हम सब एक हैं और परमात्माके नाते भी हम सब एक हैं। इसलिये जैसे अपने शरीरके हितका भाव रहता है, ऐसे ही सम्पूर्ण शरीरोंके हितका भाव रहना चाहिये अथवा जैसे सम्पूर्ण शरीरोंसे हम निर्लिप्त रहते हैं, ऐसे ही इस शरीरसे भी निर्लिप्त रहना चाहिये। सम्पूर्ण शरीरोंके साथ अपने शरीरकी एकता मानकर हम बुराई-रहित हो सकते हैं। अपने शरीरसहित सम्पूर्ण शरीरोंको छोड़कर हम असंग (अपने स्वरूपमें स्थित) हो सकते हैं। सम्पूर्ण शरीर-संसारको छोड़कर हम भगवत्प्रेमी हो सकते हैं।

हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है—**'ममैवांशो जीवलोके'**, इसलिये हम परमात्मामें ही स्थित हैं। परन्तु शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिका सम्बन्ध अपरा प्रकृतिके साथ है, इसलिये वे प्रकृतिमें ही स्थित हैं—**'प्रकृतिस्थानि'। 'विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्'** (गीता १३। १९) शरीरके साथ हमारा मिलन कभी हुआ ही नहीं, है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं और परमात्मासे अलग हम कभी हुए ही नहीं, हैं ही नहीं, होंगे ही नहीं, हो सकते ही नहीं। हमारेसे दूर-से-दूर कोई चीज है तो वह शरीर है और नजदीक-से-नजदीक कोई चीज है तो वह परमात्मा है। परन्तु कामना-ममता-तादात्म्यके कारण मनुष्यको उल्टा दीखता है अर्थात् शरीर तो नजदीक दीखता है और परमात्मा दूर! शरीर तो प्राप्त दीखता है और परमात्मा अप्राप्त!

शरीरसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करनेके लिये साधकको तीन बातें मान लेनी चाहिये—१-शरीर मेरा नहीं है; क्योंकि इसपर मेरा वश नहीं चलता। २-मेरेको कुछ नहीं चाहिये और ३-मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है। जबतक साधक स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे अपना सम्बन्ध मानता रहता है, तबतक स्थूलशरीरसे होनेवाला 'कर्म', सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला 'चिन्तन' और कारणशरीरसे होनेवाली 'स्थिरता' (निर्विकल्प अवस्था)—तीनों ही उसको बाँधनेवाले होते हैं। परन्तु तीनों शरीरोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर वह कर्म, चिन्तन और स्थिरता—तीनोंसे बँधता नहीं अर्थात् तीनोंसे असंग हो जाता है।

भगवान्‌के नित्य-सम्बन्धकी जागृतिके लिये साधकको तीन बातें मान लेनी चाहिये—१-प्रभु मेरे हैं, २-मैं प्रभुका हूँ और ३- सब कुछ प्रभुका है। भगवान्‌से नित्य-सम्बन्धकी जागृति होनेपर साधकको भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें ही मनुष्य-जीवनकी पूर्णता है।

मनुष्यमें तीन इच्छाएँ होती हैं—भोगकी इच्छा, तत्त्वकी इच्छा और प्रेमकी इच्छा। भोगकी इच्छा 'कामना, तत्त्वकी इच्छा 'जिज्ञासा' और प्रेमकी इच्छा 'पिपासा' (अभिलाषा) कहलाती है। भोगकी कामना शरीरको लेकर, तत्त्वकी जिज्ञासा स्वरूपको लेकर और प्रेमकी पिपासा परमात्माको लेकर होती है। शरीरको अपना मानना भूल है; क्योंकि शरीर प्रकृतिका अंश है। अतः शरीरको लेकर होनेवाली भोगकी इच्छा प्राकृत (असत्) होनेसे अपनी नहीं है, प्रत्युत भूलसे है। परन्तु तत्त्वकी और प्रेमकी इच्छा अपनी है, भूलसे नहीं है। इसलिये शरीरको

निष्कामभावपूर्वक परिवारकी, समाजकी और संसारकी सेवामें लगानेसे अथवा तत्त्वकी जिज्ञासा तेज होनेसे भूल मिट जाती है। भूल मिटनेसे भोगकी इच्छा मिट जाती है। भोगकी इच्छा मिटनेसे तत्त्वकी जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है और साधकको स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है अर्थात् उसको तत्त्वज्ञान हो जाता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। फिर स्वरूप जिसका अंश है, उस परमात्माके प्रेमकी पिपासा जाग्रत होती है। मात्र जीव परमात्माके अंश हैं, इसलिये मात्र जीवोंकी अन्तिम इच्छा प्रेमकी ही है। प्रेमकी इच्छा सार्वभौम इच्छा है। प्रेमकी प्राप्ति होनेपर मनुष्यजन्म पूर्ण हो जाता है, फिर कुछ बाकी नहीं रहता।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥

जैसे—

वायुः	= वायु	**अपि**	= भी	**गृहीत्वा**	= ग्रहण करके
आशयात्	= गन्धके स्थानसे	**यत्**	= जिस	**च**	= फिर
गन्धान्	= गन्धको (ग्रहण करके ले जाती है),	**शरीरम्**	= शरीरको	**यत्**	= जिस (शरीर) को
इव	= ऐसे ही	**उत्क्रामति**	= छोड़ता है, (वहाँसे)	**अवाप्नोति**	= प्राप्त होता है, (उसमें)
ईश्वरः	= शरीरादिका स्वामी बना हुआ जीवात्मा	**एतानि**	= इन (मनसहित इन्द्रियों) को	**संयाति**	= चला जाता है।

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें '**कर्षति**' पद और इस श्लोकमें '**गृहीत्वा**' पद आया है। '**कर्षति**' का अर्थ है—अपनी तरफ खींचना, और '**गृहीत्वा**' का अर्थ है—पकड़ना अर्थात् तादात्म्य करना। वायुका दृष्टान्त देनेका तात्पर्य है कि जीव वायुकी तरह निर्लिप्त रहता है। शरीरसे लिप्त होनेपर भी वास्तवमें इसकी निर्लिप्तता कभी मिटती नहीं—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। वायुमें गन्ध हरदम नहीं रहती, स्वतः छूट जाती है; परन्तु जीव जबतक मन-बुद्धि-इन्द्रियोंको छोड़ता नहीं, तबतक वे छूटते नहीं। इसका कारण यह है कि मन-बुद्धि-इन्द्रियोंको जीव खुद पकड़ता है—'**गृहीत्वैतानि**'; अतः खुद छोड़नेपर ही वे छूटते हैं।

प्रत्येक भोगसे स्वाभाविक उपरति होती है—यह सबका अनुभव है। भोगोंमें प्रवृत्ति तो कृत्रिम होती है, पर निवृत्ति स्वाभाविक होती है। रुचि तो जीव करता है, पर अरुचि स्वतः होती है। जैसे, तम्बाकू पीनेवाले धुआँ भीतर खींचते हैं, पर वह बाहर स्वतः निकलता है! मुँह बन्द करें तो नाकसे निकल जायगा! धुआँ तो टिकता नहीं, पर आदत बिगड़ जाती है, व्यसन लग जाता है। ऐसे ही भोग तो टिकते नहीं, पर आदत बिगड़ जाती है। भोग तो स्वतः छूटते हैं, उनसे अरुचि स्वतः होती है, पर आदत बिगड़नेसे जीव उनको बार-बार पकड़ता रहता है और '**ईश्वर**' अर्थात् स्वतन्त्र होते हुए भी परवशताका अनुभव करता रहता है। भोगोंमें लिप्त होते हुए भी वास्तवमें इसकी निर्लिप्तता मिटती नहीं, पर इसकी तरफ यह ध्यान नहीं देता और इसको महत्त्व नहीं देता। शरीरसे सम्बन्ध न होते हुए भी यह उससे सम्बन्ध मानकर सुख लेता रहता है। सम्बन्ध तो अनित्य होता है, पर सम्बन्ध-विच्छेद नित्य होता है। कारण कि संसारकी जातिका (जड़ तथा परिवर्तनशील) होनेसे शरीर विजातीय है। विजातीय वस्तुसे सम्बन्ध होना सम्भव ही नहीं है। परमात्माका अंश होनेसे जीवकी परमात्माके साथ सजातीयता है। अतः इसका स्वतः सम्बन्ध परमात्माके साथ ही है। अगर जीव सन्तोंकी, भगवान्‌की, शास्त्रोंकी वाणीपर विश्वास करके परमात्मासे सम्बन्ध जोड़ ले तो फिर इसको अनुभव हो जायगा। परन्तु यह पदार्थोंके सम्बन्धको मुख्यता दे देता है। जबतक यह भगवान्‌के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ता, तबतक भगवान् कोई भी सम्बन्ध टिकने नहीं देते, तोड़ते ही रहते हैं। जीव कितना ही जोर लगा ले, वह संसारका सम्बन्ध स्थायी रख सकता ही नहीं।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ ९॥

अयम्	= यह (जीवात्मा)	**च**	= और	**घ्राणम्**	= घ्राण (—इन पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा)
मनः	= मनका	**चक्षुः**	= नेत्र		
अधिष्ठाय	= आश्रय लेकर	**च**	= तथा		
एव	= ही	**स्पर्शनम्**	= त्वचा,	**विषयान्**	= विषयोंका
श्रोत्रम्	= श्रोत्र	**रसनम्**	= रसना	**उपसेवते**	= सेवन करता है।
		च	= और		

विशेष भाव— विषयोंका सेवन करनेसे स्वयंकी गौणता हो जाती है और शरीर-संसारकी मुख्यता हो जाती है। इसलिये स्वयं भी जगत्-रूप हो जाता है*!

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ १०॥

उत्क्रामन्तम्	= शरीरको छोड़कर जाते हुए	**भुञ्जानम्**	= विषयोंको भोगते हुए	**न**	= नहीं
वा	= या	**अपि**	= भी	**अनुपश्यन्ति**	= जानते,
स्थितम्	= दूसरे शरीरमें स्थित हुए	**गुणान्वितम्**	= गुणोंसे युक्त (जीवात्मा-के स्वरूप) को	**ज्ञानचक्षुषः**	= ज्ञानरूपी नेत्रोंवाले (ज्ञानी मनुष्य ही)
वा	= अथवा	**विमूढाः**	= मूढ़ मनुष्य	**पश्यन्ति**	= जानते हैं।

विशेष भाव— गुणोंके साथ सम्बन्ध माननेसे जीव 'गुणान्वित' हो जाता है। अगर सम्बन्ध न माने तो वह निर्गुण (तीनों गुणोंसे रहित) ही है—'**अनादित्वान्निर्गुणत्वात्**' (गीता १३। ३१)। इसका आशय यह है कि गुणोंके साथ सम्बन्ध होनेसे ही जन्म-मरण होते हैं (गीता १३। २१)। यद्यपि अपनी अवनति कोई नहीं चाहता, तथापि सुखासक्तिके कारण जीवको पता ही नहीं लगता कि मेरी उन्नति किसमें है। वह नाशवान् पदार्थोंके द्वारा अपनी उन्नति करना चाहता है, जिसका परिणाम महान् अवनति होता है।

शरीरको छोड़कर जाना, दूसरे शरीरमें स्थित होना और विषयोंको भोगना—तीनों क्रियाएँ अलग-अलग हैं, पर उनमें रहनेवाला जीवात्मा एक ही है—यह बात प्रत्यक्ष होते हुए भी अविवेकी मनुष्य इसको नहीं जानता अर्थात् अपने अनुभवकी तरफ नहीं देखता, उसको महत्त्व नहीं देता। तीनों गुणोंसे मोहित रहनेके कारण बेहोश रहता है (गीता ७। १३)। जीवात्मा किसी भी अवस्थाके साथ निरन्तर नहीं रहता—यह सबका अनुभव है। इसकी निर्लिप्तता स्वतःसिद्ध है।

भगवान्‌ने पिछले श्लोकमें पाँच क्रियाएँ बतायी हैं—सुनना, देखना, स्पर्श करना, स्वाद लेना तथा सूँघना और इस श्लोकमें तीन क्रियाएँ बतायी हैं—शरीरको छोड़कर जाना, दूसरे शरीरमें स्थित होना तथा विषयोंको भोगना। इन आठोंमें कोई भी क्रिया निरन्तर नहीं रहती, पर स्वयं निरन्तर रहता है। क्रियाएँ तो आठ हैं, पर इन सबमें स्वयं एक ही रहता है। इसलिये इनके भाव और अभावका, आरम्भ और अन्तका ज्ञान सबको होता है। जिसको आरम्भ और अन्तका ज्ञान होता है, वह स्वयं नित्य होता है।

शरीरका, पदार्थोंका, हरेक भोगका संयोग और वियोग होता है। अनेक अवस्थाओंमें स्वयं एक रहता है और एक रहते हुए अनेक अवस्थाओंमें जाता है। अगर स्वयं एक न रहता तो सब अवस्थाओंका अलग-अलग अनुभव कौन करता? परन्तु ऐसी बात प्रत्यक्ष होते हुए भी विमूढ़ मनुष्य इस तरफ नहीं देखते, प्रत्युत ज्ञानरूपी नेत्रोंवाले योगी मनुष्य ही देखते हैं।

* **त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।**
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ (गीता ७। १३)

'इन तीनों गुणरूप भावोंसे मोहित यह सम्पूर्ण जगत् (प्राणिमात्र) इन गुणोंसे अतीत अविनाशी मुझे नहीं जानता।'

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ ११॥

यतन्तः	=यत्न करनेवाले	**पश्यन्ति**	=अनुभव करते हैं।	**अचेतसः**	=अविवेकी मनुष्य
योगिनः	=योगीलोग	**च**	=परन्तु	**यतन्तः**	=यत्न करनेपर
आत्मनि	=अपने-आपमें	**अकृतात्मानः**	=जिन्होंने अपना अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया है, (ऐसे)	**अपि**	=भी
अवस्थितम्	=स्थित			**एनम्**	=इस तत्त्वका
एनम्	=इस परमात्मतत्त्वका			**न, पश्यन्ति**	=अनुभव नहीं करते।

विशेष भाव—सदा न भोग साथ रहता है, न संग्रह साथ रहता है—यह विवेक मनुष्यमें स्वतः है। परन्तु जो मनुष्य शास्त्र पढ़ते हुए, सत्संग करते हुए, साधन करते हुए भी अपने विवेककी तरफ ध्यान नहीं देते, भोग और संग्रहसे अलगावका अनुभव नहीं करते, वे मनुष्य '**अकृतात्मा**' हैं। ऐसे मनुष्योंको अठारहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें '**अकृतबुद्धि**' और '**दुर्मति**' कहा गया है। यद्यपि परमात्मप्राप्ति कठिन नहीं है, तथापि भीतरमें राग, आसक्ति, सुखबुद्धि पड़ी रहनेसे वे साधन करते हुए भी परमात्माको नहीं जानते। कारण कि भोग और संग्रहमें रुचि रखनेवालेका विवेक ठहरता नहीं।

पूर्वश्लोकमें जिनको '**विमूढाः**' कहा है, उनको यहाँ '**अचेतसः**' कहा है, गुणोंसे मोहित होनेके कारण वे न तो विषयोंके विभागको जानते हैं और न स्वयंके विभागको ही जानते हैं अर्थात् भोगोंका संयोग-वियोग अलग है और स्वयं भी अलग है—यह नहीं जानते।

सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतकके इस प्रकरणमें भगवान् यह बताना चाहते हैं कि मेरा अंश जीवात्मा बिलकुल अलग है और जिस सामग्री (शरीरादि पदार्थ और क्रिया) को वह भूलसे अपनी मानता है, वह बिलकुल अलग है—'**प्रकृतिस्थानि**'। सूर्य और अमावस्याकी रात्रिकी तरह दोनोंका विभाग ही अलग-अलग है। उनका परस्पर संयोग होना सम्भव ही नहीं है। जो उपर्युक्त जड़ और चेतन—दोनोंके विभागको सर्वथा अलग-अलग देखता है, वही ज्ञानी और योगी है। परन्तु जो दोनोंको मिला हुआ देखता है, वह अज्ञानी और भोगी है।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ १२॥

आदित्यगतम्	= सूर्यको प्राप्त हुआ	**भासयते**	=प्रकाशित करता है (और)	**अग्नौ**	=अग्निमें है,
				तत्	=उस
यत्	=जो	**यत्**	=जो तेज	**तेजः**	=तेजको
तेजः	=तेज	**चन्द्रमसि**	=चन्द्रमामें है		
अखिलम्	=सम्पूर्ण	**च**	=तथा	**मामकम्**	=मेरा ही
जगत्	=जगत्को	**यत्**	=जो तेज	**विद्धि**	=जान।

विशेष भाव—परमात्मा ही सम्पूर्ण शक्तियोंके मूल हैं। इस विषयमें केनोपनिषद्की एक कथा है। एक बार परमात्माने देवताओंके लिये असुरोंपर विजय प्राप्त की। परन्तु इस विजयमें देवताओंने अपनी शक्तिका अभिमान कर लिया। वे समझने लगे हमने ही अपनी शक्तिसे असुरोंपर विजय प्राप्त की है। देवताओंके इस अभिमानको नष्ट करनेके लिये परमात्मा यक्षका रूप धारण करके उनके सामने प्रकट हो गये। यक्षको देखकर देवतालोग आश्चर्यचकित होकर विचार करने लगे कि यह यक्ष कौन है? उसका परिचय जाननेके लिये देवताओंने अग्निदेवको उसके पास भेजा। यक्षके पूछनेपर अग्निदेवने कहा कि मैं 'जातवेदा' नामसे प्रसिद्ध अग्निदेवता हूँ और मैं चाहूँ तो पृथ्वीमें जो कुछ है, उस सबको जलाकर भस्म कर सकता हूँ। तब यक्षने उसके सामने एक तिनका रख दिया और कहा कि तुम इस तिनकेको जला दो। अग्निदेव अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी उस तिनकेको नहीं जला सका। वह लज्जित होकर देवताओंके पास लौट आया और बोला कि वह यक्ष कौन है—यह मैं नहीं जान सका। तब देवताओंने वायुदेवको यक्षके पास भेजा। यक्षके पूछनेपर वायुदेवने कहा कि मैं 'मातरिश्वा' नामसे प्रसिद्ध वायुदेवता

हूँ और मैं चाहूँ तो पृथ्वीमें जो कुछ है, उस सबको उड़ा सकता हूँ। तब यक्षने उसके सामने भी एक तिनका रख दिया और कहा कि तुम इस तिनकेको उड़ा दो। वायुदेव अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी उस तिनकेको नहीं उड़ा सका। वह लज्जित होकर देवताओंके पास लौट आया और बोला कि मैं उस यक्षको नहीं जान सका। तब देवताओंने इन्द्रको उस यक्षका परिचय जाननेके लिये भेजा। परन्तु इन्द्रके वहाँ पहुँचते ही यक्ष अन्तर्धान हो गया और उस जगह हिमाचलकुमारी उमादेवी प्रकट हो गयीं। इन्द्रके पूछनेपर उमादेवीने कहा कि स्वयं परमात्मा ही तुमलोगोंका अभिमान दूर करनेके लिये यक्षरूपसे प्रकट हुए थे। तात्पर्य है कि सृष्टिमें जो भी बलवत्ता, विशेषता, विलक्षणता देखनेमें आती है, वह सब परमात्मासे ही आयी हुई है (गीता १०। ४१)।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ १३॥

अहम्	= मैं	**भूतानि**	= समस्त प्राणियोंको	**भूत्वा**	= होकर
च	= ही	**धारयामि**	= धारण करता हूँ	**सर्वाः**	= समस्त
गाम्	= पृथ्वीमें	**च**	= और (मैं ही)	**औषधीः**	= ओषधियों
आविश्य	= प्रविष्ट होकर	**रसात्मकः**	= रसस्वरूप		(वनस्पतियों) को
ओजसा	= अपनी शक्तिसे	**सोमः**	= चन्द्रमा	**पुष्णामि**	= पुष्ट करता हूँ।

विशेष भाव—पृथ्वी, चन्द्रमा आदि सब भगवान्‌की अपरा प्रकृति है (गीता ७।४)। अतः इसके धारक, उत्पादक, पालक, संरक्षक, प्रकाशक आदि सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान्‌की शक्ति होनेसे अपरा प्रकृति भगवान्‌से अभिन्न है।

यहाँ 'सोम' शब्द चन्द्रलोकका वाचक है, जो सूर्यसे भी ऊपर है*।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ १४॥

प्राणिनाम्	= प्राणियोंके	**प्राणापान-**		**चतुर्विधम्**	= चार प्रकारके
देहम्	= शरीरमें	**समायुक्तः**	= प्राण-अपानसे युक्त	**अन्नम्**	= अन्नको
आश्रितः	= रहनेवाला	**वैश्वानरः**	= वैश्वानर (जठराग्नि)		
अहम्	= मैं	**भूत्वा**	= होकर	**पचामि**	= पचाता हूँ।

विशेष भाव—पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करना, चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण वनस्पतियोंका पोषण करना, फिर उनको खानेवाले प्राणियोंके भीतर जठराग्नि होकर खाये हुए अन्नको पचाना आदि सम्पूर्ण कार्य भगवान्‌की ही शक्तिसे होते हैं। परन्तु मनुष्य उन कार्योंको अपने द्वारा किया जानेवाला मानकर मुफ्तमें ही अभिमान कर लेता है—'**अहं करोमीति वृथाभिमानः**'; जैसे बैलगाड़ीके नीचे छायामें चलनेवाला कुत्ता समझता है कि बैलगाड़ी मैं ही चलाता हूँ!

---

* **न विदुः सोम ते मायां ये च नक्षत्रयोनयः।**
त्वमादित्यपथादूर्ध्वं ज्योतिषां चोपरिस्थितः॥
(पद्मपुराण, सृष्टि० ४१। १२८)

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ १५॥

अहम्	= मैं	**ज्ञानम्**	= ज्ञान	**एव**	= ही
च	= ही	**च**	= और	**वेद्यः**	= जाननेयोग्य हूँ।
सर्वस्य	= सम्पूर्ण प्राणियोंके	**अपोहनम्**	= अपोहन (संशय आदि दोषोंका नाश) होता है।	**वेदान्तकृत्**	= वेदोंके तत्त्वका निर्णय करनेवाला
हृदि	= हृदयमें			**च**	= और
सन्निविष्टः	= स्थित हूँ				
च	= तथा	**सर्वैः**	= सम्पूर्ण	**वेदवित्**	= वेदोंको जाननेवाला
मत्तः	= मुझसे (ही)	**वेदैः**	= वेदोंके द्वारा	**एव**	= भी
स्मृतिः	= स्मृति,	**अहम्**	= मैं	**अहम्**	= मैं (ही हूँ)।

विशेष बात—इस अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्‌ने जो बात कही थी, उसका उपसंहार इस श्लोकमें करते हैं।

पहलेके तीन श्लोकोंमें भगवान्‌ने प्रभाव और क्रियारूपसे अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है, पर प्रस्तुत श्लोकमें स्वयं अपना वर्णन करते हैं। तात्पर्य है कि इस श्लोकमें स्वयं भगवान्‌का वर्णन है, आदित्यगत, चन्द्रगत, अग्निगत अथवा वैश्वानरगत भगवान्‌का वर्णन नहीं। मूलमें एक ही तत्त्व है, केवल वर्णनमें फर्क है।

पहले '**ममैवांशो जीवलोके**' पदोंसे यह सिद्ध हुआ कि भगवान् 'अपने' हैं और यहाँ '**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' पदोंसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् 'अपनेमें' हैं। भगवान्‌को 'अपना' स्वीकार करनेसे उनमें स्वाभाविक प्रेम होगा और 'अपनेमें' स्वीकार करनेसे उनको पानेके लिये दूसरी जगह जानेकी जरूरत नहीं रहेगी।

'**अपोहनम्**' पदका अर्थ है—'**अपगत ओहनम्**' अर्थात् संशयका निवारण। 'वेदान्त' का अर्थ है—वेदोंका अन्त अर्थात् निष्कर्ष, निचोड़—'**उभयोरपि दृष्टोऽन्तः**' (गीता २। १६)

भगवान् कहते हैं कि वेद अनेक हैं, पर उन सबमें जाननेयोग्य मैं एक ही हूँ और उन सबको जाननेवाला भी मैं ही हूँ। तात्पर्य है कि सब कुछ मैं ही हूँ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ १६॥

लोके	= इस संसारमें	**द्वौ**	= दो प्रकारके	**क्षरः**	= क्षर
क्षरः	= क्षर (नाशवान्)	**एव**	= ही	**च**	= और
च	= और	**पुरुषौ**	= पुरुष हैं।	**कूटस्थः**	= जीवात्मा
अक्षरः	= अक्षर (अविनाशी)—	**सर्वाणि**	= सम्पूर्ण	**अक्षरः**	= अक्षर
इमौ	= ये	**भूतानि**	= प्राणियोंके शरीर	**उच्यते**	= कहा जाता है।

विशेष भाव—पहले छठे श्लोकमें और फिर बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक भगवान्‌ने 'अलौकिक तत्त्व' का वर्णन किया कि स्वतन्त्र सत्ता अलौकिककी ही है, लौकिककी नहीं। लौकिककी सत्ता अलौकिकसे ही है। अलौकिकसे ही लौकिक प्रकाशित होता है। लौकिकमें जो प्रभाव देखनेमें आता है, वह सब अलौकिकका ही है। अब सोलहवें श्लोकमें भगवान् '**लोके**' शब्दसे 'लौकिक तत्त्व' का वर्णन करते हैं।

जगत् (क्षर) तथा जीव (अक्षर)—दोनों 'लौकिक' हैं—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' और

भगवान् इन दोनोंसे विलक्षण अर्थात् 'अलौकिक' हैं—**'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'** (गीता १५। १७)। कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दो योगमार्ग भी 'लौकिक' हैं—**'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा……'** (गीता ३। ३)। क्षरको लेकर कर्मयोग और अक्षरको लेकर ज्ञानयोग चलता है; परन्तु भक्तियोग 'अलौकिक' है, जो भगवान्‌को लेकर चलता है। सातवें अध्यायमें वर्णित 'अपरा प्रकृति' को यहाँ 'क्षर' नामसे और 'परा प्रकृति' को यहाँ 'अक्षर' नामसे कहा गया है।

~~~

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥

उत्तमः	= उत्तम	**यः**	= जो	**ईश्वरः**	= ईश्वर
पुरुषः	= पुरुष	**परमात्मा**	= 'परमात्मा'—	**लोकत्रयम्**	= तीनों लोकोंमें
तु	= तो	**इति**	= इस नामसे	**आविश्य**	= प्रविष्ट होकर(सबका)
अन्यः	= अन्य (विलक्षण) ही है,	**उदाहृतः**	= कहा गया है। (वही)	**बिभर्ति**	= भरण-पोषण करता है।
		अव्ययः	= अविनाशी		

विशेष भाव—पुरुषोत्तमको 'अन्य' कहनेका तात्पर्य है कि क्षर और अक्षर तो लौकिक हैं, पर पुरुषोत्तम दोनोंसे विलक्षण अर्थात् अलौकिक हैं। अतः परमात्मा विचारके विषय नहीं हैं, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासके विषय हैं। परमात्माके होनेमें भक्त, सन्त-महात्मा, वेद और शास्त्र ही प्रमाण हैं। 'अन्य' का खुलासा भगवान्‌ने आगेके श्लोकमें किया है।

'यो लोकत्रयमाविश्य……'—इन पदोंमें बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतकका भाव आ गया है। मनुष्यका कर्तव्य तो मनुष्यलोकमें है, पर भगवान्‌का कर्तव्य तीनों लोकोंमें है। वास्तवमें भगवान्‌का अपना कोई कर्तव्य नहीं है, फिर भी वे केवल जीवोंके हितके लिये कर्तव्य करते हैं (गीता ३। २२—२४)।

~~~

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ १८॥

यस्मात्	= कारण कि	**अक्षरात्**	= अक्षरसे	**च**	= और
अहम्	= मैं	**अपि**	= भी	**वेदे**	= वेदमें
क्षरम्	= क्षरसे	**उत्तमः**	= उत्तम हूँ,	**पुरुषोत्तमः**	= 'पुरुषोत्तम' नामसे
अतीतः	= अतीत हूँ	**अतः**	= इसलिये	**प्रथितः**	= प्रसिद्ध
च	= और	**लोके**	= लोकमें	**अस्मि**	= हूँ।

विशेष भाव—अपनी अलौकिकताकी तरफ दृष्टि करानेके लिये यहाँ भगवान्‌ने **'यस्मात्'** पद दिया है।

'अक्षरादपि चोत्तमः'—'अक्षर' शब्द जीवात्माके लिये भी आता है और ब्रह्मके लिये भी—**'अक्षरं ब्रह्म परमम्'** (गीता ८। ३)। यह शब्द सब जगह चेतनका वाचक ही आता है, जड़का वाचक कहीं नहीं आता।

क्षर और अक्षरकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, पर परमात्माकी स्वतन्त्र सत्ता है। क्षर और अक्षर दोनों परमात्मामें ही रहते हैं। परन्तु अक्षर अर्थात् जीव क्षरके साथ सम्बन्ध जोड़कर उसके अधीन हो जाता है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। परमात्मा स्वतः असंग रहते हैं, वे क्षरके अधीन नहीं होते—**'यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्'**। इसलिये परमात्मा अक्षर (जीव) से भी उत्तम हैं। अगर जीव जगत्‌के साथ सम्बन्ध न जोड़कर उसके स्वामी परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़े तो वह परमात्मासे अभिन्न (आत्मीय) हो जायगा—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७। १८)।

मुक्तिमें तो अक्षर (स्वरूप) में स्थिति होती है, पर भक्तिमें अक्षरसे भी उत्तम पुरुषोत्तमकी प्राप्ति होती है। स्वरूप अंश है, पुरुषोत्तम अंशी हैं।

~~~
~~~

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १९॥

भारत	= हे भरतवंशी अर्जुन!	**माम्**	= मुझे	**सर्ववित्**	= सर्वज्ञ
एवम्	= इस प्रकार	**पुरुषोत्तमम्**	= पुरुषोत्तम	**सर्वभावेन**	= सब प्रकारसे
यः	= जो	**जानाति**	= जानता है,	**माम्**	= मेरा ही
असम्मूढः	= मोहरहित मनुष्य	**सः**	= वह	**भजति**	= भजन करता है।

विशेष भाव—'यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्'—जो भगवान्‌को जानता है, वही वास्तवमें 'असम्मूढ़' है*। परन्तु जो भगवान्‌को नहीं जानता, वह 'मूढ़' है—**'अवजानन्ति मां मूढाः'** (गीता ९। ११)।

'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत'—क्षर और अक्षर दोनों ही समग्र भगवान्‌के अंग हैं; अतः इनको जाननेवाला मनुष्य सर्ववित् (सर्वज्ञ) नहीं होता। जो क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम पुरुषोत्तमको जानता है, वही मनुष्य 'सर्ववित्' अर्थात् समग्रको जाननेवाला है। ऐसा सर्ववित् भक्त सब प्रकारसे भगवान्‌में ही लगा रहता है—**'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते'** (गीता ६। ३१); क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई होता ही नहीं।

गीतामें 'सर्ववित्' शब्द केवल भक्तके लिये ही आया है। भक्त समग्रको अर्थात् लौकिक और अलौकिक दोनोंको जानता है, इसलिये वह सर्ववित् होता है। लौकिकके अन्तर्गत अलौकिक नहीं आ सकता, पर अलौकिकके अन्तर्गत लौकिक भी आ जाता है। अतः निर्गुण तत्त्व (अक्षर) को जाननेवाला ब्रह्मज्ञानी सर्ववित् नहीं होता, प्रत्युत समग्र भगवान्‌को जाननेवाला भक्त सर्ववित् होता है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ २०॥

अनघ	= हे निष्पाप अर्जुन!	**मया**	= मेरे द्वारा	**बुद्धिमान्**	= ज्ञानवान् (ज्ञातज्ञातव्य)
इति	= इस प्रकार	**उक्तम्**	= कहा गया है।		
इदम्	= यह	**भारत**	= हे भरतवंशी अर्जुन!	**च**	= (तथा प्राप्तप्राप्तव्य) और
गुह्यतमम्	= अत्यन्त गोपनीय	**एतत्**	= इसको	**कृतकृत्यः**	= कृतकृत्य
शास्त्रम्	= शास्त्र	**बुद्ध्वा**	= जानकर (मनुष्य)	**स्यात्**	= हो जाता है।

विशेष भाव—भगवान्‌ने इस अध्यायमें अपने-आपको पुरुषोत्तमरूपसे अर्थात् अलौकिक समग्ररूपसे प्रकट किया है, इसलिये इसको 'गुह्यतम शास्त्र' कहा गया है।

मनुष्य कर्मयोगसे कृतकृत्य, ज्ञानयोगसे ज्ञातज्ञातव्य और भक्तियोगसे प्राप्तप्राप्तव्य हो जाता है। मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है—ऐसा अनुभव होनेसे मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। शरीर मेरा नहीं है, शरीरपर मेरा अधिकार नहीं है तथा शरीरसे मेरा सम्बन्ध नहीं है—ऐसा अनुभव होनेसे मनुष्य ज्ञातज्ञातव्य हो जाता है। मेरेको कुछ नहीं चाहिये—ऐसा अनुभव होनेसे मनुष्य प्राप्तप्राप्तव्य हो जाता है। इस श्लोकमें आये **'बुद्धिमान्'** पदमें

---

* **यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।**
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
(गीता १०। ३)

ज्ञातज्ञातव्य होनेका भाव आया है। पूर्वश्लोकमें '**स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत**' पदोंमें प्राप्तप्राप्तव्य होनेका भाव आया है। प्रस्तुत श्लोकमें आये '**च**' पदसे भी अनुक्त समुच्चय अर्थ—प्राप्तप्राप्तव्य ले सकते हैं। लौकिक क्षर और अक्षर तो प्राप्त हैं; अतः अलौकिक परमात्मा ही प्राप्तव्य हैं। इस श्लोकसे यह भाव निकलता है कि भक्तको ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनोंका फल प्राप्त हो जाता है अर्थात् वह ज्ञातज्ञातव्य और कृतकृत्य भी हो जाता है (गीता ७। २९-३०, १०। १०-११)।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

॥ श्रीहरिः॥

पन्द्रहवें अध्यायका सार

भगवान्‌ने सातवें अध्यायमें अपनी दो प्रकृतियोंका वर्णन किया था—अपरा और परा (७। ४-५)। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह आठ प्रकारके भेदोंवाली 'अपरा प्रकृति' है और जिसने जगत्‌को धारण किया हुआ है, वह जीवरूप बनी हुई 'परा प्रकृति' है। अपरा और परा—दोनों ईश्वरकी प्रकृति अर्थात् स्वभाव हैं। अपरा, परा और ईश्वर—इन तीनोंका विस्तारसे वर्णन भगवान् पन्द्रहवें अध्यायमें करते हैं। पन्द्रहवें अध्यायमें पहले संसार-वृक्षके रूपमें 'अपरा' का वर्णन करते हैं, फिर सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक अपने अंश-रूपसे 'परा'का वर्णन करते हैं, फिर बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक अपने प्रभावका वर्णन करते हैं। अन्तमें अपरा, परा और ईश्वर—तीनोंका क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम नामसे वर्णन करके अध्यायका उपसंहार करते हैं।

सातवें अध्यायमें तो भगवान्‌ने अपरा और परा—दोनोंको अपनी प्रकृति अर्थात् अपनेसे अभिन्न बताया है—'**इतीयं मे**' (७। ४), '**मे पराम्**' (७। ५)। परन्तु पन्द्रहवें अध्यायमें अपनेको अपरा (क्षर) से अतीत और परा (अक्षर) से उत्तम बताया है (१५। १८)। इसका तात्पर्य है कि जबतक साधक अपरा (संसार) और परा (स्वयं)—दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता मानता है, तबतक भगवान् अपरासे अतीत और परासे उत्तम हैं। परन्तु जब उसकी मान्यतामें अपरा और पराकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, तब अपरा, परा और भगवान्—तीनों एक ही होते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९), '**सदसच्चाहम्**' (९। १९)।

पन्द्रहवें अध्यायके मध्यमें अक्षर (जीवात्मा) के वर्णनका तात्पर्य है कि जीवके एक तरफ क्षर (संसार) है और एक तरफ पुरुषोत्तम (परमात्मा) हैं। जीवका सम्बन्ध परमात्माके साथ है—'**ममैवांशो जीवलोके**'; क्योंकि जैसे परमात्मा चेतन, अविनाशी और अपरिवर्तनशील हैं, ऐसे ही जीव भी चेतन, अविनाशी और अपरिवर्तनशील है। शरीरका सम्बन्ध संसारके साथ है—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि**'; क्योंकि जैसे संसार जड़, नाशवान् और परिवर्तनशील है, ऐसे ही शरीर भी जड़, नाशवान् और परिवर्तनशील है। जीवको परमात्मासे कभी अलग नहीं कर सकते और शरीरको संसारसे कभी अलग नहीं कर सकते।

परमात्मा उसको कहते हैं, जो अभी हो, सबमें हो, सबका हो, सर्वसमर्थ हो, परम दयालु हो और अद्वितीय हो। अभी होनेके कारण उनकी प्राप्तिके लिये भविष्यकी आशा नहीं करनी पड़ेगी। सबमें होनेसे वह अपनेमें भी है; अतः उनको ढूँढ़नेके लिये कहीं जाना नहीं पड़ेगा। सबका होनेसे वह अपना भी है; अतः उसमें स्वतः प्रेम होगा। सर्वसमर्थ होनेसे हमें भयभीत होनेकी जरूरत नहीं रहेगी। परमदयालु होनेसे हमें निराश होनेकी जरूरत नहीं रहेगी। अद्वितीय होनेसे हमें उसको पहचाननेकी, उसका वर्णन करनेकी जरूरत नहीं रहेगी।

परमात्माकी प्राप्ति न होनेका कारण यही है कि हम उसकी सत्ता और महत्ता स्वीकार नहीं करते और उसको अपना नहीं मानते। अगर हम उसकी सत्ता, महत्ता और अपनेपनको स्वीकार करते तो फिर वह हमें अप्राप्त नहीं

लगता। वह हमें स्वत: प्यारा लगता; क्योंकि परमात्माको अपना माननेके सिवाय प्रेमप्राप्तिका और कोई उपाय है ही नहीं। प्रेम यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि बड़े-बड़े पुण्यकर्मोंसे नहीं मिलता, प्रत्युत भगवान्‌को अपना माननेसे मिलता है। भगवान्‌ने कहा है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (१५/७)। इसका तात्पर्य है कि जीव केवल मेरा (भगवान्‌का) ही अंश है, इसमें अन्य किसीका मिश्रण नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि केवल भगवान्‌का ही अंश होनेके कारण हमारा सम्बन्ध केवल भगवान्‌के ही साथ है। जब हम भगवान्‌के ही अंश हैं, तो फिर प्रकृतिका कार्य शरीर अपना कैसे हुआ? अत: भगवान् ही अपने हैं, दूसरा कोई भी अपना नहीं है। भगवान्‌का ही अंश होनेके कारण हम भगवान्‌से अलग नहीं हो सकते, उनको छोड़ नहीं सकते। सर्वसमर्थ भगवान् भी जीवसे अलग नहीं हो सकते, जीवको छोड़ नहीं सकते। अगर भगवान् जीवको छोड़ दें तो जीव एक नया भगवान् हो जायगा अर्थात् भगवान् एक नहीं रहेंगे, प्रत्युत अनेक हो जायँगे, जो कभी सम्भव नहीं है। जिसको हम छोड़ नहीं सकते, उसके विषयमें यह प्रश्न हीं नहीं उठता कि वह कैसा है? अत: भगवान् कैसे हैं, क्या हैं, यह विचार न करके उनमें प्रेम करना चाहिये।

जब मनुष्य संसारके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह बँध जाता है और जब परमात्माके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब मुक्त होकर भक्त हो जाता है। मनुष्यसे सबसे बड़ी गलती यह होती है कि जो शरीर संसारका है, उसको अपना मान लेता है और जो वास्तवमें अपना है, उस परमात्माको भूल जाता है। जब साधक इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि शरीर मेरा नहीं है और मेरे लिये भी नहीं है, तब उसके द्वारा स्वत: संसारकी 'सेवा' होती है। जब वह इस सत्यको स्वीकार कर लेता है कि भगवान् मेरे हैं और मेरे लिये हैं, तब उसका स्वत: भगवान्‌में 'प्रेम' होता है। सेवाके बदलेमें साधकको कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि संसारकी ही वस्तु संसारको दे दी तो अपना क्या खर्च हुआ? नया उद्योग क्या हुआ? प्रेमके बदलेमें भी उसको कुछ नहीं चाहिये; क्योंकि जो सदासे ही अपना है, उसमें प्रेमसे बढ़कर ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जिसकी उसको आवश्यकता हो। प्रभु मेरे लिये हैं, इसलिये अपनेको उनके अर्पित करना है, उनसे कुछ लेना नहीं है। उनसे कुछ चाहनेसे हम उनसे अलग हो जायँगे और अपनेको देनेसे उनसे अभिन्न हो जायँगे।

सेवासे मुक्ति होती है और प्रेमसे पराभक्ति प्राप्त होती है। मुक्तिसे निरपेक्ष जीवनकी और भक्तिसे सरस जीवनकी प्राप्ति हो जाती है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

अथ षोडशोऽध्यायः
(सोलहवाँ अध्याय)

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—

अभयम् = भयका सर्वथा अभाव, **सत्त्वसंशुद्धिः** = अन्तःकरणकी अत्यन्त शुद्धि, **ज्ञानयोगव्यवस्थितिः** = ज्ञानके लिये योगमें दृढ़ स्थिति, **च** = और, **दानम्** = सात्त्विक दान, **दमः** = इन्द्रियोंका दमन, **यज्ञः** = यज्ञ, **स्वाध्यायः** = स्वाध्याय, **तपः** = कर्तव्य-पालनके लिये कष्ट सहना **च** = और **आर्जवम्** = शरीर-मन-वाणीकी सरलता।

~~~

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥

अहिंसा = अहिंसा, **सत्यम्** = सत्यभाषण, **अक्रोधः** = क्रोध न करना, **त्यागः** = संसारकी कामनाका त्याग, **शान्तिः** = अन्तःकरणमें राग-द्वेषजनित हलचलका न होना, **अपैशुनम्** = चुगली न करना, **भूतेषु** = प्राणियोंपर **दया** = दया करना, **अलोलुप्त्वम्** = सांसारिक विषयोंमें न ललचाना, **मार्दवम्** = अन्तःकरणकी कोमलता, **ह्रीः** = अकर्तव्य करनेमें लज्जा, **अचापलम्** = चपलताका अभाव।

~~~

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

तेजः = तेज (प्रभाव), **क्षमा** = क्षमा, **धृतिः** = धैर्य, **शौचम्** = शरीरकी शुद्धि, **अद्रोहः** = वैरभावका न होना (और) **नातिमानिता** = मानको न चाहना, **भारत** = हे भरतवंशी अर्जुन! (ये सभी) **दैवीम्** = दैवी **सम्पदम्** = सम्पदाको **अभिजातस्य** = प्राप्त हुए मनुष्यके (लक्षण) **भवन्ति** = हैं।

~~~
~~~

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ ४॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**क्रोधः**	=क्रोध करना	**एव**	=भी—(ये सभी)
दम्भः	=दम्भ करना,	**च**	=तथा	**आसुरीम्**	=आसुरी
दर्पः	=घमण्ड करना	**पारुष्यम्**	=कठोरता रखना	**सम्पदम्**	=सम्पदाको
च	=और	**च**	=और	**अभिजातस्य**	=प्राप्त हुए मनुष्यके (लक्षण) हैं।
अभिमानः	=अभिमान करना,	**अज्ञानम्**	=अविवेकका होना		

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ ५॥

दैवी	=दैवी	**निबन्धाय**	=बन्धनके लिये	**अभिजातः**	=प्राप्त हुए
सम्पत्	=सम्पत्ति	**मता**	=मानी गयी है।	**असि**	=हो, (इसलिये तुम)
विमोक्षाय	=मुक्तिके लिये (और)	**पाण्डव**	=हे पाण्डव! (तुम)		
		दैवीम्	=दैवी	**मा, शुचः**	=शोक (चिन्ता) मत करो।
आसुरी	=आसुरी सम्पत्ति	**सम्पदम्**	=सम्पत्तिको		

विशेष भाव—जीवके एक ओर भगवान् हैं और एक ओर संसार है। जब वह भगवान्‌की ओर चलता है, तब उसमें दैवी सम्पत्ति आती है और जब वह संसारकी ओर चलता है, तब उसमें आसुरी सम्पत्ति आती है। दैवी सम्पत्तिमें आस्तिक भाव रहता है और आसुरी सम्पत्तिमें नास्तिक भाव रहता है। यद्यपि मुक्तिके सभी साधन (कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि) दैवी सम्पत्तिके अन्तर्गत आ जाते हैं—'**दैवी सम्पद्विमोक्षाय**', तथापि दैवी सम्पत्तिमें मुख्यता भक्तिकी ही है। इसीलिये भगवान्‌ने भक्तिके प्रकरणमें कहा है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

(गीता ९। १३)

'हे पृथानन्दन! दैवी प्रकृतिके आश्रित अनन्यमनवाले महात्मालोग मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि और अविनाशी समझकर मेरा भजन करते हैं।'

आगे भी भगवान्‌ने कहा है—'**मामप्राप्यैव कौन्तेय**........' (१६। २०)। भक्तिके अन्तर्गत मुक्तिके सभी साधन आ जाते हैं। जिनको अपने प्राणोंसे प्यार होता है, वे प्राणपोषणपरायण मनुष्य आसुरी सम्पत्तिवाले होते हैं। परन्तु जो भगवान्‌को अपने प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा मानते हैं, वे दैवी सम्पत्तिवाले होते हैं।

दूसरोंके सुखके लिये कर्म करना अथवा दूसरोंका सुख चाहना 'चेतनता' है और अपने सुखके लिये कर्म करना अथवा अपना सुख चाहना 'जड़ता' है। भजन-ध्यान भी अपने सुखके लिये, शरीरके आराम, मान-आदरके लिये करना जड़ता है। चेतनताकी मुख्यतासे दैवी सम्पत्ति आती है और जड़ताकी मुख्यतासे आसुरी सम्पत्ति आती है।

मूल दोष एक ही है, जिससे सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्ति पैदा होती है और मूल गुण भी एक ही है, जिससे सम्पूर्ण दैवी सम्पत्ति प्रकट होती है। मूल दोष है—शरीर तथा संसारकी सत्ता और महत्ता स्वीकार करके उससे सम्बन्ध जोड़ना। मूल गुण है—भगवान्‌की सत्ता और महत्ता स्वीकार करके उनसे सम्बन्ध जोड़ना। यह मूल दोष और मूल गुण ही स्थानभेदसे अनेक रूपोंमें दीखता है।

जबतक गुणोंके साथ अवगुण रहते हैं, तभीतक गुणोंकी महत्ता दीखती है और उनका अभिमान होता है।

कोई भी अवगुण न रहे तो अभिमान नहीं होता। अभिमान आसुरी सम्पत्तिका मूल है। अभिमानके कारण मनुष्यको दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता दीखने लगती है—यह आसुरी सम्पत्ति है। अभिमान होनेके कारण दैवी सम्पत्ति भी आसुरी सम्पत्तिकी वृद्धि करनेवाली बन जाती है। जब गुणोंके साथ अवगुण नहीं रहते, तब गुणोंकी महत्ता नहीं दीखती और उनका अभिमान नहीं होता। गुणोंकी महत्ता न दीखनेसे साधककी दृष्टि अपने गुणोंकी तरफ नहीं जाती, जिससे वह घबरा जाता है*। अपने गुणोंकी तरफ दृष्टि न जानेसे ही अर्जुन घबरा जाते हैं कि मेरेमें दैवी सम्पत्ति है ही नहीं! ऐसी दशामें उनकी चिन्ताको दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं—**'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव'**।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ ६॥

अस्मिन्	=इस	**दैवः**	=दैवी	**प्रोक्तः**	=कह दिया, (अब)
लोके	=लोकमें	**च**	=और	**पार्थ**	=हे पार्थ! (तुम)
द्वौ	=दो तरहके	**आसुरः**	=आसुरी।	**मे**	=मुझसे
एव	=ही	**दैवः**	=दैवीको तो (मैंने)	**आसुरम्**	=आसुरीको (विस्तारसे)
भूतसर्गौ	=प्राणियोंकी सृष्टि है—	**विस्तरशः**	=विस्तारसे	**शृणु**	=सुनो।

विशेष भाव—दैवी और आसुरी—यह दो तरहके प्राणियोंकी सृष्टि मनुष्यलोकमें होनेसे लौकिक है। अलौकिक तत्त्वमें ये दोनों ही नहीं हैं। साधन भी लौकिक और अलौकिक दोनों होते हैं, पर साध्य अलौकिक ही होता है। अलौकिक तत्त्व व्यापक, अनन्त-अपार है। लौकिक भी उसीके अन्तर्गत है। वास्तवमें लौकिककी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। सब कुछ अलौकिक ही है। जीवने ही लौकिकको धारण किया है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७।५)। तात्पर्य है कि जबतक जीवकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है, तभीतक 'लौकिक' है। संसारकी सत्ता न रहनेपर सब 'अलौकिक' ही है—**'वासुदेवः सर्वम्'**, **'सदसच्चाहम्'**।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ ७॥

आसुराः	=आसुरी प्रकृतिवाले	**न**	=नहीं	**आचारः**	=श्रेष्ठ आचरण
जनाः	=मनुष्य	**विदुः**	=जानते	**च**	=तथा
प्रवृत्तिम्	=किसमें प्रवृत्त होना चाहिये	**च**	=और	**न**	=न
		तेषु	=उनमें		
च	=और	**न**	=न तो	**सत्यम्**	=सत्य-पालन
निवृत्तिम्	=किससे निवृत्त होना चाहिये (—इसको)	**शौचम्**	=बाह्य शुद्धि,	**अपि**	=ही
		न	=न	**विद्यते**	=होता है।

* एक बार एक साधु बड़े व्याकुल होकर बोले कि गीतामें मेरी श्रद्धा नहीं है, मेरी क्या दशा होगी! क्योंकि भगवान्‌ने कहा है—'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति' (४।४०)। मैंने कहा कि श्रद्धा न करनेवालेका नाश हो जाता है—यह बात लिखी किसमें है? वे बोले—गीतामें। मैंने कहा कि गीतामें लिखी बातसे आपको घबराहट हुई तो यह गीतापर श्रद्धा नहीं तो क्या है? यह बात सुनते ही वे प्रसन्न हो गये!

विशेष भाव—ज्यों-ज्यों आसुरी सम्पत्ति आती है, त्यों-त्यों विवेक लुप्त होता जाता है। भोगोंके परायण होनेसे आसुर मनुष्य 'क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये'—इसको नहीं जान सकते। उनकी निष्ठा तो लौकिक भी नहीं होती, अलौकिक तो दूर रही! उनकी निष्ठा नरकोंमें ले जानेवाली होती है।

आसुर मनुष्य पिण्डप्राणपोषणपरायण होते हैं। इसलिये वे केवल अपना सुख-आराम, अपना स्वार्थ देखते हैं। जिससे अपनेको सुख मिलता दीखे, उसीमें उनकी प्रवृत्ति होती है और जिससे दु:ख मिलता दीखे, स्वार्थ सिद्ध होता न दीखे, उसीसे उनकी निवृत्ति होती है। वास्तवमें प्रवृत्ति और निवृत्तिमें शास्त्र ही प्रमाण है (गीता १६। २४); परन्तु अपने शरीर और प्राणोंमें मोह रहनेके कारण आसुर मनुष्योंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति शास्त्रको लेकर नहीं होती। आसुर स्वभावके कारण वे शास्त्रकी बात सुनते ही नहीं और अगर सुन भी लें तो उसको समझ सकते ही नहीं—'**यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः**' (गीता १५। ११)।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ८॥

ते = वे
आहुः = कहा करते हैं कि
जगत् = संसार
असत्यम् = असत्य,
अप्रतिष्ठम् = बिना मर्यादाके (और)
अनीश्वरम् = बिना ईश्वरके
अपरस्परसम्भूतम् = अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे पैदा हुआ है।
कामहैतुकम् = (इसलिये) काम ही इसका कारण है,
अन्यत् = इसके सिवाय और
किम् = क्या कारण है? (और कारण हो ही नहीं सकता।)

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥

एताम् = इस (पूर्वोक्त)
दृष्टिम् = (नास्तिक) दृष्टिका
अवष्टभ्य = आश्रय लेनेवाले
नष्टात्मानः = जो मनुष्य अपने नित्य स्वरूपको नहीं मानते,
अल्पबुद्धयः = जिनकी बुद्धि तुच्छ है,
उग्रकर्माणः = जो उग्र कर्म करनेवाले (और)
जगतः = संसारके
अहिताः = शत्रु हैं,
क्षयाय, प्रभवन्ति = उन मनुष्योंकी सामर्थ्यका उपयोग जगत्‌का नाश करनेके लिये ही होता है।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ १०॥

दुष्पूरम् = कभी पूरी न होनेवाली
कामम् = कामनाओंका
आश्रित्य = आश्रय लेकर
दम्भमानमदान्विताः = दम्भ, अभिमान और मदमें चूर रहनेवाले (तथा)
अशुचिव्रताः = अपवित्र व्रत धारण करनेवाले मनुष्य
मोहात् = मोहके कारण
असद्ग्राहान् = दुराग्रहोंको
गृहीत्वा = धारण करके
प्रवर्तन्ते = (संसारमें) विचरते रहते हैं।

विशेष भाव—'काममाश्रित्य दुष्पूरम्'—तीसरे अध्यायमें भी भगवान्‌ने कहा है कि यह काम बहुत खानेवाला है—**'महाशनः'** (३। ३७) और अग्निके समान कभी तृप्त न होनेवाला है—**'दुष्पूरेणानलेन च'** (३। ३९)। इसलिये सभी कामनाओंकी पूर्ति कभी सम्भव नहीं है। अतः कामनापूर्ति ही जिनका उद्देश्य है, उनको कभी शान्ति नहीं मिलती। कामनापूर्तिमें महान् परतन्त्रता है, पर आसुर मनुष्य इस परतन्त्रतामें भी स्वतन्त्रताका अनुभव करते हैं कि धनादि पदार्थ मिल जायँगे तो हम स्वतन्त्र हो जायँगे। वे शास्त्र, गुरु, ईश्वर, धर्म आदिको मानते ही नहीं, फिर कामके सिवाय और किसका आश्रय लें?

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ११॥

प्रलयान्ताम्	= (वे) मृत्युपर्यन्त रहनेवाली	**कामोपभोगपरमाः**	= पदार्थोंका संग्रह और उनका भोग करनेमें ही लगे रहनेवाले	**एतावत्**	= 'जो कुछ है, वह इतना ही है'—
अपरिमेयाम्	= अपार			**इति**	= ऐसा
चिन्ताम्	= चिन्ताओंका			**निश्चिताः**	= निश्चय करनेवाले होते हैं।
उपाश्रिताः	= आश्रय लेनेवाले,	**च**	= और		

विशेष भाव—भोग और संग्रहमें लगा हुआ मनुष्य अन्धा हो जाता है। वह न तो संसारको जान सकता है और न परमात्माको ही जान सकता है। अस्वाभाविकमें स्वाभाविक बुद्धि होनेके कारण उसकी दृष्टि परमात्माकी तरफ जा ही नहीं सकती। वह अस्वाभाविक संसारको ही सच्चा मानता है।

वस्तुएँ विनाशी हैं, आप अविनाशी है, फिर पूर्ति कैसे हो? नाशवान्‌के द्वारा अविनाशीकी पूर्ति कैसे हो सकती है?

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ १२॥

आशापाशशतैः	= (वे) आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे	**कामक्रोधपरायणाः**	= काम-क्रोधके परायण होकर	**अन्यायेन**	= अन्यायपूर्वक
बद्धाः	= बँधे हुए मनुष्य	**कामभोगार्थम्**	= पदार्थोंका भोग करनेके लिये	**अर्थसञ्चयान्**	= धन-संचय करनेकी
				ईहन्ते	= चेष्टा करते रहते हैं।

विशेष भाव—'आशापाशशतैर्बद्धाः'—यहाँ **'शतैः'** पद अनन्तका वाचक है। जबतक संसारके साथ सम्बन्ध है, तबतक कामनाओंका अन्त नहीं आता। दूसरे अध्यायके इकतालीसवें श्लोकमें आया है—**'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्'** 'अव्यवसायी मनुष्योंकी बुद्धियाँ अनन्त और बहुशाखाओंवाली ही होती हैं।' कारण कि उन्होंने अविनाशीसे विमुख होकर नाशवान्‌को सत्ता और महत्ता दे दी तथा उसके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया।

'कामक्रोधपरायणाः'—आसुर स्वभाववाले लोग काम और क्रोधको स्वाभाविक मानते हैं। काम और क्रोधके सिवाय उनको और कुछ दीखता ही नहीं, इनसे आगे उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। यही उनके परम अयन अर्थात् स्थान हैं।

मनुष्य समझता है कि क्रोध करनेसे दूसरा हमारे वशमें रहेगा। परन्तु जो मजबूर, लाचार होकर हमारे वशमें हुआ है, वह कबतक वशमें रहेगा? मौका पड़ते ही वह घात करेगा। अतः क्रोधका परिणाम बुरा ही होता है।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥

वे इस प्रकारके मनोरथ किया करते हैं कि—

इदम्	=इतनी वस्तुएँ तो	**मनोरथम्**	=मनोरथको	**अस्ति**	=है ही,
मया	=हमने	**प्राप्स्ये**	=प्राप्त (पूरा) कर लेंगे।	**इदम्**	=इतना (धन)
अद्य	=आज				
लब्धम्	=प्राप्त कर लीं (और अब)	**इदम्**	=इतना	**पुनः**	=फिर
		धनम्	=धन तो	**अपि**	=भी
इमम्	=इस	**मे**	=हमारे पास	**भविष्यति**	=हो जायगा।

विशेष भाव—यहाँ भगवान् ग्यारहवें श्लोकमें कहे '**कामोपभोगपरमाः**' पदकी व्याख्या करते हैं।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ १४॥

असौ	=वह	**अपि**	=भी (हम)	**अहम्**	=हम
शत्रुः	=शत्रु तो	**हनिष्ये**	=मार डालेंगे।	**सिद्धः**	=सिद्ध हैं।
मया	=हमारे द्वारा	**अहम्**	=हम		
हतः	=मारा गया	**ईश्वरः**	=ईश्वर (सर्वसमर्थ) हैं।	**बलवान्**	=(हम) बड़े बलवान् (और)
च	=और				
अपरान्	=(उन) दूसरे शत्रुओंको	**अहम्**	=हम		
		भोगी	=भोग भोगनेवाले हैं।	**सुखी**	=सुखी हैं।

विशेष भाव—यहाँ भगवान् बारहवें श्लोकमें कहे '**कामक्रोधपरायणाः**' पदकी व्याख्या करते हैं।

आसुर स्वभाववाले मनुष्योंमें 'हम सुखी हैं'—यह केवल अभिमान होता है। वास्तवमें वे सुखी नहीं होते। सुखी वास्तवमें वही है, जिसपर अनुकूलता-प्रतिकूलताका असर नहीं पड़ता।*

आसुर स्वभाववाले मनुष्योंके पास काम और क्रोधका ही बल होता है। वे नाशवान्‌के सम्बन्धसे अपनेको बलवान् मानते हैं। हिरण्यकशिपु आदिकी तरह वे अपनेको ही सर्वोपरि मानते हैं; क्योंकि दूसरे लोग उनको निकृष्ट दीखते हैं।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥

---

* **शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।**
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ (गीता ५। २३)

'इस मनुष्यशरीरमें जो मनुष्य शरीर छूटनेसे पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ होता है, वह नर योगी है और वही सुखी है।'

आढ्यः = हम धनवान् हैं,
अभिजनवान्,
अस्मि = बहुत-से मनुष्य हमारे पास हैं,
मया = हमारे
सदृशः = समान
अन्यः = दूसरा
कः = कौन
अस्ति = है?
यक्ष्ये = (हम) खूब यज्ञ करेंगे,
दास्यामि = दान देंगे (और)
मोदिष्ये = मौज करेंगे—
इति = इस तरह (वे)
अज्ञानविमोहिताः = अज्ञानसे मोहित रहते हैं।

~~~

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥

अनेकचित्तविभ्रान्ताः = (कामनाओंके कारण) तरह-तरहसे भ्रमित चित्तवाले,
मोहजालसमावृताः = मोह-जालमें अच्छी तरहसे फँसे हुए (तथा)
कामभोगेषु = पदार्थों और भोगोंमें
प्रसक्ताः = अत्यन्त आसक्त रहनेवाले मनुष्य
अशुचौ = भयंकर
नरके = नरकोंमें
पतन्ति = गिरते हैं।

विशेष भाव—वास्तवमें आसुर मनुष्य कामक्रोधपरायण होनेके कारण पहलेसे ही नरकमें पड़े हैं और अभावरूपी अग्निमें जल रहे हैं। परिणाममें उनको भयंकर नरकोंकी प्राप्ति होती है।

ऊँचे लोकोंमें अथवा नरकोंमें जानेमें पदार्थ और क्रिया मुख्य कारण नहीं हैं, प्रत्युत भाव मुख्य कारण है। भावका विशेष मूल्य है। जैसा भाव होता है, वैसी क्रिया अपने-आप होती है। इसलिये भगवान्‌ने आसुर मनुष्योंके भावों (मनोरथ आदि) का वर्णन किया है।

~~~

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ १७॥

आत्मसम्भाविताः = अपनेको सबसे अधिक पूज्य माननेवाले,
स्तब्धाः = अकड़ रखनेवाले (तथा)
धनमानमदान्विताः = धन और मानके मदमें चूर रहनेवाले
ते = वे मनुष्य
दम्भेन = दम्भसे
अविधिपूर्वकम् = अविधिपूर्वक
नामयज्ञैः = नाममात्रके यज्ञोंसे
यजन्ते = यजन करते हैं।

विशेष भाव—आसुर स्वभाववाले मनुष्य दूसरोंसे प्रतिस्पर्धा रखते हैं और इसलिये यज्ञ करते हैं कि दूसरोंकी अपेक्षा हमारेमें कोई कमी न रह जाय, कोई हमारेको यज्ञ करनेवालोंकी अपेक्षा नीचा न मान ले। वे केवल लोगोंमें अपनी प्रसिद्धि करनेके लिये यज्ञ करते हैं, फलपर विश्वास नहीं रखते। दूसरा व्यक्ति यज्ञ करता है तो वे ऐसा समझते हैं कि वह भी अपनी प्रसिद्धिके लिये ही यज्ञ करता है। ईश्वर और परलोकपर विश्वास न होनेके कारण उनकी दृष्टि विधिपर नहीं रहती। विधिका विचार वही करते हैं, जो ईश्वर और परलोकको मानते हैं कि अमुक कर्मका अमुक फल होगा।

आसुर मनुष्योंकी सब चेष्टाएँ दिखावटी होती हैं। परन्तु उनके भीतरमें अभिमान होता है कि हम दूसरोंसे भी बढ़िया यज्ञ करेंगे। उनमें अपनी जानकारीका भी अभिमान होता है कि हम समझदार हैं, दूसरे सब मूर्ख हैं, समझते नहीं। वास्तवमें उनमें कोरी मूर्खता भरी होती है।

~~~
~~~

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥

अहङ्कारम्	=(वे) अहंकार,	**क्रोधम्**	=क्रोधका	**माम्**	=मुझ अन्तर्यामीके साथ
बलम्	=हठ,	**संश्रिताः**	=आश्रय लेनेवाले मनुष्य	**प्रद्विषन्तः**	=द्वेष करते हैं (तथा)
दर्पम्	=घमण्ड,			**अभ्यसूयकाः**	= (मेरे और दूसरोंके गुणोंमें) दोषदृष्टि रखते हैं।
कामम्	=कामना	**आत्मपरदेहेषु**	= अपने और दूसरोंके शरीरमें (रहनेवाले)		
च	=और				

विशेष भाव—आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य अपनी जिदपर पक्के रहते हैं और अपनी बातको ही सच्चा मानते हैं। यह सिद्धान्त है कि जो खुद दुःखी होता है, वही दूसरोंको दुःख देता है। आसुर मनुष्य खुद दुःखी रहते हैं, इसलिये वे दूसरोंको भी दुःख देते हैं। उनको कहीं भी गुण नहीं दीखता, प्रत्युत दोष-ही-दोष दीखते हैं। उनकी ऐसी मान्यता होती है कि सब अच्छाई हमारेमें ही है। उनको संसारमें कोई अच्छा आदमी दीखता ही नहीं।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥

तान्	=उन	**नराधमान्**	=महान् नीच,	**आसुरीषु**	=आसुरी
द्विषतः	=द्वेष करनेवाले,	**अशुभान्**	=अपवित्र मनुष्योंको	**योनिषु**	=योनियोंमें
क्रूरान्	=क्रूर स्वभाववाले (और)	**अहम्**	=मैं	**एव**	=ही
संसारेषु	=संसारमें	**अजस्रम्**	=बार-बार	**क्षिपामि**	=गिराता रहता हूँ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ २०॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीनन्दन!	**जन्मनि, जन्मनि**	= जन्म-जन्मान्तरमें		अधिक
मूढाः	=(वे) मूढ़ मनुष्य	**आसुरीम्**	=आसुरी	**अधमाम्**	=अधम
माम्	=मुझे	**योनिम्**	=योनिको	**गतिम्**	=गतिमें अर्थात् भयंकर नरकोंमें
अप्राप्य	=प्राप्त न करके	**आपन्नाः**	=प्राप्त होते हैं,		
एव	=ही	**ततः**	=(फिर) उससे भी	**यान्ति**	=चले जाते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ २१॥

कामः	=काम,	**त्रिविधम्**	=तीन प्रकारके	**तस्मात्**	=इसलिये
क्रोधः	=क्रोध	**नरकस्य**	=नरकके	**एतत्**	=इन
तथा	=और	**द्वारम्**	=दरवाजे	**त्रयम्**	=तीनोंका
लोभः	=लोभ—	**आत्मनः**	=जीवात्माका	**त्यजेत्**	=त्याग कर देना चाहिये।
इदम्	=ये	**नाशनम्**	=पतन करनेवाले हैं,		

विशेष भाव—भोग भोगना 'काम' है। संग्रह करना 'लोभ' है। भोग और संग्रहमें बाधा देनेवालेपर 'क्रोध' आता है। ये तीनों आसुरी सम्पत्तिके मूल हैं। सब पाप इन तीनोंसे ही होते हैं।

व्यक्ति और पदार्थ तो यहीं छूट जाते हैं, पर भीतरका भाव आसुर मनुष्योंको नरकोंमें ले जाता है।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीनन्दन!	**नरः**	=(जो) मनुष्य	**ततः**	=उससे
एतैः	=इन	**आत्मनः**	=अपने	**पराम्**	=परम
त्रिभिः, तमोद्वारैः	= नरकके तीनों दरवाजोंसे	**श्रेयः**	=कल्याणका	**गतिम्**	=गतिको
विमुक्तः	=रहित हुआ	**आचरति**	=आचरण करता है, (वह)	**याति**	=प्राप्त हो जाता है।

विशेष भाव—'एतैर्विमुक्तः'—काम-क्रोध-लोभसे रहित होनेका तात्पर्य है—इनके त्यागका उद्देश्य रखना, इनके वशमें न होना। कामसे, क्रोधसे अथवा लोभसे किया गया शुभकर्म भी कल्याणकारक नहीं होता। इसलिये इनके त्यागकी तरफ विशेष ध्यान देना चाहिये। काम-क्रोध-लोभको पकड़े रहनेसे कल्याणका आचरण (जप, ध्यान आदि) करनेपर भी कल्याण नहीं होता; क्योंकि ये सम्पूर्ण पापोंके कारण हैं (गीता ३। ३७)।

काम-क्रोध-लोभके कारण धर्म और समाजकी मर्यादा नष्ट हो जाती है, जिससे दुनियाका बड़ा अहित होता है। आसुरी स्वभाववाले मनुष्य काम-क्रोध-लोभके परायण होते हैं। वे यज्ञ, दान आदि सब शुभकर्म नाममात्रके लिये करते हैं, अपने कल्याणके लिये कुछ नहीं करते। परन्तु दैवी सम्पत्तिवाले साधक काम-क्रोध-लोभके वशमें न होकर अपने कल्याणका आचरण करते हैं, जिससे दुनियाका स्वतः हित होता है। आसुरी मनुष्य ऐसे साधकोंको बेसमझ समझते हैं और इनसे द्वेष रखते हैं, पर इन साधकोंको उन आसुरी मनुष्योंपर दया आती है और वे उनको सद्बुद्धि देनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ २३॥

यः	=जो मनुष्य	**सः**	=वह		(और)
शास्त्रविधिम्	=शास्त्रविधिको	**न**	=न	**न**	=न
उत्सृज्य	=छोड़कर	**सिद्धिम्**	=सिद्धि (अन्तः-करणकी शुद्धि)को,	**पराम्**	=परम
कामकारतः	=अपनी इच्छासे मनमाना	**न**	=न	**गतिम्**	=गतिको (ही)
वर्तते	=आचरण करता है,	**सुखम्**	=सुख (शान्ति) को	**अवाप्नोति**	=प्राप्त होता है।

विशेष भाव—आसुर मनुष्य अभिमानके कारण अपनेको सिद्ध और सुखी मानते हैं—**'सिद्धोऽहं बलवान्सुखी'** (गीता १६। १४), पर वास्तवमें वे सिद्ध और सुखी होते नहीं—**'न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखम्'।** उनके हृदयमें अभिमान और द्वेषकी अग्नि जलती रहती है!

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ २४॥

तस्मात्	= अतः	**प्रमाणम्**	= प्रमाण है	**कर्म**	= कर्तव्य-कर्म
ते	= तेरे लिये	**ज्ञात्वा**	= (—ऐसा) जानकर (तू)	**कर्तुम्**	= करने
कार्याकार्यव्यवस्थितौ	= कर्तव्य-अकर्तव्यकी व्यवस्थामें	**इह**	= इस लोकमें	**अर्हसि**	= योग्य है अर्थात् तुझे शास्त्रविधिके अनुसार कर्तव्यकर्म करने चाहिये।
शास्त्रम्	= शास्त्र (ही)	**शास्त्रविधानोक्तम्**	= शास्त्रविधिसे नियत		

विशेष भाव—सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि आसुर स्वभाववाले मनुष्य कर्तव्य-अकर्तव्यको नहीं जानते। यहाँ भगवान् बताते हैं कि वह आसुर स्वभाव शास्त्रके अनुसार आचरण करनेसे ही मिटेगा।

यहाँ शंका हो सकती है कि जो शास्त्र पढ़े हुए नहीं हैं, उनको कर्तव्यका ज्ञान कैसे होगा? इसका समाधान है कि अगर उनका अपने कल्याणका उद्देश्य होगा तो अपने कर्तव्यका ज्ञान स्वतः होगा; क्योंकि आवश्यकता आविष्कारकी जननी है। अगर अपने कल्याणका उद्देश्य नहीं होगा तो शास्त्र पढ़नेपर भी कर्तव्यका ज्ञान नहीं होगा, उल्टे अज्ञान बढ़ेगा कि हम अधिक जानते हैं!

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

(सत्रहवाँ अध्याय)

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

अर्जुन बोले—

कृष्ण	=हे कृष्ण!	**यजन्ते**	=(देवता आदिका) पूजन करते हैं,	**का**	=कौन-सी है?
ये	=जो मनुष्य			**सत्त्वम्**	=सात्त्विकी है
शास्त्रविधिम्	=शास्त्रविधिका	**तेषाम्**	=उनकी	**आहो**	=अथवा
उत्सृज्य	=त्याग करके	**निष्ठा**	=निष्ठा	**रजः, तमः**	= राजसी-तामसी?
श्रद्धया, अन्विताः	= श्रद्धापूर्वक	**तु**	=फिर		

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—

देहिनाम्	=मनुष्योंकी	**च**	=तथा	**एव**	=ही
सा	=वह	**राजसी**	=राजसी	**भवति**	=होती है,
स्वभावजा	=स्वभावसे उत्पन्न हुई	**च**	=और	**ताम्**	=उसको (तुम मुझसे)
		तामसी	=तामसी		
श्रद्धा	=श्रद्धा	**इति**	=—ऐसे		
सात्त्विकी	=सात्त्विकी	**त्रिविधा**	=तीन तरहकी	**शृणु**	=सुनो।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३॥

भारत	=हे भारत!	**भवति**	=होती है।	**यच्छ्रद्धः**	=जैसी श्रद्धावाला है,
सर्वस्य	=सभी मनुष्योंकी	**अयम्**	=यह	**सः, एव**	=वही
श्रद्धा	=श्रद्धा	**पुरुषः**	=मनुष्य	**सः**	=उसका स्वरूप है अर्थात् वही उसकी निष्ठा (स्थिति) है।
सत्त्वानुरूपा	=अन्तःकरणके अनुरूप	**श्रद्धामयः**	=श्रद्धामय है।		
		यः	=(इसलिये) जो		

विशेष भाव—श्रद्धा भाव है। जैसा जिसका भाव होता है, वैसा ही उसका स्वरूप होता है। भाव दो तरहका होता है—सद्भाव और असद्भाव। जो परमात्माकी तरफ ले जाता है, वह सद्भाव होता है और जो संसारकी तरफ ले जाता है, वह असद्भाव होता है। दैवी सम्पत्तिमें सद्भावकी मुख्यता होती है और आसुरी सम्पत्तिमें असद्भावकी मुख्यता होती है।

'मैं साधक हूँ'—इसमें अगर असद्भावकी मुख्यता हो तो अभिमान होता है और सद्भावकी मुख्यता हो तो स्वाभिमान होता है। अभिमानसे आसुरी सम्पत्ति आती है और स्वाभिमानसे दैवी सम्पत्ति आती है। दूसरोंकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता देखनेसे अभिमान होता है और अपने कर्तव्यको देखनेसे स्वाभिमान होता है कि मैं साधन-विरुद्ध काम कैसे कर सकता हूँ! अभिमान होनेपर तो मनुष्य साधन-विरुद्ध काम कर बैठेगा, पर स्वाभिमान होनेपर उसको साधन-विरुद्ध काम करनेमें लज्जा होगी। स्वाभिमान होनेसे वह सात्त्विकीमें चला जायगा और अभिमान होनेसे वह राजसी-तामसीमें चला जायगा।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ ४॥

सात्त्विकाः	= सात्त्विक मनुष्य	**यक्षरक्षांसि**	= यक्षों तथा राक्षसोंका	**जनाः**	= मनुष्य हैं, (वे)
देवान्	= देवताओंका	**च**	= और	**प्रेतान्**	= प्रेतों (और)
यजन्ते	= पूजन करते हैं,	**अन्ये**	= दूसरे (जो)	**भूतगणान्**	= भूतगणोंका
राजसाः	= राजस मनुष्य	**तामसाः**	= तामस	**यजन्ते**	= पूजन करते हैं।

विशेष भाव—देवताओंका पूजन करनेवाले सात्त्विक मनुष्य शरीर छूटनेपर देवताओंको प्राप्त होते हैं, यक्ष-राक्षसोंका पूजन करनेवाले राजस मनुष्य यक्ष-राक्षसोंको प्राप्त होते हैं और भूत-प्रेतोंका पूजन करनेवाले तामस मनुष्य भूत-प्रेतोंको प्राप्त होते हैं*।

गीतामें 'यज्ञ' शब्द बहुत व्यापक है, जिसके अन्तर्गत यज्ञ, दान, तप, व्रत आदि सम्पूर्ण कर्तव्य कर्म आ जाते हैं' (गीता ४। २४—३०)। अतः यहाँ भी '**यजन्ते**' पदके अन्तर्गत सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको लेना चाहिये, जिनमें यज्ञ मुख्य है।

'**प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये**'—हमारे जो पितर हैं, वे दूसरोंके लिये भूत हैं और दूसरेके जो पितर हैं, वे हमारे लिये भूत हैं। पितरोंका पूजन करना तामस नहीं है, पर भूतोंका पूजन करना तामस है।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ ५॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ ६॥

* **यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।**
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ (गीता ९। २५)

'सकामभावसे देवताओंका पूजन करनेवाले शरीर छोड़नेपर देवताओंको प्राप्त होते हैं। पितरोंका पूजन करनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं। भूत-प्रेतोंका पूजन करनेवाले भूत-प्रेतोंको प्राप्त होते हैं। परन्तु मेरा पूजन करनेवाले मुझे ही प्राप्त होते हैं।'

ये = जो
जनाः = मनुष्य
अशास्त्रविहितम् = शास्त्रविधिसे रहित
घोरम् = घोर
तपः = तप
तप्यन्ते = करते हैं;
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः = (जो) दम्भ और अहंकारसे अच्छी तरह युक्त हैं;
कामरागबलान्विताः = (जो) भोग-पदार्थ, आसक्ति और हठसे युक्त हैं;
शरीरस्थम् = (जो) शरीरमें स्थित
भूतग्रामम् = पाँच भूतोंको अर्थात् पाञ्चभौतिक शरीरको
च = तथा
अन्तःशरीरस्थम् = अन्तःकरणमें स्थित
माम् = मुझ परमात्माको
एव = भी
कर्शयन्तः = कृश करनेवाले हैं,
तान् = उन
अचेतसः = अज्ञानियोंको (तू)
आसुरनिश्चयान् = आसुर निष्ठावाले (आसुरी सम्पत्तिवाले)
विद्धि = समझ।

~~~

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ ७॥

आहारः = आहार
अपि = भी
सर्वस्य = सबको
त्रिविधः = तीन प्रकारका
प्रियः = प्रिय
भवति = होता है
तु = और
तथा = वैसे ही
यज्ञः = यज्ञ,
तपः = तप (और)
दानम् = दान (भी तीन प्रकारके होते हैं अर्थात् शास्त्रीय कर्मोंमें भी गुणोंको लेकर तीन प्रकारकी रुचि होती है,)
तेषाम् = (तू) उनके
इमम् = इस
भेदम् = भेदको
शृणु = सुन।

विशेष भाव—मनुष्यके द्वारा स्वभावसे होनेवाली क्रियाएँ दो प्रकारकी होती हैं—व्यावहारिक और शास्त्रीय। अतः यहाँ 'आहार' के अन्तर्गत व्यावहारिक (खान-पान, रहन-सहन आदि) और 'यज्ञ-तप-दान' के अन्तर्गत शास्त्रीय क्रियाओंको समझना चाहिये।

~~~

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ ८॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः = आयु, सत्त्वगुण, बल, आरोग्य, सुख और प्रसन्नता बढ़ानेवाले,
स्थिराः = स्थिर रहनेवाले,
हृद्याः = हृदयको शक्ति देनेवाले,
रस्याः = रसयुक्त (तथा)
स्निग्धाः = चिकने—
आहाराः = (ऐसे) आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ
सात्त्विकप्रियाः = सात्त्विक मनुष्यको प्रिय होते हैं।

~~~

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ ९॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः = अति कड़वे, अति खट्टे, अति नमकीन, अति गरम, अति तीखे, अति रूखे और अति दाहकारक
~~~

आहाराः	= आहार अर्थात् भोजनके पदार्थ	**राजसस्य**	= राजस मनुष्यको	**दुःखशोकामयप्रदाः**	= दुःख, शोक और रोगोंको देनेवाले हैं।
		इष्टाः	= प्रिय होते हैं, (जो कि)		

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १०॥

यत्	= जो	**पर्युषितम्**	= बासी	**अमेध्यम्**	= महान् अपवित्र (मांस आदि)
भोजनम्	= भोजन	**च**	= और		
यातयामम्	= सड़ा हुआ,	**उच्छिष्टम्**	= जूठा है	**अपि**	= भी है, (वह)
गतरसम्	= रसरहित,	**च**	= तथा (जो)	**तामसप्रियम्**	= तामस मनुष्यको प्रिय होता है।
पूति	= दुर्गन्धित,				

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ११॥

यष्टव्यम्, एव	= यज्ञ करना ही कर्तव्य है		करके	**यज्ञः**	= यज्ञ
इति	= —इस तरह	**अफलाकाङ्क्षिभिः**	= फलेच्छारहित मनुष्योंद्वारा	**इज्यते**	= किया जाता है,
मनः	= मनको	**यः**	= जो	**सः**	= वह
समाधाय	= समाधान (सन्तुष्ट)	**विधिदृष्टः**	= शास्त्रविधिसे नियत	**सात्त्विकः**	= सात्त्विक है।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १२॥

तु	= परन्तु	**एव**	= ही	**अपि**	= भी (किया जाता है),
भरतश्रेष्ठ	= हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन!	**इज्यते**	= किया जाता है	**तम्**	= उस
यत्	= जो	**च**	= अथवा	**यज्ञम्**	= यज्ञको (तुम)
फलम्	= फलकी	**दम्भार्थम्**	= दम्भ (दिखावटीपन) के लिये	**राजसम्**	= राजस
अभिसन्धाय	= इच्छाको लेकर			**विद्धि**	= समझो।

विशेष भाव—इस श्लोकमें आये '**यत्**' पदसे यह भाव निकलता है कि फलेच्छा और दम्भके लिये जो भी यज्ञ, दान, तप आदि कर्म किये जायँ, वे सब राजस समझने चाहिये।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ १३॥

विधिहीनम्	= शास्त्रविधिसे हीन,	**अदक्षिणम्**	= बिना दक्षिणाके (और)	**यज्ञम्**	= यज्ञको
असृष्टान्नम्	= अन्न-दानसे रहित,	**श्रद्धाविरहितम्**	= बिना श्रद्धाके किये जानेवाले	**तामसम्**	= तामस
मन्त्रहीनम्	= बिना मन्त्रोंके,			**परिचक्षते**	= कहते हैं।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ १४॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्	= देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और जीवन्मुक्त महापुरुषका यथायोग्य पूजन करना,	**शौचम्**	= शुद्धि रखना,	**अहिंसा**	= हिंसा न करना—(यह)
		आर्जवम्	= सरलता,	**शारीरम्**	= शरीर-सम्बन्धी
		ब्रह्मचर्यम्	= ब्रह्मचर्यका पालन करना	**तपः**	= तप
		च	= और	**उच्यते**	= कहा जाता है।

विशेष भाव—शारीरिक तपमें त्याग मुख्य है; जैसे-पूजन करनेमें अपनेमें बड़प्पनके भावका त्याग है; शुद्धि रखनेमें आलस्य-प्रमादका त्याग है; सरलता रखनेमें अभिमानका त्याग है; ब्रह्मचर्यमें विषयसुखका त्याग है; अहिंसामें अपने सुखके भावका त्याग है। इस प्रकार त्याग करनेसे शारीरिक तप होता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १५॥

यत्	= जो	**प्रियहितम्**	= प्रिय तथा हितकारक	**एव**	= भी
अनुद्वेगकरम्	= किसीको भी उद्विग्न न करनेवाला,	**वाक्यम्**	= भाषण है, (वह)	**वाङ्मयम्**	= वाणी-सम्बन्धी
		च	= तथा	**तपः**	= तप
सत्यम्	= सत्य	**स्वाध्यायाभ्यसनम्**	= स्वाध्याय और अभ्यास (नामजप आदि)	**उच्यते**	= कहा जाता है।
च	= और				

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ १६॥

मनःप्रसादः	= मनकी प्रसन्नता,		(और)	**एतत्**	= यह
सौम्यत्वम्	= सौम्य भाव,	**भावसंशुद्धिः**	= भावोंकी भलीभाँति शुद्धि	**मानसम्**	= मन-सम्बन्धी
मौनम्	= मननशीलता,			**तपः**	= तप
आत्मविनिग्रहः	= मनका निग्रह	**इति**	= —इस तरह	**उच्यते**	= कहा जाता है।

विशेष भाव—प्रतिकूल परिस्थितिमें भी प्रसन्न रहे। अपने ऊपर परिस्थितिका असर न पड़े। दूसरेकी प्रतिकूल बात सुनकर भी सौम्य रहे। मनकी स्वतन्त्रताका त्याग करके मनन करे; क्योंकि मनको स्वतन्त्र छोड़नेसे सुखभोग होता है, मननशीलता नहीं आती। मनकी मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त वृत्तियोंका त्याग करे। अपने मनमें किसीके अहितका भाव न हो। यह सब मन-सम्बन्धी तप है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ १७॥

परया	= परम	**नरैः**	= मनुष्योंके द्वारा (जो)	**तप्तम्**	= किया जाता है,
श्रद्धया	= श्रद्धासे	**त्रिविधम्**	= तीन प्रकार (शरीर, वाणी और मन)का	**तत्**	= उसको
युक्तैः	= युक्त			**सात्त्विकम्**	= सात्त्विक
अफलाकाङ्क्षिभिः	= फलेच्छारहित	**तपः**	= तप	**परिचक्षते**	= कहते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ १८॥

यत्	= जो	**दम्भेन**	= दिखानेके भावसे	**चलम्**	= अनिश्चित (और)
तपः	= तप	**एव**	= भी	**अध्रुवम्**	= नाशवान् फल देनेवाला (तप)
सत्कारमानपूजार्थम्	= सत्कार, मान और पूजाके लिये	**क्रियते**	= किया जाता है,		
		तत्	= वह	**राजसम्**	= राजस
च	= तथा	**इह**	= इस लोकमें	**प्रोक्तम्**	= कहा गया है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ १९॥

यत्	= जो	**पीडया**	= पीड़ा देकर	**क्रियते**	= किया जाता है,
तपः	= तप	**वा**	= अथवा	**तत्**	= वह (तप)
मूढग्राहेण	= मूढ़तापूर्वक हठसे	**परस्य**	= दूसरोंको	**तामसम्**	= तामस
आत्मनः	= अपनेको	**उत्सादनार्थम्**	= कष्ट देनेके लिये	**उदाहृतम्**	= कहा गया है।

विशेष भाव—'मूढग्राहेण' में तो शुद्ध तमोगुण है, पर **'परस्योत्सादनार्थम्'** में रजोगुण मिला हुआ है। मूढ़ता तमोगुण है और स्वार्थभाव, क्रोध आदि राजस हैं। क्रोध रजोगुणसे पैदा होकर तमोगुणमें चला जाता है—**'क्रोधाद्भवति सम्मोहः'** (गीता २। ६३)।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ २०॥

दातव्यम्	= दान देना कर्तव्य है—	**काले**	= काल	**दीयते**	= दिया जाता है,
इति	= ऐसे भावसे	**च**	= और	**तत्**	= वह
यत्	= जो	**पात्रे**	= पात्रके प्राप्त होनेपर	**दानम्**	= दान
दानम्	= दान				
देशे	= देश	**अनुपकारिणे**	= अनुपकारीको अर्थात् निष्कामभावसे	**सात्त्विकम्**	= सात्त्विक
च	= तथा			**स्मृतम्**	= कहा गया है।

विशेष भाव—यह सात्त्विक दान वास्तवमें त्याग है। यह वह दान नहीं है, जिसके लिये कहा गया है—'एक गुना दान, सहस्रगुना पुण्य'; क्योंकि उस दानसे (सहस्रके साथ) सम्बन्ध जुड़ता है*। परन्तु त्यागसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। दानके बदलेमें कुछ पानेकी कामना करनेसे वह राजस हो जाता है—'**यत्तु प्रत्युपकारार्थम्**' (गीता १७। २१)। इस राजसभावका निषेध करनेके लिये यहाँ '**अनुपकारिणे**' पद आया है।

गीतामें वर्णित सात्त्विक गुण त्यागकी तरफ जाता है, इसलिये इसको भगवान्‌ने 'अनामय' कहा है (१४। ६)। सत्त्वगुण सम्बन्ध-विच्छेद (त्याग) करता है, रजोगुण सम्बन्ध जोड़ता है और तमोगुण मूढ़ता लाता है।

गीताके अनुसार दूसरेके हितके लिये कर्म करना 'यज्ञ' है, हरदम प्रसन्न रहना 'तप' है और उसकी चीज उसीको दे देना 'दान' है। स्वार्थबुद्धिपूर्वक अपने लिये यज्ञ-तप-दान करना आसुरी अथवा राक्षसी स्वभाव है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥ २१॥

तु	= किन्तु	**वा**	= अथवा	**तत्**	= वह
यत्	= जो (दान)	**फलम्**	= फल-प्राप्तिका	**दानम्**	= दान
परिक्लिष्टम्	= क्लेशपूर्वक	**उद्दिश्य**	= उद्देश्य बनाकर	**राजसम्**	= राजस
च	= और	**पुनः**	= फिर	**स्मृतम्**	= कहा जाता है।
प्रत्युपकारार्थम्	= प्रत्युपकारके लिये	**दीयते**	= दिया जाता है,		

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

यत्	= जो	**अवज्ञातम्**	= अवज्ञापूर्वक	**दीयते**	= दिया जाता है,
दानम्	= दान	**अदेशकाले**	= अयोग्य देश और कालमें	**तत्**	= वह (दान)
असत्कृतम्	= बिना सत्कारके			**तामसम्**	= तामस
च	= तथा	**अपात्रेभ्यः**	= कुपात्रको	**उदाहृतम्**	= कहा गया है।

विशेष भाव—शास्त्रमें आया है कि कलियुगमें दान ही एकमात्र धर्म है; अतः जिस-किसी प्रकारसे भी दान दिया जाय, वह कल्याण ही करता है। इसका तात्पर्य है कि कलियुगमें यज्ञ, दान, तप, व्रत आदि शुभकर्म विधिपूर्वक करने कठिन हैं; अतः किसी तरहसे देनेकी, त्याग करनेकी आदत पड़ जाय। इसलिये जिस-किसी प्रकारसे भी दान देते रहना चाहिये।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥ २३॥

---

* **सुपात्रदानाच्च भवेद्धनाढ्यो धनप्रभावेण करोति पुण्यम्।**
पुण्यप्रभावात्सुरलोकवासी पुनर्धनाढ्यः पुनरेव भोगी॥
कुपात्रदानाच्च भवेद्दरिद्रो दारिद्र्य दोषेण करोति पापम्।
पापप्रभावान्नरकं प्रयाति पुनर्दरिद्रः पुनरेव पापी॥

ॐ	= ॐ,	**निर्देशः**	= निर्देश (संकेत)	**च**	= तथा
तत्	= तत्,			**ब्राह्मणाः**	= ब्राह्मणों
सत्	= सत्—	**स्मृतः**	= किया गया है,	**च**	= और
इति	= इन	**तेन**	= उसी परमात्मासे	**यज्ञाः**	= यज्ञोंकी
त्रिविधः	= तीन प्रकारके नामोंसे	**पुरा**	= सृष्टिके आदिमें		
ब्रह्मणः	= (जिस) परमात्माका	**वेदाः**	= वेदों	**विहिताः**	= रचना हुई है।

विशेष भाव—'महानिर्वाणतन्त्र' में आया है—

ॐ तत्सदिति मन्त्रेण यो यत्कर्म समाचरेत्।
गृहस्थो वाप्युदासीनस्तस्याभीष्टाय तद् भवेत्॥
जपो होमः प्रतिष्ठा च संस्काराद्यखिलाः क्रियाः।
ॐ तत्सन्मन्त्रनिष्पन्नाः सम्पूर्णाः स्युर्न संशयः॥

(१४। १५४-१५५)

'**ॐ तत् सत्**'—इस मन्त्रसे गृहस्थ अथवा उदासीन (साधु) जो भी कर्म आरम्भ करता है, उसको इससे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है। जप, होम, प्रतिष्ठा, संस्कार आदि सम्पूर्ण क्रियाएँ 'ॐ तत् सत्'—इस मन्त्रसे सफल हो जाती हैं, इसमें सन्देह नहीं है।'

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ २४॥

तस्मात्	= इसलिये	**यज्ञदानतपःक्रियाः**	= यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ	**इति**	= इस परमात्माके नामका
ब्रह्मवादिनाम्	= वैदिक सिद्धान्तोंको माननेवाले पुरुषोंकी	**सततम्**	= सदा	**उदाहृत्य**	= उच्चारण करके (ही)
विधानोक्ताः	= शास्त्रविधिसे नियत	**ओम्**	= 'ॐ'	**प्रवर्तन्ते**	= आरम्भ होती हैं।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ २५॥

तत्	= 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माके लिये ही सब कुछ है—	**मोक्षकाङ्क्षिभिः**	= मुक्ति चाहनेवाले मनुष्योंद्वारा	**यज्ञतपःक्रियाः**	= यज्ञ और तपरूप क्रियाएँ
		फलम्	= फलकी	**च**	= तथा
		अनभिसन्धाय	= इच्छासे रहित होकर	**दानक्रियाः**	= दानरूप क्रियाएँ
इति	= ऐसा मानकर	**विविधाः**	= अनेक प्रकारकी	**क्रियन्ते**	= की जाती हैं।

विशेष भाव—परमात्माके लिये परोक्षवाचक '**तत्**' (वह) पदके प्रयोगका तात्पर्य है कि परमात्मा अलौकिक हैं—'**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः**' (गीता १५। १७)। वे विचारके विषय नहीं हैं, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासके विषय हैं।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ २६॥

पार्थ	= हे पार्थ!	**च**	= और	**प्रशस्ते**	= प्रशंसनीय
सत्	= 'सत्'—	**साधुभावे**	= श्रेष्ठ भावमें	**कर्मणि**	= कर्मके साथ
इति	= ऐसा	**प्रयुज्यते**	= प्रयोग किया जाता है	**सत्**	= 'सत्'
एतत्	= यह परमात्माका नाम			**शब्दः**	= शब्द
सद्भावे	= सत्तामात्रमें	**तथा**	= तथा	**युज्यते**	= जोड़ा जाता है।

विशेष भाव—परमात्माके अस्तित्व या होनेपनको '**सद्भाव**' कहते हैं, जिसका कभी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। प्रायः सभी आस्तिक यह भाव तो मानते ही हैं कि सर्वोपरि सर्वनियन्ता कोई विलक्षण शक्ति सदासे है और वह अपरिवर्तनशील है। जो संसार प्रत्यक्ष प्रतिक्षण बदलता है तथा जिसका अभाव होता है, उसको 'है' अथवा स्थिर कैसे कहा जाय? कारण कि इन्द्रियों, बुद्धि आदिसे जिसको देखते, जानते हैं, वह संसार पहले नहीं था, आगे भी नहीं रहेगा और वर्तमानमें भी जा रहा है—यह सभीका अनुभव है। जिनसे संसारको देखते, जानते हैं, वे इन्द्रियाँ, बुद्धि आदि भी संसारके ही हैं। फिर भी आश्चर्य यह है कि 'नहीं' होते हुए भी संसार 'है' के रूपमें स्थिर दिखायी दे रहा है! अगर संसार वास्तवमें होता तो बदलता नहीं और बदलता है तो 'है' नहीं। अतः यह 'होनापन' संसार-शरीरादिका नहीं है, प्रत्युत सत्-तत्त्व (परमात्मा) का है, जिससे नहीं होते हुए भी संसार 'है' दीखता है।

अन्तःकरणके श्रेष्ठ भावोंको 'साधुभाव' कहते हैं। परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले होनेसे श्रेष्ठ भावोंके लिये 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। श्रेष्ठ भाव अर्थात् सद्गुण-सदाचार दैवी सम्पत्ति है। दैवी सम्पत्ति 'सत्' है और आसुरी सम्पत्ति 'असत्' है। मुक्ति देनेवाले सब साधन 'सत्' हैं और बन्धनकारक सब कर्म 'असत्' हैं। दुर्गुण-दुराचार 'असत्' हैं, पर उनका त्याग 'सत्' है। असत्का त्याग भी 'सत्' है और सत्का ग्रहण भी 'सत्' है। वास्तवमें असत्के त्यागकी जितनी जरूरत है, उतनी 'सत्' को ग्रहण करनेकी जरूरत नहीं है। 'असत्' का त्याग किये बिना लाया गया 'सत्' ऊपरसे चिपकाया जाता है, जो ठहरता नहीं। परन्तु असत्का त्याग करनेसे 'सत्' भीतरसे उदय होता है। अतः जिसको हम असत्-रूपसे जानते हैं, उसका त्याग करनेसे 'सत्' का अनुभव हो जाता है।

यज्ञ, तप, दान, तीर्थ, व्रत, पूजा-पाठ, विवाह आदि जितने भी शास्त्रविहित शुभकर्म हैं, वे स्वयं ही प्रशंसनीय होनेसे सत्कर्म हैं। परन्तु इन प्रशंसनीय कर्मोंका सम्बन्ध अगर भगवान्के साथ न हो तो ये 'सत्' न कहलाकर केवल शास्त्रविहित कर्ममात्र रह जाते हैं। यद्यपि दैत्य-दानव भी तपस्या आदि प्रशंसनीय कर्म करते हैं, तथापि असद्भाव अर्थात् अपने स्वार्थ और दूसरेके अहितका भाव होनेसे वे बाँधनेवाले असत्-कर्म हो जाते हैं (गीता १७। १९)। उनसे अगर ब्रह्मलोककी प्राप्ति भी हो जाय तो वहाँसे लौटकर आना पड़ता है—'**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**' (गीता ८। १६)। भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाले मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होते—'**न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति**' (गीता ६। ४०); क्योंकि उसका फल 'सत्' होता है। जो कर्म स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके प्राणिमात्रके हितके भावसे किये जाते हैं, वही वास्तवमें प्रशंसनीय सत्कर्म होते हैं।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ २७॥

यज्ञे	= यज्ञ	**दाने**	= दानरूप क्रियामें (जो)	**सत्**	= 'सत्'—
च	= तथा			**इति**	= ऐसे
तपसि	= तप	**स्थितिः**	= स्थिति (निष्ठा) है,	**उच्यते**	= कही जाती है
च	= और	**एव**	= (वह) भी	**च**	= और

तदर्थीयम्	=उस परमात्माके निमित्त किया जानेवाला	**कर्म**	=कर्म	**इति**	=ऐसा
		एव	=भी	**अभिधीयते**	=कहा जाता है।
		सत्	='सत्'—		

विशेष भाव—पचीसवें श्लोकमें निष्कामभावसे कर्म करनेकी बात आयी थी—**'अनभिसन्धाय फलम्'।** अब यहाँ भगवान्के लिये कर्म करनेकी बात आयी है। मुक्ति चाहनेवाले निष्कामभावसे कर्म करते हैं—**'मोक्षकाङ्क्षिभिः'** (गीता १७। २५) और भक्ति चाहनेवाले भगवान्के लिये कर्म करते हैं (गीता ९। २६—२८)

भगवान्का सम्बन्ध होनेसे भी कर्म 'सत्' अर्थात् सत्-फल देनेवाला हो जाता है और असत्के सम्बन्धका त्याग होनेसे भी कर्म 'सत्' हो जाता है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ २८॥

पार्थ	=हे पार्थ!	**यत्**	=(और भी) जो कुछ	**नो**	=न तो
अश्रद्धया	=अश्रद्धासे			**इह**	=यहाँ होता है
हुतम्	=किया हुआ हवन,	**कृतम्**	=किया जाय, (वह सब)	**च**	=और
दत्तम्	=दिया हुआ दान (और)			**न**	=न
		असत्	='असत्'—	**प्रेत्य**	=मरनेके बाद ही होता है अर्थात् उसका कहीं भी सत् फल नहीं होता।
तप्तम्	=तपा हुआ	**इति**	=ऐसा		
तपः	=तप	**उच्यते**	=कहा जाता है।		
च	=तथा	**तत्**	=उसका (फल)		

विशेष भाव—'कृतं च यत्' पदोंमें नामजप, कीर्तन आदि नहीं आयेंगे; क्योंकि उनमें भगवान्का सम्बन्ध होनेसे वे 'कर्म' नहीं हैं, प्रत्युत 'उपासना' है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः
(अठारहवाँ अध्याय)

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥ १ ॥

अर्जुन बोले—

महाबाहो	=हे महाबाहो!	**च**	=और	**पृथक्**	=अलग-अलग
हृषीकेश	=हे हृषीकेश!			**वेदितुम्**	=जानना
केशिनिषूदन	=हे केशिनिषूदन!	**त्यागस्य**	=त्यागका		
सन्न्यासस्य	=(मैं) संन्यास	**तत्त्वम्**	=तत्त्व	**इच्छामि**	=चाहता हूँ।

विशेष भाव—कर्मयोग और ज्ञानयोगके विषयमें अर्जुनने तीसरे अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌को उलाहना दिया है, पाँचवें अध्यायके आरम्भमें यह जानना चाहा है कि दोनोंमें श्रेष्ठ कौन है, और यहाँ वे दोनोंका तत्त्व जानना चाहते हैं।

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २ ॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—

कवयः	=(कई) विद्वान्	**त्यागम्**	=त्याग	**त्याज्यम्**	=छोड़ देना चाहिये
काम्यानाम्	=काम्य	**प्राहुः**	=कहते हैं।	**च**	=और
कर्मणाम्	=कर्मोंके	**एके**	=कई	**अपरे**	=कई विद्वान्
न्यासम्	=त्यागको	**मनीषिणः**	=विद्वान्	**इति**	=ऐसा (कहते हैं कि)
सन्न्यासम्	=संन्यास	**इति**	=ऐसा		
विदुः	=समझते हैं (और)	**प्राहुः**	=कहते हैं कि	**यज्ञदानतपःकर्म**	=यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका
विचक्षणाः	=(कई)विद्वान्				
सर्वकर्मफलत्यागम्	=सम्पूर्ण कर्मोंके फलके त्यागको	**कर्म**	=कर्मोंको	**न, त्याज्यम्**	=त्याग नहीं करना चाहिये।
		दोषवत्	=दोषकी तरह		

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥ ४॥

भरतसत्तम	=हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! (तू)	**मे**	=मेरा	**त्यागः**	=त्याग
तत्र	=संन्यास और त्याग —इन दोनोंमेंसे पहले	**निश्चयम्**	=निश्चय	**त्रिविधः**	=तीन प्रकारका
त्यागे	=त्यागके विषयमें	**शृणु**	=सुन;	**सम्प्रकीर्तितः**	=कहा गया है।
		हि	=क्योंकि		
		पुरुषव्याघ्र	=हे पुरुषश्रेष्ठ!		

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५॥

यज्ञदानतपःकर्म	= यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका	**कार्यम्, एव**	=करना ही चाहिये; (क्योंकि)	**तपः**	=तप—ये तीनों
न, त्याज्यम्	=त्याग नहीं करना चाहिये, (प्रत्युत)	**यज्ञः**	=यज्ञ,	**एव**	=ही (कर्म)
तत्	=उनको तो	**दानम्**	=दान	**मनीषिणाम्**	=मनीषियोंको
		च	=और	**पावनानि**	=पवित्र करनेवाले हैं।

विशेष भाव—मनीषीका अर्थ है—विचारशील। जो कर्म अपनी कोई कामना न रखकर दूसरोंके हितके लिये किये जाते हैं, वे कर्म पवित्र करनेवाले हो जाते हैं अर्थात् दुर्गुण-दुराचार, पाप आदि मलको दूर करके महान् आनन्द देनेवाले हो जाते हैं। परन्तु वे ही कर्म अगर अपनी कामना रखकर और दूसरोंका अहित करनेके लिये किये जायँ तो वे अपवित्र करनेवाले अर्थात् लोक-परलोक दोनोंमें महान् दुःख देनेवाले हो जाते हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ ६॥

पार्थ	=हे पार्थ!		(कर्मोंको)	**इति**	=यह
एतानि	=इन (यज्ञ, दान और तपरूप)	**सङ्गम्**	=आसक्ति	**मे**	=मेरा
कर्माणि	=कर्मोंको	**च**	=और	**निश्चितम्**	=निश्चित किया हुआ
तु	=तथा	**फलानि**	=फलोंकी इच्छाका	**उत्तमम्**	=उत्तम
अपि	=(दूसरे) भी	**त्यक्त्वा**	=त्याग करके	**मतम्**	=मत है।
		कर्तव्यानि	=करना चाहिये—		

विशेष भाव—इस श्लोकमें कर्मासक्ति और फलासक्ति—दोनोंके त्यागकी बात आयी है। कर्मासक्ति और फलासक्ति ही खास बन्धन है, जिससे छूटनेपर ही मनुष्य योगारूढ़ होता है—'**यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते........**' (गीता ६। ४)।

शुभ कर्म भी निष्कामभाव होनेसे ही कल्याण करनेवाले होते हैं। अगर निष्कामभाव न हो तो शुभ कर्म भी बन्धनकारक होते हैं—'**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**' (गीता ८। १६)।

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ ७॥

नियतस्य	= नियत	**न, उपपद्यते**	= उचित नहीं है।	**परित्यागः**	= त्याग करना
कर्मणः	= कर्मका			**तामसः**	= तामस
तु	= तो	**तस्य**	= उसका	**परिकीर्तितः**	= कहा गया है।
सन्न्यासः	= त्याग करना	**मोहात्**	= मोहपूर्वक		

विशेष भाव—'विहित' की अपेक्षा 'नियत' कर्ममें व्यक्तिकी विशेष जिम्मेवारी होती है। जैसे, किसीको पहरेपर खड़ा कर दिया अथवा जल पिलानेके लिये प्याऊपर बैठा दिया तो यह उसके लिये नियत कर्म हो गया, जिसकी उसपर विशेष जिम्मेवारी है। नियत कर्मके त्यागका ज्यादा दोष लगता है। नियतका त्याग करनेसे विप्लव होता है। अतः पैसे कम मिलें या ज्यादा, आराम कम मिले या ज्यादा, अपने नियत कर्मका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। नियत कर्म न करनेके कारण ही आजकल समाजमें अव्यवस्था हो रही है। जिसकी जिस कामके लिये नियुक्ति कर दी, वह उस कामको नहीं करेगा तो क्या दशा होगी? नियतका मोहपूर्वक त्याग करना तामस है, जिसका फल अधोगतिकी प्राप्ति है—**'अधो गच्छन्ति तामसाः'** (गीता १४। १८)।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

यत्	= जो कुछ	**कायक्लेशभयात्**	= शारीरिक परिश्रमके भयसे (उसका)	**त्यागम्**	= त्याग
कर्म	= कर्म है, (वह)			**कृत्वा**	= करके
दुःखम्	= दुःखरूप			**एव**	= भी
एव	= ही है—	**त्यजेत्**	= त्याग कर दे, (तो)	**त्यागफलम्**	= त्यागके फलको
इति	= ऐसा (समझकर कोई)	**सः**	= वह	**न**	= नहीं
		राजसम्	= राजस	**लभेत्**	= पाता।

विशेष भाव—त्यागका फल 'शान्ति' है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२) और रागका फल 'दुःख' है—**'रजसस्तु फलं दुःखम्'** (गीता १४। १६)। राजस मनुष्यको त्यागका फल 'शान्ति' तो नहीं मिलती, पर रागका फल 'दुःख' तो मिलता ही है।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥

अर्जुन	= हे अर्जुन!	**कर्म**	= कर्म	**क्रियते**	= किया जाता है,
कार्यम्, एव	= 'केवल कर्तव्यमात्र करना है'—	**सङ्गम्**	= आसक्ति	**सः, एव**	= वही
		च	= और	**सात्त्विकः**	= सात्त्विक
इति	= ऐसा (समझकर)	**फलम्**	= फलेच्छाका	**त्यागः**	= त्याग
यत्	= जो	**त्यक्त्वा**	= त्याग करके	**मतः**	= माना गया है।

विशेष भाव—तमोगुणमें मूढ़ता (बेसमझी) है और रजोगुणमें स्वार्थबुद्धि है, पर सत्त्वगुणमें न मूढ़ता है, न स्वार्थबुद्धि है, प्रत्युत सम्बन्ध-विच्छेद है। सात्त्विक मनुष्य कर्तव्यमात्र समझकर सब नियत कर्म करता है। एक मार्मिक बात है कि कर्तव्यमात्र समझकर जो भी कर्म किया जाता है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। लौकिक साधन (कर्मयोग और ज्ञानयोग) में शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद मुख्य है। इसलिये साधकको प्रत्येक कर्म कर्तव्यमात्र समझकर करना चाहिये। स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेसे तो बन्धन होता है, पर सम्बन्ध न जोड़कर

कर्तव्यमात्र समझकर कर्म करनेसे मुक्ति होती है।*

यहाँ शंका हो सकती है कि प्रस्तुत श्लोकमें तो कर्म करनेकी बात आयी है, त्यागकी बात आयी ही नहीं, फिर यह 'सात्त्विक त्याग' कैसे हुआ? इसका समाधान है कि सात्त्विक कर्तामें न मोह है, न स्वार्थ है, न आसक्ति है, न फलेच्छा है, केवल कर्तव्यमात्र है, इसलिये कर्मके साथ कर्ताका कुछ भी सम्बन्ध न होनेसे यह 'त्याग' हुआ। कर्तव्यमात्र जड़-विभागमें ही रहा, चेतनके साथ सम्बन्ध नहीं हुआ। जब चेतन (शरीरी) शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब शरीरसे होनेवाले कर्मोंके साथ उसका सम्बन्ध जुड़ जाता है। अगर वह शरीरके साथ सम्बन्ध न जोड़े, केवल कर्तव्यमात्र करे तो उसका कर्मोंके साथ सम्बन्ध नहीं जुड़ेगा। शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेके कारण इसका नाम 'त्याग' हुआ। इसमें कर्म और फल दोनोंके साथ सम्बन्ध-विच्छेद है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ १०॥

अकुशलम्	=(जो) अकुशल	**कुशले**	=कुशल कर्ममें	**मेधावी**	=बुद्धिमान्,
कर्म	=कर्मसे	**न, अनुषज्जते**	= आसक्त नहीं होता,	**छिन्नसंशयः**	=सन्देहरहित (और)
न, द्वेष्टि	=द्वेष नहीं करता (और)	**त्यागी**	=(वह) त्यागी,	**सत्त्वसमाविष्टः**	= अपने स्वरूपमें स्थित है।

विशेष भाव—इस श्लोकका तात्पर्य राग-द्वेषका त्याग करनेमें है। मनुष्यका स्वभाव है कि वह रागपूर्वक ग्रहण और द्वेषपूर्वक त्याग करता है। राग और द्वेष—दोनोंसे ही संसारसे सम्बन्ध जुड़ता है। भगवान् कहते हैं कि वास्तवमें वही मनुष्य श्रेष्ठ है, जो शुभ कर्मका ग्रहण तो करता है, पर रागपूर्वक नहीं और अशुभ कर्मका त्याग तो करता है, पर द्वेषपूर्वक नहीं।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ ११॥

हि	=कारण कि	**न, शक्यम्**	=सम्भव नहीं है।	**सः**	=वही
देहभृता	=देहधारी मनुष्यके द्वारा	**तु**	=इसलिये	**त्यागी**	=त्यागी है—
अशेषतः	=सम्पूर्ण	**यः**	=जो	**इति**	=ऐसा
कर्माणि	=कर्मोंका	**कर्मफलत्यागी**	= कर्मफलका त्यागी है,	**अभिधीयते**	=कहा जाता है।
त्यक्तुम्	=त्याग करना				

* अलौकिक साधन (भक्तियोग) में भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ना मुख्य है। इसलिये भक्तको जप, ध्यान, कीर्तन आदि कर्तव्य समझकर नहीं करने चाहिये, प्रत्युत अपने प्रियतमका काम (सेवा-पूजन) समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये प्रेमपूर्वक करने चाहिये। भगवान्‌की हरेक वस्तु (नाम, रूप आदि) प्रिय लगनी चाहिये। भगवान्‌का काम करनेमें आनन्द आना चाहिये। जैसे, दवा कर्तव्य समझकर ली जाती है, पर भोजन कर्तव्य समझकर नहीं किया जाता, प्रत्युत अपनी भूख मिटानेके लिये किया जाता है। इसलिये भक्तको जप, ध्यान आदि कर्तव्यमात्र समझकर त्यागके उद्देश्यसे नहीं करने चाहिये, प्रत्युत भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जाग्रत् करनेके लिये करने चाहिये। अगर वह जप, ध्यान आदि भी कर्तव्य समझकर करेगा तो भगवत्सम्बन्ध जाग्रत् नहीं होगा, प्रेमका उदय नहीं होगा।

विशेष भाव—यह श्लोक कर्मयोगकी दृष्टिसे कहा गया है। कर्मयोगमें कर्मफलकी इच्छाका त्याग होता है और ज्ञानयोगमें कर्तृत्वाभिमानका त्याग होता है।

'कर्मफलत्याग' का तात्पर्य है—कर्मफलकी इच्छाका त्याग। कारण कि कर्मफलका त्याग हो ही नहीं सकता, जैसे—शरीर भी कर्मफल है, फिर उसका त्याग कैसे होगा? भोजन करनेपर तृप्तिका त्याग कैसे होगा! खेती करनेपर अन्नका त्याग कैसे होगा? अत: साधकको कर्मफलकी इच्छाका त्याग करना है। फलेच्छाका त्याग करनेसे साधक सुखी-दु:खी नहीं होगा। इसलिये गीतामें फलेच्छाके त्यागको ही फलका त्याग कहा गया है।

बाहरका त्याग वास्तवमें त्याग नहीं है, प्रत्युत भीतरका त्याग ही त्याग है। अगर कोई बाहरसे त्याग करके एकान्तमें चला जाय तो भी संसारका बीज शरीर तो उसके साथ है ही। मरनेवालेका अपने शरीरसहित सब वस्तुओंका त्याग हो जाता है, पर उससे मुक्ति नहीं होती। अत: हमारी कामना-ममता-आसक्ति ही बाँधनेवाले हैं, संसार नहीं। इसलिये अपने लिये कुछ न करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है—'**यज्ञायाचरत: कर्म समग्रं प्रविलीयते**' (गीता ४। २३)।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मण: फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्॥ १२॥

अत्यागिनाम्	=कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंको	**मिश्रम्**	=मिश्रित—	**भवति**	=होता है;
कर्मण:	=कर्मोंका	**त्रिविधम्**	=(ऐसे) तीन प्रकारका	**तु**	=परन्तु
इष्टम्	=इष्ट,	**फलम्**	=फल	**सन्न्यासिनाम्**	= कर्मफलका त्याग करनेवालोंको
अनिष्टम्	=अनिष्ट	**प्रेत्य**	=मरनेके बाद (भी)	**क्वचित्**	=कहीं भी
च	=और			**न**	=नहीं होता।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १३॥

महाबाहो	=हे महाबाहो!	**सर्वकर्मणाम्**	=सम्पूर्ण कर्मोंकी	**कारणानि**	=कारण
कृतान्ते	=कर्मोंका अन्त करनेवाले	**सिद्धये**	=सिद्धिके लिये	**प्रोक्तानि**	=बताये गये हैं,
		एतानि	=ये	**मे**	=(इनको तू) मुझसे
साङ्ख्ये	=सांख्यसिद्धान्तमें	**पञ्च**	=पाँच	**निबोध**	=समझ।

विशेष भाव—आत्माको अकर्ता बतानेके लिये पाँच कारणोंका वर्णन करते हैं। इन पाँचोंमें कर्तृत्वका त्याग होनेपर कर्मोंका सर्वथा अन्त (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जाता है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ १४॥

अत्र	=इसमें (कर्मोंकी सिद्धिमें)	**तथा**	=तथा	**पृथग्विधम्**	=अनेक प्रकारके
		कर्ता	=कर्ता	**करणम्**	=करण
अधिष्ठानम्	=अधिष्ठान	**च**	=और	**च**	=एवम्

विविधाः	=विविध प्रकारकी	**चेष्टा**	=चेष्टाएँ	**पञ्चमम्**	=पाँचवाँ कारण
पृथक्	=अलग-अलग	**च, एव**	=और वैसे ही	**दैवम्**	=दैव (संस्कार) है।

विशेष भाव—'कर्ता'—अहंकार अपरा प्रकृति है और जीव परा प्रकृति है। जीवका सम्बन्ध (सजातीयता) परमात्माके साथ है, पर वह अहंकारके साथ सम्बन्ध जोड़कर अपनेको कर्ता मान लेता है।

'दैवम्'—अच्छे-बुरे संस्कार सबके भीतर रहते हैं—***'सुमति कुमति सब कें उर रहहीं'*** (मानस, सुन्दर० ४०। ३)। संग, शास्त्र और विचार—इन तीनोंसे अच्छे या बुरे संस्कारोंको बल मिलता है, जिससे नये कर्म होते हैं।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ १५॥

नरः	= मनुष्य	**विपरीतम्**	= शास्त्रविरुद्ध	**तस्य**	= उसके
शरीरवाङ्मनोभिः	= शरीर, वाणी और मनके द्वारा	**यत्**	= जो कुछ	**एते**	= ये (पूर्वोक्त)
		वा	= भी	**पञ्च**	= पाँचों
न्याय्यम्	= शास्त्रविहित	**कर्म**	= कर्म	**हेतवः**	= हेतु होते हैं।
वा	= अथवा	**प्रारभते**	= आरम्भ करता है,		

विशेष भाव—मनमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि होना मानसिक कर्म हैं।

'न्याय्यम्' पदका अर्थ है—सात्त्विक कर्म, शास्त्रविहित कर्म अथवा शुभ कर्म। **'विपरीतम्'** पदका अर्थ है—राजस-तामस कर्म, शास्त्रनिषिद्ध कर्म अथवा अशुभ कर्म। **'न्याय्यं वा विपरीतं वा'** पदोंका तात्पर्य है—मात्र कर्म।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥

तु	=परन्तु	**केवलम्**	=केवल (शुद्ध)	**न, पश्यति**	=ठीक नहीं देखता;
एवम्	=ऐसे पाँच हेतुओंके	**आत्मानम्**	=आत्माको	**अकृतबुद्धित्वात्**	= (क्योंकि) उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है अर्थात् उसने विवेकको महत्त्व नहीं दिया है।
सति	=होनेपर भी	**कर्तारम्**	=कर्ता		
यः	=जो	**पश्यति**	=देखता है,		
तत्र	=उस (कर्मोंके) विषयमें	**सः**	=वह		
		दुर्मतिः	=दुष्ट बुद्धिवाला		

विशेष भाव—सब कारकोंमें कर्ता मुख्य है। कर्तामें चेतनकी झलक आती है, अन्य कारकोंमें नहीं। वास्तवमें 'कर्ता' नाम चेतनका नहीं है। यह माना हुआ कर्ता है—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७)। इसलिये भगवान्ने यहाँ अपने वास्तविक स्वरूपको कर्ता माननेवालेकी निन्दा की है कि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है, वह दुर्मति है। कारण कि स्वरूपमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही नहीं हैं—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** (गीता १३। ३१)। मूलमें ये नहीं हैं, तभी इनका त्याग होता है। ये कर्तृत्वभोक्तृत्व न भगवान्के बनाये हुए हैं, न प्रकृतिके, प्रत्युत जीवके बनाये हुए हैं।

वास्तवमें कर्ता कोई नहीं है; न तो चेतन कर्ता है और न जड़ कर्ता है। अगर कर्ता मानना ही पड़े तो वह जड़में ही माना जायगा। इसको भगवान्ने गीतामें कई प्रकारसे बताया है; जैसे—सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही

होती हैं अर्थात् प्रकृति कर्ता है (१३। २९); सम्पूर्ण क्रियाएँ गुणोंके द्वारा होती हैं; गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं अर्थात् गुण कर्ता हैं (३। २७-२८, १४। २३); इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं अर्थात् इन्द्रियाँ कर्ता हैं (५। ९)। तात्पर्य है कि कर्तृत्व प्रकृतिमें ही है, स्वरूपमें नहीं। इसीलिये अपने चेतन स्वरूपमें स्थित तत्त्वज्ञ महापुरुष 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' ऐसा अनुभव करता है—**'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'** (गीता ५। ८)। भगवान् भी कहते हैं कि जब मनुष्य गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता अर्थात् वह क्रियामात्रमें ऐसा अनुभव करता है कि गुणोंके सिवाय दूसरा कोई कर्ता नहीं है और अपनेको गुणोंसे बिलकुल असम्बद्ध अनुभव करता है, जो वास्तवमें है*, तब वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है (१४। १९)।

साधक खाने-पीने, सोने-जागने आदि लौकिक क्रियाओंको तो विचारद्वारा प्रकृतिमें होनेवाली सुगमतासे मान सकता है, पर वह जप, ध्यान, समाधि आदि पारमार्थिक क्रियाओंको अपने द्वारा होनेवाली तथा अपने लिये मानता है तो यह वास्तवमें साधकके लिये बाधक है। कारण कि ज्ञानयोगकी दृष्टिसे क्रिया चाहे ऊँची-से-ऊँची हो अथवा नीची-से-नीची, है वह एक जातिकी (प्राकृत) ही। लाठी घुमाना और माला फेरना—दोनों क्रियाएँ अलग-अलग होनेपर भी प्रकृतिमें ही हैं। तात्पर्य है कि खाने-पीने, सोने-जागने आदिसे लेकर जप, ध्यान, समाधितक सम्पूर्ण लौकिक-पारमार्थिक क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं। प्रकृतिका सम्बन्ध किये बिना क्रिया सम्भव ही नहीं है। अत: साधकको चाहिये कि वह पारमार्थिक क्रियाओंका त्याग तो न करे, पर उनमें अपना कर्तृत्व न माने अर्थात् उनको अपने द्वारा होनेवाली तथा अपने लिये न माने। क्रिया चाहे लौकिक हो, चाहे पारमार्थिक हो, उसका महत्त्व वास्तवमें जड़ताका ही महत्त्व है। शास्त्रविहित होनेके कारण पारमार्थिक क्रियाओंका अन्त:करणमें जो विशेष महत्त्व रहता है, वह भी जड़ताका ही महत्त्व होनेसे साधकके लिये बाधक है†। पारमार्थिक क्रियाओंका उद्देश्य परमात्मा रहनेसे वे कल्याणकारक हो जाती हैं। ज्यों-ज्यों क्रियाकी गौणता और भगवत्सम्बन्धकी मुख्यता होती है, त्यों-त्यों अधिक लाभ होता है। क्रियाकी मुख्यता होनेपर वर्षोंतक साधन करनेपर भी लाभ नहीं होता। अत: क्रियाका महत्त्व न होकर भगवान्‌में प्रियता होनी चाहिये। प्रियता ही भजन है, क्रिया नहीं।

जिसकी बुद्धि विवेकरहित है अर्थात् जिसने विवेकको महत्त्व नहीं दिया है, वह दुर्मति है। बोधमें विवेक कारण है, बुद्धि नहीं। बुद्धि विवेकसे शुद्ध होती है। बुद्धिकी शुद्धिमें शुभ कर्म भी कुछ सहायक होते हैं, पर विवेक-विचारसे बुद्धिकी जैसी शुद्धि होती है, वैसी शुभ कर्मोंसे नहीं होती। विवेकको महत्त्व न देना जितना दोषी है, उतने मल-विक्षेप-आवरण दोषी नहीं हैं। विवेक अनादि और नित्य है। इसलिये मल-विक्षेप-आवरणके रहते हुए भी विवेक जाग्रत् हो सकता है। पापसे विवेक नष्ट नहीं होता, प्रत्युत विवेक जाग्रत् नहीं होता। विवेकको महत्त्व न देनेमें कारण है—क्रिया और पदार्थका महत्त्व। क्रिया और पदार्थको महत्त्व देनेवाला ही 'दुर्मति' है।

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ १७॥

यस्य = जिसका
अहङ्कृतः, भावः = अहंकृतभाव ('मैं कर्ता हूँ'— ऐसा भाव)
न = नहीं है (और)
यस्य = जिसकी

---

* स्वरूप (आत्मा) गुणोंसे सर्वथा रहित है—**'निर्गुणत्वात्'** (गीता १३। ३१)। गुण प्रकाश्य है, स्वरूप प्रकाशक है। गुण परिवर्तनशील हैं, स्वरूप अपरिवर्तनशील है। गुण अनित्य हैं, स्वरूप नित्य है। स्वरूप निर्गुण होते हुए भी जब यह गुणोंका संग कर लेता है, तब जन्म-मरणमें पड़ जाता है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)।

† भगवान्‌के लिये की गयी उपासनामें भगवान्‌की कृपा प्रधान होती है; अत: इसमें साधकका कर्तृत्व नहीं है। क्रिया, कर्म, उपासना और विवेक—चारों अलग-अलग हैं। **'क्रिया'** किसीके भी साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ती। 'कर्म' अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति (फल) के साथ सम्बन्ध जोड़ता है। **'उपासना'** भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ती है। **'विवेक'** जड़-चेतनका सम्बन्ध-विच्छेद करता है।

बुद्धिः	= बुद्धि	**लोकान्**	= सम्पूर्ण प्राणियोंको	**हन्ति**	= मारता है (और)
न, लिप्यते	= लिप्त नहीं होती,	**हत्वा**	= मारकर	**न**	= न
सः	= वह (युद्धमें)	**अपि**	= भी	**निबध्यते**	= बँधता है।
इमान्	= इन	**न**	= न		

विशेष भाव—अहंकृतभाव नहीं होनेका तात्पर्य है—अहंतारहित होना, और बुद्धि लिप्त नहीं होनेका तात्पर्य है—कामना, ममता और स्वार्थभावसे रहित होना।

अर्जुनने कहा था कि इन आततायियोंको मारनेसे हमारेको पाप लगेगा—**'पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः'** (गीता १। ३६) और गुरुजनोंको मारनेसे पाप लगेगा—**'गुरूनहत्वा हि महानुभावान्.....'** (गीता २। ५)। अतः यहाँ भगवान् कहते हैं कि इनको मारनेसे पाप लगनेकी तो बात ही क्या है, सम्पूर्ण प्राणियोंको मारनेसे भी पाप नहीं लगेगा, क्योंकि पाप लगनेमें हेतु अहंता और बुद्धिकी लिप्तता है। बुद्धि कामना, ममता और स्वार्थभावसे लिप्त होती है। गङ्गाजीमें कोई डूबकर मर जाता है तो गङ्गाजीको पाप नहीं लगता और कोई उसका जल पीता है, स्नान करता है, खेती करता है तो उससे गङ्गाजीको पुण्य नहीं लगता है। वर्षासे कई जीव मर जाते हैं और कइयोंको जीवन मिल जाता है, पर वर्षाको पाप-पुण्य नहीं लगते। कारण कि गङ्गाजीमें और वर्षामें अहंकृतभाव और बुद्धिका लेप नहीं है। अगर डॉक्टरमें कामना, ममता और स्वार्थबुद्धि न हो तो आपरेशनमें अंग काटनेपर भी उसको पाप नहीं लगता। अगर उसमें अहंकृतभाव भी न हो तो फिर पाप लगनेकी बात ही क्या है!

ज्ञानयोगसे 'अहंकृतभाव' का नाश होता है और कर्मयोगसे 'बुद्धिकी लिप्तता' नष्ट होती है। दोनोंमेंसे किसी एकका नाश होनेपर दूसरा भी नष्ट हो जाता है। अहंकृतभावके कारण ही जीवमें भोग और मोक्षकी इच्छा पैदा होती है। अहंकृतभाव मिटनेसे भोगेच्छा भी मिट जाती है—**'बुद्धिर्यस्य न लिप्यते'**। भोगेच्छा मिटनेपर मोक्षकी इच्छा स्वतः पूरी हो जाती है; क्योंकि मोक्ष स्वतःसिद्ध है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः॥ १८॥

ज्ञानम्	= ज्ञान,	**कर्मचोदना**	= कर्मप्रेरणा होती है (तथा)	**कर्ता**	= कर्ता—
ज्ञेयम्	= ज्ञेय (और)			**इति**	= इन
परिज्ञाता	= परिज्ञाता	**करणम्**	= करण,	**त्रिविधः**	= तीनोंसे
त्रिविधा	= इन तीनोंसे	**कर्म**	= कर्म (और)	**कर्मसङ्ग्रहः**	= कर्मसंग्रह होता है।

विशेष भाव—अर्जुनने ज्ञानयोग और कर्मयोगका तत्त्व जाननेकी इच्छा प्रकट की थी (१८। १), इसलिये भगवान्ने बारहवें श्लोकतक कर्मयोगका वर्णन किया। फिर भगवान्ने ज्ञानयोगकी दृष्टिसे कर्मोंका विवेचन करते हुए पहले कर्मोंकी सिद्धिके लिये पाँच हेतु बताये (१८। १३—१५)। उसी बातको अब प्रकारान्तरसे कर्मप्रेरणा और कर्मसंग्रहके रूपमें वर्णन करते हैं।

जब मनुष्यके भीतर अहंकार और लिप्तता रहती है, तब ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप त्रिपुटीसे 'कर्मप्रेरणा' अर्थात् कर्म करनेमें प्रवृत्ति होती है कि मैं अमुक कार्य करूँगा तो मेरेको अमुक फल मिलेगा। कर्मप्रेरणा होनेसे 'कर्मसंग्रह' अर्थात् पाप और पुण्यका संग्रह होता है। वे पाप और पुण्य-कर्म कैसे होते हैं—यह आगे बीसवें श्लोकसे विस्तारपूर्वक बतायेंगे।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ १९॥

गुणसङ्ख्याने	= गुणोंका विवेचन करनेवाले शास्त्रमें	**कर्म**	= कर्म	**प्रोच्यते**	= कहे जाते हैं,
		च	= तथा	**तानि**	= उनको
गुणभेदतः	= गुणोंके भेदसे	**कर्ता**	= कर्ता	**अपि**	= भी (तुम)
ज्ञानम्	= ज्ञान	**त्रिधा**	= तीन-तीन प्रकारसे	**यथावत्**	= यथार्थरूपसे
च	= और	**एव**	= ही	**शृणु**	= सुनो।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ २०॥

येन	= जिस ज्ञानके द्वारा (साधक)	**एकम्**	= एक	**ज्ञानम्**	= ज्ञानको (तुम)
		अव्ययम्	= अविनाशी		
विभक्तेषु , सर्वभूतेषु	= सम्पूर्ण विभक्त प्राणियोंमें	**भावम्**	= भाव (सत्ता) को	**सात्त्विकम्**	= सात्त्विक
		ईक्षते	= देखता है,		
अविभक्तम्	= विभागरहित	**तत्**	= उस	**विद्धि**	= समझो।

विशेष भाव—जैसे साधारण मनुष्य शरीरमें अपनेको व्यापक मानता है, ऐसे ही साधक संसारमें परमात्माको व्यापक मानता है। जैसे शरीर और संसार एक हैं, ऐसे ही स्वयं और परमात्मा एक हैं।

साधककी दृष्टिमें प्राणियोंकी भी सत्ता रहनेके कारण यह 'सात्त्विक ज्ञान' (विवेक) कहा गया है। अगर उसकी दृष्टिमें प्राणियोंकी सत्ता न रहे, केवल अविनाशी सत्ता ही रहे तो यह गुणातीत 'तत्त्वज्ञान' (ब्रह्मकी प्राप्ति) ही है। वह अविनाशी सत्ता सब जगह समानरूपसे विद्यमान है। उस सत्ताके साथ हमारी स्वाभाविक एकता है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ २१॥

तु	= परन्तु	**भूतेषु**	= प्राणियोंमें	**तत्**	= उस
यत्	= जो	**पृथक्त्वेन**	= अलग-अलग	**ज्ञानम्**	= ज्ञानको (तुम)
ज्ञानम्	= ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य	**नानाभावान्**	= अनेक भावोंको		
		पृथग्विधान्	= अलग-अलग रूपसे	**राजसम्**	= राजस
सर्वेषु	= सम्पूर्ण	**वेत्ति**	= जानता है,	**विद्धि**	= समझो

विशेष भाव—क्रिया और पदार्थ—दोनोंको सत्ता देकर उनके साथ रागपूर्वक सम्बन्ध जोड़नेके कारण सब अलग-अलग दीखते हैं।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

तु	= किन्तु		मनुष्य	**कृत्स्नवत्**	= सम्पूर्णकी तरह
यत्	= जो (ज्ञान) अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा	**एकस्मिन्**	= एक	**सक्तम्**	= आसक्त रहता है
		कार्ये	= कार्यरूप शरीरमें ही	**च**	= तथा (जो)

अहैतुकम्	= युक्तिरहित,	**अल्पम्**	= तुच्छ है,	**तामसम्**	= तामस
अतत्त्वार्थवत्	= वास्तविक ज्ञानसे रहित (और)	**तत्**	= वह	**उदाहृतम्**	= कहा गया है।

विशेष भाव—तामस ज्ञानमें आसुरी सम्पत्ति विशेष है। इस श्लोकमें 'ज्ञान' शब्द न देनेका तात्पर्य है कि वास्तवमें यह ज्ञान नहीं है, प्रत्युत अज्ञान ही है। यह तामस मनुष्योंकी बुद्धि है, जिसको 'पशुबुद्धि' कहा गया है—

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि॥

(श्रीमद्भा० १२। ५। २)

(श्रीशुकदेवजी बोले—) 'हे राजन्! अब तुम यह पशुबुद्धि छोड़ दो कि मैं मर जाऊँगा। जैसे शरीर पहले नहीं था, पीछे पैदा हुआ और फिर मर जायगा, ऐसे तुम पहले नहीं थे, पीछे पैदा हुए और फिर मर जाओगे—यह बात नहीं है।'

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ २३॥

यत्	= जो		रहित हो (तथा)	**कृतम्**	= किया हुआ हो,
कर्म	= कर्म	**अफलप्रेप्सुना**	= फलेच्छारहित मनुष्यके द्वारा	**तत्**	= वह
नियतम्	= शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ (और)	**अरागद्वेषतः**	= बिना राग-द्वेषके	**सात्त्विकम्**	= सात्त्विक
सङ्गरहितम्	= कर्तृत्वाभिमानसे			**उच्यते**	= कहा जाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥ २४॥

तु	= परन्तु	**साहङ्कारेण**	= अहंकारसे	**तत्**	= वह
यत्	= जो	**पुनः**	= और		
कर्म	= कर्म	**बहुलायासम्**	= परिश्रमपूर्वक	**राजसम्**	= राजस
कामेप्सुना	= भोगोंकी इच्छासे	**क्रियते**	= किया जाता है,		
वा	= अथवा			**उदाहृतम्**	= कहा गया है।

विशेष भाव—राजस मनुष्य अपनी आवश्यकताओंको अधिक बढ़ा लेता है, जिससे प्रत्येक काममें उसको अधिक वस्तुओंकी जरूरत पड़ती है। अधिक वस्तुओंको जुटानेमें परिश्रम भी अधिक होता है। राजस मनुष्य कर्मोंका विस्तार अधिक करता है, इसलिये भी उसको परिश्रम अधिक होता है। शरीरमें राग रहनेके कारण राजस मनुष्य शरीरका आराम चाहता है, जिससे उसको थोड़े काममें भी अधिक परिश्रम मालूम देता है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ २५॥

यत्	= जो	**अनुबन्धम्**	= परिणाम,	**हिंसाम्**	= हिंसा
कर्म	= कर्म	**क्षयम्**	= हानि,	**च**	= और

पौरुषम्	= सामर्थ्यको	**मोहात्**	= मोहपूर्वक	**तत्**	= वह
अनवेक्ष्य	= न देखकर	**आरभ्यते**	= आरम्भ किया जाता है,	**तामसम्**	= तामस
				उच्यते	= कहा जाता है।

विशेष भाव—तामस मनुष्य अपनी शक्ति, परिणाम आदिका विचार न करके मूढ़तासे काम करता है*। वह स्वाभाविक ही ऐसे काम करता है, जिनसे दूसरोंको बाधा पहुँचे; जैसे-रास्तेमें खड़े होकर बात करने लग जाना, रास्तेमें साइकिल खड़ी कर देना आदि। दूसरोंको लगनेवाली बाधाकी तरफ उसका ध्यान ही नहीं जाता।

सात्त्विक स्वभाव स्वतः उत्थानकी तरफ जाता है, राजस स्वभावमें उन्नति रुक जाती है और तामस स्वभाव स्वतः पतनकी तरफ जाता है।

~~~

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ २६॥

कर्ता	= (जो) कर्ता	**धृत्युत्साहसमन्वितः**	= धैर्य और उत्साहयुक्त (तथा)	**निर्विकारः**	= निर्विकार है, (वह)
मुक्तसङ्गः	= रागरहित,	**सिद्ध्यसिद्ध्योः**	= सिद्धि और असिद्धिमें	**सात्त्विकः**	= सात्त्विक
अनहंवादी	= कर्तृत्वाभिमानसे रहित,			**उच्यते**	= कहा जाता है।

विशेष भाव—सिद्धि-असिद्धिमें निर्विकार, सम रहनेकी बात गीतामें तीन बार आयी है—'**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा**' (२। ४८), '**समः सिद्धावसिद्धौ च**' (४। २२) और यहाँ '**सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः**'। तात्पर्य है कि सिद्धि-असिद्धि हाथकी बात नहीं है, पर उसमें निर्विकार रहना हाथकी बात है। जो हाथकी बात है, उसको ठीक करना है।

'**अनहंवादी**'—सात्त्विक मनुष्य 'जैसा मैं कर सकता हूँ, वैसा दूसरा नहीं कर सकता'—इस तरह न तो बाहरसे बोलता है और न भीतरसे बोलता है। अपनेमें विशेषताका अनुभव करना ही भीतरसे बोलना है।

~~~

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ २७॥

कर्ता	= (जो) कर्ता	**लुब्धः**	= लोभी,	**हर्षशोकान्वितः**	= हर्ष-शोकसे युक्त है, (वह)
रागी	= रागी	**हिंसात्मकः**	= हिंसाके स्वभाव-वाला,	**राजसः**	= राजस
कर्मफलप्रेप्सुः	= कर्मफलकी इच्छावाला,	**अशुचिः**	= अशुद्ध (और)	**परिकीर्तितः**	= कहा गया है।

विशेष भाव—'हिंसात्मकः'—पहले तामस कर्ममें भी हिंसा बतायी गयी है (१८। २५); क्योंकि रजोगुण और तमोगुण—दोनों एक-दूसरेके नजदीक पड़ते हैं, पर सत्त्वगुण दोनोंसे दूर पड़ता है। रजोगुण रागात्मक होता है और तमोगुण मोहात्मक। रजोगुणमें तो होश और सावधानी रहती है, पर तमोगुणमें बेहोशी और असावधानी रहती है। राग, स्वार्थबुद्धि होनेसे जितनी हिंसा होती है, उतनी मोह होनेसे नहीं होती। इसलिये रजोगुणमें अधिक हिंसा होती है। राग, स्वार्थबुद्धिके कारण राजस मनुष्य 'हिंसात्मक' हो जाता है। उसकी हिंसामें तल्लीनता हो जाती है।

~~~

---

* बिना बिचारे जो करै, सो पाछे पछिताय। काम बिगारै आपनो, जग में होत हँसाय॥
जग में होत हँसाय, चित्त में चैन न पावै। खान पान सनमान, राग-रँग मन नहिं भावै॥
कह गिरधर कविराय करमगति टरत न टारे। खटकत है जिय माहिं कियौ जो बिना बिचारे॥
~~~

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥ २८॥

कर्ता	=(जो) कर्ता	**अनैष्कृतिकः**	= उपकारीका अपकार करनेवाला,	**दीर्घसूत्री**	=दीर्घसूत्री है, (वह)
अयुक्तः	=असावधान,	**अलसः**	=आलसी,	**तामसः**	=तामस
प्राकृतः	=अशिक्षित,	**विषादी**	=विषादी	**उच्यते**	=कहा जाता है।
स्तब्धः	=ऐंठ-अकड़वाला,	**च**	=और		
शठः	=जिद्दी,				

विशेष भाव—'विषादी' पद रजोगुणमें आना चाहिये, पर यहाँ तमोगुणमें आया है। तामस वृत्तिका विवेकसे विरोध है, इसलिये तामस मनुष्यमें विषाद अधिक होता है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥ २९॥

धनञ्जय	=हे धनञ्जय! (अब तू)	**धृतेः**	=धृतिके	**शृणु**	=सुन,
गुणतः	=गुणोंके अनुसार	**एव**	=भी	**अशेषेण**	=(जो कि मेरे द्वारा) पूर्णरूपसे
बुद्धेः	=बुद्धि	**त्रिविधम्**	=तीन प्रकारके	**प्रोच्यमानम्**	=कहे जा रहे हैं।
च	=और	**भेदम्**	=भेद		
		पृथक्त्वेन	=अलग-अलगरूपसे		

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३०॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**कार्याकार्ये**	=कर्तव्य और अकर्तव्यको,	**च**	=और
या	=जो (बुद्धि)	**भयाभये**	=भय और अभयको	**मोक्षम्**	=मोक्षको
प्रवृत्तिम्	=प्रवृत्ति	**च**	=तथा	**वेत्ति**	=जानती है,
च	=और	**बन्धम्**	=बन्धन	**सा**	=वह
निवृत्तिम्	=निवृत्तिको,			**बुद्धिः**	=बुद्धि
				सात्त्विकी	=सात्त्विकी है।

विशेष भाव—प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको—दोनोंको जाननेका तात्पर्य संसारके सम्बन्ध-विच्छेदसे ही है। अगर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद न हो तो वह जानना वास्तवमें जानना नहीं है, प्रत्युत सीखना है।

गीताका 'सात्त्विक' गुणातीत करनेवाला, संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेवाला है। इसलिये इसमें बन्धन और मोक्षतकका विचार होता है—**'बन्धं मोक्षं च या वेत्ति'**। सात्त्विकी बुद्धिमें वह विवेक होता है, जो तत्त्वज्ञानमें परिणत होता है। विवेकवती बुद्धि 'ब्रह्मलोकको प्राप्तितक सब बन्धन है'—ऐसा जानती है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ ३१॥

पार्थ	=हे पार्थ!	**च**	=तथा	**प्रजानाति**	=जानता,
यया	=(मनुष्य) जिसके द्वारा	**कार्यम्**	=कर्तव्य		
		च	=और	**सा**	=वह
धर्मम्	=धर्म	**अकार्यम्**	=अकर्तव्यको	**बुद्धिः**	=बुद्धि
च	=और	**एव**	=भी		
अधर्मम्	=अधर्मको	**अयथावत्**	=ठीक तरहसे नहीं	**राजसी**	=राजसी है।

विशेष भाव—जो धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी ठीक तरहसे नहीं जानता, वह बन्धन और मोक्षको कैसे जानेगा? नहीं जान सकता। बुद्धि रागात्मिका होनेसे वह इनको ठीक तरहसे नहीं जानता; क्योंकि रागकी मुख्यता होनेसे वह विवेकको महत्त्व नहीं दे पाता। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका रंग चढ़नेसे उसका विवेक लुप्त हो जाता है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ ३२॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**अधर्मम्**	=अधर्मको	**सर्वार्थान्**	=सम्पूर्ण चीजोंको
तमसा	=तमोगुणसे	**धर्मम्**	=धर्म—	**विपरीतान्**	=उलटा (मान लेती है),
आवृता	=घिरी हुई	**इति**	=ऐसा		
या	=जो	**मन्यते**	=मान लेती है	**सा**	=वह
बुद्धिः	=बुद्धि	**च**	=और	**तामसी**	=तामसी है।

विशेष भाव—जिनकी बुद्धि तामसी होती है, उनको व्यवहारमें और परमार्थमें सब जगह उलटा ही दीखता है। इसका उदाहरण वर्तमान समयमें स्पष्ट दीखनेमें आ रहा है। जैसे—पशुओंके विनाशको 'मांसका उत्पादन' कहा जाता है! गर्भपातरूपी महापापको और मनुष्यकी उत्पादक शक्तिके विनाशको 'परिवार कल्याण' कहा जाता है! स्त्रियोंकी उच्छृङ्खलताको, मर्यादाके नाशको 'नारी-मुक्ति' कहा जाता है! पहले स्त्री घरकी स्वामिनी (गृहलक्ष्मी) होती थी, अब घरसे बाहर अनेक पुरुषोंकी दासता (नौकरी) करनेको 'नारीकी स्वाधीनता' कहा जाता है! इस प्रकार पराधीनताको स्वाधीनताका लक्षण माना जाता है। नैतिक पतनको उन्नतिकी संज्ञा दी जाती है। पशुताको सभ्यताका चिह्न माना जाता है। धार्मिकताको साम्प्रदायिकता और धर्मविरुद्धको धर्म-निरपेक्ष कहा जाता है। जब विनाशकाल समीप आता है, तभी ऐसी विपरीत, तामसी बुद्धि पैदा होती है—**'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः'**, **'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति'** (गीता २। ६३)।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ ३३॥

पार्थ	=हे पार्थ!	**मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः**	=मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको		संयम रखता है,
योगेन	=समतासे युक्त			**सा**	=वह
यया	=जिस			**धृतिः**	=धृति
अव्यभिचारिण्या	=अव्यभिचारिणी	**धारयते**	=धारण करता है अर्थात्		
धृत्या	=धृतिके द्वारा (मनुष्य)			**सात्त्विकी**	=सात्त्विकी है।

विशेष भाव—जीव परमात्माका अंश है, इसलिये परमात्माके सिवाय कहीं भी जाना 'व्यभिचार' है और केवल परमात्माकी तरफ चलना 'अव्यभिचार' है। केवल परमात्माकी तरफ चलनेवाली धृति 'अव्यभिचारिणी धृति' है।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ ३४॥

तु	=परन्तु	**यया**	=जिस		आसक्तिपूर्वक
पार्थ	=हे पृथानन्दन	**धृत्या**	=धृतिके द्वारा	**धारयते**	=धारण करता है,
अर्जुन	=अर्जुन!	**धर्मकामार्थान्**	=धर्म, काम (भोग) और धनको	**सा**	=वह
फलाकाङ्क्षी	= फलकी इच्छावाला मनुष्य			**धृतिः**	=धृति
		प्रसङ्गेन	=अत्यन्त	**राजसी**	=राजसी है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥ ३५॥

पार्थ	=हे पार्थ!	**भयम्**	=भय,	**न**	=नहीं
दुर्मेधाः	=दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य	**शोकम्**	=चिन्ता,	**विमुञ्चति**	=छोड़ता अर्थात् धारण किये रहता है,
		विषादम्	=दुःख		
यया	=जिस धृतिके द्वारा	**च**	=और	**सा**	=वह
		मदम्	=घमण्डको	**धृतिः**	=धृति
स्वप्नम्	=निद्रा,	**एव**	=भी	**तामसी**	=तामसी है।

विशेष भाव—निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख, घमण्ड आदि दोष तो रहेंगे ही, दूर हो ही नहीं सकते—ऐसा निश्चय करनेवाले मनुष्य 'दुर्मेधा' हैं। ऐसे मनुष्योंका दोषोंको छोड़नेकी तरफ खयाल ही नहीं जाता, छोड़नेकी हिम्मत ही नहीं होती, प्रत्युत वे इनको स्वाभाविक ही धारण किये रहते हैं।

अधिक निद्रा ही बाधक होती है। आवश्यक, यथायोग्य निद्रा बाधक नहीं होती (गीता ६। १६-१७)।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥ ३६॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ ३७॥

भरतर्षभ	=हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**तु**	=भी (तुम)	**रमते**	=रमण होता है
		मे	=मुझसे	**च**	=और (जिससे)
इदानीम्	=अब	**शृणु**	=सुनो।	**दुःखान्तम्**	=दुःखोंका अन्त
त्रिविधम्	=तीन प्रकारके	**यत्र**	=जिसमें	**निगच्छति**	=हो जाता है,
सुखम्	=सुखको	**अभ्यासात्**	=अभ्याससे	**तत्**	=ऐसा वह

आत्मबुद्धिप्रसादजम्=परमात्मविषयक बुद्धिकी प्रसन्नतासे पैदा होनेवाला
यत् = जो
सुखम् = सुख (सांसारिक आसक्तिके कारण)
अग्रे = आरम्भमें
विषम् = विषकी
इव = तरह (और)
परिणामे = परिणाममें
अमृतोपमम् = अमृतकी तरह होता है,
तत् = वह (सुख)
सात्त्विकम् = सात्त्विक
प्रोक्तम् = कहा गया है।

विशेष भाव—चौदहवें अध्यायमें तो सात्त्विक सुखको बाँधनेवाला बताया था—**'सुखसङ्गेन बध्नाति'** (१४। ६), पर यहाँ उसको दु:खोंका नाश करनेवाला बताते हैं—**'दु:खान्तं च निगच्छति'।** इसका तात्पर्य यह है कि सात्त्विक सुखमें रमण (भोग) करनेसे वह बाँधनेवाला हो जाता है अर्थात् गुणातीत नहीं होने देता। अगर रमण न करे तो वह सात्त्विक सुख दु:खोंका नाश करनेवाला हो जाता है। सुख भोगनेसे दु:खका नाश नहीं होता। भोगका त्याग करनेसे ही योग होता है। इसलिये सात्त्विक सुखसे भी असंगता होनी चाहिये। संग होनेसे बन्धनकारक रजोगुण आ जाता है। सत्त्वगुणमें रजोगुण आनेसे पतन होता है।

विवेकको महत्त्व न देनेके कारण सात्त्विक सुख आरम्भमें विषकी तरह दीखता है। राजस मनुष्य विवेकको आदर नहीं देता। अत: सात्त्विक सुखका आरम्भमें विषकी तरह दीखना राजसपना है। तात्पर्य है कि सात्त्विक सुख दु:खदायी नहीं होता, प्रत्युत मनुष्यकी बुद्धिमें राजसपना होनेसे सात्त्विक सुख भी उसको विषकी तरह दु:खदायी दीखता है। उसका उद्देश्य तो सात्त्विक सुखका है, पर भीतर राजस भाव पड़ा है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ ३८॥

यत् = जो
सुखम् = सुख
विषयेन्द्रियसंयोगात्=इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे (होता है),
तत् = वह
अग्रे = आरम्भमें
अमृतोपमम् = अमृतकी तरह (और)
परिणामे = परिणाममें
विषम् = विषकी
इव = तरह प्रतीत होता है;
(अत:)
तत् = वह (सुख)
राजसम् = राजस
स्मृतम् = कहा गया है।

विशेष भाव—सांसारिक भोगोंका सुख आरम्भमें अमृतकी तरह और परिणाममें विषकी तरह होता है। अविवेकी मनुष्य आरम्भको ही महत्त्व देता है। आरम्भ तो सदा रहता नहीं, पर उसकी कामना सदा रहती है, जो सम्पूर्ण दु:खोंका कारण है। परन्तु विवेकी मनुष्य आरम्भको न देखकर परिणामको देखता है, इसलिये वह भोगोंमें आसक्त नहीं होता—**'न तेषु रमते बुध:'** (गीता ५। २२)। परिणामको देखनेकी योग्यता मनुष्यमें ही है। परिणामको न देखना पशुता है।

वास्तवमें आरम्भ (संयोग) मुख्य नहीं है, प्रत्युत अन्त (वियोग) ही मुख्य है। मनुष्य आरम्भकालको चाहता है, पर वह रहता नहीं; क्योंकि प्रत्येक संयोगका वियोग होता है—यह नियम है। आरम्भ अनित्य होता है, पर अन्त नित्य होता है। अनित्यकी इच्छासे ही दु:खोंकी उत्पत्ति होती है। संसारमात्रका वियोग ही नित्य है। परन्तु राजसी वृत्तिके कारण संयोग अच्छा मालूम देता है। अगर मनुष्य आरम्भकालके सुखको महत्त्व न दे तो दु:ख कभी आयेगा ही नहीं। आरम्भको देखनेसे भोग होता है और परिणामको देखनेसे योग होता है।

संसारके संयोगमें जो सुख प्रतीत होता है, उसमें दु:ख भी मिला हुआ रहता है। परन्तु संसारके वियोगसे सुख-दु:खसे अतीत अखण्ड आनन्द प्राप्त होता है।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ३९॥

निद्रालस्यप्रमादोत्थम्	= निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होनेवाला	**अग्रे**	= आरम्भमें	**मोहनम्**	= मोहित करनेवाला है,
		च	= और	**तत्**	= वह (सुख)
		अनुबन्धे	= परिणाममें		
यत्	= जो	**च**	= भी	**तामसम्**	= तामस
सुखम्	= सुख	**आत्मनः**	= अपनेको	**उदाहृतम्**	= कहा गया है।

विशेष भाव—तामस मनुष्यमें मोह रहता है—'**तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्**' (गीता १४। ८)। मोह विवेकमें बाधक होता है। तामसी वृत्ति विवेक जाग्रत् नहीं होने देती। इसलिये तामस मनुष्यका विवेक मोहके कारण लुप्त हो जाता है, जिससे वह आरम्भ या अन्तको देखता ही नहीं।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ ४०॥

पृथिव्याम्	= पृथ्वीमें		और कहीं भी	**प्रकृतिजैः**	= प्रकृतिसे उत्पन्न
वा	= या	**तत्**	= वह (ऐसी कोई)	**एभिः**	= इन
दिवि	= स्वर्गमें	**सत्त्वम्**	= वस्तु	**त्रिभिः**	= तीनों
वा	= अथवा	**न**	= नहीं	**गुणैः**	= गुणोंसे
देवेषु	= देवताओंमें	**अस्ति**	= है,	**मुक्तम्**	= रहित
पुनः	= तथा इनके सिवाय	**यत्**	= जो	**स्यात्**	= हो।

विशेष भाव—दसवें अध्यायमें भगवान्‌ने भक्ति-(विश्वास) की दृष्टिसे सम्पूर्ण वस्तुओंको अपनेसे उत्पन्न होनेवाली बताया था—'**न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्**' (१०। ३९)। यहाँ भगवान् ज्ञान-(विवेक) की दृष्टिसे सम्पूर्ण वस्तुओंको प्रकृतिजन्य गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली बताते हैं। कारण कि विवेकीकी दृष्टिमें सत् और असत् दोनों रहते हैं, पर भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान् ही रहते हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। विवेकमार्गमें असत्‌का, गुणोंका त्याग मुख्य है, पर भक्तिमार्गमें भगवान्‌का सम्बन्ध मुख्य है।

'संसारकी कोई भी वस्तु तीनों गुणोंसे रहित नहीं है'—यह बात अज्ञानीकी दृष्टिमें है, तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें नहीं। तत्त्वज्ञानीकी दृष्टि सत्तामात्र स्वरूपकी तरफ रहती है, जो स्वतः-स्वाभाविक निर्गुण है (गीता १३। ३१)।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ ४१॥

परन्तप	= हे परंतप!	**च**	= और	**स्वभावप्रभवैः**	= स्वभावसे उत्पन्न हुए
ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्	= ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य	**शूद्राणाम्**	= शूद्रोंके	**गुणैः**	= तीनों गुणोंके द्वारा
		कर्माणि	= कर्म	**प्रविभक्तानि**	= विभक्त किये गये हैं।

विशेष भाव—चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने कहा है कि चारों वर्णोंकी रचना मैंने गुणों और कर्मोंके विभागपूर्वक की है—'**गुणकर्मविभागशः**' (४। १३) और यहाँ कहते हैं कि चारों वर्णोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न हुए तीनों गुणोंके द्वारा विभक्त किये गये हैं—'**स्वभावप्रभवैर्गुणैः**'। चौथे अध्यायमें तो चारों वर्णोंके पैदा होनेकी बात है

और यहाँ चारों वर्णोंके कर्मोंकी बात है। तात्पर्य है, चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने बताया कि चारों वर्णोंका जन्म पूर्वजन्मके गुणकर्मोंके अनुसार हुआ है और यहाँ बताते हैं कि जन्मके बाद चारों वर्णोंके अमुक-अमुक कर्म होने चाहिये, जिनके अनुसार उनकी आगे गति होगी।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२॥

शमः	= मनका निग्रह करना;	**क्षान्तिः**	= दूसरोंके अपराधको क्षमा करना;	**च**	= और
दमः	= इन्द्रियोंको वशमें करना;	**आर्जवम्**	= शरीर, मन आदिमें सरलता रखना;	**आस्तिक्यम्**	= परमात्मा, वेद आदिमें आस्तिकभाव रखना—
तपः	= धर्मपालनके लिये कष्ट सहना;	**ज्ञानम्**	= वेद, शास्त्र आदिका ज्ञान होना;	**एव**	= (ये सब-के-सब) ही
शौचम्	= बाहर-भीतरसे शुद्ध रहना;	**विज्ञानम्**	= यज्ञविधिको अनुभवमें लाना	**ब्रह्मकर्म, स्वभावजम्**	= ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं।

विशेष भाव—वर्ण-परम्परा ठीक हो तो ये गुण ब्राह्मणमें स्वाभाविक होते हैं। परन्तु वर्णसंकरता आनेपर ये गुण स्वाभाविक नहीं होते, इनमें कमी आ जाती है।

पूर्वश्लोकमें **'स्वभावप्रभवैर्गुणैः'** कहा, इसलिये यहाँ स्वभावज कर्म बताते हैं। स्वभाव बननेमें पहले जन्म मुख्य है, फिर जन्मके बाद संग मुख्य है। संग, स्वाध्याय, अभ्यास आदिके कारण स्वभाव बदल जाता है।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

शौर्यम्	= शूरवीरता,	**च**	= तथा	**ईश्वरभावः**	= शासन करनेका भाव (—ये सब-के-सब)
तेजः	= तेज,	**युद्धे**	= युद्धमें		
धृतिः	= धैर्य	**अपि**	= कभी		
दाक्ष्यम्	= प्रजाके संचालन आदिकी विशेष चतुरता	**अपलायनम्**	= पीठ न दिखाना,	**क्षात्रम्**	= क्षत्रियके
		दानम्	= दान करना	**स्वभावजम्**	= स्वाभाविक
		च	= और	**कर्म**	= कर्म हैं।

विशेष भाव—क्षत्रिय (राजपूत) बड़े शूरवीर और तेजस्वी होते हैं। परन्तु ईर्ष्या-दोष होनेके कारण जिस राजाका राज्य हुआ, उसने अपने अधीन रहनेवाले राजपूतोंका उत्साह कम करनेकी चेष्टा की, उनकी उन्नति नहीं होने दी, जिससे कि वे प्रबल होकर राज्य न छीन लें। इस प्रकार ईर्ष्याके कारण आपसी फूट होनेसे तथा उत्साहमें कमी होनेसे ही विधर्मीलोग भारतपर अपना अधिकार करनेमें समर्थ हो सके।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यम्	= खेती करना, गायोंकी रक्षा करना और व्यापार करना (—ये सब-के-सब)	**वैश्यकर्म, स्वभावजम्**	= वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं (तथा)	**शूद्रस्य**	= शूद्रका
		परिचर्यात्मकम्	= चारों वर्णोंकी सेवा करना	**अपि**	= भी
				स्वभावजम्	= स्वाभाविक
				कर्म	= कर्म है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ ४५॥

स्वे, स्वे	= अपने-अपने		(परमात्मा) को	**सिद्धिम्**	= सिद्धिको
कर्मणि	= कर्ममें	**लभते**	= प्राप्त कर लेता है।	**विन्दति**	= प्राप्त होता है,
अभिरतः	= प्रीतिपूर्वक लगा हुआ	**स्वकर्मनिरतः**	= अपने कर्ममें लगा हुआ मनुष्य	**तत्**	= उस प्रकारको (तू मुझसे)
नरः	= मनुष्य				
संसिद्धिम्	= सम्यक् सिद्धि	**यथा**	= जिस प्रकार	**शृणु**	= सुन।

विशेष भाव—अपने वर्णके सिवाय जिसने जो-जो कर्म स्वीकार कर लिये हैं, वे सब भी '**स्वे स्वे कर्मणि**' के अन्तर्गत लेने चाहिये। जैसे, मनुष्य अपनेको वकील, नौकर, अध्यापक अथवा चिकित्सक आदि मानता है तो उसके कर्तव्यका प्रेमपूर्वक, आदरपूर्वक नि:स्वार्थभावसे ठीक-ठीक पालन करना भी उसके लिये 'स्वकर्म' है।

मनुष्य स्वार्थबुद्धि, पक्षपात, कामना आदिको लेकर कर्म करता है तो वह 'आसक्ति' होती है। वह प्रेमपूर्वक, निष्कामभावसे और लोकहितके लिये कर्म करता है तो वह 'अभिरति' होती है। भगवान्‌ने कर्मोंमें 'आसक्ति' का निषेध किया है—'**न कर्मस्वनुषज्जते**' (गीता ६। ४)। मनुष्य जाति आदिको लेकर न अपनेको ऊँचा समझे, न नीचा समझे, प्रत्युत घड़ीके पुर्जेकी तरह अपनी जगह ठीक कर्तव्यका पालन करे और दूसरेकी निन्दा, तिरस्कार न करे तथा अपना अभिमान भी न करे, तब 'अभिरति' होगी।

वास्तवमें 'कर्म' की प्रधानता नहीं है, प्रत्युत 'भाव' की प्रधानता है। कर्ताका भाव शुद्ध होगा तो वह कल्याण करनेवाला हो जायगा, चाहे कर्ता किसी वर्णका हो। 'कर्म' में वर्णकी मुख्यता है और 'भाव' में दैवी अथवा आसुरी सम्पत्तिकी मुख्यता है। अत: दैवी-आसुरी सम्पत्ति किसी वर्णको लेकर नहीं होती, प्रत्युत सबमें हो सकती है। दैवी सम्पत्ति मोक्ष देनेवाली और आसुरी सम्पत्ति बाँधनेवाली है। इसलिये अगर ब्राह्मणमें भी अभिमान हो तो वह आसुरी सम्पत्तिवाला हो जायगा अर्थात् उसका पतन हो जायगा—

नीच नीच सब तर गये, राम भजन लवलीन।
जाति के अभिमान से, डूबे सभी कुलीन॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ ४६॥

यतः	= जिस परमात्मासे	**इदम्**	= यह	**अभ्यर्च्य**	= पूजन करके
भूतानाम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंकी	**सर्वम्**	= सम्पूर्ण संसार	**मानवः**	= मनुष्यमात्र
प्रवृत्तिः	= प्रवृत्ति (उत्पत्ति) होती है (और)	**ततम्**	= व्याप्त है,	**सिद्धिम्**	= सिद्धिको
		तम्	= उस परमात्माका	**विन्दति**	= प्राप्त हो जाता है।
येन	= जिससे	**स्वकर्मणा**	= अपने कर्मके द्वारा		

विशेष भाव—यहाँ '**यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्**' पदोंमें आये '**प्रवृत्तिः**' पदका अर्थ '**उत्पत्ति**' लेना चाहिये; क्योंकि परमात्मासे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति तो होती है, पर क्रिया नहीं होती। क्रिया रजोगुणसे होती है—'**लोभः प्रवृत्तिरारम्भः**'० (गीता १४। १२)। पन्द्रहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें भी प्रवृत्तिः पद '**उत्पत्ति**' अर्थमें आया है—'**यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी**'।

यह संसार भगवान्‌का पहला अवतार है—'**आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य**' (श्रीमद्भा० २। ६। ४१)। अतः यह संसार भगवान्‌की ही मूर्ति है, श्रीविग्रह है। जैसे मूर्तिमें हम भगवान्‌का पूजन करते हैं, पुष्प चढ़ाते हैं, चन्दन लगाते हैं तो हमारा भाव मूर्तिमें न होकर भगवान्‌में होता है अर्थात् हम मूर्तिकी पूजा न करके भगवान्‌की पूजा करते हैं, ऐसे ही हमें अपनी प्रत्येक क्रियासे संसाररूपमें भगवान्‌का पूजन करना है। श्रोता सुनकर वक्ताका पूजन करे, वक्ता सुनाकर श्रोताका पूजन करे—इस प्रकार सभी अपने-अपने कर्मोंके द्वारा एक-दूसरेका पूजन करें। दृष्टि भगवान्‌की तरफ ही हो, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णकी तरफ नहीं। भगवान् श्रीरामको ऋषि-मुनि प्रणाम करते हैं तो भगवान्‌के भावसे प्रणाम करते हैं, क्षत्रियके भावसे नहीं। पूजनमें खास बात है—सब कुछ भगवान्‌का और भगवान्‌के लिये ही है। जैसे गङ्गाजलसे गङ्गाका पूजन करते हैं, ऐसे ही भगवान्‌की वस्तुओंसे भगवान्‌का पूजन करना है। वास्तवमें सम्पूर्ण क्रियाएँ भगवान्‌का ही पूजन हैं, हमें केवल अपनी भूल मिटानी है। भगवान्‌की ही वस्तु भगवान्‌के अर्पित करनेसे अपनी स्वार्थबुद्धि, भोगबुद्धि, फलेच्छा मिट जायगी तथा अपनेमें सामर्थ्य भी भगवान्‌का ही माननेसे कर्तृत्व भी मिट जायगा और भगवत्प्राप्तिका अनुभव हो जायगा।

वास्तवमें भगवद्भावसे संसारका पूजन मूर्तिपूजासे भी विशेष मूल्यवान् है। कारण कि मूर्तिका पूजन करनेसे मूर्ति प्रसन्न होती हुई नहीं दीखती, पर प्राणियोंकी सेवा करनेसे वे प्रत्यक्ष प्रसन्न (सुखी) होते हुए दीखते हैं।

अगर व्यक्तियोंको भगवान्‌का स्वरूप मानकर कर्मोंसे और पदार्थोंसे उनकी सेवा की जाय तो संसार लुप्त हो जायगा और एकमात्र भगवान् रह जायँगे अर्थात् 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव हो जायगा। जैसे रस्सीमें साँपका भ्रम मिटनेपर साँप तो लुप्त हो जाता है, पर रस्सी तो रहती ही है, ऐसे ही भगवान्‌में जगत्‌का भ्रम मिटनेपर जगत् जगत्‌रूपसे लुप्त हो जाता है और भगवद्‌रूपसे रहता है। कारण कि जगत्‌की तो मान्यता है, पर 'भगवान् हैं' यह वास्तविकता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १५)

'जब भक्तका सम्पूर्ण स्त्री-पुरुषोंमें निरन्तर मेरा ही भाव हो जाता है और उनमें मेरेको ही देखता है*, तब शीघ्र ही उसके चित्तसे ईर्ष्या, दोषदृष्टि, तिरस्कार आदि दोष अहंकारसहित दूर हो जाते हैं।'

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'**अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः**' (१०। २०) 'सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित आत्मा भी मैं ही हूँ'। अतः भगवद्भावसे किसी प्राणीकी सेवा, आदर-सत्कार करेंगे तो वह भगवान्‌की ही सेवा होगी। अगर किसी प्राणीका अनादर-तिरस्कार करेंगे तो वह भगवान्‌का ही अनादर-तिरस्कार होगा—'**कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः**०' (१७। ६)।

जैसे ज्ञानमार्गमें गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं ('**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**'), ऐसे ही भक्तिमार्गमें भगवान्‌की वस्तुओंसे भगवान्‌का ही पूजन हो रहा है। परन्तु दोनोंमें बड़ा अन्तर है। '**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' में जड़ताकी मुख्यता है, जिसका ज्ञानमार्गी त्याग करता है; परन्तु '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' में चिन्मयताकी मुख्यता है, जिसका भक्तिमार्गी ग्रहण करता है। इसलिये भक्तिमार्गमें जड़ता मिट जाती है, संसार संसाररूपसे छिप जाता है और भगवत्स्वरूपसे प्रकट हो जाता है; क्योंकि वास्तवमें भगवान् ही हैं। साधक अगर जगत्‌को जगत्‌रूपसे देखे तो उसकी 'सेवा'

---

* स्त्री-पुरुषोंमें भगवान्‌को देखनेके लिये इसलिये कहा है कि हम अधिकतर स्त्री-पुरुषोंमें ही गुण-दोष देखते हैं, जिससे उनमें भगवद्भाव नहीं होता। अतः स्त्री-पुरुषोंमें गुण-दोष न देखकर केवल भगवान्‌को देखनेसे सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थोंमें सुगमतासे भगवद्भाव हो जायगा।

करे और भगवद्रूपसे देखे तो उसका 'पूजन' करे। अपने लिये कुछ नहीं करे। मात्र कर्म अपने लिये करना बन्धन है, संसारके लिये करना सेवा है और भगवान्के लिये करना पूजन है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ ४७॥

स्वनुष्ठितात् = अच्छी तरह अनुष्ठान किये हुए
परधर्मात् = परधर्मसे
विगुणः = गुणरहित (भी)
स्वधर्मः = अपना धर्म
श्रेयान् = श्रेष्ठ है। (कारण कि)
स्वभावनियतम् = स्वभावसे नियत किये हुए
कर्म = स्वधर्मरूप कर्मको
कुर्वन् = करता हुआ (मनुष्य)
किल्बिषम् = पापको
न, आप्नोति = प्राप्त नहीं होता।

विशेष भाव—स्वधर्मरूप कर्मको करनेसे पाप बन तो सकता है, पर लग नहीं सकता—'**कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्**'। पाप लगनेमें मुख्य कारण भाव है, क्रिया नहीं। अतः पाप कर्मोंसे नहीं लगता, प्रत्युत स्वार्थ और अभिमान आनेसे लगता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ ४८॥

कौन्तेय = हे कुन्तीनन्दन!
सदोषम् = दोषयुक्त होनेपर
अपि = भी
सहजम् = सहज
कर्म = कर्मका
न, त्यजेत् = त्याग नहीं करना चाहिये;
हि = क्योंकि
सर्वारम्भाः = सम्पूर्ण कर्म
धूमेन = धुएँसे
अग्निः = अग्निकी
इव = तरह (किसी-न-किसी)
दोषेण = दोषसे
आवृताः = युक्त हैं।

विशेष भाव—निषिद्ध कर्ममें आसक्ति होनेसे अथवा निषिद्ध रीतिसे भोग भोगनेके कारण ही विहित कर्म कठिन प्रतीत होता है। वास्तवमें विहित कर्म सहज स्वाभाविक है, इसमें परिश्रम नहीं है।

इकतालीसवें श्लोकसे यहाँतक 'स्वकर्म', 'स्वधर्म' और 'सहजकर्म' शब्दोंका प्रयोग हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि गीता स्वकर्म और सहजकर्मको ही 'स्वधर्म' मानती है।

विहित कर्म करनेमें दोष तो होता है, पर कामना, सुखबुद्धि, भोगबुद्धि न रहनेसे दोष लगता नहीं। तात्पर्य है कि दोष लगना या न लगना कर्ताकी नीयतपर निर्भर है; जैसे—डॉक्टरकी नीयत ठीक हो, पैसोंका उद्देश्य न होकर सेवाका उद्देश्य हो तो आपरेशनमें रोगीका अंग काटनेपर भी उसको दोष नहीं लगता, प्रत्युत निःस्वार्थभाव और हितकी दृष्टि होनेसे पुण्य होता है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति॥ ४९॥

सर्वत्र, असक्तबुद्धिः = जिसकी बुद्धि सब जगह आसक्ति-रहित है,
जितात्मा = जिसने शरीरको वशमें कर रखा है,
विगतस्पृहः = जो स्पृहारहित है (वह मनुष्य)
सन्न्यासेन = सांख्ययोगके द्वारा
परमाम् = सर्वश्रेष्ठ
नैष्कर्म्यसिद्धिम् = नैष्कर्म्यसिद्धिको
अधिगच्छति = प्राप्त हो जाता है।

विशेष भाव—नैष्कर्म्यसिद्धिका अर्थ है—कर्म सर्वथा अकर्म हो जायँ, कर्मोंके साथ बिलकुल सम्बन्ध न रहे, कर्म होते हुए भी लिप्तता न हो—'**कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः**' (गीता ४। १८)। कर्मोंको न करना नैष्कर्म्य (निष्कर्मता) नहीं है*, प्रत्युत कर्म करना तो साधकके लिये आवश्यक है†।

'**असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः**'—यह कर्मयोगकी सिद्धि है‡, जिसके होनेपर कर्मयोगी सांख्ययोगमें जाता है$ और सांख्ययोगसे नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त करता है। इस प्रकार कर्मयोगसे तो 'नैष्कर्म्यसिद्धि' होती है—'**न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते**' (गीता ३। ४), पर भक्तियोगसे 'परम नैष्कर्म्यसिद्धि' होती है। कर्मयोग और ज्ञानयोग तो 'निष्ठा' है—'**लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा०**' (३। ३), पर कर्मयोग-ज्ञानयोगकी 'परा निष्ठा' भक्तिसे ही होगी—'**निष्ठा ज्ञानस्य या परा**' (१८। ५०)। तात्पर्य है कि 'परम नैष्कर्म्यसिद्धि' और 'परा निष्ठा'—दोनों भक्तिसे होती हैं।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ ५०॥

कौन्तेय	= हे कौन्तेय!	**या**	= जो कि	**तथा**	= उस प्रकारको (तुम)
सिद्धिम्	= सिद्धि (अन्तःकरणकी शुद्धि)को	**ज्ञानस्य**	= ज्ञानकी	**मे**	= मुझसे
		परा	= परा	**समासेन**	= संक्षेपमें
		निष्ठा	= निष्ठा है,	**एव**	= ही
प्राप्तः	= प्राप्त हुआ साधक	**यथा**	= जिस प्रकारसे	**निबोध**	= समझो।
ब्रह्म	= ब्रह्मको	**आप्नोति**	= प्राप्त होता है,		

विशेष भाव—यहाँ '**सिद्धिम्**' पदका अर्थ है—साधनरूप कर्मयोगसे होनेवाली अन्तःकरणकी पूर्ण शुद्धि, जिसकी प्राप्तिके बाद कर्मयोगी ज्ञानयोगमें अथवा भक्तियोगमें कहीं भी जा सकता है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ९)

'तभीतक कर्म करना चाहिये, जबतक भोगोंसे वैराग्य न हो जाय अथवा जबतक मेरी लीला-कथाके श्रवण-कीर्तन आदिमें श्रद्धा न हो जाय।'

अगर कर्मयोगीके भीतर ज्ञानके संस्कार हैं तो वह ज्ञानमें चला जायगा और अगर भक्तिके संस्कार हैं तो वह भक्तिमें चला जायगा।

अगर किसी एकका आग्रह न हो तो कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों 'साधन' रूपसे भी हैं और 'साध्य' रूपसे भी हैं। साधनरूपसे तो तीनों अलग-अलग हैं, पर साध्यरूपसे तीनों एक ही हैं। इसलिये गीतामें

* **न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।**
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ (गीता ३। ४)
'मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको प्राप्त होता है और न कर्मोंके त्यागमात्रसे सिद्धिको ही प्राप्त होता है।'

† **आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।** (गीता ६। ३)
'योग (समता)में आरूढ़ होनेवाले मननशील योगीके लिये कर्तव्य कर्म करना कारण है।'

‡ **विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।**
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ (गीता २। ७१)
'जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके निर्मम, निरहंकार और निःस्पृह होकर विचरता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।'

$ **योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥** (गीता ५। ६)

कहीं तो भगवान्‌ने भक्तिके द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति अर्थात् साधन-भक्तिसे साध्य-ज्ञानकी प्राप्ति बतायी है—**'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'** (१३। १०), **'मां च योऽव्यभिचारेण.......ब्रह्मभूयाय कल्पते'** (१४। २६) और कहीं ज्ञानसे भक्तिकी प्राप्ति अर्थात् साधन-ज्ञानसे साध्य-भक्तिकी प्राप्ति बतायी है—**'सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र.......सर्वभूतहिते रताः'** (१२। ४), **'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा ....मद्भक्तिं लभते पराम्'** (१८। ५४)।

भगवान्‌ने पहले **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** (१८। ४६)—इन पदोंसे कर्मयोगके द्वारा भक्तिकी सिद्धि बतायी और यहाँ **'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म'** पदोंसे कर्मयोगके द्वारा ज्ञानयोगकी सिद्धि बताते हैं। पाँचवें अध्यायमें भी साधनरूप कर्मयोगसे ज्ञानयोगकी शीघ्र सिद्धि बतायी है—**'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति'** (५। ६)।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ ५१॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥ ५२॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ५३॥

विशुद्धया = (जो) विशुद्ध (सात्त्विकी)
बुद्ध्या = बुद्धिसे
युक्तः = युक्त,
वैराग्यम् = वैराग्यके
समुपाश्रितः = आश्रित,
विविक्तसेवी = एकान्तका सेवन करनेवाला (और)
लघ्वाशी = नियमित भोजन करनेवाला (साधक)
धृत्या = धैर्यपूर्वक
आत्मानम् = इन्द्रियोंका
नियम्य = नियमन करके,
यतवाक्कायमानसः = शरीर-वाणी-मनको वशमें करके,
शब्दादीन् = शब्दादि
विषयान् = विषयोंका
त्यक्त्वा = त्याग करके
च = और
रागद्वेषौ = राग-द्वेषको
व्युदस्य = छोड़कर
नित्यम् = निरन्तर
ध्यानयोगपरः = ध्यानयोगके परायण हो जाता है, (वह)
अहङ्कारम् = अहंकार,
बलम् = बल,
दर्पम् = दर्प,
कामम् = काम,
क्रोधम् = क्रोध
च = और
परिग्रहम् = परिग्रहसे
विमुच्य = रहित होकर (एवं)
निर्ममः = ममतारहित (तथा)
शान्तः = शान्त होकर
ब्रह्मभूयाय = ब्रह्मप्राप्तिका
कल्पते = पात्र हो जाता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ ५४॥

ब्रह्मभूतः = (वह) ब्रह्मरूप बना हुआ
प्रसन्नात्मा = प्रसन्न मनवाला साधक
न = न तो (किसीके लिये)
शोचति = शोक करता है (और)
न = न (किसीकी)
काङ्क्षति = इच्छा ही करता है। (ऐसा)
सर्वेषु = सम्पूर्ण
भूतेषु = प्राणियोंमें
समः = समभाववाला साधक
पराम्, मद्भक्तिम् = मेरी पराभक्तिको
लभते = प्राप्त हो जाता है।

विशेष भाव—ज्ञानयोगके जिस साधकमें भक्तिके संस्कार होते हैं, जो अपने मतका आग्रह नहीं रखता, मुक्ति अर्थात् संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदको ही सर्वोपरि नहीं मानता और भक्तिका खण्डन, निन्दा नहीं करता, उसको मुक्तिमें सन्तोष नहीं होता। अतः उसको मुक्ति प्राप्त होनेके बाद भक्ति (प्रेम)की प्राप्ति हो जाती है।

जो अपनी दृष्टिसे अर्थात् अपनी मान्यतासे ब्रह्मरूप बना हुआ है, ब्रह्म हुआ नहीं है, उसके लिये यहाँ **'ब्रह्मभूतः'** पद आया है। ब्रह्मभूत होनेके बाद जीवका ब्रह्मके साथ तात्त्विक सम्बन्ध (साधर्म्य) हो जाता है—**'मम साधर्म्यमागताः'** (गीता १४। २)। तात्त्विक सम्बन्ध होना ही मुक्ति है। फिर सर्वत्र परिपूर्ण अनन्तब्रह्माण्डनायक परमात्मामें अपने-आपको विलीन (समर्पित) कर देनेसे परमात्माके साथ आत्मीय सम्बन्ध (अभिन्नता) हो जाता है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७। १८)। आत्मीय सम्बन्ध होना ही पराभक्ति (प्रेम) की प्राप्ति है।

ज्ञानमार्गमें जड़ताका त्याग मुख्य है। जड़ताका त्याग विवेक-साध्य है। विवेकपूर्वक जड़ताका त्याग करनेपर त्याज्य वस्तुका संस्कार शेष रह सकता है, जिससे दार्शनिक मतभेद पैदा होते हैं। परन्तु प्रेमकी प्राप्ति होनेपर त्याज्य वस्तुका संस्कार नहीं रहता; क्योंकि भक्त त्याग नहीं करता, प्रत्युत सबको भगवान्‌का स्वरूप मानता है—**'सदसच्चाहम्'** (गीता ९। १९)। प्रेमकी प्राप्ति विवेकसाध्य नहीं है, प्रत्युत विश्वाससाध्य है। विश्वासमें केवल भगवत्कृपापर ही भरोसा है। इसलिये जिसके भीतर भक्तिके संस्कार होते हैं, उसको भगवत्कृपा मुक्तिमें सन्तुष्ट नहीं होने देती, प्रत्युत मुक्तिके रस (अखण्डरस)को फीका करके प्रेमका रस (अनन्तरस) प्रदान कर देती है।

संसारके सम्बन्धसे अशान्ति होती है, इसलिये कर्मयोगमें संसारसे सम्बन्ध छूटनेपर 'शान्त आनन्द' मिलता है। ज्ञानयोगमें निजस्वरूपमें स्थिति होनेसे निजानन्द अर्थात् 'अखण्ड आनन्द' मिलता है। भक्तियोगमें भगवान्‌से अभिन्नता होनेपर परमानन्द अर्थात् 'अनन्त आनन्द' (प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम) मिलता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ ५५॥

भक्त्या	=(उस) पराभक्तिसे	**अस्मि**	=हूँ—(इसको)	**तत्त्वतः**	=तत्त्वसे
माम्	=मुझे,	**तत्त्वतः**	=तत्त्वसे	**ज्ञात्वा**	=जानकर
यावान्	=(मैं) जितना हूँ	**अभिजानाति**	= जान लेता है,	**तदनन्तरम्**	=तत्काल
च	=और	**ततः**	=फिर	**विशते**	=(मुझमें) प्रविष्ट हो जाता है।
यः	=जो	**माम्**	=मुझे		

विशेष भाव—'मैं जितना हूँ और जो हूँ' **(यावान् यश्चास्मि)**—यह बात सगुणकी ही है; क्योंकि **'यावान्-तावान्'** निर्गुणमें हो सकता ही नहीं, प्रत्युत सगुणमें ही हो सकता है। चतुःश्लोकी भागवतमें भी भगवान्‌ने **'यावान्'** पदका प्रयोग करते हुए ब्रह्माजीसे कहा है—

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥

(श्रीमद्भा० २। ९। ३१)

'मैं जितना हूँ, जिस भाववाला हूँ, जिन रूप, गुण और कर्मोंवाला हूँ, उस मेरे (समग्ररूपके) तत्त्वका यथार्थ अनुभव तुम्हें मेरी कृपासे ज्यों-का-त्यों हो जाय।'

'यावान् यश्चास्मि' का वर्णन भगवान्‌ने सातवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें **'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः'** पदोंमें किया था। इससे सगुणकी विशेषता तथा मुख्यता सिद्ध होती है।

ज्ञानमार्गसे चलनेवालेको जब **(ज्ञानोत्तरकालमें)** भक्ति प्राप्त होती है, तब उसमें तत्त्वसे जानना **(ज्ञात्वा)** और प्रविष्ट होना **(विशते)**—ये दो ही होते हैं, दर्शन नहीं होते। उनमें कोई कमी तो नहीं रहती, पर दर्शनकी इच्छा उनमें नहीं होती। परन्तु आरम्भसे ही भक्तिमार्गसे चलनेवालेको तत्त्वसे जानने **(ज्ञातुम्)** और प्रविष्ट होने

(प्रवेष्टुम्)के सिवाय भगवान्‌के दर्शन **(द्रष्टुम्)** भी होते हैं*। इसलिये ज्ञानमार्गी सन्तोंमें भगवत्प्रेम (भक्ति)की बात तो आती है, पर दर्शनकी बात नहीं आती।

जैसे विभिन्न मार्गोंसे आनेवाले व्यक्ति दरवाजेमें प्रविष्ट होनेपर एक साथ मिल जाते हैं, ऐसे ही विभिन्न योग-मार्गोंपर चलनेवाले साधक भगवान्‌में प्रविष्ट होनेपर **(विशते)** एक हो जाते हैं अर्थात् अहम्‌की सूक्ष्म गन्ध भी न रहनेसे उनमें कोई मतभेद नहीं रहता।

प्रेमकी दो अवस्थाएँ होती हैं—(१) कभी भक्त प्रेममें डूब जाता है, तब प्रेमी और प्रेमास्पद दो नहीं रहते, एक हो जाते हैं और (२) कभी भक्तमें प्रेमका उछाल आता है, तब प्रेमी और प्रेमास्पद एक होते हुए भी लीलाके लिये दो हो जाते हैं। यहाँ पहली अवस्थाको बतानेके लिये '**विशते**' पद आया है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ ५६ ॥

मद्व्यपाश्रयः	= मेरा आश्रय लेनेवाला भक्त	**कुर्वाणः**	= करता हुआ	**अव्ययम्**	= अविनाशी
		अपि	= भी	**पदम्**	= पदको
सदा	= सदा	**मत्प्रसादात्**	= मेरी कृपासे	**अवाप्नोति**	= प्राप्त हो जाता है।
सर्वकर्माणि	= सब कर्म	**शाश्वतम्**	= शाश्वत		

विशेष भाव—ज्ञानयोगीके लिये तो भगवान्‌ने बताया कि वह सब विषयोंका त्याग करके संयमपूर्वक निरन्तर ध्यानके परायण रहे, तब वह अहंता, ममता, काम, क्रोध आदिका त्याग करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होता है (१८। ५१—५३)। परन्तु भक्तके लिये यहाँ बताया कि वह अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार सब विहित कर्मोंको सदा करते हुए भी मेरी कृपासे परमपदको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि उसने मेरा आश्रय लिया है—'**मद्व्यपाश्रयः**'। तात्पर्य है कि भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेनेसे सुगमतासे कल्याण हो जाता है। भक्तको अपना कल्याण खुद नहीं करना पड़ता, प्रत्युत अपने बल, विद्या आदिका किंचिन्मात्र भी आश्रय न रखकर केवल विश्वासपूर्वक भगवान्‌का ही आश्रय लेना पड़ता है। फिर भगवत्कृपा ही उसका कल्याण कर देती है—'**मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्**'। भगवान् भी केवल भक्तके आश्रयको देखते हैं†, उसके दोषोंको नहीं देखते। रामायणमें आया है—

रहति न प्रभु चित चूक किए की । करत सुरति सय बार हिए की॥

(बाल० २९। ३)

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ । दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(उत्तर० १। ३)

'**मद्व्यपाश्रयः**' का अर्थ है—मेरा विशेष आश्रय अर्थात् अनन्य आश्रय, जिसमें दूसरे किसीका किंचिन्मात्र भी आश्रय न हो।

एक बानि करुनानिधान की । सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(मानस, अरण्य० १०। ४)

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ ५७॥

* **भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।**
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ (गीता ११। ५४)

† **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।** (गीता ४। ११)

चेतसा	=चित्तसे	**मत्परः**	=मेरे परायण होकर (तथा)	**सततम्**	=निरन्तर
सर्वकर्माणि	= सम्पूर्ण कर्म			**मच्चित्तः**	=मुझमें चित्तवाला
मयि	=मुझमें	**बुद्धियोगम्**	=समताका		
सन्न्यस्य	=अर्पण करके,	**उपाश्रित्य**	=आश्रय लेकर	**भव**	=हो जा।

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें शाश्वत पदकी प्राप्ति बताकर अब उसकी विधि बताते हैं कि वह कैसे प्राप्त होगा। साधकके लिये दो ही खास काम हैं—संसारके सम्बन्धका त्याग और भगवान्‌के साथ सम्बन्ध (प्रेम)। पूर्वश्लोकमें आये '**मद्व्यपाश्रयः**' पदमें भगवान्‌के साथ सम्बन्धकी मुख्यता है और इस श्लोकमें आये '**बुद्धियोगमुपाश्रित्य**' पदमें संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदकी मुख्यता है।

'**बुद्धियोगमुपाश्रित्य**' कहनेका तात्पर्य है कि संसारका सूक्ष्म सम्बन्ध भी न रहे—'**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय**' (गीता २। ४९), किसीके प्रति किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष न रहे।

एकमात्र भगवान्‌का चिन्तन करनेसे समता (बुद्धियोग) स्वतः आ जाती है, इसलिये '**मच्चित्तः सततं भव**' कहा है।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥ ५८॥

मच्चित्तः	=मुझमें चित्तवाला होकर (तू)	**अथ**	=और	**न**	=नहीं
		चेत्	=यदि	**श्रोष्यसि**	=सुनेगा (तो)
मत्प्रसादात्	=मेरी कृपासे	**त्वम्**	=तू		
सर्वदुर्गाणि	=सम्पूर्ण विघ्नोंको	**अहङ्कारात्**	=अहंकारके कारण (मेरी बात)	**विनङ्क्ष्यसि**	=तेरा पतन हो जायगा।
तरिष्यसि	=तर जायगा				

विशेष भाव—भक्तका काम केवल भगवान्‌का आश्रय लेना है, भगवान्‌का ही चिन्तन करना है। फिर उसके सब काम भगवान् ही करते हैं। भगवान् भक्तपर विशेष कृपा करके उसके साधनकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको भी दूर कर देते हैं और अपनी प्राप्ति भी करा देते हैं—'**योगक्षेमं वहाम्यहम्** ' (गीता ९। २२)। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें आया है—**विशेषानुग्रहश्च**' (३। ४। ३८) 'भगवान्‌की भक्तिका अनुष्ठान करनेसे भगवान्‌का विशेष अनुग्रह होता है।' वास्तवमें मनुष्यपर भगवान्‌की कृपा तो है ही, पर भगवान्‌का आश्रय लेनेसे भक्तको उसका विशेष अनुभव होता है।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ ५९॥

अहङ्कारम्	=अहंकारका	**न, योत्स्ये**	=युद्ध नहीं करूँगा,		(क्योंकि)
आश्रित्य	=आश्रय लेकर	**ते**	=तेरा	**प्रकृतिः**	=(तेरी) क्षात्र-प्रकृति
यत्	=(तू) जो	**एषः**	=यह	**त्वाम्**	=तुझे
इति	=ऐसा	**व्यवसायः**	=निश्चय	**नियोक्ष्यति**	=युद्धमें लगा देगी।
मन्यसे	=मान रहा है कि (मैं)	**मिथ्या**	=मिथ्या (झूठा) है;		

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें यह बात आयी कि अहंकारके कारण 'फल' ठीक नहीं होगा और इस श्लोकमें यह बात आयी कि अहंकारके कारण 'क्रिया' ठीक नहीं होगी। तात्पर्य है कि सुनने या न सुननेसे पतन नहीं

होगा, प्रत्युत अहंकारके कारण पतन होगा। कर्म करना या न करना बाधक नहीं है, प्रत्युत अहंकार बाधक है।

भगवान्ने कहा कि मैं अपनी प्राप्ति भी करा दूँगा और तेरे विघ्नोंको भी दूर कर दूँगा (१८। ५६, ५८)। परन्तु इतना कहनेपर भी अर्जुन बोले नहीं, जब कि उनको यहाँ **'करिष्ये वचनं तव'** कह देना चाहिये था। तब भगवान् कहते हैं कि अगर तू भूलसे मेरी बात न सुने तो कोई बात नहीं, पर तू अहंकारसे मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा। भगवान्का भाव है कि जैसे भक्तका सब काम (साधन और सिद्धि) मैं कर देता हूँ, ऐसे ही भक्तको भी चाहिये कि वह सब प्रकारसे मेरा ही आश्रय ले। परन्तु मेरा आश्रय न लेकर वह अहंकारका आश्रय लेगा तो उसका पतन हो जायगा। अहंकारका आश्रय लेनेसे **'मद्व्यपाश्रय'** नहीं होगा; क्योंकि मेरे आश्रयकी जगह मेरी अपरा प्रकृति 'अहंकार' का आश्रय ले लिया। कर्तव्य कर्म (युद्ध)में एक तो मैं लगाता हूँ और एक प्रकृति लगाती है। अगर तू मेरी बात नहीं मानेगा तो तेरी क्षात्र प्रकृति तेरेको युद्धमें लगायेगी। प्रकृति लगायेगी तो जिम्मेवारी तेरी होगी और मेरी बात सुनकर कर्तव्यमें लगेगा तो जिम्मेवारी मेरी होगी। तेरी जिम्मेवारी होनेसे तू बद्ध हो जायगा और मेरी जिम्मेवारी होनेसे तू मुक्त हो जायगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ ६०॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीनन्दन!	**मोहात्**	=मोहके कारण	**तत्**	=उसको
स्वेन	=अपने	**यत्**	=जिस युद्धको	**अपि**	=भी (तू)
स्वभावजेन	=स्वभावजन्य	**न**	=नहीं	**अवशः**	=(क्षात्र प्रकृतिके) परवश होकर
कर्मणा	=कर्मसे	**कर्तुम्**	=करना		
निबद्धः	=बँधा हुआ (तू)	**इच्छसि**	=चाहता,	**करिष्यसि**	=करेगा।

विशेष भाव—स्वभाव दो तरहका होता है—(१) विहित कर्मोंका स्वभाव और (२) निषिद्ध कर्मोंका स्वभाव। इनमें विहित कर्मोंका स्वभाव तो स्वतः होनेसे 'स्व-स्वभाव' है, पर निषिद्ध कर्मोंका स्वभाव आगन्तुक होनेसे 'पर-स्वभाव' है। विहित कर्मोंका स्वभाव तो सजातीय होनेसे जन्य नहीं है, पर निषिद्ध कर्मोंका स्वभाव विजातीय होनेसे जन्य (आसक्तिजन्य, कुसंगजन्य) है। मनुष्यका खास कर्तव्य है —अपना स्वभाव ठीक करना अर्थात् निषिद्ध कर्मोंके स्वभावका त्याग करके विहित कर्मोंके स्वभावके अनुसार आचरण करना। भगवान्ने विहित कर्मोंके स्वभावके अनुसार ही अपने वर्ण-धर्मका पालन करनेकी आज्ञा दी है।

भगवान् कहते हैं कि चाहे कर्तव्यमात्र समझकर युद्ध कर, चाहे मेरी आज्ञा मानकर युद्ध कर, युद्ध तो तेरेको करना ही पड़ेगा। मेरा आश्रय न लेनेसे तेरा अहंकार रहेगा, जिससे विहित कर्म भी बाँधनेवाला हो जायगा। परन्तु मेरा आश्रय लेनेसे अहंकार नहीं रहेगा। अहंकार ही बाँधनेवाला होता है। जो प्रकृतिके परवश नहीं होता, जिसकी प्रकृति महान् शुद्ध होती है, ऐसा ज्ञानी महापुरुष भी जब प्रकृतिके अनुसार क्रिया करता है, फिर प्रकृतिके परवश हुआ तथा अशुद्ध प्रकृतिवाला मनुष्य प्रकृतिके विरुद्ध कर्म कैसे कर सकता है?

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ ६१॥

अर्जुन	=हे अर्जुन!	**तिष्ठति**	=रहता है (और)	**सर्वभूतानि**	=सम्पूर्ण प्राणियोंको (उनके स्वभावके अनुसार)
ईश्वरः	=ईश्वर	**मायया**	=अपनी मायासे		
सर्वभूतानाम्	=सम्पूर्ण प्राणियोंके	**यन्त्रारूढानि**	=शरीररूपी यन्त्रपर आरूढ़ हुए		
हृद्देशे	=हृदयमें			**भ्रामयन्**	= भ्रमण कराता रहता है।

विशेष भाव—'भ्रामयन्' का तात्पर्य है कि संसारमात्रका संचालन भगवान्‌की ही शक्तिसे हो रहा है—**'मत्तः सर्वं प्रवर्तते'** (गीता १०। ८)। भगवान् प्राणियोंको उनके स्व-स्वभावके अनुसार कर्म करनेकी प्रेरणा तो करते हैं, पर उसमें अपना आग्रह नहीं रखते। भगवान्‌का आग्रह न होनेके कारण ही मनुष्य अपनी कामना-ममता-आसक्तिके वशीभूत होकर पुण्य अथवा पाप करता है और उनका फल भोगनेके लिये स्वर्गादि लोकोंमें अथवा नरकों और नीच योनियोंमें जाता है। परन्तु जो भगवान्‌के शरण हो जाता है, उसको भगवान् विशेष प्रेरणा करते हैं। अहंकार न रहनेसे वह जो कुछ करता है, भगवान्‌की प्रेरणाके अनुसार ही करता है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥

भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! (तू)	**शरणम्**	= शरणमें	**शान्तिम्**	= शान्ति (संसारसे सर्वथा उपरति) को
सर्वभावेन	= सर्वभावसे	**गच्छ**	= चला जा।	**शाश्वतम्**	= (और) अविनाशी
तम्	= उस ईश्वरकी	**तत्प्रसादात्**	= उसकी कृपासे (तू)	**स्थानम्**	= परमपदको
एव	= ही	**पराम्**	= परम	**प्राप्स्यसि**	= प्राप्त हो जायगा।

विशेष भाव—जीव ईश्वरका ही अंश है, इसलिये भगवान् ईश्वरकी ही शरणमें जानेके लिये कहते हैं। ईश्वरके शरण होनेसे अहंकार नहीं रहता। जबतक जीव ईश्वरके वश (शरण)में नहीं होता, तभीतक वह प्रकृतिके वशमें रहता है। वह जितना-जितना जड़ताकी ओर जाता है, उतनी-उतनी आसुरी सम्पत्ति आती है और जितना-जितना चिन्मयताकी ओर जाता है, उतनी-उतनी दैवी सम्पत्ति आती है।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ६३॥

इति	= यह	**मया**	= मैंने	**विमृश्य**	= विचार करके
गुह्यात्	= गुह्यसे भी	**ते**	= तुझे	**यथा**	= जैसा
गुह्यतरम्	= गुह्यतर	**आख्यातम्**	= कह दिया।	**इच्छसि**	= चाहता है,
ज्ञानम्	= (शरणागतिरूप) ज्ञान	**एतत्**	= (अब तू) इसपर	**तथा**	= वैसा
		अशेषेण	= अच्छी तरहसे	**कुरु**	= कर।

विशेष भाव—'यथेच्छसि तथा कुरु'—यह भगवान् त्याग करनेके लिये नहीं कहते हैं, प्रत्युत अपनी तरफ विशेषतासे खींचनेके लिये कहते हैं; जैसे—गेंद फेंकते हैं विशेषतासे पीछे लेनेके लिये, न कि त्याग करनेके लिये। तात्पर्य है कि पूर्वश्लोकमें अन्तर्यामी निराकार ईश्वरकी शरणागतिकी बात कहकर अब भगवान् अर्जुनको अपनी तरफ अर्थात् सगुण-साकारकी तरफ खींचना चाहते हैं, जिससे अर्जुन समग्रकी प्राप्तिसे रीता न रह जाय। निराकारमें साकार नहीं आता, पर साकारमें निराकार भी आ जाता है।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ ६४॥

सर्वगुह्यतमम्	= सबसे अत्यन्त गोपनीय	**शृणु**	= सुन। (तू)	**इति**	= यह (विशेष)
परमम्	= सर्वोत्कृष्ट	**मे**	= मेरा	**हितम्**	= हितकी बात (मैं)
वचः	= वचन (तू)	**दृढम्**	= अत्यन्त	**ते**	= तुझे
भूयः	= फिर	**इष्टः**	= प्रिय मित्र	**वक्ष्यामि**	= कहूँगा।
मे	= मुझसे	**असि**	= है,		
		ततः	= इसलिये		

विशेष भाव—'तमेव शरणं गच्छ' (१८। ६२)—इसमें निराकारकी शरणागति है और **'मामेकं शरणं व्रज'** (१८। ६६)—इसमें साकारकी शरणागति है। निराकारकी शरणमें जानेसे मुक्ति हो जायगी; परन्तु साकारकी शरणमें जानेसे मुक्तिके साथ-साथ प्रेमकी भी प्राप्ति हो जायगी। इसलिये साकारकी शरणागति 'सर्वगुह्यतम' है। भगवान् भक्तिके प्रसंगमें ही 'परम वचन' कहते हैं। दसवें अध्यायके पहले श्लोकमें भी भगवान्ने कहा है—**'शृणु मे परमं वचः'**।

अर्जुनने भगवान्से कहा था कि मैं आपका शिष्य हूँ—**'शिष्यस्तेऽहम्'** (२। ७), पर भगवान् कहते हैं कि तू मेरा इष्ट मित्र है—**'इष्टोऽसि'**! तात्पर्य है कि गुरु तो चेला बनाता है, पर भगवान् चेला न बनाकर अपना मित्र बनाते हैं!

भगवान्की तो हरेक बात ही हित करनेवाली है, पर उसमें भी विशेष हितकी बात होनेसे भगवान् **'ततो वक्ष्यामि ते हितम्'** कहते हैं।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ ६५॥

मद्भक्तः	= (तू) मेरा भक्त	**नमस्कुरु**	= नमस्कार कर। (ऐसा करनेसे तू)	**सत्यम्**	= सत्य
भव	= हो जा,	**माम्**	= मुझे	**प्रतिजाने**	= प्रतिज्ञा करता हूँ; (क्योंकि तू)
मन्मनाः	= मुझमें मनवाला (हो जा),	**एव**	= ही	**मे**	= मेरा
मद्याजी	= मेरा पूजन करनेवाला (हो जा और)	**एष्यसि**	= प्राप्त हो जायगा (-यह मैं)	**प्रियः**	= अत्यन्त प्रिय
माम्	= मुझे	**ते**	= तेरे सामने	**असि**	= है।

विशेष भाव—अर्जुन भगवान्को प्राप्त ही हैं; अतः यहाँ **'मामेवैष्यसि'** कहनेका तात्पर्य है कि तेरेको समग्र **('माम्')** की प्राप्ति हो जायगी, जिसके लिये भगवान्ने सातवें अध्यायके आरम्भमें कहा था—**'असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु'**। फिर तेरी मेरेसे आत्मीयता हो जायगी, जिसके लिये भगवान्ने सातवें अध्यायमें कहा था—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (७। १८), **'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'** (७। १७)।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥

सर्वधर्मान्	= सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय	**माम्**	= मेरी	**त्वा**	= तुझे
परित्यज्य	= छोड़कर (तू)	**शरणम्**	= शरणमें	**सर्वपापेभ्यः**	= सम्पूर्ण पापोंसे
एकम्	= केवल	**व्रज**	= आ जा।	**मोक्षयिष्यामि**	= मुक्त कर दूँगा,
		अहम्	= मैं	**मा, शुचः**	= चिन्ता मत कर।

विशेष भाव—भगवान्‌के साथ कर्मयोगीका 'नित्य' सम्बन्ध होता है, ज्ञानयोगीका 'तात्त्विक' सम्बन्ध होता है और शरणागत भक्तका 'आत्मीय' सम्बन्ध होता है। नित्य सम्बन्धमें संसारके अनित्य सम्बन्धका त्याग है, तात्त्विक सम्बन्धमें तत्त्वके साथ एकता (तत्त्वबोध) है और आत्मीय सम्बन्धमें भगवान्‌के साथ अभिन्नता (प्रेम) है। नित्य-सम्बन्धमें शान्तरस है, तात्त्विक सम्बन्धमें अखण्डरस है और आत्मीय सम्बन्धमें अनन्तरस है। अनन्तरसकी प्राप्ति हुए बिना जीवकी भूख सर्वथा नहीं मिटती। अनन्तरसकी प्राप्ति शरणागतिसे होती है। इसलिये शरणागति सर्वगुह्यतम एवं सर्वश्रेष्ठ साधन है।

'**सर्वधर्मान्परित्यज्य**' पदका अर्थ 'सम्पूर्ण धर्मोंका स्वरूपसे त्याग' नहीं है, प्रत्युत 'सम्पूर्ण धर्मोंके आश्रयका त्याग' है। तात्पर्य है कि किसी भी धर्म (कर्तव्य कर्म)का आश्रय न हो। जैसे, पहले अध्यायमें आया है—'**त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च**' (१। ३३)। वहाँ भी '**प्राणांस्त्यक्त्वा**' का अर्थ 'प्राणोंका त्याग' न लेकर 'प्राणोंके आश्रय (आशा)का त्याग' ही लिया जा सकता है; क्योंकि प्राणोंका त्याग करके कोई युद्धमें कैसे खड़ा होगा? असम्भव बात है। इसी तरह पहले अध्यायके नवें श्लोकमें आया है—'**अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः**' तो इसका अर्थ यह नहीं है कि बहुत-से अन्य शूरवीर अपने जीवनका त्याग करके खड़े हैं। इसका अर्थ है कि वे शूरवीर अपने जीवनकी आशाका त्याग करके खड़े हैं अर्थात् उनको अपने जीवनकी परवाह नहीं है। अतः यहाँ भी '**सर्वधर्मान्परित्यज्य**' पदका अर्थ 'धर्मोंके आश्रयका त्याग' लेना चाहिये। जैसे शूरवीरोंको अपने प्राणोंकी अथवा अपने जीवनकी परवाह नहीं है, ऐसे ही भक्तको दूसरे धर्मोंकी परवाह नहीं है। उसकी दृष्टिमें दूसरे धर्मों (कर्तव्य कर्मों) का महत्त्व नहीं है। कारण कि भगवान्‌की शरणागतिका जितना महत्त्व है, उतना धर्मोंका महत्त्व नहीं है। धर्म (कर्तव्य-कर्म)में जड़ताका और शरणागतिमें चिन्मयताका सम्बन्ध रहता है। कर्तव्य कर्म अपने वर्णाश्रमको लेकर होता है; अतः उसमें शरीरकी मुख्यता रहती है। परन्तु शरणागति स्वयंको लेकर होती है; अतः उसमें भगवान्‌की मुख्यता रहती है।

'**मामेकं शरणं व्रज**' का तात्पर्य है—बाहरसे (व्यवहारमें) सबके साथ प्रेम, आदर-सत्कारका व्यवहार करनेपर भी भीतरसे किसीकी गरज न हो, किसीका आश्रय न हो, केवल भगवान्‌का ही आश्रय हो—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरौ जीव-जड़ताई॥

(विनयपत्रिका १०३)

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥

(दोहावली २७७)

वास्तवमें पूर्ण शरणागति भगवान् ही प्रदान करते हैं। जैसे छोटा बालक अपना हाथ ऊँचा करता है तो माँ उसको उठा लेती है, ऐसे ही भक्त अपनी शक्तिसे भगवान्‌के सम्मुख होता है, शरणागतिकी तैयारी करता है तो भगवान् उसको पूर्ण शरणागति दे देते हैं।

अर्जुन पापोंसे छूटना चाहते थे, इसलिये भगवान्‌ने भी पापोंसे मुक्त करनेकी बात कही है; क्योंकि भगवान्‌का स्वभाव है—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४। ११)। वास्तवमें केवल पापोंसे मुक्ति ही शरणागतिका फल नहीं है। अनन्य शरणागतिसे मनुष्य भगवान्‌से अभिन्न होकर अनन्तरसको प्राप्त कर सकता है! इसलिये साधकको पापोंसे अथवा दुःखोंसे मुक्ति पानेकी इच्छा न रखकर केवल भगवान्‌के शरणागत हो जाना चाहिये। कुछ भी चाहनेसे कुछ (अन्तवाला) ही मिलता है, पर कुछ भी न चाहनेसे सब कुछ (अनन्त) मिलता है! भगवान् भी शरणागत भक्तके वशमें हो जाते हैं, उसके ऋणी हो जाते हैं।

यह शरणागति गीताका सार है, जिसको भगवान्‌ने विशेष कृपा करके कहा है। इस शरणागतिमें ही गीताके उपदेशकी पूर्णता होती है। इसके बिना गीता अधूरी रहती! इसलिये अर्जुनके द्वारा '**करिष्ये वचनं तव**' कहकर पूर्ण शरणागति स्वीकार करनेपर फिर भगवान् नहीं बोले।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ ६७॥

इदम्	=यह सर्वगुह्यतम वचन	**कदाचन**	=कभी	**च**	=और
ते	=तुझे	**न**	=नहीं कहना चाहिये	**यः**	=जो
अतपस्काय	=अतपस्वीको	**च**	=तथा	**माम्**	=मुझमें
न	=नहीं	**अशुश्रूषवे**	=जो सुनना नहीं चाहता,	**अभ्यसूयति**	=दोषदृष्टि करता है, (उसको भी)
वाच्यम्	=कहना चाहिये;	**न**	=(उसको) नहीं कहना चाहिये	**न**	=नहीं कहना चाहिये।
अभक्ताय	=अभक्तको				

विशेष भाव—भगवान्‌ने अभक्तको और दोषदृष्टिवालेको सर्वगुह्यतम वचन न कहनेपर विशेष जोर दिया है। अभक्त और दोषदृष्टिवालेको कहनेमें जितना दोष है, उतना दोष अतपस्वी और सुनना न चाहनेवालेको कहनेमें नहीं है; क्योंकि अभक्त और दोषदृष्टिवालेमें विपरीत बुद्धि है।

'अभक्त' का अर्थ है—भक्तिका विरोधी। जिसमें भक्तिका अभाव है, उसको यहाँ 'अभक्त' नहीं कहा गया है। जो भक्त है, उसमें भी बेसमझीसे असूया-दोष आ सकता है*, पर भक्तिके कारण वह दोष स्वतः मिट जाता है।

'अशुश्रूषवे' का अर्थ है—जो अहंकारके कारण नहीं सुनना चाहता। जो बेसमझीसे नहीं सुनना चाहता, उसको यहाँ **'अशुश्रूषवे'** नहीं कहा गया है।

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥ ६८॥

मयि	=मुझमें	**परमम्**	=परम	**माम्**	=मुझे
पराम्, भक्तिम्	=पराभक्ति	**गुह्यम्**	=गोपनीय संवाद (गीताग्रन्थ) को	**एव**	=ही
कृत्वा	=करके	**मद्भक्तेषु**	=मेरे भक्तोंमें	**एष्यति**	=प्राप्त होगा—
यः	=जो	**अभिधास्यति**	=कहेगा, (वह)	**असंशयः**	=इसमें कोई सन्देह नहीं है।
इदम्	=इस				

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥ ६९॥

तस्मात्	=उसके समान	**न**	=नहीं है	**अन्यः**	=दूसरा कोई
मे	=मेरा	**च**	=और	**प्रियतरः**	=प्रियतर
प्रियकृत्तमः	=अत्यन्त प्रिय कार्य करनेवाला	**भुवि**	=इस भूमण्डलपर	**भविता**	= होगा
मनुष्येषु	=मनुष्योंमें	**तस्मात्**	=उसके समान	**च**	=भी
कश्चित्	=कोई भी	**मे**	=मेरा	**न**	=नहीं।

* श्रद्धा होनेपर भी साथमें असूया-दोष रह सकता है, इसीलिये भगवान्‌ने श्रद्धाके साथ-साथ असूया-दोषसे रहित होनेकी बात भी कही है—**'श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तः'** (गीता ३।३१), **'श्रद्धावाननसूयश्च'** (गीता १८।७१)।

विशेष भाव—गीताकी शिक्षासे मनुष्यमात्रका प्रत्येक परिस्थितिमें सुगमतासे कल्याण हो सकता है, इसलिये भगवान् इसके प्रचारकी विशेष महिमा कहते हैं। गीताने युद्ध-जैसी परिस्थितिमें भी कल्याण होनेकी बात कही है—**'सुखदुःखे समे कृत्वा०'** (२। ३८), **'यत्करोषि यदश्नासि०'** (९। २७), **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य०'** (१८। ४६) आदि। जब युद्ध-जैसी परिस्थिति (घोर कर्म) में भी कल्याण हो सकता है, तो फिर अन्य परिस्थितिमें कैसे नहीं होगा?

जो मनुष्य भगवान्‌का प्यारा हो जाता है, उसको कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों योग प्राप्त हो जाते हैं।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ ७०॥

यः	= जो मनुष्य	**अध्येष्यते**	= अध्ययन करेगा,	**इष्टः**	= पूजित
आवयोः	= हम दोनोंके	**तेन**	= उसके द्वारा	**स्याम्**	= होऊँगा—
इमम्	= इस	**च**	= भी	**इति**	= ऐसा
धर्म्यम्	= धर्ममय	**अहम्**	= मैं	**मे**	= मेरा
संवादम्	= संवादका	**ज्ञानयज्ञेन**	= ज्ञानयज्ञसे	**मतिः**	= मत है।

विशेष भाव—भगवान् ज्ञानयज्ञको द्रव्यमय यज्ञसे भी श्रेष्ठ मानते हैं—**'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप'** (गीता ४। ३३)। जब गीताके अध्ययनका ही इतना माहात्म्य है तो फिर उसके अनुसार आचरण करनेका तो कहना ही क्या?

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥ ७१॥

श्रद्धावान्	= श्रद्धावान्	**नरः**	= मनुष्य (इस गीता-ग्रन्थको)	**मुक्तः**	= शरीर छूटनेपर
च	= और			**पुण्यकर्मणाम्**	= पुण्यकारियोंके
अनसूयः	= दोषदृष्टिसे रहित	**शृणुयात्, अपि**	= सुन भी लेगा,	**शुभान्**	= शुभ
		सः	= वह	**लोकान्**	= लोकोंको
यः	= जो	**अपि**	= भी	**प्राप्नुयात्**	= प्राप्त हो जायगा।

विशेष भाव—'शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्'—श्रद्धा-भक्तिके तारतम्यसे गीताको सुननेमें तारतम्य रहता है और सुननेके तारतम्यसे श्रोताका स्वर्गादि लोकोंसे लेकर भगवल्लोकतक अधिकार हो जाता है अर्थात् अधिक श्रद्धा-भक्ति होगी तो वह भगवान्‌के धामको प्राप्त हो जायगा और कम श्रद्धा-भक्ति होगी तो वह अन्य लोकोंको प्राप्त हो जायगा।

गीताके अध्ययन और श्रवणकी तो बात ही क्या है, गीताको रखनेमात्रका भी बड़ा माहात्म्य है! एक सिपाही था। वह रातके समय कहींसे अपने घर आ रहा था। रास्तेमें उसने चन्द्रमाके प्रकाशमें एक वृक्षके नीचे एक सुन्दर स्त्री देखी। उसने उस स्त्रीसे बातचीत की तो उस स्त्रीने कहा—मैं आ जाऊँ क्या? सिपाहीने कहा—हाँ, आ जा। सिपाहीके ऐसा कहनेपर वह स्त्री, जो वास्तवमें चुड़ैल थी, उसके पीछे आ गयी। अब वह रोज रातमें उस सिपाहीके पास आती, उसके साथ सोती, उसका संग करती और सबेरे चली जाती। इस तरह वह उस सिपाहीका शोषण करने लगी अर्थात् उसका खून चूसकर उसकी शक्ति क्षीण करने लगी। एक बार रातमें वे दोनों लेट गये, पर बत्ती जलती रह गयी तो सिपाहीने उससे कहा कि तू बत्ती बन्द कर दे। उसने लेटे-लेटे ही अपना हाथ लम्बा

करके बत्ती बन्द कर दी। अब सिपाहीको पता लगा कि यह कोई सामान्य स्त्री नहीं है, यह तो चुड़ैल है! वह बहुत घबराया। चुड़ैलने उसको धमकी दी कि अगर तू किसीको मेरे बारेमें बतायेगा तो मैं तेरेको मार डालूँगी। इस तरह वह रोज रातमें आती और सबेरे चली जाती। सिपाहीका शरीर दिन-प्रतिदिन सूखता जा रहा था। लोग उससे पूछते कि भैया! तुम इतने क्यों सूखते जा रहे हो? क्या बात है, बताओ तो सही! परन्तु चुड़ैलके डरके मारे वह किसीको कुछ बताता नहीं था। एक दिन वह दुकानसे दवाई लाने गया। दुकानदारने दवाईकी पुड़िया बाँधकर दे दी। सिपाही उस पुड़ियाको जेबमें डालकर घर चला आया। रातके समय जब वह चुड़ैल आयी, तब वह दूरसे ही खड़े-खड़े बोली कि तेरी जेबमें जो पुड़िया है, उसको निकालकर फेंक दे। सिपाहीको विश्वास हो गया कि इस पुड़ियामें जरूर कुछ करामात है, तभी तो आज यह चुड़ैल मेरे पास नहीं आ रही है! सिपाहीने उससे कहा कि मैं पुड़िया नहीं फेकूँगा। चुड़ैलने बहुत कहा, पर सिपाहीने उसकी बात मानी नहीं। जब चुड़ैलका उसपर वश नहीं चला, तब वह चली गयी। सिपाहीने जेबमेंसे पुड़ियाको निकालकर देखा तो वह गीताका फटा हुआ पन्ना था! इस तरह गीताका प्रभाव देखकर वह सिपाही हर समय अपनी जेबमें गीता रखने लगा। वह चुड़ैल फिर कभी उसके पास नहीं आयी।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥ ७२॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**चेतसा**	=चित्तसे	**कच्चित्**	=क्या
कच्चित्	=क्या	**एतत्**	=इसको	**ते**	=तुम्हारा
त्वया	=तुमने	**श्रुतम्**	=सुना? (और)	**अज्ञानसम्मोहः**	=अज्ञानसे उत्पन्न मोह
एकाग्रेण	=एकाग्र-	**धनञ्जय**	=हे धनञ्जय!	**प्रनष्टः**	=नष्ट हुआ?

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ ७३॥

अर्जुन बोले—

अच्युत	=हे अच्युत!	**मया**	=मैंने	**स्थितः**	=स्थित
त्वत्प्रसादात्	=आपकी कृपासे (मेरा)	**स्मृतिः**	=स्मृति	**अस्मि**	=हूँ।
		लब्धा	=प्राप्त कर ली है।	**तव**	=(अब मैं) आपकी
मोहः	=मोह	**गतसन्देहः**	=(मैं) सन्देहरहित होकर	**वचनम्**	=आज्ञाका
नष्टः	=नष्ट हो गया है (और)			**करिष्ये**	=पालन करूँगा।

विशेष भाव—लौकिक स्मृति तो विस्मृतिकी अपेक्षासे कही जाती है, पर अलौकिक तत्त्वकी स्मृति विस्मृतिकी अपेक्षासे नहीं है, प्रत्युत अनुभवरूप है। इस तत्त्वकी निरपेक्ष स्मृति अर्थात् अनुभवको ही यहाँ '**स्मृतिर्लब्धा**' कहा गया है।

वास्तवमें तत्त्वकी विस्मृति नहीं होती, प्रत्युत विमुखता होती है। तात्पर्य है कि पहले ज्ञान था, फिर उसकी विस्मृति हो गयी— इस तरह तत्त्वकी विस्मृति नहीं होती*। अगर ऐसी विस्मृति मानें तो स्मृति होनेके बाद फिर

* ज्ञान होनेपर नयापन कुछ नहीं दीखता अर्थात् पहले अज्ञान था, अब ज्ञान हो गया—ऐसा नहीं दीखता। ज्ञान होनेपर ऐसा अनुभव होता है कि ज्ञान तो सदासे ही था, केवल मेरी दृष्टि उधर नहीं थी। अगर पहले अज्ञान था, पीछे ज्ञान हो गया—ऐसा मानें

विस्मृति हो जायगी! इसलिये गीतामें आया है—'**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्**' (४। ३५) अर्थात् उसको जान लेनेके बाद फिर मोह नहीं होता। अभावरूप असत्‌को भावरूप मानकर महत्त्व देनेसे तत्त्वकी तरफसे वृत्ति हट गयी—इसीको विस्मृति कहते हैं। वृत्तिका हटना और वृत्तिका लगना—यह भी साधककी दृष्टिसे है, तत्त्वकी दृष्टिसे नहीं। तत्त्वकी तरफसे वृत्ति हटनेपर अथवा विमुखता होनेपर भी तत्त्व ज्यों-का-त्यों ही है। अभावरूप असत्‌को अभावरूप ही मान लें तो भावरूप तत्त्व स्वतः ज्यों-का-त्यों रह जायगा।

विचार दो तरहका होता है। एक विचार करना होता है और एक विचार उदय होता है। जो विचार किया जाता है, उसमें तो क्रिया है, पर जो विचार उदय होता है, उसमें क्रिया नहीं है। विचार करनेमें तो बुद्धिकी प्रधानता रहती है, पर विचार उदय होनेपर बुद्धिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अतः तत्त्वबोध विचार करनेसे नहीं होता, प्रत्युत विचार उदय होनेसे होता है। तात्पर्य है कि तत्त्वप्राप्तिके उद्देश्यसे सत्-असत्‌का विचार करते-करते जब असत् छूट जाता है, तब 'संसार है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं'—इस विचारका उदय होता है। विचारका उदय होते ही विवेक बोधमें परिणत हो जाता है अर्थात् संसार लुप्त हो जाता है और तत्त्व प्रकट हो जाता है; मानी हुई चीज मिट जाती है और वास्तविकता रह जाती है। विचारका उदय होनेको यहाँ '**स्मृतिर्लब्धा**' कहा गया है।

अपरा प्रकृति भगवान्‌की है। परन्तु हमने गलती यह की है कि अपराके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया अर्थात् उसको अपना और अपने लिये मान लिया। यह सम्बन्ध हमने ही जोड़ा है और इसको छोड़नेकी जिम्मेवारी भी हमारेपर ही है। अपराके साथ सम्बन्ध माननेसे ही भगवान्‌के नित्य-सम्बन्धकी विस्मृति हुई है और हम बन्धनमें पड़े हैं। इसलिये अपराके सम्बन्ध-विच्छेदसे ही हमारा कल्याण होगा। अपरासे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये 'शरीर मेरा और मेरे लिये नहीं है'—इस विवेकको महत्त्व देना है। विवेकको महत्त्व देनेसे 'अपरा मेरी और मेरे लिये है ही नहीं'—यह स्मृति प्राप्त हो जाती है।

अर्जुनको द्वैत अथवा अद्वैत तत्त्वका अनुभव नहीं हुआ है, प्रत्युत द्वैत-अद्वैतसे अतीत वास्तविक तत्त्वका अनुभव हुआ है। कारण कि द्वैत-अद्वैत तो मोह हैं*, जबकि अर्जुनका मोह नष्ट हो गया है।

जीव अनादिकालसे स्वतः परमात्माका है, केवल संसारके आश्रयका त्याग करना है। अर्जुनको मुख्य रूपसे भक्तियोगकी स्मृति हुई है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो साधन हैं, पर भक्तियोग साध्य है। इसलिये भक्तियोगकी स्मृति ही वास्तविक है। भक्तियोगकी स्मृति है—'**वासुदेवः सर्वम्**' अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं। '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव करना '**स्मृतिर्लब्धा**' है। यह अनुभव केवल भगवत्कृपासे ही होता है—'**त्वत्प्रसादात्**'। वचन सीमित होते हैं, पर कृपा असीम होती है।

चिन्तनमें तो कर्तृत्व होता है, पर स्मृतिमें कर्तृत्व नहीं है। कारण कि चिन्तन मनसे होता है, मनसे परे बुद्धि है, बुद्धिसे परे अहम् है और अहम्‌से परे स्वरूप है, उस स्वरूपमें स्मृति होती है। चिन्तन तो हम करते हैं, पर स्मृतिमें केवल उधर दृष्टि होती है। विस्मृतिके समय भी तत्त्व तो वैसा-का-वैसा ही है। तत्त्वमें विस्मृति नहीं है, इसलिये उधर दृष्टि होते ही स्मृति हो जाती है।

'**स्थितोऽस्मि गतसन्देहः**'—पहले क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करना ठीक दीखता था, फिर गुरुजनोंके सामने आनेसे युद्ध करना पाप दीखने लगा; परन्तु स्मृति प्राप्त होते ही सब उलझनें मिट गयीं। मैं क्या करूँ? युद्ध करूँ कि नहीं करूँ?—यह सन्देह, संशय, शंका कुछ नहीं रही। मेरे लिये अब कुछ करना बाकी नहीं रहा, प्रत्युत केवल आपकी आज्ञाका पालन करना बाकी रहा—'**करिष्ये वचनं तव**'। यही शरणागति है।

तो ज्ञानमें सादिपना आ जायगा, जबकि ज्ञान सादि नहीं है, अनादि है। जो सादि होता है, वह सान्त होता है और जो अनादि होता है, वह अनन्त होता है।

* '**द्वैताद्वैतमहामोहः**' (माहेश्वरतन्त्र)

'**अहो माया महामोहौ द्वैताद्वैतविकल्पना॥**' (अवधूतगीता १। ६१)

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ ७४॥

संजय बोले—

इति	=इस प्रकार	**महात्मनः**	=महात्मा		करनेवाला
अहम्	=मैंने	**पार्थस्य**	=पृथानन्दन अर्जुनका	**अद्भुतम्**	=अद्भुत
वासुदेवस्य	=भगवान् वासुदेव	**इमम्**	=यह	**संवादम्**	=संवाद
च	=और	**रोमहर्षणम्**	=रोमाञ्चित	**अश्रौषम्**	=सुना।

विशेष भाव—गीतामें 'महात्मा' शब्द केवल भक्तोंके लिये आया है। यहाँ संजयने अर्जुनको भी 'महात्मा' कहा है; क्योंकि वे अर्जुनको भक्त ही मानते हैं। भगवान्ने भी कहा है—'**भक्तोऽसि मे**' (गीता ४। ३)।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥ ७५॥

व्यासप्रसादात्	= व्यासजीकी कृपासे	**परम्**	=परम	**साक्षात्**	=साक्षात्
		गुह्यम्	=गोपनीय	**योगेश्वरात्**	=योगेश्वर
अहम्	=मैंने	**योगम्**	=योग (गीता-ग्रन्थ) को	**कृष्णात्**	=भगवान् श्रीकृष्णसे
स्वयम्	=स्वयं				
एतत्	=इस	**कथयतः**	=कहते हुए	**श्रुतवान्**	=सुना है।

विशेष भाव—अर्जुनने '**त्वत्प्रसादात्**' कहा है (१८। ७३) और संजयने '**व्यासप्रसादात्**' कहा है। अर्जुनको भगवान्की कृपासे दिव्य दृष्टि मिली थी और संजयको व्यासजीकी कृपासे।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥ ७६॥

राजन्	=हे राजन्!	**पुण्यम्**	=पवित्र	**संस्मृत्य, संस्मृत्य**	= याद कर-करके (मैं)
केशवार्जुनयोः	= भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके	**च**	=और		
		अद्भुतम्	=अद्भुत	**मुहुर्मुहुः**	=बार-बार
इमम्	=इस	**संवादम्**	=संवादको	**हृष्यामि**	=हर्षित हो रहा हूँ।

विशेष भाव—भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस संवादमें जो तत्त्व भरा हुआ है, वह किसी ग्रन्थ, महात्मा आदिसे सुननेको नहीं मिला। यह भगवान् और उनके भक्तका बड़ा विलक्षण संवाद है। इतनी स्पष्ट बातें और जगह पढ़ने-सुननेको मिलती नहीं। इस संवादमें युद्ध-जैसे घोर कर्मसे भी कल्याण होनेकी बात कही गयी है। हरेक वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदिका मनुष्य हरेक परिस्थितिमें अपना कल्याण कर सकता है—यह बात इस संवादसे मिलती है। इसलिये यह संवाद बड़ा अद्भुत है—'**संवादमिममद्भुतम्**'। केवल संवादमें ही इतनी विलक्षणता है, फिर इसके अनुसार आचरण करनेका तो कहना ही क्या है!

भगवान् श्रीकृष्णकी वाणी बड़ी विचित्र है*, उसमें भी भगवान्ने योगमें स्थित होकर गीता कही है†, फिर इसकी विचित्रता-विलक्षणताका तो कहना ही क्या है! भगवान्के द्वारा कौरव-सभामें होनेवाले राजनीतिक व्याख्यानमें भी इतनी विलक्षणता थी कि ऋषि-मुनि उसको सुननेके लिये जाते हैं‡, फिर यह (गीता) तो पारमार्थिक संवाद है! श्रीमद्भागवतमें भी जब उद्धवजीने देखा कि भगवान् प्रश्नोंका उत्तर बड़ी विलक्षण रीतिसे देते हैं, तब उन्होंने एक साथ पैंतीस प्रश्न कर दिये (श्रीमद्भा० ११। १९। २८—३२)!

'**हृष्यामि च मुहुर्मुहुः**—कर्म-ज्ञान-भक्तिकी ऐसी विलक्षण बातें और जगह सुननेको मिली ही नहीं, इसलिये इनको सुनकर संजय बार-बार हर्षित होते हैं।

संजय भगवान्को जाननेवाले थे। धृतराष्ट्रके द्वारा इसका कारण पूछे जानेपर संजयने उनको बताया था—

मायां न सेवे भद्रं ते न वृथा धर्ममाचरे।
शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद् वेद्मि जनार्दनम्॥

(महाभारत, उद्योग० ६९। ५)

'महाराज! आपका कल्याण हो। मैं कभी माया (छल-कपट)का सेवन नहीं करता। व्यर्थ (पाखण्डपूर्ण) धर्मका आचरण नहीं करता। भगवान्की भक्तिसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है; अतः मैं शास्त्रके वचनोंसे भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको यथावत् जानता हूँ।'

इस प्रकार पहले तो संजय शास्त्रके वचनोंसे भगवान्को जानते थे, पर अब वे साक्षात् भगवान्के वचनोंसे उनको जान गये!

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥ ७७॥

राजन्	=हे राजन्!	**रूपम्**	=विराट्रूपको	**विस्मयः**	=आश्चर्य (हो रहा है)
हरेः	=भगवान् श्रीकृष्णके	**च**	=भी		
तत्	=उस	**संस्मृत्य, संस्मृत्य**	=याद कर-करके	**च**	=और (मैं)
अति	=अत्यन्त	**मे**	=मुझे	**पुनः, पुनः**	=बार-बार
अद्भुतम्	=अद्भुत	**महान्**	=बड़ा भारी	**हृष्यामि**	=हर्षित हो रहा हूँ।

---

* **वाचं तां वचनार्हस्य शिक्षाक्षरसमन्विताम्।**
अश्रोषमहमिष्टार्थां पश्चाद्धृदयहारिणीम्॥ (महाभारत, उद्योग० ५९। १७)

'(संजय बोले—) तत्पश्चात् मैंने बातचीतमें कुशल भगवान् श्रीकृष्णकी वह वाणी सुनी, जिसका एक-एक अक्षर शिक्षाप्रद था। वह अभीष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेवाली तथा मनको आकर्षित कर लेनेवाली थी।'

† **न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः॥**
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया। (महाभारत, आश्व० १६। १२-१३)

'(भगवान् बोले—) वह सब-का-सब उसी रूपमें फिर दुहरा देना अब मेरे वशकी बात भी नहीं है। उस समय योगयुक्त होकर मैंने परमात्मतत्त्वका वर्णन किया था।'

‡ **धर्मार्थसहिता वाचः श्रोतुमिच्छाम माधव॥**
त्वयोच्यमानाः कुरुषु राजमध्ये परन्तप।

(महाभारत, उद्योग० ८३। ६८-६९)

'(परशुरामजी बोले—) शत्रुओंको संताप देनेवाले माधव! वहाँ कौरवों तथा अन्य राजाओंकी मण्डलीमें आपके द्वारा कही जानेवाली धर्म और अर्थसे युक्त बातोंको हम सुनना चाहते हैं।'

विशेष भाव—भगवान्‌ने अपना विराट्‌रूप सीमित दिखाया था। अगर अर्जुन न घबराते तो भगवान् और भी रूप दिखाते। पर उतनेसे ही संजय बड़ा आश्चर्य कर रहे हैं।

भगवान्‌के विषयमें पहले तो संजयने शास्त्रमें पढ़ा, फिर अद्‌भुत संवाद सुना और फिर अति अद्‌भुत विराट्‌रूप देखा। तात्पर्य है कि शास्त्रकी अपेक्षा श्रीकृष्णार्जुन-संवाद अद्‌भुत था और संवादकी अपेक्षा भी विराट्‌रूप अद्‌भुत था। इसलिये संजयने संवादको अद्‌भुत कहा— **'संवादमिममद्भुतम्'** (१८।७६) और विराट्‌रूपको अत्यन्त अद्‌भुत कहा—**'रूपमत्यद्‌भुतम्'**।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ ७८॥

यत्र	=जहाँ		धनुषधारी	**ध्रुवा**	=अचल
योगेश्वरः	=योगेश्वर	**पार्थः**	=अर्जुन हैं,	**नीतिः**	=नीति है—
कृष्णः	=भगवान् श्रीकृष्ण हैं	**तत्र**	=वहाँ ही		
	(और)	**श्रीः**	=श्री,	**मम**	=(ऐसा)
यत्र	=जहाँ	**विजयः**	=विजय,		मेरा
धनुर्धरः	=गाण्डीव-	**भूतिः**	=विभूति (और)	**मतिः**	=मत है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसन्न्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

गीतामें भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके अनेक साधन बताये हैं। जिससे मनुष्यका कल्याण हो जाय, ऐसी कोई भी युक्ति, उपाय भगवान्‌ने बाकी नहीं रखा है। अनन्त मुखोंसे कही जानेवाली बातको भगवान्‌ने एक मुखसे गीतामें कह दिया है! इसलिये गीताके टीकाकार श्रीधरस्वामी लिखते हैं—

शेषाशेषमुखव्याख्याचातुर्यं त्वेकवक्त्रतः।
दधानमद्भुतं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

'शेषनागके द्वारा अपने अशेष मुखोंसे की जानेवाली व्याख्याके चातुर्यको जो एक मुखसे ही धारण करते हैं, उन अद्भुत परमानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।'

गीता ज्ञानका अथाह समुद्र है। इसका अध्ययन करनेपर नये-नये भाव मिलते हैं और मिलते ही चले जाते हैं। हाँ, अगर कोई विद्वत्ताके जोरपर गीताका अर्थ समझना चाहे तो नहीं समझ सकेगा। अगर गीता और गीतावक्ताकी शरण लेकर उसका अध्ययन किया जाय तो गीताका तात्त्विक अर्थ स्वतः समझमें आने लगता है।

—'साधन-सुधा-सिन्धु' ग्रन्थसे

मनुष्यमात्रके भीतर स्वतः यह भाव रहता है कि मैं बना रहूँ, कभी मरूँ नहीं। वह अमर रहना चाहता है। अमरताकी इस इच्छासे सिद्ध होता है कि वास्तवमें वह अमर है। अगर वह अमर न होता तो उसमें अमरताकी इच्छा भी नहीं होती। जैसे, भूख और प्यास लगती है तो इससे सिद्ध होता है कि ऐसी वस्तु (अन्न और जल) है, जिससे वह भूख-प्यास बुझ जाय। अगर अन्न-जल न होता तो भूख-प्यास भी नहीं लगती। अतः अमरता स्वतःसिद्ध है।

—'अमरताकी ओर' पुस्तकसे

'काम' (लौकिक शृङ्गार) में स्त्री और पुरुष दोनों ही एक-दूसरेसे सुख लेना चाहते हैं, एक-दूसरेको अपनी ओर आकर्षित करना चाहते हैं। इसलिये उनमें विशेष सावधानी रहती है और वे अपने शरीरको सजाते हैं। परन्तु 'प्रेम' में सुख लेनेका अपनी ओर खींचनेका किंचिन्मात्र भी भाव न होनेसे यह सावधानी नहीं रहती, प्रत्युत अपने शरीरकी भी विस्मृति हो जाती है, इसीलिये गोपियाँ अपनेको सजाना, शृङ्गार करना भूल गयीं और वंशीध्वनि सुनते ही वे जैसी थीं, वैसी ही अस्त-व्यस्त वस्त्रोंके साथ चल पड़ीं।

—'अलौकिक प्रेम' पुस्तकसे

मृत्युकालकी सब सामग्री तैयार है। कफन भी तैयार है, नया नहीं बनाना पड़ेगा। उठानेवाले आदमी भी तैयार हैं, नये नहीं जन्मेंगे। जलानेकी जगह भी तैयार है, नयी नहीं लेनी पड़ेगी। जलानेके लिये लकड़ी भी तैयार है, नये वृक्ष नहीं लगाने पड़ेंगे। केवल श्वास बन्द होनेकी देर है। श्वास बन्द होते ही यह सब सामग्री जुट जायगी। फिर निश्चिन्त कैसे बैठे हो?

X X X X

चेत करो! यह संसार सदा रहनेके लिये नहीं है। यहाँ केवल मरने-ही-मरनेवाले रहते हैं। फिर पैर फैलाये कैसे बैठे हो?

X X X X

विचार करो, क्या ये दिन सदा ऐसे ही रहेंगे?

—'अमृत-बिन्दु' पुस्तकसे